शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त
पियर रिब्यूड शोध पत्रिका

शोध अंक 46 सितंबर 2019 300.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय
हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, 07838090732
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा
डॉ० मीना अग्रवाल
बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)
फोन : 0124-4076565, 07838090237

दिल्ली एन०सी०आर०
डॉ० अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक
डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ० शंकर क्षेम

उपसंपादक
डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

उपसंपादक
डॉ० अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क
आजीवन (दस वर्ष): व्यक्तिगत : पाँच हजार रुपए
संस्थागत : छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : छह सौ रुपए
यह प्रति : तीन सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, Morris Ville, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फ़ेज-1, दिल्ली 110052
डॉ॰ आर॰पी॰ सिंह, पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय एवं पूर्व प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ॰प्र॰)
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, निदेशक केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ बाबूराम, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
प्रो॰ रामसजन पांडेय, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
डॉ॰ दामोदर खड़से, पूर्व कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा॰)
प्रो॰ शंकर बुंदेले, प्रोफ़ेसर, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती
प्रो॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
प्रो॰ अर्जुन चव्हाण, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ डॉ॰ सदानंद भौसले, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महा॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी॰जी॰ डी॰ए॰वी॰ कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
प्रो॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व॰), बवाना
प्रो॰ श्यामधर तिवारी, हिंदी विभाग, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शहाबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ अरुणकुमार भगत, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा (उ॰प्र॰)

 ISSN 0975-735X

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखंड

डॉ॰ रामानंद शर्मा
ई-89, वेव ग्रीन कॉलोनी
मुरादाबाद (उ॰प्र॰)

डॉ॰ मधुलिका तिवारी
रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल॰आर॰ पी॰जी॰ कॉलिज, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ॰प्र॰)

श्री हरिराम 'पथिक'
स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं॰ 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ वंदना सेमल्टे
टी॰एफ॰ 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाजियाबाद 201001

डॉ॰ मनमोहन शुक्ल
147, मायापुरी, आवास योजना
झूँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ॰प्र॰)

डॉ॰ विपिनकुमार गिरि
पुराना माधवनगर, भारद्वाज गली
सहारनपुर (उ॰प्र॰)

प्राचार्या
आर॰बी॰डी॰ महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ॰प्र॰) 246701

डॉ॰ सुधारानी सिंह
सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ॰प्र॰)

डॉ॰ पूनम भारद्वाज
17 प्रेम विहार, मुजफ़्फ़रनगर 251001
09997100697

डॉ॰ प्रेमव्रत तिवारी
सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ॰प्र॰)

श्रीमती अल्पना
द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरूनगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाजियाबाद 201001

डॉ॰ वंदना श्रीवास्तव
के 83 सी आशियाना, लखनऊ 226012

प्रो॰ धर्मेंद्रकुमार द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय
पुँवारका, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ महेंद्रपाल सिंह
सहायक प्रोफेसर, हिंदी
सेठ पी॰सी॰ बागला पी॰जी॰ कॉलेज, हाथरस

श्री रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'
सी 1702, जे एम अरोमा
सेक्टर 75, नोएडा (उ॰प्र॰) 201301
मो॰ 09313727493

डॉ॰ सुचित्रा मलिक
37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखंड

डॉ॰ श्रीकांत अवस्थी
राजीव गांधी विद्यालय
कोटा बाग, नैनीताल (उत्तराखंड)

सुरेंद्रकुमार जैन
हिंदी विभाग
स॰ भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा॰
रुद्रपुर (नैनीताल)

मध्य प्रदेश

डॉ॰ राजेंद्र मिश्र
14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)

डॉ॰ सुरेंद्र यादव
102 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत)
इंदौर 452018 मो॰ 09009566220

डॉ॰ ज्योतिसिंह
213 अनूपनगर
सी॰एच॰एल॰ अपोलो हास्पिटल के सामने
ए॰बी॰ रोड, इंदौर 452008 (म॰प्र॰)
09926300355

डॉ॰ चंदा तलेरा जैन
जी-17, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001
09425944773

डॉ॰ वंदना अग्निहोत्री
194 सुखदेव नगर, एरोड्रम रोड,
इंदौर (म॰प्र॰) 452001, मो॰ 09926477787

डॉ॰ पुष्पा शाक्य
110, सुंदरनगर मेन, सुकलिया, इंदौर (म॰प्र॰)
09827281203

डॉ॰ चंद्रकिरण अग्निहोत्री
108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001

प्रो॰ प्रहलाद तिवारी
111, वी॰आई॰पी॰, परस्पर नगर, स्कीम नं॰ 97
पार्ट 4, स्लाइस 4, इंदौर (म॰प्र॰) 452012
मो॰ 09406631688

डॉ॰ पंकज विरमाल
अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदौर क्रिश्चियन कालेज
इंदौर (म॰प्र॰) 452001

प्राचार्य, शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई
कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म॰प्र॰)

डॉ॰ प्रतिभा सोलंकी
ई डब्ल्यू 117, स्कीम 94, सेक्टर ई
रिंग रोड, निकट बंगाली चौराहा
इंदौर 452016 (म॰प्र॰)

डॉ॰ निशा तिवारी
650 नैपियर टाउन, भँवरताल वाटर टैंक के पीछे
जबलपुर 482001 (म॰प्र॰) मो॰ 09425386234

डॉ॰ नीना उपाध्याय
प्रो॰ हिंदी विभाग
868, इंदिरा गांधी वार्ड, अंजनी बिल्डर्स के पास
गढ़ा, जबलपुर (म॰प्र॰) 482003
मो॰ 09424305641

डॉ॰ स्मृति शुक्ला
ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड
जबलपुर (म॰प्र॰)

प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया
6 दीप्ति विहार, इंदौर रोड, उज्जैन (म॰प्र॰) 456010
मो॰ 9826214024

डॉ॰ गीता नायक
बी 11/9, महाकाल वाणिज्य केंद्र
उज्जैन (म॰प्र॰) 456010
मो॰ 9926834596

डॉ॰ श्रीकांता अवस्थी
1189 गली नं॰ 17 जे॰डी॰ए॰गार्डन
शांतिनगर दमोहनाका
जबलपुर (म॰प्र॰) 482002
मो॰ 9300598160

पंजाब/ हरियाणा

श्री हेमांशु शर्मा
हिंदी विभाग, साईंदास ए॰एस॰सी॰ सी॰से॰ स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या
कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या
कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ॰ विद्या चौधरी
मिर्जापुर फार्म, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ॰ विजय इंदु
1608 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

डॉ॰ कविता यादव
पुत्री श्री सुनिलकुमार, ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ॰ राजाराम अग्रवाल
ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि॰) 125053
मो॰ 09896789100

ISSN 0975-735X

डॉ॰ पुष्पा अंतिल
203, टॉवर-9, फ्रेस्को
निर्वाणा, सेक्टर 50, गुड़गाँव (हरि॰) 122018
मो॰ 096547444800

प्राचार्य
राजकीय महाविद्यालय, सिधरावली (गुड़गाँव)

प्राचार्य
द्रोणाचार्य राजकीय महाविद्यालय, न्यू रेलवे रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

प्राचार्य
राजकीय महाविद्यालय, सेक्टर 14
गुड़गाँव (हरियाणा)

प्राचार्य
हरद्वारीलाल राजकीय महाविद्यालय,
तावडू (मेवात)

डॉ॰ ऋषिपाल
ऐसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी-विभाग, बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

प्राचार्य
बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

डॉ॰ कैलाशचंद्र शर्मा 'शंकी'
प्रोफेसर कॉलोनी, स्टेडियम रोड
चरखी दादरी (भिवानी) हरियाणा 127306
मो॰ 09812121233

महाराष्ट्र

डॉ॰ मेहमूद रसूल पटेल
दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड़ (महा॰)

डॉ॰ शहाबुद्दीन नियाज़ मुहम्मद शेख़
(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰औरंगाबाद)
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको
अहमदनगर 414003, मो॰ 09850119687

प्रो॰ शेख़ मुहम्मद शाकिर शेख़ बशीर
अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ़ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैंप, पुणे 411201 (महा॰) मो॰ 09423017017

प्रा॰ डॉ॰ अभयकुमार रमेश खैरनार
मु॰पो॰ जुनवणे
तह॰ जि॰ धुले (महाराष्ट्र)

प्रा॰ अनंत नानाजी केदारे
5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दातेनगर, गंगापुर रोड, नासिक 422005 (महा॰)

डॉ॰ मंजूर चाँदभाई सय्यद
'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा॰)
मो॰ 09822991516

डॉ॰ शोभा साहेबराव राणे
17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट, नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग, सावरकर नगर,
गंगापुर रोड, नासिक (महा॰) 422013

डॉ॰ लियाक़त मियाँ भाई शेख़
अखिलेश नगर, प्लाट क्र॰ 11
नए बस स्टैंड के पास,
गंगापुर (औरंगाबाद) महा॰, मो॰ 09423933402

डॉ॰ संजय विक्रम ढोढरे
7, मोतीरामनगर, वाडीभोकर रोड,
देवपुर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ अशोक द्रौपद गायकवाड़
'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा॰) 414003
09822941330

प्रा॰ दत्तात्रय माधवराव टिलेकर
द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं॰ 13
पाटील अली, ओतूर
तह॰ जुन्नर, शिला पुणे (महा॰) 412409
09860229544

डॉ॰ अश्विनीकुमार 'विष्णु'
अध्यक्ष अँग्रेजी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा॰)

डॉ॰ मजीद मुनीर शेख़
ग्राम व पो॰ साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह॰ अंबड
शिला जालना (महा॰) 431212
मो॰ 09765944586

डॉ॰ भरत त्रयंबक शेणकर
द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो॰ व तह॰ अकोले
शिला अहमदनगर (महा॰) 422601
09423164521

डॉ॰ पोपट विट्ठल कोटमे
फ्लैट नं॰ 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा॰) 422006
मो॰ 09850760866

डॉ॰ एस॰एन॰ देवरे
प्लाट नं॰ 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा॰) 424002

डॉ॰ श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके
सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र॰ 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफ़िस
नागपुर 440014 (महा॰)

सुश्री शारदा बी॰ जावरे
ओमकार, समृद्धि डेपलपर, फ्लेट क्र॰ 402
प्लाट नं॰ 26, सर्व क्र॰ 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)
मो॰ 08805616654

प्रा॰ (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार
स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड, कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा॰)
मो॰ 09011449636

सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश
661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
मो॰ 09975773345

प्रो॰ डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

प्रा॰ अशोक शामराव मराठे
116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह॰ साक्री,
जिला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा॰ पंजाबी ममता नानकचंद
19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री, जिला धुले 424304

प्रा॰ डॉ॰ योगेश गोकुळ पाटिल
प्लॉट नं॰ 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपुर, धुले 424002

प्रा॰ उषा पुंडलिक शिरोळे
द्वारा श्री शशिकांत हरी बागड़े
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
जिला नासिक (महा॰)

प्रा॰ करुणा दत्तात्रय अहिरे
व्ही॰यू॰ पाटिल कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह॰ साक्री, जिला धुले 424304

प्रा॰ डॉ॰ प्रमोद गोकुळ पाटील
मु॰पो॰ मोराणे (प्र॰ल॰)
तह॰ जिला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा॰ डॉ॰ अश्फाक सिकलगर
जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा॰ डॉ॰ महेंद्रसिंह रघुवंशी
सरस्वतीनगर, प्लॉट नं॰ 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास, नंदुरबार 425412

ISSN 0975-735X

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख
बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ॰ रेखा वसंत पाटील
सीतामाईनगर, चालिसगाँव
शिला जलगाँव (महा॰) 424101

प्रा॰ डॉ॰ मंजू तरड़ेजा (सिंघाणी)
ब्लॉक नं॰ आर-10, रूम नं॰ 10,
कुमारनगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा॰ डॉ॰ चंद्रमादेवी पाटील
59, धनदाईनगर, गोंदुर रोड, वलवाडी,
देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ संजयकुमार नंदलाल शर्मा
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
तलोदा, जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

डॉ॰ देवकीनंदन महाजन
1 टेलीफोन कालोनी,
धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ॰ कल्पना राजेंद्र पाटील
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर
फ्लेट नं॰ 12, एस नं॰ 137/2
वारजे मलवाडी, पुणे 411058, मो॰ 08087612123

प्रा॰ डॉ॰ रामचंद्र माली
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
क॰वा॰वि॰ महाविद्यालय
नवापुर, शिला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ॰ सुषमा कोंडे
81/ए, प्लाट नं॰ 9/ए,
गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
मो॰ 09822848464

प्राचार्य विद्यावर्धिनी महाविद्यालय
धुले (महा॰) 424001

डॉ॰ हेमलता कांचनकर
43 नंदनवन कालोनी (कैंट)
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
मो॰ 09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपड़े
द्वारा सुश्री सुनीता पवार
फ्लैट नं॰ 404, प्रकाश मेमाराइज
एस नं॰ 73, दूध डेयरी, पुणे-411046

सुश्री भारती मधुकर पाटील
मु॰पो॰ सावलदे, तहसील शिरपूर
जिला धुले (महा॰)

प्रा॰ शिंदे नवनाथ सर्जेराव
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
कडलास रोड, सांगोला (सोलापुर) 413307
मो॰ 09763602304

डॉ॰ मीनल प्रमोद बर्वे
7, गिरिजात्मक, अष्टविनायक रेजिडेंसी,
के॰जे॰ मेहता कालेज के पास, नासिक-पुणे हाईवे
नासिक रोड (महाराष्ट्र) 422001
मो॰ 09423968189

प्रो॰ अमानुल्लाह मो॰ शेख़
श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिग ए, बिंग ए-201
आई॰टी॰आई॰ कालेज के पास
पो॰ मुकिंदपुर, तह॰ नेवासा
जिला अहमदनगर (महा॰)

प्रा॰ ईश्वर पदमसिंग ठाकुर
जनशक्ति कालोनी
रिंग रोड, फैजपुर, तहसील यावल (जलगाँव)

डॉ॰ दीपक विश्वासराव पाटील
मुकाम सौंदाणे, निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
पो॰ बडजाई (धुले) महा॰ 424002
मो॰ 099923811609

श्री शेख शिराज हसन
पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा॰), मो॰ 09011444059

डॉ॰ अनिता मधुकर अंतरे
मयूर सोलर ऐजेंसी
स्वामी समर्थ मंदिर के पास
पो॰ लोनी बी के, तालुका रहाता
जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
मो॰ 09970343766

डॉ॰ विट्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे
'सी' टाइप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
जिला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
मो॰ 08888590156

डॉ॰ उर्मिला मानसिंह गायकवाड
प्लॉट नं॰ 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग,
फ्लैट नं॰ 303 रावेत निकट डी-मार्ट
पुणे 412101, मो॰ 07620225839

डॉ॰ एफ॰एम॰ शाह
द्वारा श्री टी॰एम॰ धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी॰बी॰ टोली
गोंदिया (महा॰) 441614
मो॰ 07620042772

डॉ॰ शैला पांडुरंग चव्हाण
फ्लेट नं॰ 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे,
सिंघाड़ा तालाब, नासिक (महा॰) 422001
मो॰ 09850827138

प्राचार्य
कला, वाणिज्य व कंप्यूटर
एप्लीकेशन महिला महाविद्यालय
डोंगर कठोरे, यावल,
जिला जलगाँव (महा॰)

प्रा॰ पुरुषोत्तम कुंदे
हिंदी विभाग, न्यू आर्ट्स कामर्स एंड साइंस कालेज
शेवगाँव (अहमदनगर) 414502 महाराष्ट्र
मो॰ 09850947267

प्रा॰ अमृता भरत पाटिल
प्लाट नं॰ 23, बालाप्पा कॉलोनी
अशोकनगर के पास, जमनागिरि रोड
धुले (महा॰) 424001

डॉ॰ सचिन कदम
हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

रूपाली नामदेवराव रिंगे
द्वारा बालाजी संभाजी कदम
फ्लैट नं॰ 12, साईं श्रद्धा रेसिडेंसी, प्लॉट नं॰ 78
सी॰डी॰सी॰ पूर्णनगर, चिंचवड,
पुणे 411019 महाराष्ट्र
मो॰ 09420848635, 07276268922

प्रो॰ मनोहर हिलाल पाटिल
प्लॉट नं॰ 1, परिजात कॉलोनी
निकट इंदिरा गार्डन, देवपुर धुले 424002 (महा॰)

गुजरात

श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर
201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी,
बड़ोदरा (गुजरात) 391740
मो॰ 09624501415

कर्नाटक

डॉ॰ जुबैदा हाशिम मुल्लाँ
बैतुल हाशमी, म॰नं॰ 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

तमिलनाडु

Dr. V. Jayalakshmi
Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Perumbakkam, Chennai-600100

ISSN 0975-735X

अनुक्रम

हास्य कवि : काका हाथरसी/ **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, डॉ॰ मीना अग्रवाल** 12
गांधी : पत्रकार बनने की भूमिका/**डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका** 18
इक्कीसवीं सदी की महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ/
विद्यावाचस्पति प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया 20
हिंदी के विकास में स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाज का योगदान/
डॉ॰ अशोक उपाध्याय 25
काव्य-हेतु : चिंतन के आयाम/ **प्रो॰ डॉ॰ अर्जुन चव्हाण** 34
आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की संपादन-कला/**दुर्गाकुमारी गहन** 44
'साकेत' महाकाव्य का महत्त्व एवं मूल्यांकन/**डॉ॰ गरिमा डिमरी** 48
उदात्त-प्रेम की औपन्यासिक अभिव्यक्ति: बाणभट्ट की आत्मकथा/
डॉ॰ मजीद शेख 53
मोहन राकेश के नाटकों में नारी-चरित्र/**राजेश पंडित** 61
माटी माटी अरकाटी : दास्तान-ए-आदिवासी
गिरमिटिया मजदूरों का प्रवास/ **सपना दास** 66
आचार्य हरिश्चंद्र वर्मा का जीवन और साहित्य/
कु॰ सिमरनजीत कौर, डॉ॰ महेश दिवाकर 73
संस्कृत व्याकरण की उत्पत्ति एवं उसका विकासात्मक स्वरूप/ **वेदानंद** 77
संत दादूदयाल के दार्शनिक विचार/ **उषादेवी मीणा** 82
मंजुल भगत के कथासाहित्य में दमन, आतंक एवं उग्रवाद/ **डॉ॰ नर्मदा रावत** 90
आली मोहि लागत बृंदाबन नीको/ **डॉ॰ महीपाल सिंह राठौड़** 93
अलका सरावगी के उपन्यासों में स्त्री-अस्मिता/ **महादेव मीणा** 98
कमलकुमार के 'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास का समीक्षात्मक अध्ययन/
लक्ष्मणराम जाट 104
हिंदी और पंजाबी के नाटकों में बदलता परिवारिक परिवेश/
गुरमीत सिंह, डॉ॰ विनोदकुमार 110
प्रगतिवादी आंदोलन का उदय और विकास/**डॉ॰ नीता कुमारी** 116
आलोचना और आलोचक : एक विवेचनात्मक अध्ययन/**डॉ॰ जितेंद्रकुमार सिंह** 122
सुरेंद्र वर्मा के उपन्यासों में स्त्री चेतना के विविध रूप/ **अनुराधा जारवाल** 132
अभिनंदन-ग्रंथों और स्मृति-ग्रंथों की परंपरा/ **गुंजन अग्रवाल** 137
मुद्दे की बात और एक सहज व्यंग्यकार का लेखन/ **डॉ॰ रमेश तिवारी** 145
जनसंचार की आवश्यकता और हिंदीभाषा का योगदान/ **डॉ॰ पूजा झा** 151
प्रेमचंद के उपन्यासों में विधवा-विमर्श/ **डॉ॰ प्रकाशकुमार अग्रवाल** 156
महाकवि सेनापति के काव्य में रामकथा की अंतर्वस्तु/ **अशेष उपाध्याय** 159

डॉ॰ अशोक चक्रधर के जीवनमूल्यों का व्यवहार पक्ष/ **डॉ॰ मनीषा मित्तल** 167
नरेंद्रमोहन के नाटकों में दलित-चेतना/ **रितु, डॉ॰ संतराम वैश्य** 173
किन्नर विमर्श : 'अन्य' का दर्जा/ **डॉ॰ मधु कौशिक** 178
काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरी की धार से एक दृष्टि : कालिदास की संघर्ष यात्रा/ **मुकेशकुमार त्रिपाठी** 183
आदिवासी की अवधारणा और जातीय स्वरूप/ **डॉ॰ मुन्ना शाह** 188
हिंदू-विवाह के नियम एवं निषेध : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन/ **डॉ॰ नीना रंजन** 196
लोहा एवं इस्पात उद्योग का प्रादुर्भाव, विकास तथा समस्याएँ/ **डॉ॰ लवली गुप्ता** 203
अंगप्रदेश तथा अंगिका पर सिद्धसाहित्य का प्रभाव/ **सुजाताकुमारी** 207
साहित्यिक कृतियों में मानवमूल्यों की भूमिका डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र के निबंधों के संदर्भ में/ **डॉ॰ सुमन शर्मा** 220
डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा के व्यंग्यात्मक गद्य का अभिव्यंजना कौशल/ **डॉ॰ विनीता शर्मा** 225
रंगान्वेषी नाटककार डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल 'चंद्र'/ **डॉ॰ नानासाहेब गोरे** 232
सामाजिक हिंदी उपन्यासों में पुरुष पात्र/ **डॉ॰ चिलुका पुष्पलता** 236
रामविलास शर्मा की अलोचना-दृष्टि/ **रघुवीरकुमार** 240
स्वतंत्रतापूर्व हिंदी कविता में किसान जीवन संघर्ष/ **डॉ॰ गोरख प्रभाकर काकडे** 244
कविकल्पतरु भगवंतराय खींची/ **डॉ॰ रामानंद शर्मा** 253
अंतर्राष्ट्रीय हिंदी के प्रथम डी॰लिट्॰ एवं पांडुलिपियों के संकलन एवं संरक्षणकर्ता उत्तराखंड गौरव डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल/ **डॉ॰ पुष्पा खंडूरी** 264
अर्थ : अर्थ और परिभाषा/ **डॉ॰ हसमुख परमार** 270
भाषिक संप्रेषण की सैद्धांतिकी/ **डॉ॰ सुनील डहाळे** 275
लोककवि नजीर अकबराबादी के काव्य में पर्वों एवं त्योहारों का चित्रण/ **डॉ॰ फैयाज अहमद** 281
सौंदर्यबोध और हिंदी की स्त्रीवादी कविता/ **डॉ॰ अमियकुमार साहु** 286
हिंदी हाइकु में प्रेम का चित्रण/ **रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'** 293
समकालीन राजनीति का सच 'कैसी आगी लगाई' के संदर्भ में/ **मायादेवी, डॉ॰ मृदुल जोशी** 301
'दुक्खम-सुक्खम': भारतीय समाज की मुखर अभिव्यक्ति/ **रश्मिकुमारी** 309
'दरियाई घोड़ा' में अभिव्यक्त सामाजिक युगबोध/ **डॉ॰ मुदुल जोशी, रीतु** 313
हिंदीकाव्य और प्रकृति/ **डॉ॰ सुधारानी सिंह** 320
बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु के चिट्ठे' में सामाजिक और सामयिक प्रतिबद्धता/ **प्रा॰ सुहास वसंतराव अंगापुरकर** 326
डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया के परिपेक्ष्य में न्यू इंडिया की अवधारणा : भारत का बदलता स्वरूप, उपलब्धियाँ और संभावनाएँ/ **डॉ॰ यशमाया राजोरा** 330
कमलेश्वर की कहानियों में यथार्थबोध/ **अनिलकुमार अनल** 335
देश की वर्तमान समस्याएँ और राही मासूम रजा/ **चंदनकुमार** 342

ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन एक दंशकथा/ **डॉ॰ संजय गडपायले** 347
तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की भूमिका
(रूसी और हिंदी साहित्य के संदर्भ में)/ **अमृतकुमार** 351
संत तुलसी साहब की सामाजिक चेतना/ **कु॰ किरण त्रिपाठी** 358
कबीरविषयक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की आलोचना-दृष्टि/ **विनयकुमार पांडेय** 367
डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' के यात्रा-साहित्य में सामाजिक समरसता के तत्त्व/
डॉ॰ सुमित मोहन 373
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व/
डॉ॰ तमन्ना फातिमा 379
सरोज दहिया रचित 'पटराणी' काव्य में पारिवारिक जीवनमूल्य/ **संतोष कुमारी** 382
गौरा पंत शिवानी की कहानियों के समस्याग्रस्त नारी-जीवन/
कला ए॰, डॉ॰ एल॰ तिल्लै सेल्वी 386
दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र बनाम परंपरावादी सौंदर्यशास्त्र/ **जयकांत यादव** 391
महात्मा गांधी की दृष्टि में स्त्री/ **मनोहरकुमार यादव** 397
रघुवीर सहाय के काव्य में महँगाई/ **नीरजकुमार सिन्हा** 401
हिंदी नवगीत : परिदृश्य और मूल्यांकन/ **श्वेताकुमारी** 408
परशुराम शुक्ल के बालकहानी-संग्रह 'नैतिक बाल-कहानियाँ' का विश्लेषण/
योगेशकुमार साहू 413
सीताकांत महापात्र : परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा/ **डॉ॰ नमस्या** 421
व्यक्तिवाचक नाम समूह का भाषावैज्ञानिक अध्ययन/ **डॉ॰ मधु शर्मा** 425
गांधीवादी विचारधारा का आख्यान और 'मैला आँचल'/ **शबनम तब्बसुम** 432
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र से डॉ॰ रमेश तिवारी की बातचीत 439
Chaudhuri As A Stylist**Dr. Mohd. Sarfaraj Ahmad** 443
Quantity in Activities Conduced in Higher Education : A Critical Analysis\
Pallavi Priyadarshini, Pawan Sahu 448
'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क पे नाज था' घर-घर पढ़ा जानेवाला उपन्यास/**सुधा ओम ढींगरा** 457
'खुशबू-सा बिखर जाऊँगा' की गजलें/ **राजेंद्र वर्मा** 460

काका के जन्मदिन पर विशेष (18 सितंबर 1906)

हास्यकवि : काका हाथरसी

काका हाथरसी ने भी अपने काव्य में सामाजिक, राजनीतिक या जीवन की प्रत्येक प्रकार की समस्याओं, दशाओं, परिस्थितियों, चरित्रों और व्यवहारों की डटकर हँसी उड़ाई है और उनकी इस हँसी का उद्देश्य रहा है समाज की गंदगी और असंगतियों को दूर करना और वह इस कार्य में पूर्ण रूप से सफल भी रहे हैं, समाज की विषमताओं और कुरीतियों पर उन्होंने गहरी चोट की है, उसमें इतनी अधिक तीव्रता है कि उसका लक्ष्य खाली नहीं जाता, निशाना चूकता नहीं। काका की क़लम का कमाल कार से लेकर बेकार तक, भ्रष्टाचार से चोर बाज़ार तक, परिवार से पत्रकार तक, अख़बार से गँवार तक, रिश्वत से दुर्गत तक, फ़ैशन से राशन तक, परिवार से नियोजन तक, कमाई से मँहगाई और मंत्री से संत्री तक देखने को मिलता है। मतलब यह है कि काका ने हर समस्या में हास्य खोजा है और उसकी डटकर हँसी उड़ाई है।

काका ने भ्रष्टाचारी समाज का सही चित्र खींचा है। न्यायालयों की स्थिति बड़ी भयंकर है, वह न्यायालय है या भ्रष्टालय इसका भेद आसानी से नहीं किया जा सकता, यहाँ न्याय तो बाद में मिलता है, परंतु उससे पहले की मुड़ाई से कोई बच जाए तभी तो, क्योंकि–

प्लीडर, मुंशी, मुहर्रिर, सब निचोड़ लें अर्क,
सायल को घायल करे, फायल वाला क्लर्क।
फायल वाला क्लर्क, अगर कुछ बच जाएगा,
वह चपरासी के इनाम में पच जाएगा।
कह काका, जो जीत गया सो हारा समझो,
हार गया सो पत्थर से दे मारा समझो।

वस्तुओं में तरह-तरह की मिलावट करके लाखों के वारे न्यारे करनेवालों की इस देश में बढ़ोत्तरी होती जा रही है, परंतु मिलावट करनेवालों का तर्क है कि यह सृष्टि भी तो मिलावट से ही तैयार हुई है, इसलिए मिलावट करनेवालों की निंदा करना ही व्यर्थ है–

वेदशास्त्र सबने यही तथ्य किया स्वीकार,
मिलकर माया ब्रह्म यह सृष्टि हुई तैयार।
सृष्टि हुई तैयार, विधाता सृष्टाचारी,
शब्द बिगड़कर यही हो गया भ्रष्टाचारी।
कह काका, कर रहे मिलावट की क्यों निंदा,
चलने दो व्यापार, भजो राधे गोविंदा।

सारे क्षेत्र में आज रिश्वत का बोलबाला है, हर काम इसकी सहायता से संपन्न हो सकता है, और कभी रिश्वत लेने वाला पकड़ा भी जाए तो भी उसका बालबाँका नहीं हो सकता, कितना करारा व्यंग्य है रिश्वत पर–

कूटनीति मंथन करी, प्राप्त हुआ यह ज्ञान,
लोहे से लोहा कटे, यह सिद्धांत प्रमान।

 ISSN 0975-735X

यह सिद्धांत प्रमान, ज़हर से ज़हर मारिए,
चुभ जाए काँटा, काँटे से ही निकालिए।
कहँ काका कवि, काँप रहा क्यों रिश्वत लेकर,
रिश्वत पकड़ी जाय, छूट जा रिश्वत देकर।

रिश्वत का महत्त्व कितना अधिक है–

जिसको नहीं नसीब थी, टूटी-फूटी छान,
आज वहाँ भन्ना रही कोठी आलीशान।
कोठी आलीशान, भिनकतीं मुँह पर मक्खी,
उनके घर में घूम रही चाँदी की चक्की।
कहँ काका कवि, जो रिश्वत का हलवा खाते,
सूखे-पिचके गाल कचौड़ी-से हो जाते।

विद्यार्थीवर्ग में अनुशासन की समस्या भी अब प्रचंड रूप में सामने आ रही है, छात्र अनुशासन की टाँग तोड़ रहे हैं, उनको अपनी पढ़ाई की कोई चिंता नहीं है वरन् अपनी माँगों के लिए वक़्त को बरबाद करना ही उनका काम है। काका ने ऐसे शिक्षार्थियों को संबोधित करते हुए अपने हास्य द्वारा कितना सही चित्र खींचा है–

अधिकारी मानें नहीं, अगर तुम्हारी माँग,
हाकी लेकर तोड़ दो, अनुशासन की टाँग।
अनुशासन की टाँग, वही बन सकता नेता,
जो सभ्यता, शिष्टता का चूरन कर देता।

काका कृत विद्यार्थी की परिभाषा भी कितनी सटीक है–

कहँ काका कविराय, वही सच्चा विद्यार्थी,
जो निकालकर दिखला दे विद्या की अर्थी।

पूज्य पिता की नाक में नकेल डालकर पुत्र महाशय क्या कार्य करते हैं, पिताजी अपनी हड्डियों को घिस-घिस कर पुत्र को पढ़ाने का ख़र्चा निकालते हैं, परंतु पुत्र महोदय कालेज स्टूडैंट बने हुए आनंद की छानते हैं, ऐसे छात्रों पर काका का व्यंग्य–

फादर ने बनवा दिए, तीन कोट छै पैंट,
लल्लू मेरा बन गया कालिज स्टूडैंट।
कालिज स्टूडैंट, हुए होस्टल में भरती,
दिन-भर बिस्कुट चरैं, शाम को खायँ इमरती।
कहँ काका कविराय, बुद्धि पर डाली चादर,
मौज कर रहे पुत्र, हड्डियाँ घिसते फादर।

यहीं पर 'नेता' बनने की सलाह देते हुए काका का प्रवचन माननीय है–

कहँ काका कवि, राय भयंकर तुमको देता,
बन सकते हो उसी तरह बिगड़े दिल नेता।

आज एक छोर से दूसरे छोर तक अँग्रेज़ियत छाई हुई है, लोग अँग्रेजी धुन में गाते हैं, रोते हैं और शोक मनाते हैं, यही नहीं उनको हँसी भी अँग्रेज़ी में ही आती है। लोगों को अँग्रेज़ी दाँ माने

जाने में परम प्रसन्नता का अनुभव होता है। ऐसा ही एक व्यक्ति अपनी वास्तविकता का उद्‌घाटन कितने गर्व के साथ कर रहा है–

बुद्धू हैं वे लोग जो समझते हैं मुझे हिंदी का भक्त,
मेरी रगों में दौड़ रहा है अँग्रेज़ी रक्त।
मालूम नहीं?
जिस प्रकार दानवीर कर्ण ने
कवच और कुंडलों-सहित
कुंती की कोख से लिया था जन्म
उसी तरह मैंने भी
इंगलिश सूट धारण किए हुए
लिया था अवतार।

अँग्रेज़ी बंदर नामक फुलझड़ी में अँग्रेज़ी सभ्यता के पोषक संतों पर कितना करारा व्यंग्य है–

काका या संसार में व्यर्थ भैंस अरु गाय,
मिल्क पाउडर डालकर पी लिप्टन की चाय।
पी लिप्टन की चाय, साहबी ठाठ बनाओ
सिंगल रोटी छोड़, डबल रोटी तुम खाओ।
कहँ काका कविराय, जीभ में लावौ तेजी,
हिंदीभाषा छोड़, बोल बेटा अँग्रेज़ी।

इस अँग्रेज़ियत का ही परिणाम है कि देश में तरह-तरह के फ़ैशनों की बाढ़ आई हुई है, अब तो टापलेस नारियाँ ही दिखाई देती हैं, समाज में आधुनिका नारियों का बोलबाला है। अब तो डिमांड भी ऐसी ही नारियों की है, जो फ़ैशन में पगी हों, संस्कृति को उधेड़ने में लगी हों। फ़ैशनपरस्त नारी पर काका की व्यंजना–

बहू वही फार्वर्ड है, जो हो अपटूडेट,
सास-ससुर के सामने पीती हो सिगरेट।
पीती हो सिगरेट, बदन आधा ही ढाँपे,
भौजी भागे दूर, ननदिया थर-थर काँपे।
काका करें विरोध, उड़े अक्कल की बक्कल,
चौंके में घुस जाय पहन बाटा की चप्पल।

आज की नारी फ़ैशन में जितनी कुशल है, गृहस्थी के कामों में उतनी ही फूहड़, चूल्हे चौके का रोमांस शीर्षक फुलझड़ी में काका ने आधुनिका पत्नी पर करारा व्यंग्य किया है–

आधुनिका पत्नी मिली, पति के पड़ी नकेल,
वाक्‌शास्त्र में पास थी, पाकशास्त्र में फेल।
पाकशास्त्र में फेल, रसोई कर दी चालू,
स्वेटर बुनने लगी, जल गए सारे आलू।
पुस्तक खोली, पति से बोली, जल्दी आओ,

 ISSN 0975-735X

जले आलुओं के ऊपर बरनॉल लगाओ।

जनसंख्या की वृद्धि आज देश की सबसे बड़ी समस्या है, परंतु काका ने इसको भी अपने ही अंदाज़ से देता है। जनसंख्या की वृद्धि पर जब परिवार- नियोजन का नारा बुलंद हुआ तो काका ने इसकी सिद्धि के लिए रेलयात्रा में पूरी की पूरी बर्थ पर कंट्रोल कर लिया, दूसरे यात्रियों के शोर मचाने पर टीटी महाशय आए हैं तो काका का उत्तर कितना मज़ेदार है–

नेता सब चिल्ला रहे, पीट-पीटकर ढोल,
जितना भी तुम कर सको, करो बर्थ कंट्रोल।
करो बर्थ कंट्रोल, अर्थ को समझो बाबू,
इसीलिए तो किया बर्थ पर हमने काबू।

बेकारी की समस्या और बेकारों के मनहूसियत-भरे चेहरों की कल्पना कर काका के दिमाग़ में आया कि पढ़ने-लिखने से तो मिल में मजदूरी ही करना ठीक होता। शिक्षा केवल सफ़ेदपोशी को प्रश्रय दे रही है। हर कोई केवल क्लर्क बनना चाहता है या फटीचर टीचर। इसी विषय पर काका की व्यंग्योक्ति–

पढ़-पढ़कर पत्थर भए, गुन-गुन होंगे कूर,
सो की तनखा मिल रही, बन जा मिल मजदूर।
बन जा मिल मजदूर, मास्टरी में क्या रक्खा,
भूखा रहकर जीवन-भर खाएगा धक्का।
कहँ काका कविराय, हो गए काजी, पाजी,
पढ़ा-लिखाकर हमें कर गए भूल पिताजी।

काका ने जहाँ पर राजनीतिक समस्याओं पर लेखनी चलाई है, वहाँ पर उनका व्यंग्य बहुत अधिक तीखा हो गया है। राजनीति की समस्त उलट- नीतियाँ-पलट नीतियाँ उनके राजनीतिक हास्य में उभरी हैं।

आजकल चुनाव एक ऐसा साधन बन गया है, जिसके माध्यम से सारी खुराफ़ातों को करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। चुनाव के चक्कर, प्रत्याशियों के रूप, सीटों की लड़ाई और मंत्री पदों की दौड़-धूप पर काका का व्यंग्य नश्तर के समान सिद्ध हुआ है। दलबदलुओं का धंधा अब तेज़ी से पनप रहा है। आयाराम, फिर गयाराम और अंत में मायाराम, काका ने इस बात को इस प्रकार नोट किया है–

दिन दूनी बढ़ने लगी, जोड़-तोड़ की होड़,
स्वारथ ने सिद्धांत का, दिया झोपड़ा फोड़।
दिया झोपड़ा फोड़, मिल गए अधिक दाम जी,
मिस्टर आयाराम बन गए गयाराम जी।
काका बढ़ते-बढ़ते ऊँचे दाम हो गए,
गयाराम कुछ दिन में मायाराम हो गए।

फिर यह आयाराम-गयाराम जी मिनिस्ट्री में पद प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाते हैं और बार-बार दल बदलने में भी हिचकिचाते नहीं हैं, काका ने नेताओं की इस

स्थिति पर करारी चोट की है–

मंत्रीपद की लूट है, लूट सके तो लूट,
अंतकाल पछताएगा, प्राण जाएँगे छूट।
प्राण जाएँगे छूट, मेज़ पर रक्खे पेपर,
बदल पार्टी, इस्तीफ़ा पर कर सिगनेचर।

मंत्री पद प्राप्त कर नेता लोगों को फिर अपनी चिंता होती है। जनता जाए भाड़ में, सात पुश्तों के दुख-दारिद्रय को मंत्री पद दूर कर देता है। परंतु यह मंत्री मंडल किस प्रकार के बनते हैं, यह जानना भी एक आश्चर्यजनक सत्य है। जहाँ बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता नहीं, व्यावहारिक कुशलता के दर्शन नहीं, इसी को काका का मंत्रीमंडल कविता में कितने सटीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है–

हमारे प्रधानमंत्री होंगे कविवर फक्कड़ जी
ईंधन मंत्री लक्कड़ जी,
खाद्य मंत्रालय को सुशोभित करेंगे डा॰ पकोड़ा जी
रक्षा मंत्रालय पर विराजेंगे हथौड़ा जी।
फकाफक जी रेल मंत्री/ चकाचक जी जेल मंत्री
शिक्षा विभाग के लिए कविवर बुद्धूजी बिल्कुल फिट हैं।
सूचना और प्रसारण के लिए/ सब दोषों से मुक्त
महाकवि भोंपू जी उपयुक्त।
सेवा और परमार्थ के नशे में चूर रहते हैं
साहित्य, संगीत, कला से/ दो हज़ार किलोमीटर दूर रहते हैं।
परिवहन मंत्री जी सुनिश्चित हैं अड़ियल जी
अनुभवी पुराने हैं, ड्राइवरी कर चुके हैं
दो दर्जन कुत्ते और आठ व्यक्ति मर चुके हैं।

चुनाव के चक्कर और नेताओं की कलाबाज़ियों से हटकर काका की दृष्टि शासन-प्रबंध और सरकार की नीतियों पर भी रुकी है और फिर उन्होंने उसका डटकर मज़ाक उड़ाया है। हमारा शासन-प्रबंध आज क़र्ज़ पर आधारित है। जिधर जाते हैं, हमारा हाथ फैला ही रहता है। इसी संदर्भ में काका का वित्तमंत्री से इंटरव्यू और उनका उत्तर कितना बड़ा व्यंग्य उपस्थित कर रहा है–

श्री मुरार जी से मिले काका कवि अनजान
प्रश्न किया, 'क्या चाँद पर रहते हैं इंसान।'
रहते हैं इंसान, मारकर एक ठहाका,
कहने लगे कि तुम बिल्कुल बुद्धू हो काका।
अगर वहाँ मानव होते, हम चुप रह जाते,
अब तक सौ दो सौ करोड़ क़र्ज़ा ले आते।

भाषाविधेयक पर काका का व्यंग्य सारे देश की राजनीति का सार प्रकट करता है–

बोले सीना तानकर कड़घम-झगड़म दास,
सभी टापते रह गए, हुआ विधेयक पास।

 ISSN 0975-735X

हुआ विधेयक पास, साथ जयचंद हमारे,
तब तक अड़ियल नीति देश से टरे न टारे।
खुशख़बरी लंदन वाले डैडी को भेजी,
हिंदी हारी, जीत गई मम्मी अँग्रेज़ी।

सरकार की अँग्रेज़ी भाषा से संबंधित नीति पर काका का एक और व्यंग्य, जिसमें केवल अँग्रेज़ी को महत्ता दी गई है। बेचारी हिंदी तो दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दी गई है–

छोटे-छोटे बच्चों को अँग्रेज़ी शिक्षा,
वर्तमान सरकार दे रही है प्राइमरी में।
लेकिन मैं तो इससे भी कुछ आगे बढ़कर,
गर्भवती सब माताओं को/ अँग्रेज़ी की पहली पुस्तक
किंग प्राइमर/ घोट-पीसकर पिलवा दूँगा।
शिशु पृथ्वी पर आएगा तो/ रोएगा भी अँग्रेज़ी में
हाँसेगा भी अँग्रेज़ी में/ खाँसेगा भी अँग्रेज़ी में।

यह तो परिस्थितियों, घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत हास्य के प्रसंग हैं। परंतु काका ने श्रेष्ठ शाब्दिक हास्य की भी सृष्टि की है। उनकी अनेक कविताओं में शब्दों के द्वारा उत्तम कोटि का हास्य प्रस्तुत किया गया है। काका ने अपनी काका कोश, लिंग-भेद, नाम बड़े और दर्शन छोटे, मार के चमत्कार, संक्षिप्तीकरण, दान आदि कविताओं में शब्दों का अद्‌भुत चमत्कार दिखाया है और भरपूर हास्य पैदा किया है। काका कोश में प्रस्तुत कुछ शब्दों की परिभाषाएँ देखिए–

अफ़सर माने रौब है, इनकम माने टैक्स,
भौंरा माने भगत जी, पूजन माने सैक्स।
भूतपूर्व का अर्थ है, बहुत पुराना भूत,
मात-पिता जिससे डरें, उसका नाम सपूत।
उसका नाम सपूत, मूँग छाती पर दलता,
आज़ादी के माने समझो उच्छृंखलता।
बदल गए शब्दार्थ, क्योंकि बदली मर्यादा,
चेला माने गुरु, गुरु के माने चेला।

काका की दृष्टि का लेंस इतना विशाल और पावरफुल है कि उसमें सब-कुछ आ जाता है। उनकी हास्य-व्यंग्य की अनेक कविताएँ समाज के अँधेरे कोने में जनता को प्रकाश प्रदान कर रही हैं। अहिंदीभाषी क्षेत्रों में भी हिंदी को लोकप्रिय बनाने में उन्होंने पर्याप्त सहयोग दिया है। जनभाषा में लिखी गई उनकी कविताएँ पढ़-अपढ़, बाबू-लाला, उच्च तथा निम्नवर्ग सभी के लिए मनोरंजन का विषय बनी हुई हैं। वास्तव में भारतेंदु से चलने वाली हास्य-व्यंग्य की धारा का पूर्ण विकसित रूप काका में आकर साकार हुआ है।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
डॉ॰ मीना अग्रवाल

गांधी : पत्रकार बनने की भूमिका

डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका

बीसवीं शताब्दी में विश्व के जिन व्यक्तियों ने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से विश्व इतिहास में अमरत्व प्राप्त किया। उनमें भारत के मोहनदास कर्मचंद गांधी का उल्लेख भी बड़े आदर के साथ होता है। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में रवींद्रनाथ टैगोर ने उन्हें 'महात्मा की पदवी' दी और स्वतंत्र भारत में उन्हें 'राष्ट्रपिता' के रूप में सम्मान दिया गया। गांधी का जीवन बहुआयामी और बहुउद्देशीय था। इंग्लैंड में शिक्षा ग्रहण करने से लेकर दक्षिण अफ्रीका में रहने और फिर भारत लौटने तक और उसके उपरांत उनके देहांत तक उनके व्यक्तित्व के ये विभिन्न रूप सामने आते हैं। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र न था, जहाँ गांधी न पहुँचे हों तथा देश-विदेश की ऐसी कोई समस्या नहीं थी जिस पर गांधी ने न सोचा हो और अपने विचार व्यक्त न किए हों। देश-विदेश के असंख्य विद्वानों ने गांधी के बहुआयामी कृतित्व की व्यापक मीमांसाएँ की हैं, परंतु उनका पत्रकार तथा पत्रकारिता का पक्ष ऐसा है, जिसकी गंभीरतापूर्वक विवेचना नहीं हुई है। गांधी के जीवन का यह पक्ष ऐसा है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है और इसीलिए उपेक्षणीय नहीं है। गांधी को महात्मा गांधी बनाने में इग्लैंड का शिक्षाकाल तथा दक्षिण अफ्रीका के प्रवासकाल का योगदान महत्त्वपूर्ण है, परंतु उनके व्यक्तित्व के निर्माण तथा विश्वव्यापी विस्तार में पत्रकारिता का योगदान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। गांधी यदि इंग्लैंड अध्ययन के लिए नहीं जाते तो वे बैरिस्टर नहीं होते और वे बैरिस्टर नहीं होते तो दक्षिण अफ्रीका नहीं जाते और इस प्रकार उनके पत्रकार बनने तथा अपने लक्ष्यों के लिए पत्रकारिता के उपयोग की संभावनाएँ भी धूमिल हो जातीं। इंग्लैंड तथा दक्षिण अफ्रीका के लगभग पच्चीस वर्ष के प्रवासकाल में गांधी में अँग्रेजी सत्ता और अँग्रेजी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रबल संकल्प-शक्ति उत्पन्न हुई और उन्होंने भारत-सेवा के साथ मानवसेवा की नई जीवनदृष्टि की रचना की और इसके प्रचार तथा विस्तार ने बीस वर्षों तक रहने के लिए विवश कर दिया। गांधी जब दादा अब्दुल्ला के निमंत्रण पर दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तो वे 'कुली बारिस्टर' कहलाए और उनकी पगड़ी को लेकर खूब हंगामा हुआ। गांधी ने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में पगड़ी की पूरी कहानी' अनवेलकम विजिटर' (अवांछित अतिथि) शीर्षक से लिखी है कि वे कैसे अखबारों में छपी खबरों से तीन-चार दिन में ही अनायास दक्षिण अफ्रीका में प्रसिद्ध हो गए। इसी प्रकार नेटाल में गांधी द्वारा वकालत करने का प्रमाणपत्र लेने पर 'वकील सभा' ने बड़ा हंगामा किया, किंतु इस प्रसंग में भी समाचारपत्रों ने गांधी का साथ दिया और वे 24 वर्ष की आयु में विख्यात हो गए।

गांधी ने सेठ अब्दुल्ला के मुकदमे में समझौता करा दिया और भारत लौटने का कार्यक्रम बना। सेठ अब्दुल्ला ने सिडनहैम में गांधी की विदाई पर सामूहिक भोज दिया कि तभी गांधी की निगाह एक छोटे-से अखबार में छपी 'इंडियन फ्रेंचाइज' (हिंदुस्तानी मताधिकार) शीर्षक खबर पर पड़ी, जिसके अनुसार नेटाल की धारासभा के लिए सदस्य चुनने का हिंदुस्तानियों का अधिकार छीन लिया जाना था। गांधी समझ गए कि यह तो हिंदुस्तानियों की आजादी छीनने

 ISSN 0975-735X

और उनके स्वाभिमान को नष्ट करने की साजिश है। गांधी ने इसका मंतव्य सेठ अब्दुल्ला को समझाया और वह भोज-समारोह संघर्ष-समिति में बदल गया। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में ठहरने का निर्णय किया और बिल के विरोध में प्रार्थना-पत्र तैयार करके धारासभा के अध्यक्ष, मुख्यमंत्री आदि को भेजा गया। धारासभा में बिल पास होने पर गांधी ने उपनिवेश मंत्री लॉर्ड रियन को दस हजार हिंदुस्तानियों के हस्ताक्षर कराकर उसके विरोध में अर्जी भेजी। गांधी ने सारी सामग्री समाचारपत्रों को भेजी और भारत के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' तथा लंदन के 'टाइम्स' ने इस अर्जी का समर्थन किया और गांधी की माँग को उचित ठहराया। गांधी अब दक्षिण अफ्रीका के 'नेरोल एडवर टाइजर', 'नेराल विटनेस', 'नेराल मर्क्युटी' आदि अँग्रेजी समाचारपत्रों का उपयोग प्रवासी भारतीयों की स्थिति और समस्याओं के लिए करने लगे थे। गांधी इन पत्रों में अपने पत्र तथा लेख प्रकाशित कराते और प्रवासियों की समस्याओं का समाधान कराने की चेष्टा करते। गांधी ने जून-दिसंबर 1896 की भारत यात्रा में समाचारपत्रों के संपादकों से मुंबई, पूना, मद्रास, इलाहाबाद, कोलकाता आदि स्थानों पर भेंट की और उनका सहयोग प्राप्त किया। इलाहाबाद में 'पायोनियर' के संपादक मि॰ चेशनी, मद्रास में 'मद्रास स्टेंडर्ड' के संपादक जी॰ परमेश्वरन्, 'हिंदू' के॰जी॰ सुब्रह्मयम कोलकाता में 'डेली टेलीग्राम' के प्रतिनिधि मि॰ एलर थॉर्प आदि से मिले और उन्हें सहयोग का आश्वासन मिला। 'इंग्लिशमैन' तथा 'स्टेट्समैन' के संपादकों से भी अनूकूल व्यवहार मिला, परंतु 'अमृत बाजार पत्रिका', 'बंगवासी' आदि ने उचित स्वागत नहीं किया। गांधी निराश नहीं हुए और वह संपादकों से मिलते रहे। इस भारत यात्रा के दौरान गांधी ने एक 'हरी पुस्तिका' प्रकाशित कराई थी, जिसमें दक्षिण अफ्रीका के हिंदुस्तानियों की दुर्दशा का उल्लेख था। इस पर 'पायोनियर' ने सबसे पहले लेख लिखा, उसका सारांश विलायत गया और उस सारांश का सारांश 'रायटर' (संपादक एजेंसी ने नेरोल भेजा, जिसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। गांधी अपने परिवार के साथ 18 दिसंबर 1896 को भारत से नेरोल पहुँचे तो गोरों ने हिंसात्मक विरोध किया तथा गांधी को फाँसी देने के नारे लगाते रहे। गोरों ने गांधी पर अनेक आरोप लगाए, जिनका कोई आधार नहीं था। अत: जब 'नेरोल एडवर टाइजर' संवाददाता की गांधी से हुई बातचीत प्रकाशित हुई तो गांधी को निर्दोष माना गया और समाचारपत्रों ने गोरों की निंदा और गांधी की प्रशंसा की। इस प्रकार एक बार फिर समाचारपत्रों के कारण गांधी की प्रतिष्ठा बढ़ी और हिंदुस्तानियों का सम्मान बढ़ा।

गांधी इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अंत तक पत्रकारिकता के महत्त्व को समझ चुके थे तथा उनके उपयोग की कला भी सीख चुके थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका और भारत में समाचारपत्र के संपादकों को मित्र बनाया, उन्हें अपने उद्देश्यों के प्रचार में साथ में लिया और अपने कर्मों तथा विचारों को जनता तक पहुँचाने में उनका भरपूर उपयोग किया। गांधी ने केवल 26 वर्ष की आयु में यह उपलब्धि की कि उन्होंने अपने संघर्ष में पत्रकारिता को अपने जीवन का अंग बना लिया और धीरे-धीरे विश्व की पत्रकारिता के अनिवार्य विषय बन गए। वास्तव में गांधी अपने कर्म और विचार में महान थे, परंतु पत्रकारिता ने उन्हें अपनी शताब्दी का सबसे अधिक परिचित, चर्चित, विख्यात एवं विवादस्पद व्यक्ति बना दिया।

इक्कीसवीं सदी की महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ

विद्यावाचस्पति प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया

एक विशिष्ट परिवेश के मध्य जिए गए विशिष्ट क्षणों का पुनः सृजन आत्मकथा है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह अपने अनुभव के अनुकूल स्मृतियों, संस्कारों को प्रस्तुत करने के लिए न तो किसी और की आवश्यकता और न ही स्वानुभूत को परानुभूत दर्शाने की विवशता। इसमें रचनाकार अपने बारे में बात करता हुआ सीधे पाठक से मुखातिब होता है और पाठक भी उसे अधिक विश्वसनीयता से ग्रहण करता है। आत्मकथाओं में वर्णित जीवनादर्शों के प्रति जहाँ वह नत-विनत होता है, वहीं उनके जीवन की बाधाओं, कष्टों, दुविधाओं, दुर्बलताओं में अपने जीवन में समता पाकर रागात्मकता का अनुभव करता है। महिला आत्मकथाकारों ने अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार, अन्याय, शोषण के साथ-साथ अपने अंतरंग संबंधों यौन-प्रसंगों, विवाहेत्तर संबंधों आदि का निर्भीकता के साथ वर्णन किया है। इक्कीसवीं सदी की महिला रचनाकारों में प्रभा खेतान, चंद्रकिरण सोनरैक्सा, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा, शीला झुनझुनवाला, सुशीला टॉकभौरे, कृष्णा अग्निहोत्री, सुषमा बेदी, रमणिका गुप्ता, शीलाइंद्र आदि के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने अपने प्रति होनेवाले अन्याय, अत्याचार, शोषण के साथ-साथ अपने अंतरंग संबंधों, यौन-प्रसंगों, व विवाहेत्तर संबंधों को अपनी आत्मकथा के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

प्रभाखेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या'[1] स्त्रीवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती दिखाई देती है। यह आत्मकथा एक स्त्री द्वारा अपने अस्तित्व की तलाश करते हुए जीवनपर्यंत अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए किए गए संघर्ष की गाथा को अभिव्यक्त करती है उसका यही संघर्ष उसे हमारे सामने सामाजिक व आर्थिक तौर पर सशक्त नारी के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रभाखेतान आत्मकथा से एक सशक्त नारी का उदाहरण पाठकों के सामने रखती है। वह आत्मकथा के संबंध में कहती है–'आप चौराहे पर एक-एक कर कपड़े उतारते जाते हैं। लिखनेवाले के मन में किसी कोने में हल्की-सी चाहत रहती है कि जो कुछ भी वह लिख रहा है उसे सही परिप्रेक्ष्य में लिया जाए, पर दर्शक वृंद अपना-अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र हैं। उनका मन, वे इस नाच को देखें या फिर पलटकर चले जाएँ।'[2] 'अन्या से अनन्या' का विमर्श पितृ- सत्तात्मक संस्कृति को चुनौती देता है। स्त्री की भिन्नता को सामने लाता है। आलोचना के एकयामी अथवा इकहरेपन को चुनौती देता है। पुराने अर्थ और सत्ता या शक्ति के केंद्रों को चुनौती देता है। यह ऐसी आत्मकथा है जो प्रचलित मर्द आत्मकथा के कथानक की संरचनाओं को तोड़ती है। यही इसकी सबसे बड़ी रचनात्मक उपलब्धि है।[3]

चंद्रकिरण सोनरैक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना'[4] एक आदर्श स्त्री की तपस्या, त्याग आदि को दर्शाती है। जो अपने पति के ईर्ष्यालु व क्रोधी स्वभाव के कारण अपने लेखन-

 ISSN 0975-735X

कार्य को तिलांजलि दे देती है। इनकी आत्मकथा एक आम औरत की कथा है जिसके लिए अपना परिवार ही सर्वोपरि है। सोनरैक्सा पुरुष सत्ता अर्थात् अपने पति के आगे अपने परिवार के कारण हमेशा झुकती आई हैं। वह कहती हैं–'अपनी बेटी और अपना पालन करने की सामर्थ्य मुझमें है–यह शादी के बाद ही मुझे खुद के बारे में अच्छी तरह मालूम हो गया था। पर हाँ, यह जरूर सुनना पड़ेगा–किरण के पति ने उसे छोड़ दिया।'[5] इसलिए वह अपने पति की हर गलती माफ करती जाती है। यह आत्मकथा केवल आम स्त्री की कथा को ही नहीं, बल्कि मध्यवर्गीय पुरुष की मानसिकता को भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है। जो अपने सामंती संस्कारों से ओत-प्रोत रहते हुए अपनी पत्नी के बढ़ते सम्मान से लगातार कुंठित होता रहता है। चंद्रकिरण सोनरैक्सा आत्मकथा के विषय में कहती हैं–'आत्मकथा का केवल उद्देश्य होता है अपनी जीवनयात्रा का, निष्पक्ष दर्शक की तरह पुनरावलोकन करना। 'पिंजरे की मैना' उसी का फल है।'[6]

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह यह भी'[7] मन्नू भंडारी के जीवन के साथ-साथ उनकी लेखकीय यात्रा पर भी प्रकाश डालती है। यह आत्मकथा मन्नू भंडारी के जीवन के विभिन्न पक्षों की बजाए जीवन की प्रमुख घटनाओं को ही प्रस्तुत करती है। उन्होंने अपनी आत्मकथा को आत्मकथा नहीं कहा यथा–'यह मेरी आत्मकथा कतई नहीं है, इसलिए इसका शीर्षक भी 'एक कहानी यह भी' रखा। जिस तरह कहानी जिंदगी का एक अंश मात्र ही होती है, एक पक्ष, एक पहलू, उसी तरह यह भी मेरी जिंदगी का एक टुकड़ा मात्र है, जो मुख्यतया मेरे लेखन और मेरी लेखकीय यात्रा पर केंद्रित है।'[8] मन्नू भंडारी अपने जीवन में संघर्ष करने से कभी पीछे नहीं हटीं। अपने पिता के विरोध के बाद भी वह सामंती प्रवृत्ति वाले राजेंद्र यादव से विवाह करके अपने साहस का परिचय देती हैं, परंतु विवाह के बाद वह अहंग्रस्त पति के सामंती व्यवहार से शीघ्र ही परिचित हो जाती हैं। मन्नू भंडारी व राजेंद्र यादव के रिश्ते में चलते ताने-बानों के बीच फँसी उनकी बच्ची भी अपने अधिकारों से पूरी तरह वंचित रहती है। गृहस्थी और नौकरी में से किसी एक भी दायित्व को उन्होंने नकारा नहीं, बल्कि दोनों ओर से दायित्वों को पूरा करते हुए अपने लेखन-कार्य में मन्नू भंडारी संघर्षरत रही हैं। वस्तुतः मन्नू भंडारी की यह कहानी एक भाव-प्रवण, मूल्य-परायण स्त्री की कहानी है, साथ ही लेखिका के रूप में उगने, बढ़ने, छा जाने और फिर धीरे-धीरे सूखते जाने की कहानी भी है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा दो भागों में प्रकाशित है, पहला भाग 'कस्तूरी कुंडल बसै'[9] लेखिका की माँ को समर्पित है, इसमें लेखिका व उसकी माँ के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ तत्युगीन समाज में व्याप्त लगान, लगान न चुकाने पर स्त्रियों का सौदा, अँग्रेजों के जुल्म, अनमेल विवाह व सती-प्रथा जैसी कुरीतियाँ सामने आती हैं। मैत्रेयी की आत्मकथा का दूसरा भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया'[10] मैत्रेयी के अपने जीवन पर केंद्रित है जो एक आम स्त्री के अपने अस्तित्व को तलाशने व अपनी पहचान बनाने के लिए किए गए संघर्ष इस आत्मकथा में इल्माना और मैत्रेयी जैसी प्रतिभाशाली स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक की छाया से बच नहीं पाई हैं। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ भारत-पाक युद्ध, मुस्लिम-जीवन दिल्ली जैसे महानगरों के आधुनिक जीवन का अकेलापन, स्त्री-शोषण, जनजातियों का शोषण

आदि परिवेशगत जीवन की सच्चाई को भी दर्शाया गया है।

शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही, कुछ अनकही'[11] प्रेम में संघर्ष, राजनीति, परिवार, रहस्य आदि सब-कुछ अपने में समेटे हुए है। लेखिका ने अपने व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ तत्कालीन राजनीति व शासन तंत्र का वर्णन किया है। शीला झुनझुनवाला के पति आयकर विभाग में थे। इसलिए इस आत्ककथा का आकर्षण बिंदु आयकर विभाग द्वारा उठाए जानेवाले विभिन्न खतरों व उनके द्वारा अपनाए जानेवाले हथकंडों का उल्लेख है। यही उल्लेख आत्मकथा में विभिन्न रहस्य-रोमांच जैसे तिलिस्मी को बनाए रखता है।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी शिकंजे में जकड़ी त्रासद जिंदगी के अनुभवों के साथ-साथ अपने-आपको उस शिकंजे से मुक्त करवाकर एक नई सफल जिंदगी का पिटारा समाज के सामने अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द'[12] के माध्यम से खोला है। इनकी आत्मकथा जाति व लिंग के आधार पर दोहरा शोषण सहनेवाली स्त्री की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। दलित होने की पीड़ा को टाकभौरे समझती हैं। अत: इस पीड़ा से मुक्ति पाने की छटपटाहट सुशीला टाकभौरे में देखी जा सकती है। यही कारण है कि अपनी आत्मकथा के माध्यम से उन्होंने अपने जैसी न जाने कितनी दलित स्त्रियों की मूक पीड़ा को आवाज प्रदान की है जो जातिगत पीड़ा के साथ-साथ अपने ही समाज के पुरुषों के डंक से डसी जा रही हैं। सुशीला टाकभौरे आत्मकथा में पितृसत्तात्मक व जाति व्यवस्था रूपी दोहरे शोषण से लगातार संघर्ष करती नजर आती हैं और अंत में वह आत्मनिर्भर होकर इसमें सफलता प्राप्त भी करती हैं।

कृष्ण अग्निहोत्री की आत्मकथा की चर्चा करें तो इन्होंने खुलकर प्रेम-संबंधों व अवैध-संबंधों का उल्लेख किया है जिसके कारण इनकी आत्मकथा पर्याप्त चर्चित रही है। कृष्णा ने क्रमश: 'लगता नहीं है दिल मेरा'[13] और 'और...और...और'[14] दो भागों में अपनी आत्मकथा लिखी है। इनकी आत्मकथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था को नई चुनौती देती नजर आती है। बचपन से ही कृष्णा अग्निहोत्री लड़का-लड़की में भेदभाव, बच्चों का शोषण जैसी समस्याओं से रू-ब-रू होती आई हैं। सत्यदेव अग्निहोत्री से विवाह के बाद कृष्णा को शारीरिक व मानसिक यातना प्राप्त होती रहती है। जब सब्र का बाँध टूट जाता है। तब कृष्णा जी अपने पति से तलाक लेकर अपनी बेटी के साथ अकेली रहने का निर्णय करती हैं। सामाजिक सुरक्षा के अधिकार के अंतर्गत वह अपने सुरक्षित जीवन की चाह में वह श्रीकांत जोग से दूसरा विवाह कर लेती है, परंतु शीघ्र ही उस पुरुष का असली सामंती रूप भी सामने आ जाता है। अपने जीवन में अनेक मुश्किलों के आने के बाद भी कृष्णा अग्निहोत्री हार नहीं मानती हैं बल्कि इन मुश्किलों का दृढ़ता पूर्वक सामना करती हुई वह एक सफल मुकाम तक भी पहुँचती हैं। उनकी आत्मकथा पुरुष अहं और स्वार्थ से पीड़ित नारी की काँटों-भरी जिंदगी की दास्तान है। इसमें ऐसी नारी का व्यक्तित्व उभरता है जो हर प्रकाशवान वस्तु को सितारा समझ लेती है और पास जाते ही नग्न यथार्थ सामने आ जाता है।

सुषम बेदी की आत्मकथा 'आरोह-अवरोह'[15] में लेखिका ने अपने व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ अपने प्रवासी जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों को प्रस्तुत किया है। बेदी भारतीय एवं पाश्चात्य मूल्यों को साथ-साथ दर्शाती चलती हैं। उनके लेखिका बनने की यात्रा भी आत्मकथा

में देखी जा सकती है। सुषम बेदी अपनी आत्मकथा को अन्य कृतियों के समान ही मानती हैं, जिसमें वह अकेली नहीं हैं बल्कि उनसे जुड़े सभी लोग इसमें शामिल हैं। सुषम बेदी कहती हैं–'यूँ यह पूरी तरह से आत्मकथा तो कही भी नहीं जा सकती। बस मेरे वे अनुभव जिन्होंने मेरे मानस, जीवन और लेखन को आकार दिया, फूँका या एक तरह से ठहरकर, दूसरे लेखन से मोहलत लेकर एक नजर अपनी सोच पर, अपने अतीत पर! स्मृतियों के कुछ टूटे-बिखरे तार जोड़ने की कोशिश! इसीलिए इसे अपना इतिहास मानती हूँ। इतिहास में एक पूरे समाज के सम्मिलित अनुभवों का खाका रहता है। यहाँ जो भी लोग मुझसे जुड़े, मेरे जीवन में भागी हुए, उन सबने मिलकर यही तो बनाया है। यह मेरा निजी इतिहास।[16]

रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे'[17] उनके राजनीतिक जीवन से जुड़ी हुई है। इसमें हड़ताल, आंदोलन, नारेबाजी, भाषण आदि राजनीति के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है। इस आत्मकथा में व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन के बजाए समाज के हाशिए में रहनेवाले दलितों, आदिवासियों के लिए किए गए स्त्री संघर्ष की कथा है। 'आपहुदरी'[18] रमणिका गुप्ता की आत्मकथा की दूसरी कड़ी है। इसमें लेखिका के निजी-जीवन के विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। वह समाज की सारी परंपराओं और ऐसे मूल्यों से विद्रोह करती हैं जो स्त्री-स्वतंत्रता में बाधक हैं। अपने जीवन के गोपनीय संबंधों को उन्होंने इस आत्मकथा में बेबाकी से प्रस्तुत किया है।

शीला इंद्र की आत्मकथा 'क्या कहूँ क्या न कहूँ'[19] उनकी पुरानी वंशावली की गाथा है। इसकी अलग-अलग गाथाओं में भिन्न-भिन्न स्त्रियों के जीवन की कहानी चलती है। यह आत्मकथा तत्कालीन समाज में रूढ़ियों एवं परंपराओं को तोड़कर अपने अनुरूप जीवन जीनेवाली स्त्रियों के संघर्ष की कथा भी बताती है। शीला इंद्र 'भूमिका' में लिखती हैं–'एक ही वंश एवं एक ही कालखंड बहुत सारी औरतों के बारे में एक ही रचना के रूप में लिखना बड़ा कठिन था। अत: अपने उस विशाल परिवार की बहुत-सी स्त्रियों, अपनी दादी, परदादी, बुवाओं, नानी, मौसी और पापा की नानी के जीवन की उन घटनाओं को, जिन्होंने मुझे किसी भी प्रकार प्रभावित किया था, लिखने का दु:स्साहस किया है।'[20] शीला इंद्र ने अपने पूर्वज राय रियालसिंह व उनके वंशज हरप्रसाद का भी वर्णन किया है जिन्हें 1739 में नादिरशाह ने पटियाली का राजा बना दिया था।

इस प्रकार अपनी आत्मानुभूति और परानुभूति को को लिपिबद्ध करना महनीय कार्य है, उसे प्रकाशित कर प्रबुद्धों के मध्य लाना उससे भी महत्त्पूर्ण है। हर क्षेत्र में प्रारंभ से ही पुरुषों का वर्चस्व रहा है। शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा जैसे पुरुष प्रधान क्षेत्रों में स्त्रीवर्ग के प्रवेश का भले ही विरोध हुआ, व्यवधान खड़े किए गए तथापि उसको सराहना भी मिली है। महिला रचनाकारों का लेखन उनके परिजनों के लिए कभी विशेषकार्य नहीं रहा। अत: इस काम के लिए स्त्रियों को स्वयं ही कठिन कोशिश करनी पड़ी है। जीवन की तमाम विसंगतियों के बीच महिला रचनाकारों ने फुरसत के क्षण कागज, कलम के साथ बिताए और दु:खद जीवन की चुभन कागज पर उतारती चली गईं। वस्तुत: 'अन्या से अनन्या', 'पिंजरे की मैना', 'एक कहानी यह भी', 'कस्तूरी कुंडल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया', 'कुछ कही, कुछ अनकही', 'शिकंजे

का दर्द', 'लगता नहीं है दिलमेरा', 'और...और...औरत', 'आरोह-अवरोह', 'हादसे', 'आपहुदरी', 'क्या कहूँ क्या न कहूँ' आदि आत्मकथाओं में महिला रचनाकारों ने अपने अंतस की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है और उसे पाठकों तक पहुँचाने में सफल भी सिद्ध हुई हैं। इक्कीसवीं सदी की इन महिला आत्मकथाकारों द्वारा अपनी-अपनी आत्मकथाओं में विभिन्न त्योहारों, उत्सवों, रीति-रिवाजों, संस्कारों व सांस्कृतिक समारोहों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को बखूबी उकेरा है।

संदर्भ

1. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2007
2. वही, पृ॰ 255
3. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा॰)लि॰, नई दिल्ली, सन् 2011, पृ॰ 359
4. पिंजरे की मैना, चंद्रकिरण सोनरैक्सा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, सन् 2008
5. वही, पृ॰ 221
6. वही, पृ॰ 415
7. एक कहानी यह भी, मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सन् 2007
8. वही, पृ॰ 8
9. कस्तूरी कुंडल बसै, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2002
10. गुड़िया भीतर गुड़िया, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2008
11. कुछ कही कुछ अनकही, शीला झुनझुनवाला, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2012
12. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2011
13. लगता नहीं है दिल मेरा, कृष्णा अग्निहोत्री, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, सन् 2010
14. और...और...औरत, कृष्णा अग्निहोत्री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 20111
15. आरोह-अवरोह, सुषम बेदी, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, सन् 2015
16. वही, पृ॰ 14
17. हादसे, रमणिका गुप्ता, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली सन् 2004
18. आपहुदरी, रमणिका गुप्ता, सामयिक, प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2015
19. क्या कहूँ क्या न कहूँ, शीला इंद्र, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, सन् 2011
20. वही, पृ॰ 10

मंगलकलश
394, **सर्वोदयनगर, आगरा रोड**
अलीगढ़-202001 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ 9897144022

हिंदी के विकास में स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाज का योगदान

डॉ॰ अशोक उपाध्याय
हिंदी विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

सन् 1857 ई॰ के उपरांत विकसित भारतेंदुयुगीन नवोत्थान की सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय तथा हिंदी की साहित्यिक चेतना को प्रेरणाप्रदायक वैदिक साधना से नवजागृति का प्रभावशाली उपदेश देने में सर्व सामर्थ्यशील आचार्य और विचारक स्वामी दयानंद का नाम भारतवर्ष ही नहीं समस्त विश्व-पटल पर स्वर्णाक्षरों में सुशोभित है। स्वामीजी वैदिक स्वाभिमान के नवोत्थान मूलक मंत्रद्रष्टा आचार्य थे। उनके व्यावहारिक और सांस्कृतिक आधार थे—तत्कालीन धर्मप्रचारकों और ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया एवं प्रतिकार भावना। ब्रिटिश प्रभुत्व और प्रभाव का बौद्धिक समझदारी से विरोध अर्थात् परतंत्रता तथा समस्याग्रस्त जीवन की बाध्यताओं से मुक्ति का शंखनाद करते हुए शक्ति एवं ज्ञान-चातुर्य के द्वारा असफलता के अवसाद से पीड़ित जनमानस में पुनः स्वाधीनता के दिव्य रस का संचार इनका उद्देश्य था। इसके मुख्य अवरोधक भारतीय समाज के रूढ़िग्रस्त अंधविश्वासपूर्ण मानस-चरित्र, धार्मिक छल-प्रपंच एवं अज्ञान के विशेष कारण निरक्षरता के विनाश का सफल प्रयत्न इन्होंने अतीत में निहित राष्ट्रोन्नतिकारक वैदिक विद्या के नवोत्थान के रूप में किया। पुरातन वैदिक ग्रंथों का नवान्वेषण और वर्तमान की दुर्दशा में सुधार करके अपनी निद्राग्रस्त राष्ट्रीय अस्मिता का जागृतिबोध इनकी विद्वत्तासंपन्न कार्यप्रणाली का मुख्य अंग था। दिनकरजी ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन में स्वामीजी को भारतीय आत्माभिमान और सामरिक तेजस्वितापूर्ण दर्प का प्रतीक माना है। ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थना समाज के नेता अपने सुधारवादी कार्यों को विदेशी ज्ञान की श्रेष्ठता और अपनी आंतरिक दुर्बलता के वशीभूत होकर विदेशी नकल मानने की आत्महीनतापूर्ण प्रवृत्ति से ग्रस्त होकर अपनी उत्तम कार्यप्रणाली का दर्प प्रकट करने में असमर्थ हो गए थे। 'यह दर्प स्वामी दयानंद में चमका। रूढ़ियों और गतानुगतिकता में फँसकर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने भारतवासियों की कड़ी निंदा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है। इन संस्कारों की गंदी पर्तों को तोड़ फेंको। तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिकधर्म है, जिस पर आरूढ़ होने से तुम फिर से विश्वविजयी हो सकते हो।'[1]

नियमानुसार व्रत, अनुष्ठान इत्यादि को पूर्ण करके शिवलिंगपूजक शैवमत के सामवेदी औदीत्यब्राह्मण अंबाशंकर कर्षनजी के सुपुत्र स्वामी दयानंद जी का जन्म 12 फरवरी सन् 1824 ई॰ को गुजरात में स्थित काठियाबाड़ के मौरबी क्षेत्र के टंकोरा नगर के राजमहल के निकट

स्थित जीवापुर मुहल्ले में हुआ था। इनकी माता का नाम श्रीमती यशोदाबाई था। बचपन में इनका नाम दयालजी और मूलशंकर था। इनमें मूलशंकर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इन्हें संन्यास की दिशा में प्रेरित करनेवाली बचपन की मुख्य घटनाओं में शिवरात्रि की घटना बहुत प्रसिद्ध है। इसमें परिवार की धार्मिक परंपरा के अनुसार रात्रि-जागरण के समय शिवलिंग पर चूहे को उछल-कूद करते हुए पूजन हेतु प्रस्तुत नैवेद्य, फल-फूल आदि को कुतरते देखकर इनकी प्रतिभा-विस्फोटित अंतश्चेतना में ईश्वर का यह आदेश जाग्रत हुआ कि शिव समस्त संसार का कल्याण करनेवाले ईश्वर हैं। मनुष्य परोपकार के लिए अपना सुख इत्यादि समर्पित करके वास्तविक रूप में उनकी उपासना करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। एक निश्चित रात्रि में जागरण करके पाषाण निर्मित शिवलिंग पर नैवेद्य-पूजा समर्पण के द्वारा उन्हें प्रसन्न करना संभव नहीं है। इसके उपरांत अपनी बहिन और चाचा की मृत्यु के कारण इनके द्वारा यह अनुभव किया गया कि यह संसार असार है। इसमें सभी पदार्थ नश्वर हैं। अत: किसी के प्रति अपनत्व की धारणा या मन लगाकर जीवन-यापन की आकांक्षा व्यर्थ और निस्सार है। इन्होंने कुछ समय उपरांत अपनी वैराग्य प्रवृत्ति के अनुरूप लाला भगत से ब्रह्मधर्म की दीक्षा लेकर अपना नाम मूलशंकर से परिवर्तित करके शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी रख लिया। ब्रह्मचर्याश्रम की ओर अग्रसर हुए और स्वामी पूर्णानंद सरस्वती से संन्यास की दीक्षा लेकर स्वामी दयानंद सरस्वती बन गए। ज्ञातव्य है कि इनके द्वारा 'दंड' को अपनी जीवनचर्या और अध्ययनकार्य में व्यवधान मानकर अपने दीक्षागुरु स्वामीजी के समक्ष ही त्याग दिया गया था। स्वामीजी ने केदारनाथ, रुद्रप्रयाग, रामपुर, काशीपुर, फर्रूखाबाद, कानपुर, प्रयाग, मिर्जापुर, काशी, मथुरा तथा नर्मदा तट पर संत-महात्माओं की संगति लाभ हेतु भ्रमण किया। सन् 1860 ई॰ में स्वामीजी ने नेत्रविहीन दंडी श्रीस्वामी विरजानंद जी से पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य इत्यादि ग्रंथों की गहन शिक्षा प्राप्त की। अंत में स्वामीजी ने इनसे यह प्रतिज्ञा अंतिम भेंट के रूप में कराई कि ये आजीवन आर्यावर्त्त में आर्ष ग्रंथों की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए अनार्य ग्रंथों का खंडन करके वैदिकधर्म की स्थापना प्राणार्पण की स्थिति तक करेंगे। श्री दंडीजी महाराज के मुख्य आदेश थे कि इनके द्वारा अविद्याग्रस्त मत-मतांतरों का सामाजिक जीवन में निराकरण किया जाएगा। मूर्ति-पूजा का खंडन करते हुए मानवकृत ग्रंथों के निरस्तीकरण के उपरांत ईश्वर कृत आर्यग्रंथों के प्रसार-प्रचार के द्वारा सत्य विद्याओं के आदिग्रंथ वेदों को आदरपूर्वक प्रतिष्ठित किया जाएगा। समाज में धर्म के नाम पर विकसित अत्याचारों, दुराचरण तथा कुप्रथाओं का विनाश इनके स्वयं साध्य उपायों के माध्यम से क्रियान्वित होगा। सन् 1867 ई॰ हरिद्वार के कुंभ मेले में पाखंड-खंडिनी की स्थापना करके अपने गुरु के आदेशानुसार हिंदू धर्म के दोषों के निवारणार्थ स्वामीजी ने अपने वैदिक मत में वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए व्यापक जन-समर्थन प्राप्त किया। इनके द्वारा सन् 1875 ई॰ में आर्यसमाज की स्थापना का प्रथम अल्पकालिक प्रयास राजकोट में किया गया। इसकी विधिवत् स्थापना 10 अप्रैल सन् 1885 ई॰ चैत्र शुक्ल पक्ष पंचमी संवत् 1925 वि॰ में मुंबई में गिरगाँव रोड पर स्थित डॉ॰ मणिक जी की वाटिका में 28 नियम निर्धारित करके की गई। इसमें वैदिक उक्तियों के अनुकूल संस्कृत और आर्यभाषा हिंदी के नाना प्रकार के सदुपदेशों के प्रकाशन की यथानुकूल सहमति नियमावली में

 ISSN 0975-735X

निर्धारित की गई। वेदों के ज्ञान के अन्वेषण में सहायक संस्कृत-भाषा की पुस्तकों के साथ-साथ आर्यभाषा हिंदी की ज्ञानप्रदायक लोकोपयोगी पुस्तकों के संग्रहीत करने की व्यवस्था भी इसमें की गई है। स्वामीजी की वेदविषयक् मान्यताओं की वैचारिक क्रांति-साधना का साकार रूप आर्यसमाज है। स्मरणीय यह है कि वर्तमान में प्रचलित 10 नियमों की व्यवस्था 24 जून सन् 1877 ई॰ में लाहौर में आर्यसमाज के स्थापना उत्सव में हुई है।

इनमें प्रथम नियम है सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं। उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। द्वितीय नियम है ईश्वर का सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधर, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सवंतिर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करना योग्य है। तृतीय नियम के अनुसार वेद सब विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है। चतुर्थ नियम है सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। पंचम नियम है सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए। षष्ठ नियम है संसार का उपकार करना अर्थात् शरीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। सप्तम नियम है सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार बरतना चाहिए। अष्टम् नियम है अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। नवम् नियम के अनुसार प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। दशम् नियम में स्वामीजी ने यह आदेश किया है कि सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और निजी हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।[2] स्वामीजी ने आर्यसमाज के प्रचार के लिए हिंदीभाषा को उपयुक्त माना और इसके माध्यम से ये अल्पशिक्षित, सुशिक्षित और अशिक्षित जनता को अपना अभिमत समझाने में यथासंभव सफल हुए। यह सर्वविदित है कि इनके व्याख्यानों से आर्यसमाज के पक्ष में जनमत की जागृति के साथ-साथ आर्यभाषा हिंदी की लोकप्रियता में भी व्यापक अभिवृद्धि हुई है। धर्मचर्चा, शास्त्रार्थ और विज्ञापनों के माध्यम से इन्होंने भारतीय समाज को नवोत्थान की सुधारात्मक क्रांति में भाग लेने के लिए आमंत्रित करके राष्ट्रोन्नति का अभूतपूर्व प्रयास किया। काशी शास्त्रार्थ, कलकत्ता में ब्रह्मसमाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान, दिल्ली और चाँदापुर शाहजहाँपुर में व्याख्यान, जालंधर में मौलवी अहमद हुसैन से शास्त्रार्थ तथा बरेली में पादरी टी॰जी॰ स्काट से शास्त्रार्थ इत्यादि इस संदर्भ में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। स्वामीजी ने विज्ञापनों के माध्यम से भी अपने आगमन एवं मंतव्य की सूचना जनता तक पहुँचाने का सार्थक प्रयत्न किया था। धार्मिक विद्वानों का आर्यसमाज के संदर्भ में भ्रमोन्मूलन, मूर्ति पूजकों का विरोध आमंत्रण, अपने आगमन और व्याख्यान की सूचना तथा वेदभाष्य आदि के प्रकाशन में स्वमत प्रतिपादन इत्यादि को इनमें यथासंभव रीति से विज्ञापित किया जाता था। हिंदी का महत्त्व स्पष्ट करते हुए एक विज्ञापन में इनके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'चारों वेदों का भाष्य करने का आरंभ मैंने किया है। सो सब सज्जनों को विदित हो कि यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा जो कि काशी, प्रयाग आदि मध्यदेश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति से लिखी जाती है और वैसी ही आर्यभाषा

भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसा सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत का पढ़नेवाला भी वेदों का अर्थ समझ ले तथा भाषा का पढ़नेवाला भी सहज में समझ लेगा।'[3] नवजागरण के धार्मिक और सामाजिक सुधारजनित क्रांति और पुंज आर्यसमाज ने हिंदू धर्म के संशोधित स्वरूप को विस्तार देकर उर्दू भाषा को अनुपयोगितायुक्त लोकप्रियता विहीन बनाने में सफलता प्राप्त की। इसके कारण हिंदी में खड़ीबोली के सुगम साहित्यिक रूप को व्यापकता एवं स्थायित्व ग्रहण करने का सार्थक तथा प्रयोजनपूर्ण सुअवसर अनायास ही उपलब्ध होता चला गया। अविद्याजनित कार्यप्रणाली, अंधविश्वास, दोषपूर्ण रीति-रिवाज, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, श्राद्धकर्म, जन्मानुसार जाति और सांप्रदायिक व्यवस्था, विधवा-जीवन, क्रूरतापूर्ण स्वार्थजनित धार्मिक कार्य तथा अस्पृश्यता निवारण के प्रयास इत्यादि की आर्य-सिद्धांतों की लोकवाणी में हिंदी भाषा और साहित्य को भविष्य की प्रगति हेतु आर्यसमाज के रूप में गतिवर्द्धक शक्तिशाली उल्कास्तंभ की युगांतरकारी उपलब्धि हुई। 30 अक्तूबर सन् 1883 ई॰ को अजमेर में स्वामीजी का देहांत हो गया। श्री नाथुराम शर्मा 'शंकर' ने इनकी पुण्यस्मृति में लिखा है–

आनंद सुधा सार दयाकर पिला गया।
भारत को दयानंद दुबारा जिला गया।
डाला सुधा वारि बढ़ी बेल मेल की।
देखो समाज फूल फबीले खिला गया।
काटे कराल जाल अविद्या अधर्म के।
विद्या बधू को धर्म धनी से मिला गया।
* * *
'शंकर' दिया बुझाय दिवाली को देह का।
कैवल्य के विशाल वदन में समा गया।[4]

स्वामीजी का 'सत्यार्थप्रकाश' तत्कालीन हिंदी गद्य साहित्य को प्रभावित करनेवाला युग-सापेक्ष तिमिर विनाशक उच्चस्तरीय महापरिवर्तन साधक ग्रंथ है। आर्यसमाज के सिद्धांत प्रवर्त्तक इस सत्यान्वेषणपूर्ण ग्रंथ के 'प्रथम समुल्लास' में परमात्मा के 'ओउम्' नाम की सगुण एवं निर्गुण व्याख्या तथा वैशिष्ट्य विवेचन के साथ-साथ इंद्र, वरुण, मित्र, विष्णु, शिव इत्यादि नामों की परमात्मावाचक स्थिति की तार्किक सिद्धि प्रस्तुत की गई है। 'द्वितीय समुल्लास' में हिंदी समाज के पारिवारिक संस्कारों तथा बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा प्रदत्त प्रारंभिक शिक्षा की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए अंधविश्वासजन्य भूत-प्रेत बाध्यता, जन्मपत्र निर्धारण, ग्रह नक्षत्रों के मानव-कर्मों पर प्रभाव और फलित ज्योतिष के प्रभाव की खंडनपूर्ण उत्तम प्रस्तुति है। हिंदू धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन और इनके प्रामाणिक विवरण से युक्त 'तृतीय समुल्लास' में गायत्री मंत्र, प्राणायाम, संध्या, अग्निहोत्र, उपनयन तथा ब्रह्मचर्य पालन आदि का विवेचन है। मूर्ख एवं पंडित के लक्षण, बाल-विवाह-निषेध, पंच महायज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ अथवा अतिथियज्ञ, विवाह लक्षण, गृहस्थधर्म एवं समावर्त्तन अर्थात् गुरुकुल में विद्याध्ययन पूर्ण करके स्नातक होने के उपरांत निज गृह में पुनः प्रविष्ट होने के लिए विवाह से पूर्व निर्धारित संस्कार का निर्वचन 'चतुर्थ समुल्लास' में हैं। वानप्रस्थ एवं

 ISSN 0975-735X

संन्यासाश्रम 'पंचम समुल्लास' के विषय हैं। राजधर्म, शत्रु-मित्र के प्रति आचरण, न्याय, चौरादि के लिए दंड-विधान, दूत के लक्षण, दुर्ग-निर्माण, युद्ध, प्रजा-रक्षण विधि और कर ग्रहण आदि 'षष्ठ समुल्लास' में विवेचित हुए हैं। आत्मा, परमात्मा एवं वेद इत्यादि का वर्णन 'सप्तम् समुल्लास' में हुआ है। 'अष्टम् समुल्लास' में सृष्टि का उद्भव, मनुष्य का महत्त्व-स्थान, प्रकृति, दान, आर्य एवं क्लेच्छों की भाषा आदि की व्याख्या हुई है। विद्या-अविद्या तथा बंध-मोक्ष 'नवम् समुल्लास' के विषय हैं। आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य का निर्णय 'दशम समुल्लास' में प्रतिपादित हैं। 'एकादश-समुल्लास' का संबंध भारतीय जीवन में स्थापित विविध प्रकार के मतमतांतरों के खंडन से है। इसमें शैव, वैष्णव, वाममार्गी, श्राद्धकर्म, तीर्थ-यात्रा, मूर्तिपूजा, अष्टादश पुराण, भागवत, कुदृष्टि निवारण हेतु विभिन्न ग्रहों का पूजन, तंत्र-साधना, कबीर, दादू इत्यादि पंथों तथा ब्रह्म-समाज एवं प्रार्थना-समाज आदि का तर्कपूर्ण खंडन हुआ है। 'द्वादश समुल्लास' में चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि नास्तिक मतों का खंडन, 'त्रयोदश समुल्लास' में ईसाई मत की समीक्षा तथा 'चतर्दुश समुल्लास' में इस्लाम मत की समीक्षा सटीक भाषा-शैली में यथेष्ट प्रमाणों के साथ प्रस्तुत हुई है। अंतिम भाग में 'स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश' है। इसमें स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट किया है कि 'मेरा कोई नवीन कल्पना मतमतांतर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किंतु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।'[5] 'सत्यार्थ प्रकाश' की प्रशंसा और लोकप्रियता को उजागर करने के लिए साहित्यकारों ने भी अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। यह सत्य अर्थ के सुप्रकाश से तमसतोम का निलय करके अखिल आर्य-जगत को अज्ञान के अंधकार से अभय प्रदान करनेवाला ग्रंथ है–

शतत: वर्षों से भारत के आँगन में अँधियारा था।
अंड बंड पाखंड खंड ने पूरा पांस पसारा था।
दंभ-द्वेष के दावानल ने प्रेम-प्रसून पजारा था।
वन्य वृकों ने भारत भुवि का, भव्योद्यान उजारा था।
उस तमसावृत गगनांगन में दयानंद रवि उदय हुआ।
जगद् विजयिनी आर्य जाति की, देख दुर्दशा सदय हुआ।
सत्य अर्थ के सुप्रकाश से तमसतोम का निलय हुआ।
अखिल आर्य जगती का अंचल, अंधकार से अभय हुआ।[6]

स्वामीजी प्रेस की छपाई के कारण होनेवाली अशुद्धियों का निराकरण करके अपने विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम संस्करण की अशुद्धियों के संशोधन हेतु दिए गए विज्ञापनों में इन्होंने यह लिखा कि 'जो सत्यार्थ प्रकाश के 42 पृष्ठ और 25 पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करें और जितने मर गए हैं उनका तो अवश्य करें तथा पृष्ठ 47 पंक्ति 21 मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में छापा गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो मर गए हों उनका नहीं

करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता है और न ही मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिए पदार्थ को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है अन्य नहीं। इस विषय में वेद मंत्रादि का प्रमाण भूमिका के 11 अंक के पृष्ठ 251 से लेके 12 अंक के 267 पृष्ठ तक छपा है वहाँ देख लेना।'[7] आंशिक रूप में उद्धृत उपर्युक्त विज्ञापन स्वामीजी द्वारा रचित ऋण और यजुर्वेद भाष्य के एक और दो अंक के मुखपृष्ठ के पीछे प्रकाशित हुआ था।

आर्यसमाज में हिंदी को आर्यभाषा कहा गया था। स्वामीजी का वैदिक एकेश्वरवाद आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि में नवचेतना का संवाहक बनकर स्थापित हुआ था। आर्यसमाज की स्थापना के समय से ही आर्यभाषा अर्थात् हिंदी का उपयोग तथा पठन-पाठन आवश्यक बना दिया था। पंजाब में मुस्लिम समुदाय के अधिक संपर्क के कारण राज-काज और पठन-पाठन में उर्दू का प्रचलन हो गया था। इसका महत्त्वपूर्ण कारण पंजाबी बोली में लिखित साहित्य का अभाव भी था, जिसके कारण पंजाब तथा उसके निकटवर्त्ती जिलों का जनसमुदाय उर्दू प्रयोग करने के लिए विवश था। स्वामीजी के भाषणों तथा आर्यसमाज के ग्रंथों के कारण उर्दू के स्थान पर हिंदी की लोकप्रियता में आशातीत वृद्धि हुई। स्वामीजी की भाषा राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की 'आमफहम' और नवाबों, शहजादों तथा साहब लोगों की 'खास पसंद' उर्दू, अरबी-फारसी मिश्रित हिंदी की अपेक्षा राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत तत्समतायुक्त विशुद्ध शैली के अधिक निकट थी। वास्तविकता यह है कि उस समय राजा लक्षमणसिंह के अतिरिक्त सवामी दयानंद सरस्वती ने ही हिंदी के निश्चयात्मक स्वरूप का व्यापक और लोकरुचि सम्मत प्रसार करने में सफलता प्राप्त की थी। यह भी बहुत स्पष्ट है कि हिंदीभाषा के जिस निखरे हुए शिष्ट सम्मानपूर्ण रूप का प्रदर्शन भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके मंडल के अन्य साहित्यकारों के द्वारा विशेष रूप से गद्य के क्षेत्र में किया गया, उसका विशेष श्रेय स्वामीजी की गद्य शैली को ही है। इसके विभिन्न भेदों का मुख्य आकर्षण है खंड्न-मंडन, जिसने तत्कालीन हिंदी गद्य-साहित्य की नवोन्मेषकारक ऊर्जा से अनुप्राणित कर दिया था। ईश्वर के साकार अथवा निराकार रूप से संबंधित प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा है कि 'ईश्वर निराकार है। जो साकार हो उसके नाक-कान, आँख आदि अवयवों का बनाने द्वारा दूसरा होना चाहिए, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए। जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था।'[8] इनकी इतिवृत्तात्मक शैली की सहजता सर्वसम्मत हिंदीभाषा का उत्तम रूप प्रस्तुत करती है। वेदभाष्य से संबंधित विज्ञापन में इन्होंने इसका प्रयोग करते हुए लिखा है कि 'शिक्षा से ले के शाखांतरपर्यंत वेद के जो सत्यार्थयुक्त व्याख्यान हैं जैसेकि ब्रह्म से ले के व्यासजी पर्यंत ऋषि और मुनियों ने किए हैं उन सनातन सत्यग्रंथों के वचनों का लेख प्रमाण से सहित यह वेदभाष्य रचा जाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की योजना भी इसमें लिखी जाती है। इस कारण से यह वेदभाष्य अपूर्व होता है तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जे व्याख्यान किए हैं उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य में होगी और जो उन व्याख्यानों के देखने से मिथ्या जाल जगत में प्रवर्तमान है। सो भी इस भाष्य से नष्ट

 ISSN 0975-735X

अवश्य हो जाएगा।'[9] स्वामीजी की हास्य-व्यंग्य शैली अत्यंत प्रभावशाली तथा मनोरंजक है। इसमें इन्होंने यमराज, चित्रगुप्त, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदान तथा वैतरणी आदि का अनौचित्य प्रतिपादन हेतु हास्य-व्यंग्य को विस्फोटक रूप में प्रयुक्त किया है। इनके अनुसार परलोक के अंधविश्वास से पुष्ट ये सब तथ्य महत्त्वरहित 'पोपली ला' अर्थात् धार्मिक आडंबर हैं। 'जंगलों में आग लगती है। तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए असंसख्य यम के गण आवें तो वहाँ अंधकार हो जाना चाहिए और जब आपस में जीवों को पकड़ने दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जाएँगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं वैसे उसके बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के बाँचने सुननेवालों के आँगन में गिर पड़ेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जाएगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे? श्राद्ध, तर्पण, पिंडप्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किंतु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के घर उदर और हाथ में पहुँचता है।'[10]

स्वामीजी के व्याख्यान अत्यंत रोचक, हास्य-व्यंग्यपूर्ण तथा सभी प्रकार के जनसमूह के आंदोलित करने की अपार वाक्शक्ति से परिपूर्ण होते थे। इनमेंशृंगार के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के सभी रस अनायास ही प्रकरण के अनुसार श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। ये अपने व्याख्यानों में दृष्टांतों का ऐसा प्रयोग करते थे कि कठिन संदर्भ भी बोधगम्य ओर सर्वजनग्राह्य सार्थक अर्थगर्भित बन जाते थे। 'मूर्ख राजा की कथा', 'अँधेरनगरी गवरगंड राजा', 'दिल्ली की मिठाई' तथा 'बैंगन राजा' इत्यादि इनके लोकप्रिय दृष्टांत थे। 'बैंगन राजा' में एक दिन एक राजा बैंगन खाकर राजसभा में पधारे। उस दिन उन्हें भोजन में बैंगन अतिशय स्वादिष्ट प्रतीत हुए थे। राजसभा में जब उन्होंने इसके स्वाद की प्रशंसा सभासदों को सुनाई तो चाटुकार सभासदों ने कहा कि बैंगन शाक-भाजियों का राजा माना गया है। इसके सिर पर सुंदर मुकुट सुसज्जित है और इसका श्यामल वर्ण ब्रजराज श्रीकृष्ण के समान है। प्रसन्न होकर राजा ने रात्रि भोजन में और अधिक बैंगनों का स्वाद ग्रहण किया, किंतु जब उन्हें उदर-विकार से कष्ट हुआ तो उन्होंने दूसरे दिन राजसभा में आकर बैंगन पर दोषारोपण किए। चाटुकार सभासदों ने पुनः उनके शब्दों का समर्थन करते हुए राजा को यह समझाया कि इन्हीं दोषों के कारण बैंगन का वर्ण श्यामल हो गया है और उसे शाखा से अधोगति अर्थात् नीचे लटकने का दंड निर्धारित हुआ है। स्वामीजी ने स्वरचित 'व्यवहार भानु' नामक पुस्तक में भी दृष्टांतों के माध्यम से कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा शिक्षा से संबंधित समस्याओं के निराकरण का सर्वजनोपयोगी सफल प्रयास किया है। व्याख्यानों की दृष्टि से भी इसका उपयोग लाभकादायक है। माध्व संप्रदाय के प्रतिष्ठित मुख्याचार्य पद पर प्रतिष्ठित श्री राधाचरण गोस्वामी ने सांप्रदायिक मान्यताओं तथा स्वजनों के विपरीत होकर श्रद्धापूर्वक लिखा है कि 'मान्यवर परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी दयानंद सरस्वती महोदय लाहौर और अमृतसर में बड़ी धूमधाम से सुशोभित हुए और इन दोनों स्थानों में उक्त महोदय ने एक 'आर्यसमाज' भी संस्थापन किया। हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आर्यसमाजों की प्रतिदिन उन्नति हो। आर्यजन उन्हें समवेत होकर अपनी उन्नति का साधन बिचारें और अनुदान करें। इसके आविष्कर्त्ता ने हम लोगों की उन्नति के लिए जैसे-जैसे परिश्रम और दुःख सहे उनके सुनने से एक बार पाषाण के समान हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है तो फिर क्या कारण है

कि हम लोग अपने एक ऐसे शुभचिंतक का उपदेश न सुनें? उससे मैत्री के परिवर्तन में शत्रुता करें? मेरी बुद्धि में यह अत्यंत यज्ञ का काम है।'[11]

राष्ट्रीय नवोत्थान के लिए संकल्पित अतीत के महत्त्व के अन्वेषण तथा भविष्य की प्रगति की प्रेरणा से प्रतिबद्ध आर्यसमाज में तत्कालीन सामाजिक जीवन में दोषपूर्ण रीति-रिवाजों, नियमों और धार्मिक बाध्यताओं के खंडन के लिए शास्त्रार्थ, व्याख्यान इत्यादि का आयोजन करने के लिए स्वामी दयानंद सरस्वती के सानिध्य में उपदेशकों, विद्वानों तथा भजन गायकों का एक बहुत बड़ा समुदाय तन-मन-धन से संलग्न हो गया। इसके परिणामस्वरूप खंडन-मंडन पद्धति से परिपूर्ण उपदेश प्रधान साहित्य के सृजन: से प्रभाविता हिंदी साहित्यकारों को मौलिक सृजन हेतु नूतन प्रेरणादायक रचना-सामग्री एवं उपदान भी उपलब्ध होते चले गए। हिंदी के पाठकों एवं लेखकों में आर्य समाजियों का रोचक और ज्ञानवर्द्धक उपेदश साहित्य निरंतर लोकप्रिय हुआ। हिंदी में लिखने तथा पढ़ने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। इसके कारण साहित्यकारों तथा पाठकों की संख्या में भी पर्याप्त उन्नति हुई। धार्मिक जीवन की उचित-अनुचित मान्यताओं से सबंधित वाद-विवादों के कारण आलोचनात्मक प्रवृत्ति की तीव्रता ने हिंदी समालोचना साहित्य के सृजन को भी प्रोत्साहित किया। भारतेंदुजी के 'निज भाषा उन्नति' के आंदोलन से पूर्व ही आर्यसमाज के प्रचार-तंत्र ने हिंदी साहित्य विशेष रूप से गद्य के परंपरागत रूप को अपेक्षाकृत अधिक सशक्त एवं अभिव्यंजना सम्मत शैली के विचारों के प्रभावाभिव्यंजक प्रतिपादन में समर्थ तथा सावधानीपूर्वक वाद-विवाद एवं व्याख्यान क्षमता से अनुरंजित कर दिया था। वाद-विवाद के सम्यक् मनन और संयत चिंतन के साथ किसी विषय की व्यापक गवेषणा करने के उपरांत सशक्त एवं स्पष्ट भाषा में विकसित विचारधारा को व्याख्यान के रूप में निर्मित करने की गद्य शैली ने इसके उपदेशकों के माध्यम से उपलब्ध प्रोत्साहन की प्रवृत्ति से अपनी सार्थक विस्तार-भूमि का सहज ही उपार्जन कर लिया गया था। वाद-विवाद अथवा व्याख्यान आदि का श्रवणामृत पान करने के लिए उपस्थित श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने में समर्थ शैली के माध्यम से एक ही कथन को विभिन्न प्रकार से समझाने की कला ने हिंदी गद्य को सुबोधतापूर्ण शब्दावली से युक्त रसात्मक वाक्यों के शिष्ट प्रयोगों से नवीन छितिज प्रदान किया गया था। लेखन की शुद्धता की ओर भी दृष्टिपात हुआ। **'आलू-बुखारा' को** 'उल्लू बिचारा' और 'छन्नू' को 'झब्बू' पढ़ने की रीति से विकसित व्यंग्यात्मक प्रयोगों ने हिंदी गद्य-लेखन के निरंतर अभ्यास की आवश्यकता तथा नैतिक दायित्व का परामर्श भाषा के शुद्ध लेखन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ।

इस प्रकार हिंदी लेखन में भाषा के तिक्त, कटु, कषाय, लवण, क्षार और मधुमिश्रित हास-परिहासपूर्ण भाषा के व्यंग्यात्मक शरसंधान का अप्रत्याशित गुण आर्यसमाज के प्रभाव से ऐसा विकसित हुआ कि हिंदी-पाठकों को इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। भाषणों की सहज, तीक्ष्ण, अक्खड़तापूर्ण, मनोरंजक, सत्यानुमोदित और समयानुकूल भाषा की उत्कृष्टताओं का प्रभाव भारतेंदु हरिश्चंद्र, राधाचरण गोस्वामी बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि की रचनाओं में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ है। भारतेंदुयुग के नाटकों के संवादों में भी वाद-विवादों की शब्दावली और अभिव्यंजना शैली का

 ISSN 0975-735X

लोकप्रिय रूप प्रतिफलित हुआ है। अत: यह कहने में किसी प्रकार के संकोच की संभावना नहीं रह जाती है कि भारतेंदुयुग के हिंदी साहित्य को अपनी सुधार क्षमता से श्रीवृद्धि प्रदान करने में सफल स्वामी दयानंद सरस्वती के आर्यसमाज के धार्मिक आंदोलन के जिस पाखंड-खंडन विजयमंडित स्वरूप ने संपूर्ण उत्तर भारत को आच्छादित किया। वह अविस्मरणीय है।

संदर्भ

1. रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993 ई॰, पृ॰ 553
2. डॉ॰ रामनाथ शर्मा, समकालीन भारतीय दर्शन, केदारनाथ-रामनाथ मेरठ, 1976-77 ई॰, पृ॰ 272
3. ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, संपादक-पंडित भगवद्दत्त, लाइट प्रेस बनारस, पृ॰ 34
4. नाथूराम शर्मा 'शंकर', अनुरागरत्न, पृ॰ 95-96
5. दयानंद सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, स्वमंत व्यामंतव्य प्रकाश, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, पृ॰ 390
6. पंडित सूर्यदेव शर्मा, सार्वदेशिक, सितंबर, 1943 ई॰, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
7. ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, संपादक-पंडित भगवद्दत्त जी, लाइट प्रेस बनारस, 1873 ई॰, पृ॰ 94
8. दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 22वीं आवृत्ति, पृ॰ 114
9. ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, सं॰ पंडित भगवद्दत्त, लाइट प्रेस, बनारस, पृ॰ 36
10. दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 22वीं आवृत्ति, पृ॰ 221
11. राधाचरण गोस्वामी, मित्र विलास, 10 सितंबर, 1970 ई॰, सं॰ कन्हैयालाल, मित्रविलास यंत्रालय, लाहौर

197/199, **सिविल लाइंस, डॉक्टर्स कॉलोनी, बरेली (उ॰प्र॰)**
मो॰ 9927373723

समीक्षा समिति

प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ रामसजन पांडेय, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म॰प्र॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला वि। पीठ, पुणे (महा॰)

काव्य-हेतु : चिंतन के आयाम

प्रो॰ डॉ॰ अर्जुन चव्हाण
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

'काव्य' संकल्पना आज सीमित अर्थ में प्रयुक्त मिलती है जो 'पद्य' या 'कविता' के अर्थ तक ही मर्यादित है। अँग्रेजी में इसके लिए समानार्थी पर्याय 'पोयट्री' प्रचलित है। लेकिन भारतीय काव्य-परंपरा के आलोक में देखने से स्पष्ट होता है कि 'काव्य' की अवधारणा यहाँ अत्यंत प्राचीन है। यह जितनी प्राचीन रही, उसमें 'काव्य' का अर्थ भी उतना ही व्यापक रहा। मूलत: प्राचीन काल में भारत में 'काव्य' शब्द 'साहित्य' या 'वाङ्मय' के अर्थ में प्रचलित था। उसमें केवल कविता नहीं, अपितु नाटक, आलोचना, टीका आदि भी समाहित थे। अँग्रेजी में आज जिसे 'पोयट्री' कहते हैं उस अर्थ में हमारे यहाँ 'काव्य' का प्रयोग नहीं होता था बल्कि वह आज के 'लिटरेचर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता था। उसमें गद्य और पद्य दोनों का भाव निहित रहा करता था। आज के संदर्भ में 'काव्य-हेतु' से तात्पर्य 'साहित्य-हेतु' या 'वाङ्मय हेतु' से ही है, महज 'कविता' से नहीं इसे याद रखना होगा।

काव्य-हेतु : आशय और अवधारणा

कोई क्यों लिखता है? कोई रचना अस्तित्व में कैसे आती है? कोई रचना क्यों और कैसे आकार ग्रहण करती है? रचनाकार, कवि या साहित्यकार आखिर क्यों लिखता है? इन सभी प्रश्नों के मूल में साहित्य की निर्मिति के कारण आते हैं और आती है प्रतिभा। अर्थात् जिसके कारण काव्य अथवा साहित्य का निर्माण होता है वही काव्य-हेतु कहलाता है। साहित्य कृति या काव्य-रचना के जो मुख्य कारण होते हैं उन्हें ही काव्य हेतु (अथवा साहित्य हेतु) कहा जाता है।

अनुभूति तो लाखों करोड़ों के पास हुआ करती है किंतु उसकी अभिव्यक्ति उन सबको संभव नहीं होती। विरह का मारा तो कभी-न-कभी अपनी जिंदगी में हर कोई होता है ही, लेकिन 'मेघदूत' कोई कालिदास ही लिख सकता है। हमारे देश की अस्सी प्रतिशत आबादी गाँवों में बसी है, जो किसान और कृषि समस्या से परिचित भी हैं किंतु 'गोदान' एकाध प्रेमचंद ही लिख पाया है। देश-विभाजन की त्रासदी के शिकार तो यहाँ लाखों हुए, परंतु 'झूठा सच' लिखनेवाला एकाध यशपाल ही दिखाई देता है। सांप्रदायिकता के कोढ़ ने तो हमारे हर देशवासी को कभी-न-कभी प्रभावित कर दिया है, लेकिन 'तमस' लिखने का काम किसी विरले भीष्म साहनी से ही संभव हो पाता है। अल्पसंख्यक समाज के अज्ञान और पिछड़ेपन को झेलनेवाले भले ही हमारे यहाँ कम न हो किंतु 'आधा गाँव' तथा 'काला जल' राही मासूम रजा तथा शनी

 ISSN 0975-735X

जैसा कोई इक्का-दुक्का ही दे पाता है। देश की करीब आधी आबादी नारी की व्यथा कथा जानती और भुगतती है लेकिन 'अन्या से अनन्या', 'कस्तुरी कुंडल बसै' तथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' को लिखने का कार्य किसी प्रभा खेतान या मैत्रेयी पुष्पा से ही संभव होता है। एक तो नारी होना और ऊपर से दलित नारी होना भी हमारे समाज में पर्याप्त स्वानुभूत जीवन है परंतु 'दोहरा अभिशाप' तथा 'शिकंजे का दर्द' एकाध कौसल्या बैसंत्री या सुशीला टाकभौरे ही लिख पाती है।

इन सारे उदाहरणों से यह स्पष्ट होने में देर नहीं लगती कि साहित्य अथवा काव्य-सृजन में अनुभूति ही पर्याप्त नहीं होती, अपितु उसकी अभिव्यक्ति क्षमता भी जरूरी होती है। आशय यह कि अनुभूति की अभिव्यक्ति क्षमता होना भी जरूरी होता है। काव्यशास्त्री इसे 'प्रतिभा' नाम देते हैं जिसकी वजह से रचना अस्तित्व में आती है। तात्पर्य यह कि अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रतिभा के बिना संभव नहीं होती। रचना का निर्माण सकारण होता है। अत: सारे रचनाकारों का प्रभाव समान नहीं होता। यही नहीं, किन्हीं दो या दो से अधिक समकालीन रचनाकारों की रचनाएँ कभी समान प्रभाव नहीं छोड़ती। एक ही काल के साहित्यकारों के एक ही परिवेश में लिखे साहित्य का असर भी अलग-अलग दिखाई देता है।

काव्य-हेतु : स्वरूपगत विवेचन

'काव्य-हेतु' की अवधारणा को देखने से स्पष्ट होता है कि 'काव्य-हेतु' यानी काव्य के निर्माण के कारण। 'कारण' का मतलब है किसी वस्तु या चीज का निर्माण करनेवाला तत्त्व अथवा घटक। जिससे किसी वस्तु का निर्माण होता है वही उसका कारण कहलाता है। जैसे–चमड़ा जूते का कारण है। माने चमड़े के कारण जूता है। धागा/सूत वस्त्र का कारण है यानी धागे/सूत के कारण वस्त्र बना है। लकड़ी कुर्सी का कारण है अर्थात् लकड़ी के कारण कुर्सी है। तार या वीणा मधुर स्वर का कारण है यानी तार या वीणा के कारण मधुर स्वर या संगीत है। ठीक वैसे ही काव्य-हेतु से मतलब काव्य के निर्माण के कारणों से है।

काव्य के हेतुओं का स्वरूपगत विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि काव्य-निर्मिति के मूल में अनेक कारण आधारभूत हैं। काव्य-हेतु संबंधी प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिककालीन विचार चिंतन का अवलोकन करने पर यह अनायास लक्षित होता है कि अधिकतर विद्वानों ने निम्नांकित प्रमुख तीन कारण स्वीकार किए हैं, जैसे–1. प्रतिभा, 2. व्युत्पत्ति, 3. अभ्यास।

1. **प्रतिभा**

काव्य-हेतु में सर्वाधिक महत्त्व प्रतिभा का होता है। प्रतिभा के कारण श्रेष्ठ साहित्य/काव्य-कृति की निर्मिति होती है। प्रतिभा के कारण नूतन कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं। प्रतिभा एक ऐसी शक्ति होती है जो अद्‌भुत, अनुपम, अनूठी, अपूर्व एवं अद्वितीय रचना की निर्मिति कर देती है। कुछ लोगों की मान्यता है कि प्रतिभा जन्मजात होती है इसीलिए यह मान्यता भी स्थापित हुई है कि कवि बनाया नहीं जाता, पैदा होना पड़ता है। सारांश यह कि 'प्रतिभा पैदाइशी अर्थात् जन्मत: होती है और इसी के कारण श्रेष्ठ साहित्य कृति निर्माण होती है।' जैसी मान्यता का तर्कसंगत इंकार नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, दिनकर, जैनेंद्र, यशपाल, अज्ञेय, राजेंद्र यादव,

राकेश, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, राही मासूम रजा, श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे इन्हें–गिन्हें प्रतिभाशाली नाम ही करोड़ों की आबादीवाले देश में क्यों चर्चा में बने रहते। इनकी प्रतिभा शक्ति ने आधुनिककाल में जो श्रेष्ठ साहित्य सृजन किया, इसका श्रेय उसी को देना होगा।

2. **व्युत्पत्ति**

काव्य-हेतु के मूल में दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है व्युत्पत्ति। इसके मूलत: दो अर्थ हैं–(1) 'बहुलता' जिसका संबंध शास्त्रज्ञान या कौशल से होता है और (2) 'विवेक' जिसके फलस्वरूप उचित और अनुचित का बोध होता है। व्युत्पत्ति शास्त्रीयज्ञान और लौकिक ज्ञान रूप में कार्य करती है। इससे कृति का कला पक्ष समृद्ध होता है। रीतिकालीन हिंदी कविता के निर्माण के कारण के रूप में 'प्रतिभा' के साथ-साथ 'व्युत्पत्ति की भूमिका भी अहम रही है। शास्त्रज्ञान, अलंकारज्ञान आदि के मामले में हमारा रीतिकालीन कवि बेजोड़ दिखाई देगा। बिहारी, केशवदास, घनानंद, मतिराम आदि इसकी मिसाल है। फिर भले ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रदेय की दृष्टि से देखने पर इस काव्य के सामने प्रश्नचिह्न जुड़ जाता हो। जो भी हो लेकिन काव्य-हेतुओं में 'व्युत्पत्ति' का भी अपना विशेष स्थान मानना पड़ेगा।

3. **अभ्यास**

अभ्यास से काव्य-कृति के श्रेष्ठ बनने में सहायता मिलती है। काव्य-सृजन में अभ्यास का स्थान उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि नाटक के मंचन से पूर्व उसके 'रिहर्सल' का। अभ्यास से साहित्य-निर्मिति में कुशलता आ जाती है। अभ्यास से रचना उत्कृष्ट श्रेणी में आ जाती है। अभ्यास से जड़मति या कम बुद्धिवाला भी किसी दिन सुजान या बुद्धिमान बन जाता है। गुरु या विद्वान के साहचर्य में रहकर काव्य-निर्मिति का अच्छा-खासा अभ्यास होता है। अभ्यास से साधारण बुद्धिवाले भी असाधारण प्रतीत होने लगते हैं। लेकिन अभ्यास के बिना श्रेष्ठ प्रतिभाएँ व्यर्थ, अवरुद्ध और निष्फल हो जाती हैं। अभ्यास के अभाव में प्रतिभाशाली साहित्यकार भी साधारण या अतिसाधारण-सी रचना-निर्मिति कर देता है। साहित्य का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि बड़े-बड़े नामचीन प्रतिभावान साहित्यिकों ने कुछ अतिसामान्य या साधारण-सी रचनाएँ भी लिखी हैं, जिनका कोई खास योगदान लक्षित नहीं होता। अत: बुद्धिमान, प्रतिभावान सर्जक के लिए भी श्रेष्ठ कृति की निर्मिति के लिए अभ्यास का साथ अनिवार्य हो जाता है।

काव्य हेतु के स्वरूपगत अवलोकन एवं अध्ययन से निष्कर्षत: स्पष्ट होता है कि इसके मूल में 'प्रतिभा' एक शक्ति बनकर, 'व्युत्पत्ति' शास्त्रज्ञान, व्यवहारी ज्ञान बनकर और 'अभ्यास' एक तेजस्वी एवं ओजस्वी निखार बनकर अवतीर्ण होता है। इसके सुमधुर समन्वित रूप से ही श्रेष्ठ साहित्य कृति साकार होती है।

काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु में अंतर

काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु, मूलत: ये दोनों भिन्न संकल्पनाएँ हैं। काव्य-प्रयोजन से तात्पर्य है काव्य से प्राप्त फल से, जैसे–यश, धन, आनंद, उपदेश, कीर्ति, व्यवहारी ज्ञान आदि।

 ISSN 0975-735X

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में भले ही अपनी रचना का प्रयोजन 'स्वांतः सुखाय रघुनाथगाथा' कहा हो लेकिन उन्होंने ने ही काव्य/साहित्य का प्रयोजन सब का हित करनेवाला माना है, जैसे–

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।[1]

अर्थात् वही कीर्ति, कविता और संपत्ति उत्तम है, जिसमें सब का कल्याण निहित हो।

दूसरी संकल्पना काव्य-हेतु संबंधी है। काव्य-हेतु से तात्पर्य है काव्य-निर्माण या काव्य-निर्मिति के कारणों से, जैसे–प्रतिभा, व्यत्पत्ति और अभ्यास आदि। इन सब के कारण ही कोई श्रेष्ठ रचना निर्माण होती है, अस्तित्व में आती है। इनके बिना काव्य-निर्मिति संभव नहीं होती। अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति क्षमता तथा शब्दशक्ति के कारण काव्य-कृति या साहित्य-कृति का निर्माण होता है। यहाँ स्पष्ट होता है कि काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु में अंतर है, जैसे–

क्रम	**काव्य-प्रयोजन**	**काव्य-हेतु**
1.	इसका संबंध प्राप्ति से होता है।	-इसका संबंध निर्मिति से।
2.	यह फल से संबंधित है।	-यह प्रतिभा से संबंधित है।
3.	इसके मूल में उद्देश्य होता है।	-इसके मूल में कारण होते हैं।
4.	इसकी प्राप्ति सर्जक (साहित्यकार) और पाठक, दोनों को होती है।	-इसके मूल में प्राप्ति नहीं, सृजनशक्ति होती है।
5.	इसके मूल में रचना का प्रभाव या परिणाम होता है।	-इसके मूल में रचना की निर्मिति होती है।
6.	इसका संबंध सर्जक और पाठक, दोनों से होता है।	-इसका संबंध सिर्फ सर्जक से होता है।

इस प्रकार काव्य अथवा साहित्य के प्रयोजन और हेतु में अंतर लक्षित होता है। दोनों के केंद्र में है तो काव्य अथवा साहित्य, फिर भी दोनों संकल्पनाएँ नितांत भिन्न हैं।

काव्य-हेतु : चिंतन परंपरा

काव्य अथवा साहित्य-चिंतन की परंपरा हमारे यहाँ निश्चय ही प्राचीन है और समृद्ध भी। काव्य-हेतु संबंधी भारतीय चिंतन परंपरा को मुख्यतः दो भागों में विभाजित कर उसका विवेचन करना अधिक समीचीन लगता है, जैसे-

1. संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु
2. हिंदी साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु

1. संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु

संस्कृत में काव्य-चिंतन की परंपरा सुदीर्घ है और समृद्ध भी। साहित्य अथवा काव्य की अवधारणा, लक्षण, प्रयोजन, हेतु आदि के साथ-साथ काव्य की आत्मा को तलाशने का कार्य और तत्संबंधी चिंतन संस्कृत के अनेक आचार्यों ने किया है। यहाँ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु संबंधी मान्यताओं का विवेचन दर्शनीय है–

भामह 'काव्यालंकार' में काव्य-हेतु के रूप में 'प्रतिभा' को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, फिर भले ही उसमें 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' भी उपादेय हो। उनकी मान्यता है–

गुरुपदेशाद्धयेतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्
काव्यं तु जायते जातुकस्यचित्व प्रतिभावत:

आशय यह कि गुरु के उपदेश से शास्त्र अध्ययन में जड़मति लोग भी सक्षम हो सकते हैं परंतु काव्य तो किसी प्रतिभाशाली द्वारा ही रचा जाता है। स्पष्ट है कि भामह की दृष्टि से काव्य-हेतु के मूल में प्रतिभा सर्वोपरि है और उसमें व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी सहयोग है।

दंडी 'काव्यादर्श' में भामह के विचारों का अनुगमन करते हुए काव्य-हेतु के मूल में प्रतिभा, अभ्यास और शास्त्रज्ञान को महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि 'अभेदाश्चाभियोगोऽस्य: कारणं काव्य सम्पद:' अर्थात् प्रतिभा (जन्मजात), निर्मल शास्त्र और अभ्यास काव्य-संपत्ति का कारण है। दंडी का मानना है कि अभ्यास से प्रतिभा निखर आती है। इसी संदर्भ में कथन रूढ़ है कि 'करत-करत अभ्यास, जड़मति होत सुजान'। यानी बुद्धिहीन या जड़मति व्यक्ति भी अभ्यास से सुजान बन जाता है। दंडी ने स्पष्ट किया है कि शास्त्र-ज्ञान एवं अभ्यास के बिना काव्य रचना संभव नहीं।

वामन 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' नामक अपने ग्रंथ में काव्य-हेतु संबंधी विस्तृत विवेचन करते हैं। उन्होंने काव्य के प्रमुख तीन अंग रेखांकित कर 'काव्यंग' शब्द काव्य-हेतु के लिए प्रयुक्त करते हुए लिखा है–'लोको विद्याप्रकीर्णस्य काव्यंगानि।'

अर्थात् (1) लोक (लोकव्यवहार का ज्ञान), (2) विद्या (शास्त्र ज्ञान), (3) प्रकीर्ण लोक (लौकिक ज्ञान) ये तीन ही काव्य के प्रमुख अंग हैं। वामन ने काव्य-हेतु में इन तीनों का मूल्य स्वीकार किया है। साथ ही उन्होंने प्रकीर्ण लोक के निम्नांकित छह प्रकार प्रस्तुत किए हैं–

लक्ष्यज्ञत्व–अन्य कवियों के काव्य का अध्ययन करना।
अभियोग–अभ्यास, प्रयास आदि करना।
वृद्धसेवा–मर्मज्ञों, वरिष्ठों का साहचर्य, सेवा, ज्ञानर्जन करना।
अवेक्षण–समीक्षा, संशोधन करना।
प्रतिभान–जन्मत: होता है।
अवधान–एकाग्रता अपेक्षित है।

वामन की मान्यताओं को देखने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने प्रतिभा की अपेक्षा 'प्रकीर्ण लोक' को अधिक महत्त्व दिया है जिसमें 'प्रतिभान' के अंतर्गत प्रतिभा अंतर्भूत है ही। वर्तमान समय में वामन के 'काव्यंग' संबंधी विचार उपादेय मानने पड़ेंगे।

रुद्रट अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ में भामह की तरह जो तीन काव्य-हेतु मानते हैं, वे हैं–प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। उन्होंने प्रतिभा के भी दो प्रकार प्रस्तुत किए हैं–'सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति' अर्थात् 'सहजा' जो ईश्वरीय शक्ति के रूप में होती है और 'उत्पाद्या' जो शास्त्रज्ञान, लोकानुभव, व्यवहारीज्ञान से प्राप्त होती है। रुद्रट का मानना है कि प्रतिभा से रचनाकार शब्द एवं अर्थ के प्रयोग की क्षमता अर्जित करता है, व्युत्पत्ति से रचना को निर्दोष एवं

अलंकार आदि से युक्त बनता है और अभ्यास रचना में निखार लाता है।

आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में काव्य-हेतु संबंधी विवेचन में दो तत्त्वों को महत्त्व दिया है—प्रतिभा और व्युत्पत्ति। इन दोनों में भी वे प्रतिभा का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

राजशेखर ने काव्य-हेतु का सूक्ष्मता से विवेचन किया है। उन्होंने बुद्धि के तीन भेद माने हैं—स्मृति, मति और प्रज्ञा। उनकी दृष्टि से ये तीनों काव्य के लिए उपयोगी हैं। उनकी मान्यता है कि 'प्रतिभा' और 'शक्ति' ये दोनों ही काव्य-हेतु हैं। वे प्रतिभा के भी दो भेद मानते हैं—(1) कारयत्री प्रतिभा—जो जन्मत: होती है और (2) भावयत्री प्रतिभा—जो हृदय से संबंधित होती है। राजशेखर की दृष्टि से 'शक्ति' का विशेष महत्त्व होता है। शक्ति होने पर ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति का जन्म होता है। इस प्रकार उनकी मान्यता से काव्य-हेतु के रूप में प्रतिभा और शक्ति, इन दोनों का अपना महत्त्व है।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में काव्य-हेतु पर विचार चिंतन प्रस्तुत करते हुए 'शक्ति', 'अभ्यास' और 'निपुणता' इन तीनों को काव्य-हेतु माना है। इसके बारे में उन्होंने लिखा है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।

अर्थात् कवि में निहित स्वाभाविक (प्रतिभारूपी) शक्ति, लोकव्यवहार, शास्त्र और काव्य के अध्ययन से निपुणता पाकर, गुरु की शिक्षा के अनुसार अभ्यास से अधिक निपुण होकर काव्य का कारण बन जाती है। मम्मट ने शक्ति को महत्त्व प्रदान किया है, जो प्रतिभा-स्वरूप होती है। उसके अभाव में साहित्य या काव्य-सृजन संभव नहीं होता।

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ 'रसगंगाधर' में काव्यनिर्मिति के हेतु के मूल में प्रतिभा को केंद्र में रखा है। उन्होंने लिखा है कि 'तस्यच कारणं कविगता केवलं प्रतिभा' अर्थात् प्रतिभा ही काव्य के निर्माण का हेतु है। पंडितराज जगन्नाथ जी की दृष्टि से 'प्रतिभा' ही काव्य-सृजन का कारण है।

हेमचंद्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में काव्य हेतु का विवेचन करते हुए प्रतिभा को ही सर्वोपरि माना है। उनकी मान्यता है कि 'प्रतिभाऽस्य हेतु प्रतिभा नव नवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा' स्पष्ट है कि हेमचंद्र जी ने काव्य-हेतु पर चिंतन करते हुए प्रज्ञा तथा प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण माना है और यह भी स्थापित किया है कि प्रतिभा के बिना व्युत्पति और अभ्यास भी असरहीन होते हैं, प्रभावहीन होते हैं।

संस्कृत आचार्यों की काव्य-हेतु विषयक चिंतन परंपरा को देखने से सार रूप में कुछ तथ्य सामने आते हैं, जैसे—

काव्य अथवा साहित्य-संबंधी विविध अंगों के विवेचन का इतिहास हमारे यहाँ बड़ा लंबा है। वह समृद्ध भी है। काव्य-हेतु संबंधी चिंतन देखने से स्पष्ट होता है कि इस पर अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। इन सबके अध्ययन के पश्चात् प्राप्त तथ्यों के आधार पर एक सत्य स्थापित करना उचित लगता है कि अधिकतर विद्वानों ने कम-अधिक मात्रा में निम्नांकित तीन तत्त्व साहित्य अथवा काव्य-हेतु के कारण के रूप में स्वीकार किए हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

इन सबके लिए कभी प्रज्ञा, शक्ति, शास्त्रज्ञान, व्यवहारीज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग किया है तो कभी सीधे ऊपर निर्देशित तीनों शब्दों का। लेकिन उन सबने सीधे या अलग शब्दावली में उक्त तीनों कारणों को न केवल स्वीकार किया है अपितु समर्थन भी किया।

हिंदी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु

काव्य अथवा साहित्य-चिंतन की परंपरा में विख्यात हिंदी साहित्यकारों तथा विद्वानों का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत आचार्यों की तरह हिंदी-विद्वान साहित्यिकों ने भी काव्य-हेतु पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। हाँ, इन्होंने भले ही इस पर स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में चिंतन न किया हो, इनका तत्संबंधी विचार किसी न की अनुपात में आया हो लेकिन काव्य-हेतु को जानने के लिए इनको महत्त्व देना पड़ेगा।

तुलसीदास वे पहले हिंदी साहित्यकार हैं जिंहोंने काव्य प्रयोजन तथा काव्य हेतु का स्पष्टता से संकेत किया है। 'रामचरितमानस' के लेखन का मूल कारण (काव्य-हेतु) स्वयं तुलसीदास 'स्वांतः सुखाय' अर्थात् अपने खुद के सुख के लिए बताते हैं। इसके संबंध में तुलसीदास लिखते हैं कि

स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबद्ध मति मंजुलमातनोति।[2]

अर्थात् तुलसी मानते हैं कि अपने आत्मसुख के लिए उन्होंने प्रभुरामचंद्र का यह (आख्यान) महाकाव्य (रामचरितमानस) लिखा है। जब तुलसी अपनी काव्य निर्मिति के मूल में 'आत्मसुख' या 'आत्मानंद' मानते हैं तब उससे वे काव्य-हेतु पर ही प्रकाश डालते हैं। उनके 'स्वांतः' शब्द में प्रतिभा, सहजज्ञान और आत्मानुभूति निहित है। 'भाषा-निबद्ध' में शास्त्र का अध्ययन निहित है और 'मतिमंजुल मातनोति' में रचना का मंजुल या मधुर होना निहित है। इस प्रकार तुलसीदास ने काव्य-हेतु का बिल्कुल खुलकर उद्घाटन किया है जिसकी व्याख्या की भी जरूरत नहीं लगती। 'रामचरितमानस' का हेतु रेखांकित करने के लिए तुलसीदास स्वीकार करते हैं कि

संभु-प्रसाद सुमति हियँ हुलसी
रामचरितमानस कवि तुलसी।[3]

अर्थात् शिवजी की कृपा से सुबुद्धि और हृदय में उल्लास जागा जिसके परिणामस्वरूप कवि तुलसीदास ने 'मानस' की रचना की। इसमें तुलसी के काव्य-हेतु में ईश्वरीय कृपा, चेतना या शक्ति का महत्त्व स्वीकृत है। इस संदर्भ में डॉ॰ रामचंद्र तिवारी की मान्यता है–'हम कह सकते हैं कि भक्त-कवि तुलसी की काव्य-रचना का हेतु उनकी सुबुद्धि थी जो शिव की कृपा से जाग्रत हुई थी। तुलसीदास पर शिव की कृपा का कारण उनका संस्कारशील होना ही माना जा सकता है।'[4] भारत की ईश्वरवादी परंपरागत मानसिकता को सूचित करती है। इस दृष्टि से तुलसी के अनुसार काव्य-हेतु ईश्वरीय प्रेरणा या कृपा के परिणामस्वरूप है।

सूरदास 'सूरसागर' जैसे महत्त्वपूर्ण कृष्ण-काव्य के सर्जक रहे हैं। वे वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व गऊ घाट पर बैठकर कुछ गीत गाया करते थे। लेकिन जब वल्लभाचार्य ने उन्हें उपदेश दिया कि 'ऐसे घिघियाते क्यों हो? कुछ हरि लीला गाओ' तब गुरु के कृपापूर्ण उपदेश,

 ISSN 0975-735X

आदेश या मार्गदर्शन से सूरदास ने कृष्ण की लीलाओं का गुणगान करना शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप 'सूरसागर' अस्तित्व में आया, सूरदास के हजारों पद अस्तित्व में आए। यहाँ सूरदास के संदर्भ में गुरु से प्राप्त प्रेरणा, उपदेश या मार्गदर्शन ही काव्य-हेतु है।

कुलपति मिश्र ने अपनी कृति 'रसरहस्य' में काव्य हेतु की संख्या तीन मानी है। जैसे–

शब्द अर्थ जिनते बने, नीकी भाँति कविता
सुधि द्यावन समरथ्थतिन, कारण कवि को चित्त।

अर्थात् कविता का कारण कहीं पर शक्ति, कहीं पर व्युत्पत्ति, कहीं पर अभ्यास और कहीं पर ये तीनों हैं। इनकी मान्यता भी संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का अनुगमन करती है। श्रीपति ने काव्य-हेतु पर चिंतन करते हुए उसकी संख्या छह बताई है। उनकी मान्यता है कि–

शक्ति निपुणता लाकमत, वित्पत्ति अरु अभ्यास
अरु प्रतिभा ते होत है, ताको ललित प्रकाश।

अर्थात् शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा के कारण काव्य का निर्माण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि काव्य-हेतु को लेकर श्रीपति जी की दृष्टि बहुत साफ है और कम अधिक मात्रा में संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं से समानता रखती है।

रीतिकालीन कवियों में भिखारीदास महत्त्वपूर्ण कवि हैं जिन्होंने काव्य-हेतुओं की संख्या तीन मानी है। फिर भी शक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं, जैसे–'सक्ति कवित्त बनाइवे की, जिं जन्म नक्षत्र में दीनी विधाता' अर्थात् कविता का मूल कारण है शक्ति या प्रतिभा जो विधाता की देन स्वरूप जन्मत: होती है। काव्य शक्ति अर्थात् प्रतिभा को भिखारीदास विधाता की देन मानते हैं, जो जन्मजात होती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'रस मीमांसा' में काव्य-हेतु संबंधी चिंतन में अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। रसवादी आचार्य परंपरा का निर्वाह करते हुए शुक्लजी ने प्रतिभा को काव्य-हेतु के रूप में स्वीकार किया है। किंतु उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास का मूल्य भी माना है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि प्रतिभा कवि के लिए सबसे जरूरी चीज है। उनकी दृष्टि से व्युत्पत्ति और अभ्यास कवि के लिए आवश्यक है ही लेकिन 'कवि के लिए जिस बात की सबसे अधिक जरूरत होती है, वह प्रतिभा है।'

स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद राजनयिक के साथ ही अच्छे लेखक भी थे। उसके भीतर की साहित्यिक प्रतिभा को देखकर उनके निकटवर्ती उन्हें लिखने का आग्रह किया करते थे। तब मन में नहीं था फिर भी हितैषी के 'आग्रह' के कारण वे लिखते रहे। यहाँ यही 'आग्रह' और 'दायित्व' डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद जी के साहित्य-सृजन का कारण दिखाई देता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'आज वाल्मीकि ने बहुत जिद्द किया कि मैं प्रतिदिन कुछ-न-कुछ लिखा करूँ। जी तो नहीं चाहता था, पर आग्रह टाल न सका। देखूँ कहाँ तक यह निबहता है।'[5]

यहाँ पर स्पष्ट है कि अपने हितैषी या सलाहकार की प्रेरणा से राजेंद्रप्रसाद जी लिखने के लिए प्रवृत्त होते हैं और आगे अपनी अनुभूति को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं–'इस समय सबसे बड़ी चिंता की बात अमेरिका का पाकिस्तान को हथियारों की मदद करने की है।

यद्यपि अभी तक निश्चय नहीं हुआ है, पर इसमें संदेह नहीं कि यह होनेवाला ही है।'[6] कहना आवश्यक नहीं कि आगे चलकर अमेरिका ने पाकिस्तान को हथियार देकर सहायता कर भी दी थी लेकिन इसका अंदेशा राजेंद्रप्रसाद जी को पहले ही चला था और इसका जिक्र उन्होंने अपने डायरी-लेखन में भी किया था। वह प्रतिभा और प्रज्ञा से ही उन्होंने लिख डाला था जो आगे चलकर सच निकला। इससे यह कहने में संकोच नहीं होता कि राजेंद्रप्रसाद जी प्रतिभा, प्रज्ञा और प्रेरणा को ही काव्य/साहित्य-निर्मिति का कारण मानते हैं।

ज्ञानपीठ से सम्मानित नरेश मेहता जैसे साहित्यकार भी काव्य के निर्माण की पहल करते हुए रेखांकित करते हैं कि 'मात्र कविता करना बाह्य प्रक्रिया है परंतु काव्यात्मकता का साक्षात, कविता करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।'[7] आगे काव्य-हेतु की ओर वे इन शब्दों में इशारा करते हैं–'शब्द और अर्थ आदि के गुरुत्वाकर्षण का भेदन इनके बिना काव्य नहीं कर सकता है।'[8]

इसमें 'शब्द और अर्थ के भेदन' से तात्पर्य है कि प्रतिभा शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास होना। बिना इसके नरेश मेहता जी काव्य का निर्माण असंभव बताते हैं। रामविलास शर्मा 'भारतीय साहित्य की भूमिका' में स्थापित करते हैं कि 'ऋग्वेद में कवि बहुत सम्मानसूचक शब्द है। बहुत बार वह देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है।'[9] रामविलास शर्मा मानते हैं कि वैदिककाल में उच्च या श्रेष्ठ काव्य-सृजन करनेवाले कवि 'विप्र' थे अर्थात् 'ज्ञानी' थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी इसी कारण वे श्रेष्ठतम काव्य-निर्मिति कर सके। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'असाधारण प्रतिभा के धनी, आंतरिक प्रेरणा से उच्च कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत करनेवाले कवि विप्र थे... और विप्र का अर्थ भी ज्ञानी किया जाता है, पर उसका मूल संबंध काव्य रचना से है।'[10] कहना जरूरी नहीं कि यहाँ रामविलास शर्मा की दृष्टि से काव्य के निर्माण के प्रमुख दो कारण हैं जिमें प्रतिभा है और आंतरिक प्रेरणा।

बाबू गुलाबराय 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में आधुनिक हिंदी कविता को समृद्ध करनेवाले कवियों के काव्य-निर्माण में 'प्रतिभा' को ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। काव्य-हेतु के मूल में उनकी दृष्टि से प्रतिभा की ही सबसे अधिक अहमियत है। उनकी मान्यता है कि उन कवियों ने ही बड़ा योगदान किया है जो प्रतिभावान थे। स्वयं बाबू गुलाबराय के शब्दों में–'भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी के अथक प्रयासों से खड़ीबोली हिंदी कविता रची जाने लगी और शताधिक प्रतिभा-संपन्न कवियों ने खड़ीबोली में रचित हिंदी काव्य भंडार को समृद्ध किया।' यहाँ गुलाबराय जी की मान्यता है कि काव्य की समृद्धि के लिए 'प्रतिभा' ही सबसे मूल कारण है। बिना उसके श्रेष्ठ रचना की निर्मिति संभव नहीं।

काव्य-चिंतन की भारतीय परंपरा में संस्कृत तथा हिंदी विद्वानों की काव्य-हेतु संबंधी मान्यताओं का अध्ययन करने पर कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आते हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) काव्य-हेतु अर्थात् काव्य के निर्माण के अनेक कारण हैं।

(2) प्रतिभा इसमें प्रमुख कारण है जिसे एक शक्ति के रूप में माना है।

(3) शास्त्रज्ञान इसमें उपयोगी सिद्ध हो जाता है।

(4) अभ्यास भी इसके लिए उपयुक्त होता है।

 ISSN 0975-735X

(5) अन्य प्रेरक तत्त्व, जैसे गुरु, ज्ञानी, मित्र, सलाहकार ईश्वरकृपा आदि।

(6) संगति का प्रभाव, जैसे–साधु, महात्मा, सज्जन, सत्संग आदि।

(7) उत्प्रेरक तत्त्व, जैसे–ग्रंथ, घटना, प्रसंग, दमन, शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि।

निष्कर्ष

आधुनिककाल में मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य, दलित-साहित्य, आदिवासी साहित्य, अल्पसंख्यक साहित्य, पाश्चात्यों से प्रभावित साहित्य आदि को देखने के उपरांत प्राचीनकाल से मध्यकाल तक काव्य-हेतु को जो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा माना था, ईश्वरीय कृपा शक्ति या ईश्वरीय प्रेरणा माना था उसमें बदलाव आया है। वैज्ञानिक सोच के परिणामस्वरूप अब विद्वानों ने काव्य अथवा साहित्य की निर्मिति के कारण के रूप में आत्मचेतना, स्वाभिमान, चेतना जागृति तथा अस्तित्वबोध आदि का स्वीकार किया है। सार यह कि अपने समय और समाज के बदलते परिवेश में साहित्य अथवा 'काव्य-हेतु' की अवधारणा में भी बदलाव आया है। इसमें नवजागरण के साथ-साथ व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैश्विक चेतना शक्ति भी आधारभूत माननी पड़ेगी। जिसे जन्मजात 'प्रतिभा' माना था उसका स्थान आज 'आत्मचेतना शक्ति' ने लिया है, जिसे 'व्युत्पत्ति' या 'शास्त्रज्ञान' कहा था उसका स्थान अब 'व्यवहारज्ञान' ने लिया है और जिसे 'अभ्यास' कहा था उसका स्थान अब जीवनवादी दृष्टि ने लिया है। स्पष्ट है कि काव्य-संबंधी प्राचीन मान्यताएँ अब समय सापेक्ष बन गई हैं। 'काव्य हेतु' भी इसके लिए अपवाद नहीं रहे। अब 'कला कला के लिए' की अपेक्षा 'कला जीवन के लिए' जैसी धारणा के अनुकूल मानसिकता है और माहौल भी। अतः यह निसंदेह स्पष्ट है कि 'काव्य-हेतु' संबंधी अवधारणा में समय के साथ परिवर्तन आया है। विद्वानों की अनुमति की चिंता किए बिना। उसका स्वीकार या इंकार कोई करे या न करे, वह आता रहेगा। फिर भले ही कोई चाहे, न चाहे। अंततः यही तथ्य हमें स्वीकारना होगा।

संदर्भ

1. तुलसीदास, रामचरितमानस, टीकाकार हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ॰ 46, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2024
2. वही, पृ॰ 30
3. वही, पृ॰ 68
4. डॉ॰ रामचंद्र तिवारी, भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना, पृ॰ 13, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, परिवर्धित संस्करण, 2014
5. सं॰ रामकिशोर शर्मा, गद्य ज्योति, 'डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद की डायरी' से, पृ॰ 18, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2005
6. वही, पृ॰ 18
7. नरेश मेहता, प्रवादपर्व, पृ॰ 8, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं॰ 2000
8. वही, पृ॰ 10
9. रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका, पृ॰ 17, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
10. वही, पृ॰ 20
11. बाबू गुलाबराय, हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ॰ 154, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, संशोधित संवर्धित नव्यतम संस्करण।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की संपादन-कला

दुर्गाकुमारी गहन
शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने साहित्यिक संसार में पर्दापण करने के पश्चात् संपादन के क्षेत्र में सर्वाधिक सेवा दी है। उनके द्वारा ज्ञात स्रोतों से करीब बासठ के आस-पास कृतियों का संपादन किया जा चुका है, जिनमें से करीब छह कृतियाँ 1976 ई॰ तक अप्रकाशित थीं। वर्ष 1926 से वर्ष 1975 तक उनके द्वारा संपादित इन कृतियों में तीन प्रकार के ग्रंथ संपादित रहे हैं—कुछ तो ऐसे हैं जिनका संग्रह, पाठ-शोधन, टिप्पणी एवं संपादन का काम पंडितजी ने अकेले किया है, कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं, जिनका संपादन अन्य लोगों के सहयोग से किया है और कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनका संकलन तो किसी और ने किया, किंतु संपादन किया है पंडितजी ने।[1]

पंडितजी ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के ग्रंथों का संपादन किया है। मिश्रजी द्वारा संपादित कृतियों में लाला भगवानदीन जी 'दीन' के साथ किया गया, वर्ष 1983 वि॰सं॰, 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक सर्वप्रथम है। इसमें पंडित जी द्वारा भूमिका भाग में नाटक के लक्षण, आधार, स्रोत एवं कलात्मक सौंदर्य पर विस्तृत समीक्षा की है। कवि परिचय एवं टिप्पणियाँ भी हैं।

पंडितजी ने वर्ष 1927 ई॰ में 'सुदामाचरित' का संपादन विस्तृत आलोचना के साथ प्रस्तुत किया, जिसमें नरोत्तम कवि के परिचय एवं काव्यात्मक महत्त्व पर भी प्रकाश डाला।

1929 ई॰ में पंडितजी ने 'छत्रसाल दशक' और 'शिवाबावनी' का संपादन किया। 'छत्रसाल दशक' पर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका भी लिखी। पंडितजी ने महाकवि भूषण को सच्चे वीरकाव्य का रचयिता माना तथा शिवाबावनी' को ओज तेज का प्रस्रवण भी कहा। 1930 ई॰ में श्री अर्जुनदास केडिया के 'भारतभूषण' के परामर्शदाता, संशोधक एवं संपादक रहे। भारतभूषण हिंदी साहित्य में अलंकारशास्त्र का सर्वमान्य ग्रंथ है। वर्ष 1930 में ही इन्होंने तुलसीदास कृत रामचरितमानस के अयोध्याकांड, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल का संपादन कर उस पर टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत कीं।

पंडितजी ने 1931-34 ई॰ के मध्य रामचरितमानस (वंदन पाठक), गद्य प्रकाशिका, गीतावली गुंजन, हम्मीर हठ (चंद्रशेखर वाजपेयी द्वारा संपादित), अलंकार-मंजूषा (लाला भगवानदीन), गीतावली (गीता प्रेस गोरखपुर) का संपादन किया।

1935 ई॰ में पडितजी ने पद्माकर पंचामृत (हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोध-पचासा और गंगालहरी) का विस्तृत टिप्पणी और आलोचना के साथ प्रकाशन करवाया। इसके अगले वर्ष में 'भूषण ग्रंथावली' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करवाया। इसके बाद वर्ष

 ISSN 0975-735X

1939 एवं 1941 में दो अन्य कृतियों का संपादन पंडितजी द्वारा करवाया गया प्रथमत: 'गद्यमंजरी' एवं 'गद्यमाधुरी'। इनके पश्चात् 'वीरविरुदावली' का संपादन किया गया।

पंडित मिश्रजी ने घनानंद के 41 ग्रंथों की ग्रंथावली संपादित कर प्रकाशित कराई (1952 ई॰)। 1953 ई॰ में मिश्रजी ने 'भूषण' नाम से स्वतंत्र पुस्तक का संपादन किया। 'रसखानि' का भी संपादन मिश्रजी ने इसी समय किया। 'केशव ग्रंथावली' के तीन भाग भी मिश्रजी ने अलग-अलग समय पर संपादित किए–1944 ई॰, 1955 ई॰ और 1959 ई॰। मिश्रजी ने 1956 ई॰ में 'भिखारीदास-ग्रंथावली' प्रथम खंड का तथा द्वितीय खंड का 1957 ई॰ में संपादन किया। इन दोनों खंडों की भूमिका बड़ी लंबी लिखी गई है तथा संपादन एवं पाठ शोधन की शैली पर अत्यंत ही विद्वत्तापूर्ण विचार व्यक्त किए हैं।

'जगद्विनोद एवं पद्माभरण' को अलग-अलग पुस्तकों का स्वरूप प्रदान कर वर्ष 1958 में प्रकाशित करवाया। सन् 1959 में मिश्रजी ने पद्माकर की समस्त कृतियों को पद्माकर ग्रंथावली के रूप में संपादित कर प्रकाशित करवाया, जिसमें कि कवि की करीब बारह कृतियों को संक्षिप्त स्थान प्रदान किया है। इसी वर्ष 'केशवदास' की कृतियों का संकलन प्रकाशन करवाया, जिसमें की कवि के 6392 छंदों में से 1232 छंद इसमें संकलित संपादित हैं।

संपादनकला में मर्मज्ञ पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' (तुलसीकृत) एक अत्यंत ही सम्माननीय संपादित ग्रंथ है, जिसमें मिश्रजी ने आत्मनिवेदन लिखते हुए उसमें संपादनकला एवं वर्तमान समय की प्रचलित विभिन्न पद्धतियों पर शोधपरक सम्मतियाँ भी दी हैं।

' रसिकप्रिया' के संपादक मिश्रजी ने लेखक केशव के बारे में सारगर्भित टिप्पणी की– 'रसिकप्रिया' का निर्माण करते समय केशव आचार्य और कवि दोनों थे। आगे चलकर उनका आचार्य प्रबल होता गया। 'रसिकप्रिया' और 'रामचंद्रिका' को देखकर सहसा कोई विश्वास नहीं कर पाता कि एक ही की दोनों रचनाएँ हैं। संस्कृत प्रबंधकाव्यों की परंपरा पहले ही पुष्ट हो चुकी थी। संस्कृत में अमरूक शतक जैसे मुक्तकाव्य उतने नहीं हैं। हिंदी में केशवदास ने 'रसिकप्रिया' में अपने कविरूप का जैसा निखार दिखाया, वह हिंदी की प्रभूत परिमाण में अपनी ही काव्य-संपति है। जहाँ कहीं संस्कृत के उदाहरणों का सहारा भी लिया गया है वहाँ भी नूतन भंगिमा या ग्रंथन कौशल है। इसलिए केशव के संबंध में यह सत्य न भूलना चाहिए कि इनमें कवित्व की सरसता मुक्तक के क्षेत्र में पूरी थी। यदि कुछ विशेष प्रकार के विनियोग की प्रतिज्ञा उन्होंने न की होती तो 'रामचंद्रिका' में उनका कविरूप उतना आवृत्त न होता, जितना शास्त्र-स्थिति संपादन के कारण हो गया।[2]

कवि केशव को समझते हुए मिश्रजी ने उनकी रचना को कुछ यूँ समझा–'रसिकप्रिया' में सोलह प्रभाव हैं। कदाचित उसके षोडश शृंगार का ध्यान रखकर इतने प्रभाव रखे गए हैं– प्रत्येक शृंगार का एक प्रभाव। शृंगार का प्रभाव ही पड़ता है। प्रत्येक प्रभाव के उपसंहार में आगे के प्रभाव का वर्ण्यविषय सूचित कर दिया गया है।[3]

मिश्रजी ने प्रत्येक प्रभाव का उदाहरण सहित प्रस्तुत कर रचना की कलई-कलई खोलकर रख दी है, जिससे पाठक रचना का आस्वादन ठीक ढंग से कर सकता है। इस प्रकार

संपादनकला में आते निखार के साथ-साथ उनकी टिप्पणियों ने भी रचना का रसास्वादन करने में पाठक का भरपूर सहयोग किया है।

पंडितजी के मतानुसार प्राचीन कृतियों के संपादन में वैज्ञानिक शैली (शब्द की शुद्धता पर बल देनेवाली) एवं साहित्यिक शैली (अर्थगत शुद्धता पर बल देनेवाली) के समन्वय से ही प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इन्हीं दोनों शैलियों का सुंदर समन्वय 'रामचरितमानस' के संपादन में मिलता है।

'मिश्रजी के साहित्यिक व्यक्तित्व में उनके द्वारा संपादित उत्तरमध्यकालीन काव्य साहित्य का विपुल भंडार उनकी क्षमता और निष्ठा को व्यक्त करता है। संपादन में लेखक से चौगुनी प्रतिभा और दोगुनी दिग्बुद्धि अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से विश्वनाथ प्रसाद जी का स्थान बहुत ऊँचा जान पड़ता है।'[4]

मिश्रजी बड़े निपुण संपादक रहे हैं एवं इस कार्य में उनका संस्कृत ज्ञान मणि-कांचन योग सिद्ध होता है। मिश्रजी के संपादन में दो कोटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं–एक स्वकीय संपादन तथा दूसरी संपादन में सहयोग, सुधार, परामर्श एवं भूमिकाएँ।

पंडितजी ने इतने सारे ग्रंथों का विद्वत्तपूर्ण ढंग से संपादन किया है। संपादन के अलावा भी ढेर सारे काम किए हैं, फिर भी कुछ कार्य उनके पश्चात् अधूरे या अप्रकाशित रह गए हैं।

प्रसंगवश संपादन के इतर लेखनकार्य में भी मिश्रजी अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। उदाहरणस्वरूप हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में–'आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के साहित्येतिहास-संबंधी विचार उनकी भारतीय शास्त्रीय सैद्धांतिक रुचि के ही आलोक में पनपे हैं। परिणामस्वरूप उनके विचार एवं शोध-समीक्षात्मक संभार को लिए हुए हैं। साथ ही उनके साहित्येतिहास-संबंधी विचार अनेक पोथियों मे बिखरे हुए मिलते हैं।'[5] 'वाङ्मय-विमर्श' में सूत्र रूप में उन्होंने उन्हें सँजोने का प्रयास किया है परंतु एतद्विषयक उनके विचार की प्रभूत सामग्री इस छात्रोपयोगी लघु कलेवर विन्यास में समाहित नहीं हो सकी है। 'हिंदी साहित्य का अतीत' दो भागों में उनके साहित्येतिहास संबंधी आरंभिक दो युगों (आदिकाल एवं मध्यकाल) से संबद्ध विचार को उपस्थित करता है एवं रीतिकालीन साहित्य का सूक्ष्मान्वेषण एवं तद्विषयक मिश्रजी की मान्यताएँ 'बिहारी', भूषण की 'भूमिका', 'घनानंद', 'केशव ग्रंथावली', भिखारीदास ग्रंथावली आदि में प्रकीर्ण मिलती हैं। वर्तमान युग से संबद्ध मिश्रजी के निष्कर्षों एवं विचारों को हिंदी का सामयिक साहित्य अपने में समाहित किए हुए है।[6]

पंडितजी द्वारा संपादित जो पुस्तकें प्रकाशनार्थ प्रस्तुत-प्रेषित हैं, इनमें उल्लेखनीय क्रमशः ये हैं–

1. बोधा ग्रंथावली
2. आलम ग्रंथावली
3. जसवंतसिंह ग्रंथावली
4. सूरसागर
5. कवि भारती (ग्रंथ) प्राचीन काव्य संग्रह है।[7]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भारतीय परंपरा के ऐसे ही संतुलित और अस्खलित

विवेचक हैं। उन्होंने साहित्य के समस्त पक्षों पर विचार किया है एवं कतिपय स्वयं संभूत मान्यताओं का स्थापन भी।[8]

संदर्भ

1 . आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अभिनंदन ग्रंथ, संपादक डॉ॰ विजयेंद्र स्नातक, प्रेम पुस्तक भंडार दिल्ली, प्रथम संस्करण 1976, पृ॰ 46

2. केशवदास, संपादक विजयपालसिंह, आलेख रसिकप्रिया प्रो॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पृ॰ 85

3. वही, पृ॰ 86

4. वेंकटेश्वर समाचार, प्रमुख साहित्यमर्मज्ञ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

5 . आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य, दीनानाथ पांडेय, युगवाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ॰ 31

6. वही, पृ॰ 116

7. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अभिनंदन ग्रंथ, संपादक डॉ॰ विजयेंद्र स्नातक, पृ॰ 31

8 . वही, पृ॰ 81

पुत्री श्री सुखदेव गहन
शिशु मंदिर स्कूल के पास, वार्ड नं॰ 15
मु॰ पो॰ बड़ागाँव, जिला झुँझुनूँ (राज॰) 333021
मो॰ 9784921973
durga.gahan@gmail.com

अलीगढ़ मंडलायुक्त ने किया प्राची पत्रिका के अशोक अंजुम विशेषांक का विमोचन

जबलपुर से प्रकाशित प्राची मासिक पत्रिका के अशोक अंजुम विशेषांक का लोकार्पण कमिश्नरी सभागार में मंडलायुक्त अजयदीप सिंह द्वारा किया गया। इस अवसर पर मंडलायुक्त ने शॉल ओढ़ाकर अशोक अंजुम को सम्मानित किया।

मंडलायुक्त अजयदीप सिंह ने कहा कि अशोक अंजुम ने साहित्य के क्षेत्र में अलीगढ़ का गौरव बढ़ाया है। वरिष्ठ कथाकार व कार्यक्रम के मुख्य अतिथि डॉक्टर प्रेमकुमार ने कहा कि अशोक अंजुम ने साहित्यकारों का मान बढ़ाया है। विशेषांक की अतिथि संपादक डॉ॰ सफलता सरोज ने अशोक अंजुम को बहुमुखी प्रतिभा का धनी बताया। पूर्व विधायक विवेक बंसल ने अशोक अंजुम को प्रतिभावान कलमकार कहा। कार्यक्रम में कवि अशोक अंजुम ने सभी का आभार व्यक्त किया। समारोह के अध्यक्ष डॉ वेदप्रकाश अमिताभ ने कहा अशोक अंजुम के रचना संसार पर विशेषांक केंद्रित करके प्राची पत्रिका स्वयं ही गौरवान्वित हुई है।

कार्यक्रम में नरेंद्र शर्मा नरेंद्र, प्रेम शर्मा प्रेम, श्रीमती भारती शर्मा, वेद प्रकाश मणि, डॉ दौलतराम शर्मा, सुधांशु गोस्वामी, श्यामसुंदर श्याम आदि ने अशोक अंजुम को बधाइयाँ देते हुए काव्य-पाठ किया।

'साकेत' महाकाव्य का महत्त्व एवं मूल्यांकन

डॉ॰ गरिमा डिमरी
अंशकालिक प्रवक्ता–हिंदी विभाग
हे॰न॰ब॰ग॰ केंद्रीय विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढ़वाल)

'साकेत' मैथिलीशरण गुप्तजी की प्रेरणा की श्रेष्ठतम और प्रौढ़तम कृति मानी जाती है। गुप्तजी की प्रसिद्धि का प्रमुख आधार 'साकेत' है। सन् 1931 में प्रकाशित 'साकेत' में चिरपरिचित रामकथा नवीन वैशिष्ट्य के साथ उपस्थित की गई है। इस महाकाव्य की महत्ता के विषय में डॉ॰ शिवदानसिंह चौहान का मत है कि 'साकेत रचकर गुप्तजी ने महाकाव्यों की परंपरा में युगांतर उपस्थित कर दिया।' गुप्तजी की आरंभिक रचनाओं में द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता उपदेशात्मकता, आदर्शवादिता एवं नीतिमत्त का डटकर प्रभाव है, जिनमें पौराणिक कथाओं के साथ–साथ अतीत के गौरव का गुणगान है। रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत–भारती, तिलोत्तमा, पत्रावली, किसान, अनघ, पंचवटी, हिंदू, सैरंध्री, वकसंहार, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा और द्वापर सभी में अतीत गौरव की प्रवृत्ति दृष्टव्य है। गुप्तजी मन से तो वैष्णव हैं, पर आधुनिक वैज्ञानिक जीवन को, भौतिकवादी, अनास्थापरक धारणा से उनकी मान्यता में झटका सा लगता है, तभी उन्होंने इस प्रकार कहा है–

राम तुम मानव हो
ईश्वर नहीं हो क्या
विश्व में रमे हुए
सभी कहीं नहीं हो क्या।[2]

धार्मिक भावना के क्षेत्र में गुप्तजी किसी बँधी–बँधाई लकीर के फकीर बनकर समकालीन धार्मिक विचारधाराओं से तटस्थ न रह सके, बल्कि उन्होंने सभी धर्मों के अवतारों व महान पुरुषों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। 'हो गया निर्गुण–सगुण साकार है' गुप्तजी ने साकेत में साम्यवाद, लोकतंत्र जैसी शासन प्रणालियों की ओर संकेत किया है, पर उनकी आस्था पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति के अनुरूप राजतंत्र में परिलक्षित होती है।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में जिस आदर्श समाज की कल्पना की है, वह भारतीय संस्कृति की संयुक्त परिवार प्रणाली का जीता–जागता उदाहरण है। परिवार के सभी सदस्य अपने अपने दायित्व एवं कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण सचेत है। माता–पिता, भाई–भाई, पिता–पुत्र और स्वामी–सेवक के पारस्परिक संबधों का आदर्शपूर्वक निरूपण साकेत में सहज रूप में द्रष्टव्य है। वन में राजभवन की कल्पना करनेवाली सीता, अवधी शिला का उर पर गुरु भार लेकर तिल–तिल, जलनेवाली उर्मिला गृह में वैराग का व्रत निभाते हैं।

 ISSN 0975-735X

'साकेत' का सबसे उल्लासपूर्ण चरण था 'ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग।' ध्यान देने की बात है कि स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में खड़ीबोली लोकजागरण की भाषा थी और राष्ट्रवादी, स्वदेश-प्रेम, जाति-उत्कर्ष, सभ्यता, सस्कृति, साहित्य और इतिहास पर गर्व की नई सांस्कृतिक भावना को अपनी वाणी दे रही थी, नवजागरण की रचनात्मक अभिव्यक्ति के वर्षों में खड़ीबोली दिनोंदिन अपना प्रभाव विस्तार कर रही थी। गुप्तजी ने नवीन चेतना को काव्यस्तर देने के लिए लेखनी को संबोधित करते हुए कहा–

हाँ लेखनी: हत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा
दृक्कालिमा में डूबकर तैयार होकर सर्वथा,
स्वच्छंदता से कल तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो,
जग जाए तेरी नोंक से, सोये हुए हों भाव जो।[3]

हिंदी प्रदेशों में यही चेतना 'साकेत', 'यशोधरा' आदि कृतियों की सृजन-प्रेरणा बनी है। 'साकेत' काव्य की नायिका उर्मिला है, जिसे समाज द्वारा उपेक्षित कर दिया गया था। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के 'काव्येतर उपेक्षिता' लेख से प्रभावित होकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' नामक लेख लिखा। गुप्तजी ने आचार्य द्विवेदी के इसी लेख से प्रेरणा लेकर 'साकेत' का प्रणयन किया। 'साकेत' में दो पहलू हैं एक राम का इतिवृत्त तथा दूसरा उपेक्षित उर्मिला एवं लक्ष्मण का प्रेमाख्यान। प्रस्तुत काव्य की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें कैकेयी एवं उर्मिला पर नया साहित्य निर्माण कर उनके जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

गुप्तजी ने 'साकेत', 'यशोधरा', 'भारत भारती' और 'जयभारत' जैसी समर्थ कलाकृतियों से यह सिद्ध कर दिया है कि इस देश की जनचेतना के मूल में दार्शनिक, योगी या संत नहीं अपितु कवि रहा है। 'साकेत' में कवि ने राम को अवतारी रूप में कम, युगपुरुष रूप में अधिक प्रस्तुत किया है। राम के व्यक्तित्व-निर्माण की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए गुप्तजी ने लिखा–

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया,
सुख-शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।[4]

वास्तव में गुप्तजी ने 'साकेत' में रामकाव्य-परंपरा का युगबोध के प्रभाव से नवीन संशोधन-संपादन प्रस्तुत किया है। दिलचस्प बात यह है कि यह रामकथा अब तालाब बनकर नहीं रही है, नदी बनकर यह रामकथा कभी विस्तार में कभी गहराई में उतरकर काट करती हुई लगातार प्रवाहित रही है। अत: राम ही भारतीय अस्मिता की पहचान हैं, फिर साकेत में रामकथा स्मृति नहीं है, साक्षात्कार है, इस कथा का केंद्र है 'साकेत', यहाँ हनुमान तक आकर कथा सुनाते हैं। गुप्तजी इस ढंग से और इस तरह की ताकत में तगड़े कथाशिल्पी हैं कि हम रामकथा का स्पर्श श्रवण करते ही नहीं रह जाते, उसमें अवगाहन करते हैं–एक आवाज भीतर से फूलकर परिवेश में फैल जाती है–

अब निकट ही राम-राज्य बसंत है,
पापियों का जान लो अब अंत है।[5]

'साकेत' में उर्मिला को गुप्तजी ने एकदम नया व्यक्तित्व प्रदान किया है और कैकेयी के व्यक्तित्व में एक ऐसी चमक पैदा कर दी है कि इन चरित्रों की नवीनता काफी लुभावनी लगती है, किंतु कैकेयी का चरित्र भी पुराने के भीतर से ही नया किया गया है, घटना प्रसंग को सभा मंच के अंत:सूत्रों को एक नए ढंग से परिभाषित किया गया है। लक्ष्मण कहते हैं–'नारी तो बड़ी महान है। वह पुरुष के लिए कितना बड़ा त्याग करती है कि अपने जन्मस्थान (पिता के घर) को भी त्यागकर उस पर कृपा करती है और वह समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली चिंतामणि से होड़ लगाकर पुरुष की समस्त कामनाओं को पूरा करती कल्पलता की भाँति विकसित होकर उसको दिव्य फल प्रदान करके आनंद देती है। इस प्रकार नारी बड़ी शक्तिशाली और महान है।'[6] कैकेयी को 'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई' ऐसे ही नहीं कह दिया गया है–पश्चात्ताप के ताप में तपाकर उसे नया रूप दिया गया है, जाहिर है कि 'साकेत' की रामकथा को नए युग के अनुरूप बनाने के लिए कवि ने नए भावों, सूत्रों, प्रसंगों आदि को नए अर्थ-संदर्भों से जोड़कर पाठक तक पहुँचाया है। मुख्य बात यह है कि अपनी पूरी कथावृत्तियों से गुप्तजी नएपन की ओर झुके हैं, पर नवीनता के प्रति अतिरिक्त मोह उनमें नहीं है। 'साकेत' में उर्मिला के चरित्र पर गुप्तजी ने अपनी करुणाजनित कल्पना से प्रकाश डाला है, वाल्मीकि और तुलसी ने उर्मिला के त्याग पर चुप्पी साध ली थी, पर गुप्तजी उर्मिला के त्याग को लोक भावभूमि के केंद्र में लाए हैं।

'साकेत' के आरंभिक सर्गों में उर्मिला तथा लक्ष्मण का विलक्षण व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। यहाँ कवि का ध्यान उर्मिला पर केंद्रित है। नवम् सर्ग तो उर्मिला की विरह-कथा से ही परिपूर्ण है फिर भी गुप्तजी ने कृति का नाम 'साकेत' ही रखा शायद गुप्तजी रामकथा के अन्य पात्रों पर भी अपनी दृष्टि डालना चाहते थे। राम और सीता, भरत और मांडवी देवी की भाव-भक्ति भी मन में उमड़-घुमड़ रही थी, देश और काल के प्रभाव से गुप्तजी के राम और सीता वे नहीं हैं जो वाल्मीकि और तुलसी के राम-सीता रहे हैं। तुलसी के अवतारवाद का एक नया चरण यहाँ दृष्टिगत होता है। गुप्तजी ने नवयुग के प्रभाव से इस अवतार को नया रूप दिया–

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।[7]

यह उद्धरण अपनी वैचारिक मान्यताओं से एक युगपुरुष का बिंब जाग्रत करता है। गुप्तजी गांधीयुग के कवि हैं और गांधी का व्यक्तित्व ही राम के भीतर झाँकता दिखाई देता है भारतीय राष्ट्रीयता के जननेता गांधी राजनीतिज्ञ से अधिक एक संत योद्धा थे। गांधी का यही संत योद्धावाला रूप राम में जगह-जगह कौंध जाता है। नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आयाष् क्या यह वह रहस्य नहीं है जिसमें भारत में उठे स्वाधीनता-संग्राम के आंदोलनों के साथ लोकतंत्र का यह

 ISSN 0975-735X

मंत्र भी सुनाई देता है–

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना
करो न तुम यह हाय लोक मत अनसुना।[8]

'साकेत' के वस्तु-विन्यास का आधार लोकप्रसिद्ध रामकथा है। राम चरित्र स्वयं ही काव्य है। यदि कोई कवि बन जाए तो सहज संभाव्य है। गुप्तजी की इस धारणा में आराध्य के प्रति कितनी निष्ठा एवं आस्था है। रामकथा को वर्ण्य-विषय के रूप में अपनाने की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी साहित्य में सुदीर्घ परंपरा है। साकेत के पूर्व हिंदी के कविकुल शिरोमणि तुलसी पूर्ण ग्रंथों का सृजन इसका प्रमाण है। साकेत की महानता इसमें है कि उसने राम के प्रख्यात चरित्र को अपनाकर अपनी मौलिक सूझ-बूझ और काव्य-कौशल से उसमें नवीन मौलिक प्रसंगोद्भावना करके चिरकालिक रूप दिया है।

साकेत में रामायण की संपूर्ण कथा का केंद्र साकेत (अयोध्या) को बनाकर कवि ने कुंतक की प्रबंध वक्रता का एक नया रूप प्रस्तुत किया है। रामायण की सभी घटनाओं को चाहे उनका संबंध मिथिला से रहा हो या लंका से, उर्मिला के स्मरण, हनुमान के वर्णन और गुरु वशिष्ठ के योग बल द्वारा साकेत के राजनिवास में ही उपस्थापन महाकाव्य के विस्तीर्ण कलेवर में गुप्तजी ने स्थानैक्य की प्रकल्पना नाटक के सीमित कलेवर में ही की है। महाकाव्य के विस्तार में नहीं, किंतु यहाँ महाकाव्य के कथा-विधान के अतंर्गत उसका सफल प्रयोग किया गया है, चित्रकूट प्रसंग उसका अपवाद अवश्य है। लेकिन कवि ने यह कहकर संप्रति 'साकेत समाज वही सारा' अर्थात चित्रकूट का साकेत में ही वर्णन कर इस समस्या का समाधान कर दिया है। जब संपूर्ण साकेत समाज चित्रकूट पहुँच गया तो वही साकेत बन गया।

'साकेत' का समूचा कथानक उर्मिला के इर्द-गिर्द घूमता है। कथानक के प्रारंभ में शृंगाररस का सम्यक् चित्रण है, जहाँ सुखपूर्ण दांपत्य-जीवन की सौंदर्यभोगी मन:स्थिति को चित्रित कर संयोग शृंगार की अवतारणा की गई है–

हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिए और बोले परिरंभण प्रिय,
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया, किंतु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही, फिर प्राप्य अपना ले लिया।[9]

इस प्रकार गुप्तजी ने इस सनातन कथा में अनेक मौलिक उद्भावनाओं (लक्ष्मण-उर्मिला) का प्रेमी जीवन साकेत के राजपरिवार का कौटुंबिक जीवन कैकेयी परिताप, उर्मिला विरह-वर्णन, भरत के पास अयोध्या में ही संजीवनी की विद्यमानता लक्ष्मणशक्ति के बारे में सुनकर अयोध्यावासियों की रणसज्जा और उर्मिला का वीरांगना रूप गुरु वशिष्ठ द्वारा योगबल से संपूर्ण युद्ध दृश्य दर्शन के समावेश द्वारा एक अभिनव रामकाव्य की नियोजना कर दिखाई है। 'इस काव्य की सबसे प्रधान बात यह है कि साकेत में आकर राम और सीता की कहानी प्रधानत: उर्मिला की कहानी बन जाती है और उसी रूप में उसका विकास और संघटन (रामकथा की पृष्ठभूमि पर) होता है।'[10] गुप्तजी के 'साकेत' महाकाव्य को भारतीय जीवन का प्रतिनिधि ग्रंथ माना गया है।

संदर्भ

1. ऋचा मिश्र, साकेत समीक्षा, विकास प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण-2005, पृ॰ 02
2. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत (भूमिका भाग), लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2012
3. मैथिलीशरण गुप्त प्रासंगिकता के अंत:सूत्र, सं॰ कृष्णदत्त पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ॰ 74
4. साकेत, पृ॰ 124
5. ब्रजभूषण शर्मा, साकेत की टीका, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण-1969, पृ॰ 21-22
6. मैथिलीशरण गुप्त प्रासंगिकता के अंत:सूत्र, संपादक कृष्णदत्त पालीवाल, पृ॰ 76
7. साकेत, पृ॰ 124
8. वही, पृ॰ 63
9. वही, पृ॰ 13
10. डॉ॰ नगेंद्र, साकेत एक अध्ययन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1970, पृ॰ 03

लक्ष्मी निकेतन
श्रीकोट, श्रीनगर गढ़वाल
मो॰ 07895316398

नेता के तीन रूप

काका हाथरसी

नेता की पहिचान के तीन बताते चिह्न,
क्या-क्या हैं, इस विषय में राय हमारी भिन्न।
राय हमारी भिन्न, आप मानो न मानो,
असली-फ़सली-नक़ली, तीन क्वालिटी जानो।
असली नेता, जनता की सेवा करता है,
फ़सली नेता, चंदे से पॉकिट भरता है।
नक़ली नेता, हैंडलूम की खादी धारे,
करवाता हड़ताल और लगवाता नारे।

ISSN 0975-735X

उदात्त-प्रेम की औपन्यासिक अभिव्यक्ति: बाणभट्ट की आत्मकथा

डॉ॰ मजीद शेख
सहायक प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, प्रतिष्ठान महाविद्यालय, पैठण
जिला औरंगाबाद 431107 (महाराष्ट्र)

मनुष्य का सांस्कृतिक परिवेश बराबर बदलता रहता है, किंतु इसके परिवर्तन या बदलाव की गति निश्चित नहीं होती। कभी यह गति इतनी बढ़ जाती है कि सदियों का फासला दिनों में रफ्तार से होने लगता है और कभी इतनी धीमी पड़ जाती है कि कोई परिवर्तन होता दिखलाई नहीं देता। नैतिक मूल्य समाज की आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं इसलिए वे देशकाल-सापेक्ष हैं। एक ऐसे स्थिर समाज में जो शताब्दियों से अपरिवर्तित चला आ रहा हो, जिसमें वही नैतिक मूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी मान्य होते चले आ रहे हों, यह भ्रम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है कि ये मूल्य शाश्वत हैं, निरपेक्ष रूप से सत्य हैं, किसी मानवेतर सत्ता द्वारा निर्मित हैं, अपरिवर्तनीय हैं, और मनुष्य उन्हें मानने को बाध्य है। यह प्रवृत्ति आज भी चल रही है। प्रत्येक नई पीढ़ी कुछ परंपरागत मूल्यों को स्वीकार करके चलती है और कुछ को व्यर्थ कह देती है। अत: पिछली पीढ़ी को दकियानूसी कहना और अपने आपको आधुनिक बताना प्रत्येक पीढ़ी के लिए सामान्य बन जाता है।

'नारी' की पतिव्रता होने पर प्राय: बहुत बल दिया जाता है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी बताया जाता है कि पुरुष स्वभाव से ही ईर्ष्यालु है, वह यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी पत्नी की ओर कोई पर-पुरुष आँख उठाकर भी देखे। यह ईर्ष्या उसकी सहज प्रवृत्ति है।

पितृसत्ता के चलते स्त्रियों को बचपन से, घर से ही भेदभाव झेलने की आदत डाल दी जाती है। बेटे को शिक्षा, खेलकूद, आहार, चिकित्सा और सामाजिक मेल-जोल में प्राथमिकता दी जाती है। कन्याओं के लिए निषेधों की बड़ी लक्ष्मण-रेखा खींच दी जाती है। स्त्री को पुरुष-वर्चस्व वाले समाज से भय लगता है। स्त्री के मानवीय सौंदर्य की सहज अनदेखी हो रही है। उसे केवल देह तक मर्यादित किया गया है। स्त्री की देह का बाजार द्वारा यह उपनिवेशीकरण है। इस उपनिवेश में बाजार के साथ मीडिया का घोषित करार है। मीडिया स्त्री-देह को सेक्स सिंबल के अलावा कुछ और नहीं मानता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' भट्टिनी, निपुणिका, महामाया और सुचरिता की मुक्ति की कथा ही नहीं, वरन् यह समस्त 'स्त्री-जाति' की मुक्ति का आख्यान भी प्रस्तुत करता है। स्त्री

जिसका शोषण दोहरे-स्तर पर होता है। एक पुरुष द्वारा दूसरे खुद स्त्री-समाज द्वारा। यह उपन्यास भी एक 'राष्ट्रीय रूपक' है जिसमें एक स्त्री नहीं, कई स्त्रियाँ हैं। ये केवल उत्पीड़ित नहीं हैं, अपने उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने वाली स्त्रियाँ हैं। वैसे 'कथा' की सूत्रधार मिस कैथराइन 'दीदी' पश्चिम की होकर भी पराधीन हैं। वह व्योमकेश शास्त्री को बताती हैं कि 'हम भी पराधीन हैं। समाज की पराधीनता जरूर कम है, पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।'[1] स्त्री का खुद को प्रकृति के अधीन मानना उसका पराधीन होना भी है। डॉ॰ प्रभा खेतान ने कड़वा सच उगला है, 'स्त्री को अमीर हो या गरीब, श्वेत हो या काली अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। यह दुनिया पुरुषों ने बनाई, पर स्त्री से पूछकर नहीं।'[2]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की अधिकतर स्त्रियाँ बार-बार अपने 'स्त्री' होने को, स्त्री-देह को कोसती हुई नजर आती हैं। परंतु जैसे-जैसे 'आत्मकथा' की कथा आगे बढ़ती है वैसे-वैसे स्त्री-पात्रों में यह विश्वास उभरता चलता है कि 'मानव-देह केवल दंड भोगने के लिए नहीं बना है, आर्य! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मंदिर है। पहले इस बात को समझ गई होती, तो इतना परिताप नहीं भोगना पड़ता।'[3] बाणभट्ट भी स्त्री-देह को 'देव-मंदिर' ही समझते हैं। समग्र उपन्यास को देखें तो इसमें स्त्री सिर्फ अपनी स्थिति का बोध ही नहीं कराती, अपितु उसके लिए जिम्मेदार व्यवस्था का विरोध भी करती है। इस दृष्टि से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' सिर्फ भट्टिनी के उद्धार की कथा न होकर स्त्री-जाति की मुक्ति का आख्यान भी है।

हिंदी साहित्य में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' स्त्री-मुक्ति का प्रस्थान बिंदु है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन किया है। उनका उद्देश्य विमर्श द्वारा विवाद उत्पन्न करना नहीं, बल्कि स्त्री को उसकी ताकत का अहसास कराकर उसे आत्मनिर्भर बनने देना है। डॉ॰ रामचंद्र तिवारी ने लिखा है, 'बुभुक्षितों को अन्न, पिपासितों को जल, निराशों को आशा और मरणोन्मुखों को अमृत प्रदान करना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। द्विवेदीजी की यह दृष्टि इतिहास को आधुनिक जीवन-संदर्भ से जोड़नेवाली है। इस दृष्टि की शुरुआत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से ही हो गई थी। इस महत्त्वपूर्ण कृति में 'बाणभट्ट' के युग-जीवन को आधुनिक मानवतावादी दृष्टि से देखा गया है। भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता, महामाया आदि नारी-पात्रों के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाकर द्विवेदीजी ने आधुनिक दृष्टि से परिचालित होने का परिचय दिया है।'[4]

'कबीर' पुस्तक में द्विवेदीजी ने दो-विशेषणों पर अधिक बल दिया है—साहस और विश्वास। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी साहस और विश्वास को बहुत महत्त्व दिया गया है। नामवरसिंह के शब्दों में, 'मनुष्य में पाप-बोध क्यों जगता हैं? द्विवेदीजी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में यह प्रश्न उठाया है और इसके उत्तर की ओर भी संकेत किया है।'[5]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्विवेदी जी का ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसका केंद्रीय विषय 'उदात्त-प्रेम' है। परंतु इसमें ऐतिहासिक कालखंड को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने के साथ ही आधुनिकयुग की ज्वलंत समस्याओं से भी जोड़ने की सफल कोशिश की है। इस उपन्यास का रचनाकाल भारत की पराधीनता का काल है। द्विवेदीजी ने इस उपन्यास के माध्यम

 ISSN 0975-735X

से परोक्ष रूप में भारत के राष्ट्रीय संकट की अभिव्यक्ति हर्षवर्धन काल के राष्ट्रीय संकट के रूप में की है। महामाया भैरवी इस राष्ट्रीय संकट से मुक्ति के लिए नौजवानों और बुद्धिजीवियों को ललकारती है। अपितु महामाया का उद्‌बोधन स्वयं लेखक का उद्‌बोधन है,जो ब्रिटिश शासन में भारतीय जनजीवन में व्यापक जड़ता, कायरता और निर्णयहीनता के विरुद्ध है।

आचार्य द्विवेदीजी को यह क्यों लगा कि 'रूप की आत्मकथा' लिखनी चाहिए? कथा के उपसंहार में दीदी व्योमकेश शास्त्री से कहती है, 'तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने 'कथामुख' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'आटो-बॉयोग्राफी' हो। ले भला! तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मा शोण नदी के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है।'[6] इतना ही नहीं मिस कैथराइन दीदी ने यहाँ तक कह दिया कि बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते। और भी कि इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। तो क्या भट्टिनी भी सिर्फ भारत में नहीं, अपितु भारत जैसे दूसरे देशों में भी होती है? अगर बाणभट्ट की आत्मकथा आटो-बॉयोग्राफी नहीं है तो क्या है? क्या वह पूरे भारत की कथा है? बाणभट्ट की आत्मकथा जब शोण नदी के प्रत्येक बालुका-कण में बसती है तो ऐसे में दीदी को बाणभट्ट की आत्मकथा को उल्था करने या लिखने की क्या जरूरत थी? नामवरसिंह का विचार है कि बाणभट्ट की आत्मकथा के बहाने उन्होंने (दीदी) अपनी ही कथा लिखी है। अर्थात् आत्मकथा है भट्टिनी की है-भट्टिनी की दृष्टि से देखे हुए अपने प्रिय बाणभट्ट की छवि। बावजूद इसके 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट की कहानी से लोग इतने अभिभूत हो जाते हैं कि मुखौटे के रूप में प्रयुक्त दीदी की कहानी के महत्त्व की ओर ध्यान ही नहीं जाता। निश्चित रूप से लोग अभिभूत होते हैं–कभी बाणभट्ट से, कभी उनकी कहानी से, कभी द्विवेदीजी की कथा लेखन की शैली से तो कई बार कथा में प्रयुक्त घटनाओं, पात्रों और स्थानों के द्विवेदीजी के जीवन के मेल से (दूसरी परंपरा की खोज-नामवरसिंह) आदि। आत्मकथा की वस्तु, अर्थ और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से सरल, सपाट और इकहरी नहीं है, जटिल, संश्लिष्ट और प्रासंगिक कथा-सूत्रों के पृथक् निर्देश और उनके पारस्परिक संबंधों की पड़ताल द्वारा संभव नहीं है। स्थूल दृष्टि से भी इसे एक लांछित और आवारा व्यक्ति (दक्ष भट्ट) के सम्राट के सभा-पंडित बन जाने की कथा कहा गया है, एक अपहृत युवती (भट्टिनी) की अवरोध मुक्ति और पिता से पुनर्मिलन के प्रयास की कहानी बताया गया है, और एक त्रिकोणात्मक गाथा भी ठहराया गया है।

आत्मकथा का प्रेम विशुद्ध अशरीरी प्रेम तो नहीं है, किंतु देह-कामना से वह बड़ी सीमा तक निरपेक्ष अवश्य है। कायिक तृप्ति की लालसा भट्टिनी को ही नहीं, बाण को भी उद्वेलित नहीं करती। काल के एक बिंदु पर निपुणिका सर्वस्व-समर्पण की अपनी स्थिति की चर्चा जरूर करती है किंतु उसका प्रेम मन और उससे भी आगे बढ़कर आत्मा के धरातल पर ही प्रतिष्ठित हुआ है। छह वर्ष की निरंतर भटकन और कुटिल दुनिया की कटु, तिक्त, कठोर और क्रूर अनुभूतियों को अपने मन-प्राण पर झेलने के बाद निपुणिका कहती है कि अब उसका मोह भक्ति के रूप में बदल गया है। 'स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ है' यह निष्कर्ष एक समय अस्पृश्य समझी जानेवाली जाति की उस विधवा नारी ने अवहेलना, प्रताड़ना और कुत्सित रुचि

के नाना अनुभवों से गुजरने और आजीवन दु:ख की नि:दारुण भट्टी में जलने के बाद पाया था। 'प्रकरण' के अभिनय के अवसर पर बाण के हास से पैदा होनेवाली उसकी पीड़ा भी मात्र प्रत्याख्यान की यंत्रणा ही नहीं समझी जा सकती, अपने अस्तित्व की पहचान से वंचित कर दिए जाने का दंश भी उसमें शामिल था, 'उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होनेवाली है; परंतु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निर्दय, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मंदिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मंदिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं।'[7] किंतु बाण के प्रति तमाम श्रद्धा और भक्ति के बावजूद निपुणिका का प्रेम वयस्यता और समता के धरातल पर ही अधिक उपस्थित हुआ है। भट्टिनी के प्रेम की अपेक्षा यह ज्यादा वस्तुवादी, पार्थिव और मानवीय भी है। उसमें वासना तो नहीं है किंतु देह-कामना का नितांत अभाव भी नहीं है। वह मानती है कि प्रेम एक ओर अविभाज्य है। ईर्ष्या और असूया ही उसे विभाजित करके छोटा कर देते हैं किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं कि प्रेमास्पद के अन्यत्र रुझान से पैदा होनेवाली यंत्रणा अथवा ईर्ष्या का उसमें पूर्ण निषेध है। वास्तव में निपुणिका में अस्तित्व और प्रेम के संवेग की जो तादात्म्यीकृत स्थिति मिलती है, वह भट्टिनी ही नहीं, सुचरिता में भी दिखाई नहीं पड़ती। यही कारण है कि जहाँ सुचरिता अपने विकारों को नारायण को अर्पित कर सकी, वहाँ उसने उन्हें ही अपनी सिद्धि मान लिया।

भट्टिनी और बाण का प्रेम, समतुल्य ही नहीं मौन निगूढ़ और अदृप्त भी है। सुरुचि, संयम और मर्यादा की परिधि का उल्लंघन तो निपुणिका भी नहीं करती। निपुणिका से अपनी सफाई देता हुआ बाण कहता है कि वह जड़ पाषाणपिंड नहीं है किंतु उसके इस पक्ष पर निपुणिका सीधा उत्तर देती है कि तुम जड़ पाषाणपिंड हो; तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु; है एक अडिग जड़ता।'[8] अंतत: वह स्वीकार भी कर लेता है कि सारा जीवन तिल-तिल देकर जिस पाषाणपिंड को निपुणिका ने प्रसन्न करना चाहा था, वह पाषाणपिंड ही बना रहा। निपुणिका जैसी 'सेवापरायण, चारुस्मिता, लीलावती-ललना' के प्रति प्रीति के उच्छ्वासित होने की उसकी अपने तई स्वीकारोक्ति और नाटक मंडली तोड़ने, प्रकरण की प्रति नदी में बहा देने और छह वर्ष तक आवारा घूमते रहने के तथ्यों के बावजूद, यह स्पष्ट है कि उसकी मनोभूमि का निर्माण सेवा से उऋणता की आकांक्षा से हुआ था या ज्यादा-से-ज्यादा उसके अनुराग की प्रतिक्रिया-स्वरूप। निपुणिका के प्रति बाण में अन्य पक्ष के मनोगत भाव से प्राय: निरपेक्ष, स्वत:स्फूर्त्त, मन प्राण को अभिभूत कर देनेवाला आवेग दिखाई नहीं पड़ता। भट्टिनी के प्रति उसका प्रेम इसी कोटि का है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो उसकी स्वीकारोक्तियों की सत्यता के प्रति भी संदेह होने लगता है। निपुणिका की हृदयद्रावक अवस्था और उसकी मृत्यु को लेकर उसमें करुणा तो उत्पन्न होती है किंतु उसका हृदय गलता है तो निपुणिका के दु:ख से व्यथित भट्टिनी के नयनांबुओं से और उसकी मृत्यु पर, 'भट्टिनी की इस दारुण अवस्था से मेरा हृदय फटा जा रहा था।'[9] समग्र दृष्टि से देखा जाए तो भट्टिनी के प्रति बाण का प्रेम उन्नयनकारी और रचनात्मक है। यह प्रेम अशरीरी और वायवी तो नहीं है, किंतु कायिक सुख की कामना का पर्याय भी नहीं है। किसी भी प्रकार के प्रतिदान की आकांक्षा से यह निरपेक्ष है। आत्मदान के

 ISSN 0975-735X

लिए निरंतर उद्दत यह एक धरातल पर निपुणिका के उदात्त प्रेम जैसा ही हो गया है।

भट्टिनी का प्रेम, सामान्य रोमांसों की नायिकाओं जैसा प्रेम नहीं है जो मूलत: साहस और वीरता के असामान्य कृत्यों के प्रति श्रद्धा-भाव होता है अथवा कृतज्ञता-बोध का ही परिवर्तित रूप। वह बड़ी जटिल मन:स्थिति में बाण के संपर्क में आती है। राजकन्या होने का उसका गर्व और कौलिन्य का अभिमान तो दस्युओं द्वारा अपने हरण और शरीर-स्पर्श की घटनाओं से ही खंडित हो चुका था। पुरुष की विलासिता के उपकरण के धरातल पर उतार दिए जाने तथा अपनी सार्थकता के प्रति आस्था से वंचित कर दिए जाने का तकलीफदेह एहसास ढोते हुए उसने अपने सौंदर्य की चाटूक्तियाँ तो सुनी थीं, किंतु उनमें सत्यता के अभाव से उसकी वृत्तियाँ संकुचित ही नहीं, बल्कि निष्प्राण और जड़ भी हो चुकी थीं। बाण की वाणी में सत्य की खनक और उसके रूप में अपने भीतर के देवता के आराधक की पहचान ने, उसे अपमान और कलंक की पीड़ा, निरर्थकता और पाप के बोध से मुक्ति ही नहीं दिलाई, उसे अपने अस्तित्व की सार्थकता को अनुभव करने का अवसर भी दिया, 'देवि, तुम पवित्रता की मूर्ति हो, कल्याण की खानि हो। समग्र आर्यावर्त्त के ब्राह्मण और श्रमण, देव-मंदिर और शस्य-क्षेत्र अनाथ और नारी, पौर और जानपद जिस दिन अपने रक्षक देवपुत्र तुवरमिलिंद की नयनतारा को पहचान लेंगे उस दिन वे मंदिरों में तुम्हारी मूर्तियाँ बनाकर पूजेंगे।'[10] बाण के प्रति उसका प्रेम मुखर नहीं, मौन है। अगाध विश्वास के वाहक उसके वचनों अथवा मुख पर खेलनेवाले आनंद-क्रीड़ा के भावों या मंद स्मित के द्वारा ही उसकी आंतरिक स्थिति का बोध होता है।

बाणभट्ट के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा और गहरे सम्मान के भाव हैं। वह उसे आर्यावर्त का द्वितीय कालिदास, भवकानन का पारिजात और मरुभूमि का निर्झर बताती है। उसका विश्वास है कि वह उसकी पवित्रवाक्-स्रोतस्विनी में स्नान करके ही पवित्र हुई है। ऐसे पुरुष के प्रेम की प्राप्ति से अधिक न तो उसकी आकांक्षा है और न अपेक्षा ही। संबंध की विफल परिणति से वह परिचित है। वह तो बस इतना चाहती है कि उसका पुरुष उससे पुरुषोचित व्यवहार करे; उसे हाड़-मांस की नारी, चंद्रदीधिति और 'अपनी भट्टिनी' समझे। अपने उत्तरल भाव पर डाँट और अनुचित व्यवहार पर सफाई की माँग जैसी स्त्रियोचित अपेक्षाओं की अपूर्ति उसे खिन्न कर देती है।

वह महामाया से नारीत्व का दर्शन पा चुकी है। उसे ज्ञात है कि 'नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है, सार्थकता उसे मुक्ति देने में।'[11] वह स्वेच्छा से सार्थकता का स्वीकार करती है। उच्चतर ध्येय के प्रति अपने कर्त्तव्य का संपादन करती हुई वह बाण को मुक्ति दे देती है।

मनुष्य के सबसे बड़े पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत आत्मकथा के 'प्रेम' तत्त्व की व्याख्या, मात्र त्रिकोणात्मक कथा के आधार पर नहीं हो सकती। इसके सीमांत पर विद्यमान अन्य युग्मों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। प्रेम-साधना की सफलता-असफलता के निर्णय का प्रश्न बाण के सम्मुख भी उपस्थित होता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पुरुष की साधना विशुद्ध नारी और नारी की साधना आराधक पुरुष के सहयोग से ही सफल होती है किंतु इससे आत्मकथा का प्रेम-दर्शन पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होता। देह और चेतना, किसी से भी मुक्ति पाने का अमानुषिक रास्ता आचार्य द्विवेदीजी को स्वीकार्य नहीं है। दोनों अतिरंजनाओं से भिन्न

मार्ग का निर्देश करते हुए वे अघोरभैरव से कहलाते हैं, न तो प्रवृत्तियों को छिपाना उचित है, न उनसे डरना कर्त्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में 'प्रेम' कायिक सुख का पर्याय नहीं है। आत्मकथा में प्रेम और काम में सर्वत्र अंतर स्थापित किया गया है। इसके अलावा यह भी मात्र संयोग ही नहीं कि इसके सभी पात्र देह की कामनाओं का अतिक्रमण करते हैं। यहाँ तक कि विरतिवज्र सुचरिता के पास लौटकर भी ग्रहस्थ धर्म में प्रविष्ट नहीं होता। द्विवेदीजी मानते हैं कि दीर्घ-साधना भी देह के कल्मष को जला नहीं सकती। अपने कल्मष को स्वीकार करके ही मनुष्य सार्थक हो सकता है, पर यह पर्याप्त नहीं है। समग्र ऐतिहासिकता का सार्थक अंग बनना भी उसके लिए आवश्यक है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रेम-कथा ही नहीं है। इसमें विवेचित प्रश्नों में नारी की मर्माहत स्थिति का प्रश्न विशेष महत्तवपूर्ण है। यह मात्र संयोग ही नहीं कि आत्मकथा की प्रत्येक नारी लांछित, अपमानित और आत्म-गौरव के बोध से वंचित है। स्त्री-जाति का श्रृंगार, सतीत्व की मर्यादा और उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका निपुणिका का यह प्रश्न नारी की हालत पर एक बडी तीखी टिप्पणी है, 'मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन-सा ऐसा पाप चरित है जिसके कारण मैं निदारुण दुख की भट्टी में आजीवन जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?'[12] यह सवाल निपुणिका जैसी निम्नवर्ग की नारी के सामने ही पैदा नहीं होता। प्रत्यंत दस्युओं द्वारा हरण, विक्रय, अपमान और 'असुर-ग्रह' में बलात् बंदी बनाए जाने की घटनाएँ भट्टिनी को भी प्रायः समानांतर स्थिति में ला पटकती हैं नगर के विडंब रसिकों के छंदानुरोध न कर सकने के कारण नाना अपवादों की शिकार सुचरिता अपने विकारों को नारायण के चरणों में अर्पित होने से पूर्व, मानव देह को नरक का साधन, दंड भोगने के लिए बनी हुई ही समझती रहती है। मदनश्री और चारुस्मिता की हैसियत भी पुरुष के विलास-उपकरण से बेहतर नहीं है। नारी के शोषण और उत्पीड़न के ये उदाहरण विरल नहीं है अपितु एक व्यापक परिदृश्य के अंग हैं। पूरी कथा में एक भी उल्लेखनीय अपवाद की अनुपस्थिति, आत्मकथा को नारी-यंत्रणा की एक निरंध गाथा में ढाल देती है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सर्वत्र नारी का भोग्या रूप ही उजागर हुआ है। उसका जन्म अपनी सार्थकता के लिए नहीं, पुरुष की भोगेच्छा की तृप्ति के लिए ही होता है। वह रानी हो या दासी उसकी अपनी इच्छा-अनिच्छा का कोई मूल्य नहीं है। राजाओं और सामंतों के अंतःपुर एक ओर निर्यातित वधुओं के क्रंदन से भरे हैं, तो दूसरी ओर चामरधारिणियों और करंकवाहिनियों के रूप में मौजूद भगाई हुई निरीह बहुओं और बेटियों से, 'यह जो दुःख ताप है, निर्यातन है, धर्षण है परदाराभिमर्श है, यह विकृत समाजव्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।'[13]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नारी की इस अमानुषिक स्थिति को समग्र सामाजिक परिदृश्य के अंग के रूप में ही ग्रहण करते हैं; समाज की अन्यान्य विकृतियों से विच्छिन्न करके वे इसे नहीं देखते। उनका विचार है कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में ही कोई दोष रह गया है, जिसकी विभिन्न दुःखद परिणतियों में से यह भी एक है। स्वाभाविक रूप से नारी-उद्धार के छिटपुट या वैयक्तिक प्रयासों की अर्थवत्ता में वे अधिक आस्था नहीं रखते।

 ISSN 0975-735X

नारी-तत्त्व की व्याख्या के द्वारा वे स्पष्ट कर देते हैं कि उनके मन में नारी की विशिष्ट मूर्ति है और उनके उद्‌गारों के मूल में वे गुण हैं, जिनका अस्तित्व वे नारी में पाते हैं। उनकी दृष्टि में नारी-तत्त्व आत्मसुख का नहीं, आत्मदान का है, निजी तृप्ति का नहीं, दूसरे के लिए मिटा देने की भावना का ही नाम है। स्वार्थसाधन की अपेक्षा दूसरे के सुख और मंगल के लिए आत्मोत्सर्ग ही वह वस्तु है, जो नारी को पुरुष से अलग करती है, अतः इस गुण के विकास में ही सृष्टि का कल्याण निहित है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के उपसंहार में लिखा है, 'सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। कथा का जिस ढंग से आरंभ हुआ है उसकी स्वाभाविक परिणति गूढ़ और अदृप्त प्रेम ही हो सकती है।'[14] यानि इस उपन्यास में जिस प्रेम का निरूपण किया है वह वासनात्मक नहीं, अपितु शुद्ध प्रेम है जिसमें गंभीरता, निरहंकारिता एवं औदात्य है। प्रेम-व्यंजना के क्षेत्र में उनका यह एक अभिनव प्रयोग है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट और निपुणिका, बाणभट्ट और भट्टिनी, अघोरभैरव और महामाया तथा विरतिवज्र और सुचरिता का प्रेम-निरूपण किया गया है। इनके प्रेम-निरूपण में शारीरिक स्पर्श नहीं है और न कोई भौतिक रंग ही है। कथा में अनुभावों, भावों के स्थान पर मानस-विकारों का, लज्जा का, जड़िमा का प्राचुर्य है। पूरे उपन्यास में बाणभट्ट प्रेमादर्श का मूल सूत्रधार है। वह न केवल निपुणिका से प्रेम करता है बल्कि भट्टिनी से भी प्रेम करता है। निपुणिका से उसका प्रेम करुणा-जनित है और भट्टिनी से श्रद्धा-जनित है।

उपन्यास में प्रेमभाव को पवित्रता से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। कहीं पर भी प्रेम वासनाजनित नहीं है, वह संयत, अनुशासित, उदात्त, पवित्र और उच्च-सोपान तक प्रतिष्ठित है। आत्मकथा में प्रेम भावना भावात्मक धरातल पर है, उसमें शारीरिक धरातल का कोई महत्त्व नहीं है। बाणभट्ट और निपुणिका का प्रेम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, उसमें गतिशीलता है जो एक दिन वासना से भक्ति के रूप में परिणित हो जाती है।

निपुणिका अपने प्रेम को आदर्श के धरातल पर ही प्रतिष्ठित करती है, उसमें लौकिकता एवं वासना की गंध को नहीं आने देती है।[15] वह अपने प्रेम के इस आदर्श में प्राण प्रतिष्ठित करती है, 'अभिनय ही तो कर रही हूँ। जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है उसका आचरण करना—यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है। एक दिन रंगमंच पर उतर जाने से क्या बन या बिगड़ जाएगा।'[16] और अपने प्राणों की बलि देकर भी उसी आदर्श का आजीवन निर्वाह करती है।

बाणभट्ट जिस प्रकार निपुणिका को प्रेम करता है, उसी प्रकार भट्टिनी के प्रति भी पवित्र प्रेमभाव रखता है। इस उपन्यास में वह प्रेम वर्णित है जिसका भोग और वासना से कोई संबंध नहीं है। इसी कारण निपुणिका और भट्टिनी दोनों की दृष्टि में बाण इस पृथ्वी का पुरुष रत्न है। बाण के मन में भट्टिनी के लिए जो प्रेम है, वह श्रद्धाजनित है, आसक्ति तो है पर वासना वाली आसक्ति नहीं। वह अपने आपको भट्टिनी का अभिभावक मानता है और अपने प्राण देकर भी उसकी सुरक्षा करना चाहता है, 'प्राण देकर मैं भट्टिनी को बचाऊँगा।'[17] इससे स्पष्ट होता हैं कि

बाण के मन में भट्टिनी के प्रति कर्त्तव्य प्रेरित प्रेम है, एक आदर से मिश्रित प्रेम-भावना है। अघोरभैरव और महामाया का प्रेम भावात्मक नहीं है, बल्कि साधनात्मक है। इसमें भावों की अपेक्षा तप, त्याग और साधना का महत्त्व है। विरतिवज्र और सुचरिता का प्रेम साधनात्मक और भावनात्मक दोनों रूपों का मिश्रण है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के रूप में हिंदी संसार को एक नई शैली समर्पित की है। इसमें छिछले रोमांस से अलग हटकर जिस प्रेम का चित्रण किया है वह एकदम परंपरा मुक्त है, उसका स्वरूप उदात्त है। अर्थात् नारी को समाज में प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए क्योंकि इसके बिना उसे यथोचित सम्मान नहीं मिलेगा। जनसाधारण लोगों ने सुधारों का कार्य राजा पर नहीं छोड़ना चाहिए बल्कि स्वयं अपनी शक्ति से करना चाहिए, राष्ट्र को सर्वोपरि मानकर सभी वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय संकट के समय कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्र-सेवा और सुरक्षा के लिए समर्पित होना चाहिए।

संदर्भ

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभभट्ट की आत्मकथा, पृ॰ 9
2. डॉ॰ प्रभा खेतान, स्त्री: उपेक्षिता (सीमोन द बोउवार The Second Sex का हिंदी रूपांतर), पृ॰ 19
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ॰ 146-147
4. डॉ॰ रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, पृ॰ 204
5. डॉ॰ पृथ्वीनाथ पांडेय, प्रामाणिक हिंदी-भाषा और साहित्य, पृ॰ 397
6. नामवरसिंह, दूसरी परंपरा की खोज, पृ॰ 71
7. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ॰ 234
8. वही, पृ॰ 19
9. वही, पृ॰ 19
10. वही, पृ॰ 229
11. वही, पृ॰ 89
12. वही, पृ॰ 76
13. वही, पृ॰ 186-187
14. वही, पृ॰ 213
15. वही, पृ॰ 233
16. वही, पृ॰ 19
17. वही, पृ॰ 215

मो॰ 09765944586
ईमेल majidmshaikh@gmail.com

ISSN 0975-735X

मोहन राकेश के नाटकों में नारी-चरित्र

राजेश पंडित, शोधार्थी
हिंदी विभाग, जे॰एस॰ विश्वविद्यालय
शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) 283135 (उ॰प्र॰)

मोहन राकेश के नाटकों में नारी-चरित्र समझने की कोशिश 'लहरों के राजहंस' से भी आरंभ की जा सकती है और 'आषाढ़ का एक दिन' से भी। चूँकि 'आषाढ़ का एक दिन' मोहन राकेश का पहला नाटक है, उसके आधार पर राकेश के नाटकों में चित्रित नारी-चरित्र का मनोविज्ञान समझने-विश्लेषित करने का प्रयत्न करते हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका ने यद्यपि 'भावना में भावना के वरण' या 'भावना में कालिदास का वरण कर लिया है', लेकिन वह कालिदास की विवाहिता नहीं है। यह सही है कि कालिदास नाटक के अंतिम अंश में मल्लिका से कहता है, 'मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दुहराया।'[1] फिर भी, पति वह प्रियंगुमंजरी का है। कालिदास प्रियंगुमंजरी के साथ काश्मीर जाने के क्रम में वहाँ आया है। प्रियंगु इसी क्रम में मल्लिका से मिलने आती है। वह कहती है, 'उनसे जान चुकी हूँ कि तू बचपन से उनकी संगिनी रही है।'[2] अपने पति के बचपन की संगिनी के प्रति स्पष्ट तौर पर कोई ईर्ष्या-भाव प्रियंगु की बातों से सामने नहीं आता, स्वयं के प्रति समर्पित बनाए रखने की उसकी इच्छा झलकती है, 'वे भी जब-तब यहाँ के जीवन की चर्चा करते हुए आत्मविस्मृत हो जाते हैं, इसीलिए राजनीतिक कार्यों से कई बार उनका मन उखड़ने लगता है।'[3]

यही वह नहीं चाहती। लेकिन उसके इस कथन का इतना ही आशय नहीं है कि यहाँ की स्मृति के परिणामस्वरूप उनके विचलित होने से राजनीतिक कार्यों के प्रति उनमें अरुचि उत्पन्न होती है। इसलिए वह ऐसे अवसरों पर कालिदास को संतुलित रखने का प्रयास करती है। इसके लिए प्रयत्न करना पत्नी होने के नाते उसे जरूरी लगता है। कहीं-न-कहीं उसके मन में कालिदास को खो देने का भय समाया हुआ है। संवादों में यह कम-से-कम छलकता है, लेकिन छलकता अवश्य है, यद्यपि अपनी अनावृत होती भावनाओं पर वह राजनीति का आवरण डालने का प्रयास करती है। वह कहती है राजनीति में बुनियादी अंतर है। राजनीति का संबंध कूटनीति से है, जबकि साहित्य कूटनीति से कोसों दूर है। इसका संबंध भावनाओं से और वैचारिकता से है और कालिदास की भावनाओं का संबंध मल्लिका से है। प्रियंगु को इस बात का पता है। इसलिए वह मल्लिका का विवाह किसी राज-कर्मचारी से कराकर अपने इस भय से सदा के लिए मुक्त हो जाना चाहती है। वह कालिदास पर एकाधिकार की आकांक्षिणी है। प्रियंगुमंजरी का भय शब्दों के माध्यम से प्रकट हो जाता है यद्यपि उसने बड़े सधे हुए ढंग से अपनी बात कहते हुए मनोभावों को छिपाने का प्रयास किया है।

पत्नी होने के नाते पति को कर्त्तव्य-कर्म, करणीय कर्म की याद दिलाना वह अपना दायित्व समझती है। यद्यपि वह जानती है कि कालिदास (अब मातृगुप्त) रचनाकार है, फिर भी उसे राजनीति के मार्ग पर विचलित होते नहीं देखना चाहती। वह कहती है, 'साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था। अब वे दूसरे चरण में पहुँच चुके हैं। मेरा अधिक समय इसी आभास में बीतता है कि उनका बढ़ा हुआ चरण पीछे न हट जाए।....बहुत परिश्रम पड़ता है इसमें।'[4] फिर भी यह भुला देना उसके लिए संभव नहीं कि कालिदास का मल्लिका के ग्राम प्रदेश से गहरा-अंतरंग संबंध रहा है। इस सत्य को अस्वीकार करने का प्रयास भी नहीं करती। हाँ, इतना वह अवश्य करती है या करना चाहती है कि इस ग्राम-प्रांतर का कुछ वातावरण अपने साथ ले जाए। 'यह इसलिए कि उन्हें अभाव का अनुभव न हो। उससे कई बार बहुत क्षति होती है। वे व्यर्थ में धैर्य खो देते हैं, जिसमें समय भी जाता है, शक्ति भी। पत्नी होने के नाते वह नहीं चाहती कि कालिदास की शक्ति और उनका समय नष्ट हो। वह समय का, जीवन का सदुपयोग चाहती है। उसे लगता है कि कालिदास को अगर उसके हाल पर छोड़ दिया गया तो यही नहीं हो पाएगा।

'लहरों के राजहंस' में नंद और सुंदरी, पति और पत्नी के संबंध के विश्लेषण का कलात्मक प्रयास हुआ है। मोहन राकेश ने कहानी के रूप में सर्वप्रथम 'लहरों के राजहंस' की परिकल्पना की थी तो नारी के आकर्षण में पुरुष की पूर्णता और अपकर्षण में उसकी विसंगति का भाव उसमें भी मुख्य था। आलोचक जब 'लहरों के राजहंस' का संबंध नारी के आकर्षण और वैराग्यभाव के द्वंद्व से जोड़ते हैं, तो नाटक के अर्थ की व्यापकता परत-दर-परत खुलती ही प्रतीत होती है, लेकिन बिल्कुल उसी समय इसका ध्यान रखना आश्वयक हो जाता है कि कैसे यह नाटक पति और पत्नी के मनोविज्ञान को समझने-समझाने का कलात्मक साधन बन जाता है।

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का यह अंतर्विरोध क्या है? नंद और सुंदरी के माध्यम से, पति और पत्नी के माध्यम से यह पूरे नाटक में स्पष्ट होता है। बुद्ध का गौरव उसे अपनी और खींच रहा था और सुंदरी का अनुराग अपनी ओर। इसी दुविधा में उसे न जाते बन रहा था, न रुकते, उसकी स्थिति लहरों के राजहंस पर डोलते हुए राजहंस की ही हो रही थी। अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौंदर नंद' में इस आशय का प्रकटन करनेवाली पंक्तियों ने नाटककार मोहन राकेश का ध्यान खींचा और वैराग्य के बीच के द्वंद्व और तनाव को रेखांकित करने का विचार उनके मन में आया।

नंद और सुंदरी के बीच एक तीसरा तत्त्व है बुद्ध। बुद्ध केवल अध्यात्म का तत्त्व-मात्र नहीं है। वह स्त्री और पुरुष के कामनामय जीवन के बीच समय-समय आ जानेवाली विरक्ति का प्रतीक भी है। समय-असमय छा जानेवाला यह विरक्ति-भाव नाटक में कई स्थलों पर नजर आता है। संदर्भ मृग का है। सुंदरी प्रश्न करती है, 'किसी और के बाग से आहत नहीं हुआ। अपनी ही थकान से गिर गया। एक ओर सुंदरी जहाँ यह चाहती है कि नंद, अगर उससे कुछ गलती हो जाए उस पर क्रोध करें—साधिकार, तो दूसरी ओर वह अपने अकारण क्रोध या उग्र-कथन के लिए क्षमा भी माँगती है। वह रात के अपने व्यवहार के लिए खेद प्रकट करती है।

पति-पत्नी के बीच का खुलापन भी कई जगह संवादों के माध्यम से उभरता है। सुंदरी कहती है, 'कभी आप मुझसे रुष्ट हो जाएँ, दो-एक रातें मेरे कक्ष में न आएँ, तो कैसा लगेगा?'[5]

अर्थ स्पष्ट है। पत्नी होने के नाते, पति के संग-साथ का जो अभ्यास उसे हो चुका है, जिस प्रकार की जीवन-शैली उसकी बन चुकी है, उससे अलग कुछ भी उसे अटपटा, अजीब और असंतोष का कारण लगेगा।

मोहन राकेश का नाटक 'आधे-अधूरे' नारी-चरित्र का मनोविज्ञान समझने-समझाने का एक और कलात्मक प्रयास है। यह नाटक आज के शहरी क्षेत्र की मध्यमवर्गीय पारिवारिक जिंदगी की विसंगति को उभारता है। सावित्री पत्नी है और वह उस मध्यवर्गीय मानसिकता की शिकार है, जो धन को जीवन में अतिरिक्त महत्त्व देती है। यही वृत्ति से विभिन्न पुरुषों से जोड़ती है और इसी के वशीभूत होकर वह अपनी देह का अस्त्र के रूप में प्रयोग करती है। सावित्री का व्यक्तित्व 'आक्रामक नारी का व्यक्तित्व' है। सावित्री किसी पूरे आदमी की तलाश में है। वैवाहिक असंतोष का मूल कारण यह भी है। जब एक प्रकार की संबंधहीनता पति-पत्नी में पनपने लगती है, तब स्त्री-पुरुष विरोधी गुणों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हैं। युग का विचार है कि स्त्री और पुरुष दोनों के सजातीय गुण होते हैं। जिस पुरुष का नारीत्व पक्ष पत्नी के रूप में परावर्तित (प्रोजेक्ट) नहीं हो पाता, वह थोथी भावनाओं और अज्ञात मन:स्थितियों का दास हो जाता है। इसी तरह वे स्त्रियाँ जिनका पुरुष-भाव पति में सन्निहित नहीं हो पाता, वे आक्रामक और सिद्धांतवादी बन जाती हैं और पुरुष के लिए वे बड़ी कष्टकारक होती हैं। आधा-अधूरा ऐसे ही लोगों का व्यक्तित्व रह जाता है। स्पष्ट है कि 'आधे-अधूरे' में महेंद्रनाथ और सावित्री के रूप में पति-पत्नी के जो व्यक्तित्व और चरित्र उभरे हैं, उनमें आपसी सामंजस्य का अभाव है। यह विशिष्ट परिस्थिति भी हो सकती है। 'सावित्री की कमाई पर पलता हुआ महेंद्रनाथ दयनीय है। कभी जिस घर का वह गृहस्वामी था, आज उसी घर में उसकी हालत एक नौकर के समान है। अब वह केवल एक ठप्पा, एक खड़ का टुकड़ा है। वह सावित्री के पुरुष मित्रों को जानता है, और अब तक उनका जिक्र करके अपने दिल की भड़ास निकालता रहता है।'[6] और सावित्री चूँकि अब कमा रही है, और फिर घर के आर्थिक दायित्व उसने सँभाल रखे हैं, इसीलिए पति के सामने वह कहीं-कभी दबती-झुकती नहीं। वह तीखी-चुभती बातें बड़ी आसानी से कह जाती है। पति-पत्नी के संबंधों का माधुर्य गायब हो चुका है। पति (महेंद्रनाथ) झुँझलाहट में प्रश्न करता है, 'मैं खड़ा नहीं हो सकता?'[7] और तब वह उन दिनों की याद दिलाता है जब वह कमाया करता था और आर्थिक मोर्चा उसने ही सँभाल रखा था। इस प्रकार घर के लिए और घर में आज फिर वह अपना महत्त्व स्पष्ट करना चाहता है। इसी दौरान बिन्नी लौट आती है। दोनों का ध्यान अब उसकी ओर है। सावित्री कहती है कि वह बिन्नी से पूछे कि वह कैसे और किन हालात में लौट आई है। उसका जवाब है कि उसका पूछना गलत है, सावित्री ही पूछे तो ठीक रहेगा। सावित्री की प्रतिक्रिया है, 'तुम्हारा कुछ भी करना किसी-न-किसी वजह से गलत होता है। मुझे पता नहीं है?' अगर सब-कुछ छोड़ दिया गया होता, उसके जिम्मे, तो पति नहीं और क्या बर्बादी हुई होती जो दो रोटी मिल जाती हैं मेरी नौकरी से, वह भी न मिल पातीं। लड़की भी घर में रहकर ही बुढ़ा जाती, पर यह न सोचा होता किसी ने कि...'[8]

सावित्री में अपने पति के निकम्मेपन को लेकर खीझ है। नाटक के कई स्थलों पर यह खीझ व्यक्त हुई है, 'जिंदगी में तुझे भी कुछ करना-धरना है या बाप की ही तरह... ?'[9] परिवार

के लिए पिसती सावित्री को दोषी महेंद्रनाथ ही नजर आता है, लेकिन उसके तरकश में शब्द-बाण दूसरों के लिए भी हैं–'यहाँ पर सब लोग समझते क्या हैं मुझे? एक मशीन, जोकि सबके लिए आप पिस-पिसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है। मगर किसी के मन में जरा-सा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं... '[10]

महेंद्रनाथ सावित्री को आधा-अधूरा लगता है। उसे लगता है कि उसका अपना अलग व्यक्तित्व नहीं है। वह पुरुष चार के सामने कहती भी है–'यूँ तो जो कोई भी एक आदमी की तरह चलता-फिरता, बात करता है, वह आदमी ही होता है, पर असल में आदमी होने के लिए क्या जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत हो?'[11] महेंद्रनाथ में इसी शख्सियत का अभाव है। बल्कि वह तो यहाँ तक कहती है–'मुझसे 'ब्याह' करने का फैसला भी कैसे किया उसने? जुनेजा के हामी भरने से।' और 'वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है।' उसके आक्रोश की नदी अब रुकती-थमती नहीं–एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक जरूरत पूरी करने के लिए। कौनसी जरूरत? अपने अंदर के किसी उसको...एक अधूरापन कह लीजिए उसे...उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए...अपने में...पूरा होना होता। किन्हीं दूसरों को पूरा करने रहने में ही जिंदगी नहीं काटनी होगी।'[12]

उनके चौथे और अंतिम नाटक 'पैर तले की जमीन' में पति-पत्नी के रूप में आए है– सलमा और अय्यूब। इनका संबंध भी मधुर नहीं है। अय्यूब अपनी पत्नी सलमा के सामने रीता की बाँह पकड़ता है। उसका स्पष्ट कथन है–'इस मौत के साए में कुछ रिश्ते तय होकर रहेंगे. ..' उसने ऐसा क्यों किया? उसके पास कुछ दलीलें हैं। उसके कुछ तर्क हैं। उसका कहना है–'मैं तुम्हें तुम्हारे अंदर की इन्हीं आवाजों का अहसास करना चाहता हूँ... कि फलाँ वक्त तुम्हारे अंदर हँसी उबल रही थी...फलाँ वक्त तुम अंदर से चीख रही थीं। फलाँ वक्त तुम्हारे अंदर कुछ बेतरह टूट रहा था।'[13] वह वस्तुत: सलमा की खामोशी तोड़ना चाहता था और इसके अंदर सोए भाव जगाना चाहता था, क्योंकि उसे लगता था कि सलमा एक कब्रिस्तान में परिणत हो चुकी है–'तुम एक कब्रिस्तान हो, जिसमें यह यह-यह यह सब दफन है।' अय्यूब सलमा के भीतर, उसकी साँसों और धड़कनों में भी जाना चाहता है। वह आरोप लगाता है–'तुम्हारी इन्नोसेंस मर चुकी है...तुम्हारा भोलापन कहीं खो गया है। उसके बाद भीतर सब-कुछ सिर्फ दफन हो सकता है...और मैं सिर्फ दफन होना नहीं चाहता...मैं तुम्हारे भीतर भी जाना चाहता हूँ।' सलमा प्रश्न करती है–'तो तुम मुझे जलील करोगे...करते जाओगे? और अय्यूब प्रतिप्रश्न करता है, 'और तुम मुझे दफन करोगी और करती जाओगी?'[14]

तल्ख हो चुके पति-पत्नी के संबंध इस नाटक में कलात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। आधे-अधूरे के आर्थिक अभावों के दंश झेलते पति-पत्नी के बाद यह जोड़ी आंतरिक भावात्मक स्तर पर अकेलेपन का दंश झेलती नजर आती है और राकेश सूक्ष्मता की दशा में कई कदम आगे बढ़े नजर आते हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रियंगुमंजरी अपने पति कालिदास (मातृगुप्त) को अपना बनाए रखने के लिए प्रयासरत नजर आती है। और 'लहरों के राजहंस' का नंद कभी पत्नी के आकर्षण और कभी बुद्ध के आकर्षण और वैराग्य-कामना से

 ISSN 0975-735X

जुड़ा-बँधा नजर आता है। सुंदरी नंद को किसी दूसरी दिशा में नहीं जाने देना चाहती। दोनों के संबंधों का माधुर्य और नंद की वैराग्य कामना की वजह से उत्पन्न तनाव का शब्दांकन आकर्षण और प्रभावशाली बन पड़ा है। आधे-अधूरे में आधुनिक मध्यवित्तीय पति-पत्नी के असंतोष और अधूरेपन का रेखांकन है और 'पैर तले की जमीन' में भावनात्मक अकेलेपन की वजह से उत्पन्न कटुता की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

मोहन राकेश के नाटकों का विषयगत वैविध्य ध्यानाकर्षक है। एक ओर कवि कालिदास 'आषाढ़ का एक दिन' में नायक के रूप में समाने आते हैं और दूसरी ओर बौद्धयुगीन द्वंद्व और तनाव का अंकन नंद और सुंदरी के माध्यम से समाने आता है। आधुनिक मध्यमवर्गीय परिवार का सच्चा, प्रभावशाली मार्मिक अंकन-चित्रण 'आधे-अधूरे' में हुआ है और 'पैर तले की जमीन' मृत्यु-भय झेलते पात्रों की मनोदशा का कलात्मक अंकन है। अंडे के छिलके में संयुक्त परिवार में संस्कारबद्धता, प्रकटन और गोपन का खेल नजर आता है और पार्श्व-नाटक 'छतरियों' में एक नया प्रयोग लाकर सामने आता है।

परिवार एक संस्था है और स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप में इस संस्था के महत्त्वपूर्ण सदस्य हैं। राकेश इस संस्था का कई दृष्टि-बिंदुओं से निरीक्षण-परीक्षण करते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में ऐसा प्रियंगुमंजरी के माध्यम से हुआ है और 'लहरों के राजहंस' में नंद और सुंदरी के माध्यम से, 'आधे-अधूरे' में महेंद्रनाथ और सावित्री आधुनिक मध्यमवर्गीय पति-पत्नी के द्वंद्व और तनाव से हमारा परिचय कराते हैं। 'आधे-अधूरे' में बिन्नी, किन्नी और अशोक के रूप में भाई-बहन भी आए हैं और भाई-बहन के संबंधों का मनोविज्ञान समझने-समझाने का प्रयास राकेश ने इस नाटक में किया है।

संदर्भ

1. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश, पृ॰ 56
2. वही, पृ॰ 42
3. वही, पृ॰ 45
4. वही, पृ॰ 46
5. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश, पृ॰ 39
6. आधे अधूरे, मोहन राकेश, पृ॰ 38
7. वही, पृ॰ 18
8. वही, पृ॰ 22
9. वही, पृ॰ 41
10. वही, पृ॰ 42
11. वही, पृ॰ 83
12. वही, पृ॰ 85
13. पैर तले की जमीन, मोहन राकेश, पृ॰ 47
14. वही, पृ॰ 51

147 **नेहरूनगर, आगरा (उ॰प्र॰)**
मो॰ 9412254673

माटी माटी अरकाटी : दास्तान-ए-आदिवासी गिरमिटिया मजदूरों का प्रवास

सपना दास (शोधार्थी)
हिंदी विभाग
गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर

आदिवासी जनजीवन एवं आदिवासी गिरमिटिया मजदूरों की दास्तान को तथाकथित व्यक्त करनेवाला मार्मिक उपन्यास है–'माटी माटी अरकाटी'। इस उपन्यास में आदिवासी समाज की दारुण गाथा को दर्शाने वाले उपन्यासकार अश्विनीकुमार 'पंकज' ने बड़ी सार्थकता के साथ एवं अपने सफलतापूर्वक भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के इतिहास को औपन्यासिक प्रमुख पात्र कोंता और कुंती के माध्यम से कहा है। दरअसल, इस उपन्यास में ब्रिटिशों के द्वारा भारत से विदेशों में मजदूरी करवाने के उद्देश्य से ले जाए गए भारतीय गिरमिटिया मजदूरों की कथा है, जिसमें मनुष्य को मनुष्य के द्वारा शोषण एवं उनके द्वारा किया गया अत्याचार की दारुणिक कहानी को व्यक्त किया गया है।

वास्तव में जब बात आती है गिरमिटिया समाज की तो हमारे सामने उस भारतीय मजदूर की छवि सामने उभरकर आती है, जिन्हें आज से डेढ़ सौ साल पहले मैले-कुचले कपड़ों में बड़ी तादाद में पानी वाले जहाज से समुद्र के रास्ते से होकर मॉरिशस ले जाया गया था। गौरतलब बात यह है कि उस समय झारखंड के आदिवासी समाज को भी प्रवास में जाना पड़ा था, परंतु वे कहाँ गए? उनकी दशा और दिशा आज के समय में कैसी है? आदि बातें चिंतन का विषय है।

ये गिरमिटिया क्या है? गिरमिटिया शब्द की उत्पति कब और कैसे हुई? गिरमिट प्रथा क्या है? उसके अंतर्गत नियम या प्रणाली क्या रही? आदिवासी समाज में गिरमिटिया कौन लोग रहे एवं गिरमिटिया कैसे कहलाए? तथा आदिवासी गिरमिटिया मजदूरों की दशा एवं दिशा क्या रही? बेगानी धरती पर जाने पर उनकी मानसिकता कैसी थी? उनके बीच उत्पन्न अंतर्द्वंद्व का क्या कारण था? आदि बातों को निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर 'माटी-माटी अरकाटी' उपन्यास के माध्यम से देखा एवं जाना जा सकता है।

गिरमिट शब्द की उत्पत्ति

जैसा कि हम जानते हैं कि 1834 ई॰ में भारत के मजदूरों को आयात के लिए मॉरिशस के गवर्नर 'विलियम निकोले' को राजी कर लिया गया। तब जाकर भारत से बहुत ही अधिक जनसंख्या में भारतवंशियों को अच्छी जीविका व अच्छे जीवन-यापन हेतु सुनहरे सपने दिखाते हुए विदेशी धरती पर ले जाया गया था। ऐसे में उन्हें भारतभूमि से बाहर ले जानेवाले लोग कोई

 ISSN 0975-735X

और नहीं, बल्कि ब्रिटिश शासन के अधीन काम कर रहे भारतीय ही थे, जिन्हें 'बिचौलिया' कहा जाता है। एक ओर यह बात भी सत्य है कि ये भारतवंशी आरंभ से गिरमिटिया मजदूर नहीं थे बल्कि जब इन्हें काम का झाँसा देकर अपनी जन्मभूमि से पराई धरती पर 'एग्रीमेंट' करवाकर ले जाया गया है। वास्तव में अँग्रेजी का यह एग्रीमेंट शब्द का ही भोजपुरिया समाज द्वारा भाषाई रूप धारण कर गिरमिट में परवर्तित हो गया। चूँकि Agreement System अर्थात् 'शर्तबंदी प्रथा' के माध्यम से 5 वर्षों के लिए बेगाने धरती पर ले जाया गया और वहाँ जानेवाले लोग भारत के विभिन्न प्रांत जैसे पंजाब, उत्तर प्रदेश के जौनपुर आदि एवं बिहार तथा झारखंड से ले जाए गए लोग थे। इनमें से अधिकांश भोजपुरिया समाज के थे, जिनकी मातृभाषा भोजपुरी थी। वे लोग ही एग्रीमेंट का उच्चारण ग्रेमेंट करते और फिर यह एग्रीमेंट शब्द ही एग्रीमेंट से ग्रीमेंट और ग्रीमेंट से गिरमिट, गिरमिट से गिरमिटिया हुआ। अर्थात् 'एग्रीमेंट' शब्द का बिगड़कर बाद में 'गिरमिटिया' बन गया और ये भारतीय लोग ही मजदूरी करने के चलते 'गिरमिटिया मजदूर' कहलाए।

भारतवंशी समाज का प्रवास

लोगों को जाते समय बीमारी ने अपनी चपेट में ले लिया तो कइयों को समुद्र में ही बहा दिया गया। चूँकि मॉरिशस जाने के लिए समुद्री रास्तों से सात दिन में ले जाते और ऐसे में न उनके खाने का ठीक और न शौच यानी दीर्घ शंका की सुविधा थी। जिसके चलते कइयों ने तो बदबू और बीमारी के कारण दम तोड़ दिया, क्योंकि मजदूरों के लिए चिकित्सा की कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी, जिसके चलते मृत व्यक्तियों को ब्रिटिश लोगों ने समुद्र में फेंक दिया। उपन्यास का आरंभ ही इस वाक्य से होता है–'इस उपन्यास से हमारा कोई दावा नहीं जो कि पहले किसी से कहा-सुना गया या पढ़ा-लिखा गया हो। फर्क सिर्फ इतना है कि उन सब में कोंता नहीं था। इस धरती पर हम सभी एक ही मूल की उपज है।

औपन्यासिक विषय उपस्थापन

प्रवास पर जाने के कारण इस उपन्यास का नाम 'माटी माटी अरकाटी' नाम पड़ा। माटी का अर्थ हुआ मिट्टी, जबकि 'अरकाटी' का अर्थ हुआ 'दलाल'। क्योंकि दलाल ही वे लोग हैं, जो कि भोले-भाले भारतीयों को बहला-फुसलाकर ब्रिटिश कंपनियों के हाथ सौंप देते। उपन्यास के केंद्र में झारखंड के आदिवासी हिल कुली को केंद्र में रखा गया है। 'हिल कुली' अर्थात् वे आदिवासी लोग, जिन्हें झारखंड से कुली बनाकर मजदूरी कराने विदेशों में ले जाया गया था। इस उपन्यास में उपन्यासकार अश्विनीकुमार 'पंकज' ने आदिवासी गिरमिट समाज की प्रथा के बारे में उल्लेख किया है, जो कि औपन्यासिक पात्र हिल कुली कोंता और कुंती नामक दो प्रमुख पात्रों के संबंध जुड़ने से होता है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि तरह किसी अनजान व्यक्ति को एक-दूसरे के जाने बिना ही एवं बिना देखे महज एक टोकन द्वारा गैरमर्द को सौंप देना ही गिरमिट परंपरा का आरंभिक शुरुआत मानी जाती है।

प्रवासी आदिवासी मजदूरों के समस्याएँ

प्रारंभ में प्रवासी आदिवासी समाज के समक्ष विडंबना रही है कि वे जिस समाज में रहते, उस पर गोरे सरकार का साम्राज्य था, जिसके चलते भारतीय प्रवासियों को एक साथ बैठने, बात करने का भी अधिकार नहीं था, परंतु उस समय इनके पूर्वजों के अपने अस्तित्व को

लेकर की गई लड़ाई अंततः सफल रही। प्रवासी आदिवासी भारतीयों को सर्वप्रथम प्रवासी आदिवासी समाज बनाने के लिए 'एकत्रित होना' जरूरी था, इसके लिए 'बैठका' प्रथा को आरंभ किया। 'बैठका' अर्थात् जहाँ सभी प्रवासी भारतीय मजदूर एक साथ बैठकर अपने अपने सुख-दुःख एक-दूसरे से कहा करते थे। यानी प्रवासी भारतीयों को आपस में जोड़नेवाला एक मात्र सामाजिक मंच था–'बैठका'।

प्रवासी आदिवासी भारतीयों ने अपने परिश्रम से एवं अपनी आर्थिक सूझ-बूझ के चलते, साथ ही साथ अच्छी शिक्षा एवं उच्च शिक्षा के बल पर सारी दुनिया में अपना स्थान बनाया है। प्रवासी भारतीय भिन्न-भिन्न देशों में रहते हैं। भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं। इसके बावजूद सभी भारतीय होने के नाते उनकी विचारधारा, मानसिकता मिलने के कारण भाई-चारा और एकता बनाए हुए हैं।

प्रवासी आदिवासी मजदूरों की सांकृतिक समस्या

भारतीयों का अपनी मिट्टी से जुड़ाव सदैव रहा है, जिसके चलते प्रवासी आदिवासी भारतीय समाज 'प्रवास' में रहकर भी अपनी संस्कृति को महत्त्व देते हैं। आज भी सभी प्रवासी आदिवासी भारतीय समाज एकत्रित होकर पर्व-त्योहार जैसे–दुर्गा पूजा, काली पूजा, तीज पर्व, छठ पर्व आदि लोकपर्व बड़े ही उत्साह के साथ मनाते हैं। भारत से मॉरिशस की भूमि पर गए भारतीय आदिवासी गिरमिटिया मजदूर भारतभूमि से जाते समय अपने साथ रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, हनुमान चालीसा आदि जैसे विविध पौराणिक ग्रंथ अपने साथ ले गए तथा पराई धरती पर भी अपनी संस्कृति को बरकरार रखा। परंतु गोरे सरदारों को यह भय था कि इन सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से भारतवंशी एकजुट न हो जाएँ। इसलिए उनकी एकता को भंग करने के लिए ये गोरे सरदार उनके समस्त अधिकारों पर पाबंदी लगा देते, ताकि इन भारतीयों में कभी भी एकता कायम न हो सके।

अस्तित्व संकट की समस्या

प्रवासी आदिवासी समाज के जीवन की सबसे बड़ी समस्या थी–उनके अस्तित्व संकट की। उन्हें लगता था वे न उस देश के हैं, न वह उनकी जन्मभूमि है। ऐसे में उन्हें जबरन पेट की खातिर काम करना पड़ता है। जिस काम का कोई अर्थ नहीं, जिसमें उसकी कोई अपनी अलग पहचान नहीं, अपनी खुद की कमाई पर उसका कोई अधिकार नहीं। ऐसे में अपनी जन्मभूमि की स्मृतियाँ अकुलाहट भर देती हैं। व्यक्ति का ऐसे में अपना अस्तित्व संकट की कगार में पेंडुलम की तरह झूलता हुआ दिखाई देता है।

बोलने की मनाही

आदिवासी प्रवासियों के सामने सबसे विकट समस्या थी-बोलने की। क्योंकि बोलने की मनाही थी, जिसके चलते आदिवासी समाज के लोग खुलकर बात नहीं कर पाते थे। यही कारण था कि अनपढ़ आदिवासी अपनी माँग को जाहिर नहीं कर पाते। यहाँ तक कि उन्हें आपस में बातचीत भी नहीं करने दी जाती थी, जिसके चलते आदिवासी समाज को अपने अधिकारों से वंचित होना पड़ता।

रंग-भेद की समस्या

 ISSN 0975-735X

जैसाकि हम जानते हैं, भारत से बड़ी तादाद में ले जाए गए हिल कुली गरीब थे तथा उनके शरीर का रंग भी गोरे ब्रिटिश सरदारों के सामने तुच्छ था। यानी रंग-भेद के कारण ही ब्रिटिश सरकार भारतीयों को हेय दृष्टि से देखती थी।

मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण की समस्या

मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण कहने का आशय यह है कि भारत के झारखंड प्रांत से आदिवासी समाज को विदेशी धरती पर ले जानेवाले लोग उनके आदिवासी समाज के ही 'दलाल' अथवा अरकाटी' लोग थे, जो कि बहलाकर ब्रिटिशों के अधीन जीवन जीने को विवश करते थे। यही कारण है कि उन आदिवासी प्रवासी समाज को काल के गाल में धकेलने वाला उसका स्वयं का आदमी होता जो कि उस पर अथाह हुकूमत चलाता था।

प्रवासी आदिवासी मजदूरों की मूलभूत समस्याएँ

प्रवासी आदिवासी मजदूरों की मूलभूत समस्याओं को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से दर्शाया गया है–

परिवार से दूर विस्थापन की समस्या

परिवार से दूर जाकर प्रावासी व्यक्ति वियोग का शिकार हो जाता है। अपनी मातृभूमि का मोह प्रत्येक व्यक्ति के मन में वियोग की स्थिति उत्पन्न कर देता है। जैसे-जैसे पुरानी स्मृतियाँ मन-मस्तिष्क पर छाने लगती हैं व्यक्ति पूरी तरह से अतीत में चला जाता है। ऐसे में उसकी वेदना की गति तीव्र होने लगती है। वह चाहकर भी प्रवास में अपने परिवार और अपने रिश्तों को भुला नहीं सकता। अच्छी जिंदगी व्यतीत करने की लालसा और अपनी मिट्टी से जुड़कर अपनी पहचान बनाए रखने की आकांक्षा ही विदेश में रहते हुए भी व्यक्ति की मानसिकता को कुरेदती है।

अपनत्व का अभाव

प्रत्येक क्रिया-कलाप, मान्यताएँ, मूल्य-बोध, संस्कृति आदि समस्त गतिविधियाँ सामाज द्वारा संचालित होती हैं। यही कारण है कि सभी प्रकार के सामाजिक जीवनमूल्यों को समाज ही गतिशीलता प्रदान करता है, उसे विकसित करता है। प्रवासी आदिवासी जीवनशैली भारतीय जीवन-शैली से कहीं अधिक भिन्न है। भारतीय समाज में पाश्चात्य की लहर आधुनिकता का ही मापदंड है। प्रवासी आदिवासी समाज को प्रवास के दौरान व्यक्ति में परिवर्तन आना एवं उनकी मानसिकता में बदलाव का आना स्वभाविक है। साथ ही विविध प्रकार की समस्यायों का यथार्थ रूप में सामना करना। चाहे वह रंगभेद की दृष्टि से हो या भाषागत दृष्टि से ही क्यों न हो।

मूल्य जनसमाज की वह रीढ़ है, जिसके सहारे समाज पूर्णत: अस्तित्ववान होता है। किसी समाज की संस्कृति का अध्ययन उस समाज में प्रचलित मानवमूल्यों के आधार पर ही संभव है। मानव की तनिक सी त्रुटि संसार की अशांति का कारण बन सकती है। वस्तुत: मूल्य-विघटन आधुनिककाल की उपज है। यह उपन्यास आपसी रिश्तों में आए स्खलन, नैतिक जीवन मूल्यों में विघटन पर बल देता है। शक की बुनियाद पर टिकी पति-पत्नी का यह संबंध अधूरी मानसिकता, आडंबरों से पैदा हुई चकाचौंध जैसी मन:स्थितियों को उजागर कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस भाग-दौड़ की जिंदगी में गंगा अपने को अशांत पाती है। महेंद्र

भल्ला कृत 'दूसरी तरफ' उपन्यास में वे विदेशी आक्रांताओं को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–'हिंदुस्तान में बिल्कुल विपरीत जहाँ लोगों की आवाजें बोलती थीं, बेचने की आवाजें चिल्लाती थीं, सबसे ऊपर होती थीं। शायद यही फर्क है पश्चिम और पूरब में।'[1]

मॉरिशस समाज में जातिगत समस्या

मॉरिशस समाज में प्रवास कर रहे लोग चाहे जिस भी जाति के हों उन्हें जबरन किसी भी स्त्री का पति बना दिया जाता।

अकेलेपन का एहसास

मूल्यों की विसंगति ही अकेलापन है। व्यक्ति के भीतर सामाजिक मूल्यों एवं निजी मूल्यों की स्वीकृति का जो संघर्ष उत्पन्न होता है उससे अलगाव की समस्या उत्पन्न होती है। अलगाव का मतलब है–दूर हो जाना या अलग हो जाना। ऐसे में व्यक्ति अकेलेपन का शिकार हो जाता है। अमृतराय ने लिखा है–'यह अजनबीपन और संवेदनहीनता मूलतः एक ही चीज है। आदमी-आदमी के बीच संवाद नहीं है और न होने की संभावना। इसलिए सब-के-सब एक-दूसरे के लिए अजनबी हैं।'[2] दूर होने की इस प्रक्रिया के पीछे कई कारण भी हो सकते हैं जैसे आपसी अनबन के कारण अपनों से दूर हो जाना, दांपत्य-जीवन में प्रेम की कमी के कारण दूर हो जाना इत्यादि। जबकि अकेलापन आज की सबसे विकट समस्या है। देवीशंकर अवस्थी के शब्दों में–'आधुनिक मानव का अकेलापन ही इसकी त्रासदी और विडंबना है।'[3] कुंतो मॉरिशस की भूमि पर जाकर अपने माँ की स्मृति को याद के उस गाँव की सुंदर कल्पना रूपी संसार में डूब भाव-विभोर हो जाती है। जहाँ कोई अपना नहीं है।

मानसिक अंतर्द्वंद्व

आधुनिक जीवन की सबसे जटिल व प्रमुख समस्या आजीविका, प्रेम-विवाह और सेक्स की कमी है। कमजोरियाँ हर व्यक्ति में होती हैं, कोई भी पूर्ण नहीं। स्त्री भी अपनी कमजोरियों को जानती है, पर कुछ कमजोरियाँ आदत और बेसहाय व लाचारी में शामिल हो जाती हैं। कभी-कभी यह भी एक कारण बन जाती है कटुता का, अलगाव का, बिखरेपन का, संबंध विखंडन आदि का। व्यक्ति इस क्षेत्र में समाज की रूढ़ सनातन धारणाओं एवं मान्यताओं में अनास्था रखता हुआ मानसिक संघर्षों से ग्रस्त रहता है। सामाजिक मान्यताओं को प्रधानता देने पर जिस आत्मिक कष्ट और अंतर्द्वंद्व को लेकर वह जीता है वह उसके व्यक्तिगत क्षेत्र में हानिकारक सिद्ध होता है। अतृप्त वासनाएँ व्यक्ति के जीवन को कुंठित कर पूर्ण रूप से उसे मानसिक रोगी बना देती हैं। भारतीय समाज प्राचीन संस्कृति एवं आदर्शों में इतना आस्थावान है कि उनके विपरीत संस्कृति, मनोभाव, आचरणवालों को उचित मान्यता नहीं देता।

आदिवासी प्रवासी स्त्रियों का यौन-शोषण

'यौन विकृति' की चर्चा भी इस उपन्यास में मिलती है। आधुनिक समाज में रिश्ते और नातों का कोई सार्थक अर्थ नहीं रह गया है। सच में संबोधन जितने सच्चे होते हैं, उतना सच्चा प्यार नहीं होता। गोरे सरदार जबरन किसी की भी स्त्री को अपने घर में बुलाकर काम करने के

 ISSN 0975-735X

बहाने उसका शोषण करते। इस रिश्ते का न कोई नाम है न ही इस रिश्ते में प्यार। बल्कि यह एक-दूसरे की इच्छापूर्ति का माध्यम है। डॉ॰ त्रिभुवनसिंह के मतानुसार–'समय ऐसा आ गया है, जिसमें नाम और संबंध एक-दूसरे की पर्यायवाचिता खो बैठे हैं, यहाँ तक कि उसके उल्लंघन में अब पश्चाताप और मानसिक क्लेश भी नहीं रह गया है।'[3]

पारस्परिक रूप में स्त्री-पुरुष के काम रूप को अभिन्न अंग माना गया है। 'यौन भावना प्राकृतिक आवश्यकता या शारीरिक भूख है, जिसकी तृप्ति चाहे किसी भी स्थिति में होनी चाहिए।'[4] फ्रायड ने काम को समस्त चेतन जगत एवं क्रियाकलापों का मूल माना है। अत: यह आवश्यक नहीं है कि जिसके साथ यौन-संबंध हों उसके साथ प्रेम हो या किसी भी प्रकार का संबंध हो। यौन प्रवृति के संस्कारपूर्ण रोप का विकास है–प्रेम। प्रेम मानव-चरित्र का प्रेरक तत्त्व है।

भूमंडलीकरण का प्रभाव

यदि पुरानी और नई पीढ़ियाँ अच्छी बातों को अपना लें तो दोनों पीढ़ियों में परस्पर मेल हो जाएगा। भूमंडलीकरण के जंजाल में पड़नेवाले लोगों में अधिकांश रिश्तों को अनावश्यक और अनर्थ समझा जाता है, जो कि पश्चिम देशों के लोगों के मन-मस्तिष्क से उपजकर आया है। भूमंडलीकरण के पीछे यहाँ के युवा आँखें मूँदकर, तन-मन-धन देकर एवं अपनी संस्कृतियों को भूलकर यहाँ तक कि अपने माता-पिता की भी परवाह किए बिना आज का युवावर्ग 'दौड़' लगा रहा है।

निष्कर्ष

आज से लगभग 150 सौ वर्ष पूर्व की गाथा को मार्मिक दस्तावेज प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है–'माटी माटी अरकाटी'। इस उपन्यास में रचनाकार ने झारखंड के संथाल, खरिया, मुंडा, उराँव आदि जातियों का उल्लेख प्रवासी गिरमिटिया मजदूर के रूप में चित्रण किया है। इन समस्त आदिवासियों की बड़ी तादाद को भारत के बाहर गिरमिटिया देश यानी मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, गुयना, दक्षिण अफ्रीका एवं अमेरिका आदि जैसे देशों में ले जाया गया महज रोजगार और अच्छी वेतन का झाँसा देकर। परंतु वहाँ जाकर माहौल बिलकुल विपरीत रहा। उनके साथ किए गए दुर्व्यवहार, अत्याचार, शोषण की कोई सीमा नहीं रही। यहाँ तक कि उनकी बहू-बेटियों के साथ जबरन अत्याचार किया जाता। ब्रिटिश सरकार स्त्रियों को अपने बिस्तर गर्म करने का जरिया समझती। यदि भारतीय पुरुष अपनी बहू-बेटियों को उनके पास भेजने के लिए मनाही करते तो उसकी सजा उनके घरवालों को दी जाती। जैसा कि इस उपन्यास में होता है। कुंती की जहाज पर बनी सहेली की माँग सरदारों द्वारा हवेली पर की जाती है, पर कांतों के लिए अपने घर की इज्जत से बढ़कर कुछ भी नहीं। यही कारण है कि जब उसकी पत्नी की माँग करने पर वह उस रात सरदारों को जवाब नहीं देता। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरदार उसे रातभर कोड़े से पीटता रहा। सच्चाई यह भी है कि इन आदिवासियों के संघर्ष का ही परिणाम है कि आज सभी मुक्त एवं आजाद जिंदगी जी रहे हैं। आदिवासी समाज के पूर्वजों की ही देन हैं जिसके चलते आज उनकी बदतरीन जिंदगी को बेहतर करने की कोशिश की है। किंतु आज भी कहीं-न-कहीं कुछ वर्चस्ववादी एवं अन्यायी लोगों ने सबके

इस नैसर्गिक अधिकार पर कब्जा कर रखा है।

देखा जा सकता है कि प्रवास की प्रक्रिया की पहल बौद्ध भिक्षुओं, सम्राट अशोक के समय ही हो चुकी थी, परंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस आवागमन में लगातार बढ़ोतरी देखी गई। वह एक दौर था जब केवल भारतीयों को 'एग्रीमेंट' यानी अनुबंध प्रथा के माध्यम से तीन या पाँच वर्षों के लिए शर्तों के आधार पर ले जाया जाता था। प्रवास की प्रक्रिया के माध्यम से यह जाना जा सकता है कि एक समय में ही व्यक्ति, देश और विदेश दोनों जगहों से संबंध स्थापित रखता है। एक ओर अपनी जन्मभूमि से जुड़ाव का संबंध तो दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति का लोभ के चलते दोनों जगहों से जुड़ा हुआ होता है। यह अलग बात है कि प्रवास में निवास करने के पीछे कई कारण व समस्याएँ हो सकती हैं, किंतु इन सबके बीच व्यक्ति दो देशों के बीच मानसिक और शारीरिक दोनों रूपों से जुड़ने के कारण दो देशों के बीच बना संबंध से कट नहीं सकता। चूँकि औद्योगीकरण ने लोगों को प्रभावित किया है और लोगों का उसकी ओर खिंचाव होना स्वभाविक है।

सच्चाई यह है कि प्रवासी भारतीय आदिवासी गिरमिटिया मजदूर, प्रवास में रहकर भी अपनी संस्कृति एवं भाषा की महत्ता को आज भी बनाए हुए हैं। इसका मुख्य कारण इनके पूर्वज रहे हैं, क्योंकि जब उन्हें गिरमिटिया मजदूर की तरह धोखे से भारत से बाहर ले जाया जा रहा था तब वे अपने साथ 'रामचरितमानस', 'श्रीमद्भागवद्गीता', 'हनुमान चालीसा' आदि जैसे धार्मिक ग्रंथ ले गए थे। प्रवासी समाज जब भी एक साथ मिलते तब चालीसा का पाठ हुआ करता। प्रवासी भारतीय अपने पूर्वजों की इस परंपरा को आज भी कायम रखे हुए है। वस्तुतः देखा जाए तो, वर्तमान समय में घनी आबादी में पढ़े-लिखे शिक्षित लोग प्रवास कर रहे हैं। यह उनके पूर्वजों की मेहनत और परिश्रम का ही देन है, जिन्होंने अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए कोड़े खाए। अंततः उनकी इसी देन ने आनेवाली पीढ़ियों के लिए नया रास्ता खोल दिया।

संदर्भ

1. महेंद्र भल्ला, दूसरी तरफ उपन्यास, पृ॰ 204
2. गीता सोलंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, पृ॰ 116
3. वही, पृ॰ 116
4. डॉ॰ त्रिभुवनसिंह, हिंदी उपन्यास और यथार्थवादी लेखक, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 586
5. डॉ॰ रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास एक अंतःयात्रा, पृ॰ 93

द्वारा श्री शिवशंकर दास
22/ई, बी॰एल॰सी॰ मिल्स बाइलेन
पोस्ट महेश (हूघल)
श्रीरामपुर 712202 **प॰बं॰**
मो॰ 7044355873
sapna070295@gmail.com

आचार्य हरिश्चंद्र वर्मा का जीवन और साहित्य

कु॰ सिमरनजीत कौर (शोधार्थी)
डॉ॰ महेश दिवाकर (शोध-निदेशक)

हरियाणा राज्य के सर्वोच्च सम्मान 'आजीवन साहित्य साधना सम्मान' (2014) से विभूषित-अभिनंदित आचार्य डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा का जन्म 5 जनवरी, 1934 को उत्तरप्रदेश राज्य के अंतर्गत जिला गाजियाबाद के एक गाँव चाँदनेर में हुआ।[1] इनकी प्रारंभिक शिक्षा राजकीय प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालय, बहादुरगढ़ (उत्तरप्रदेश) में संपन्न हुई। पब्लिक इंगलिश हायर सेकेंडरी स्कूल, स्याना (बुलंदशहर) से उन्होंने हाईस्कूल एवं इंटरमीडिएट की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उच्चतर शिक्षा के लिए उन्होंने मेरठ कॉलेज, मेरठ में प्रवेश लिया तथा वहाँ से हिंदी एवं संस्कृत दोनों विषयों में एम॰ए॰ की उपाधियाँ प्रथम श्रेणी में प्राप्त कीं। इसके उपरांत आचार्यप्रवर डॉ॰ वर्मा ने आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से हिंदी में पीएच॰डी॰ की उपाधि अर्जित की। तत्पश्चात् इन्होंने भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल से 'तुलसी साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर हिंदी में डी॰लिट्॰ की उपाधि प्राप्त की।[2] डॉ॰ वर्मा के व्यक्तित्व एवं चिंतन के निर्माण में डॉ॰ रामप्रकाश अग्रवाल एवं डॉ॰ विनयमोहन शर्मा प्रभृति विद्वानों का बहुत योगदान रहा।

डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा ने बेयरिंग क्रिश्चियन कॉलेज बटाला, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र एवं महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक जैसी प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थाओं में प्राध्यापन-कार्य करते हुए सदैव एक गौरवशाली प्राध्यापक के रूप में सम्मान प्राप्त किया। डॉ॰ वर्मा का मानना था, 'मेरी दृष्टि में अध्यापन उपासना है, भक्ति है, धर्म है, दर्शन है। मैं इसे एक दिव्य और आध्यात्मिक जीवन-पद्धति मानता हूँ।'[3] महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय में सेवारत रहते हुए उन्होंने अध्यक्ष हिंदी-विभाग, अधिष्ठाता मानविकी संकाय, अध्यक्ष ललितकला विभाग, चीफ वार्डन, चेयरमैन परीक्षा सुधार-समिति आदि अनेक प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहण पूरी योग्यता एवं निष्ठा से किया। महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय से सेवा-संपन्न होने के पश्चात, जनवरी 1994 से रोहतक में ही रहकर वर्मा जी स्वतंत्र रूप से साहित्यिक लेखन-कार्य करते रहे। 20 अक्टूबर 2017 को आचार्य श्रेष्ठ का स्वर्गारोहण हो गया। भाषा-साहित्य-संस्थान, इलाहबाद के तत्कालीन निदेशक-संचालक डॉ॰ हरिहरप्रसाद गुप्त ने अपने लेख में लिखा है, 'वे (डॉ॰ वर्मा) सतत जागरूक और मानवमूल्यों के पोषक साहित्यकार हैं।'[4] महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ॰ बैजनाथ सिंहल का मत है, 'यह व्यक्ति अध्यापक-अवतार है। ... अध्यापक से जुड़ी गरिमा, एक साक्षात् गुरु, नितांत आडंबर-विनिर्मुक्त, सदाशयी, प्रतिभा-संपन्न, मार्गदर्शक, निर्द्वंद्व और प्रतिदान-निष्कामी अपने कर्म और अपने ज्ञान के प्रति आत्म-विगोपन के भाव से संपन्न, अष्टयाम छात्र-स्वागत-कर्त्ता, अध्ययन-अध्यापन-रत-इन सभी गुणों से भूषित

है डॉ॰ वर्मा का व्यक्तित्व।'[5]

डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा ने सर्जक, शोधक, समालोचक एवं साहित्येतिहास-लेखक आदि विभिन्न रूपों में हिंदी-साहित्य की बहुमूल्य सेवा करते हुए अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। इनकी प्रकाशित रचनाओं का ब्यौरा निम्नवत् है–

(क) शोध और समालोचना संबंधी

1. संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति, 2. नई कविता के नाट्यकाव्य, 3. तुलसी साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, 4. अंधायुग : एक विवेचन, 5. तुलसी साहित्य में नीति, भक्ति और दर्शन, 6. तुलसी-साहित्य में शरीरविज्ञान एवं मनोविज्ञान, 7. साहित्य चिंतन के नए आयाम, 8. चिंतन और अनुशीलन, 9. साहित्य-चिंतन की नई दिशाएँ, 10. भारतेंदु-कृत श्री चंद्रावली नाटिका (सर्वांग विवेचन-विश्लेषण सहित संपादन), 11. भाषा और भाषाविज्ञान, 12. भारतीय काव्यशास्त्र, 13. शोध-प्रविधि, 14. भारतीय इतिहास की आत्मा: वेदांत, 15. हिंदू धर्म और देवलोक, 16. शुद्ध लेखन और हिंदी का मानक रूप, 17. गीताज्ञान का वैज्ञानिक विवेचन।

(ख) साहित्येतिहास संबंधी

(1) हिंदी साहित्य का इतिहास, (2) हिंदी साहित्य का आदिकाल

(ग) सर्जनात्मक साहित्य

1. नई पीढ़ी: नए स्वर, 2. संकल्पों के स्वर, 3. सूरज नहीं बूझेगा, 4. छक्के पर छक्के, 5. सुगंधि के स्वर, 6. संस्कृति के आलोक शिखर, 7. चमचा-पुराण, 8. चिट्ठी मिस स्वीटी की (हास्य-व्यंग्य), 9. डॉक्टर डमरूगोपाल, 10. पवनपुत्र की पूँछ (उपन्यास) और 11. ये आजादी के दीवाने (रेडियो रूपक)[6]

इन रचनाओं के अतिरिक्त आचार्यप्रवर डॉ॰ वर्मा ने दस पुस्तकों–1. तरंगों के रंग, 2. व्यंग्य के रंग, 3. परिवेश के रंग, 4. व्यंग्य के प्रसंग, 5. काव्य-कैसर, 6. गद्य-गंध, 7. गद्य गरिमा, 8. काव्य कौमुदी, 9. गद्य गौरव तथा 10. डॉ॰ तरुण का काव्य-संसार का संपादन किया है। विभिन्न साहित्यिक विषयों पर उनके अस्सी के लगभग शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित हैं। लगभग सौ पुस्तकों की भूमिकाएँ एवं समीक्षाएँ भी उन्होंने लिखी हैं।[7] इस प्रकार डॉ॰ वर्मा का लेखन बहुविस्तृत एवं बहुआयामी है। साहित्य की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ वर्मा लिखते हैं, 'साहित्य की सच्ची सार्थकता इसमें है कि वह जड़ता से उत्पन्न यथार्थ जगत की विसंगतियों और चेतनाप्रसूत जीवनमूल्यों का घात-प्रतिघात दर्शाते हुए जड़ता पर चेतना की विजय के प्रसंगों की नियोजना द्वारा मानव-प्रकृति को विकृति से हटाकर संस्कृति की ओर उन्मुख करे और इस प्रकार मानव-जीवन को गति, शक्ति और मुक्ति का संदेश देकर उदात्त और ऊर्ध्वमुखी बनाए।'[8] उनके संपूर्ण साहित्यिक अवदान का समग्र आकलन चार प्रमुख दृष्टियों से किया जा सकता है–1. शोध एवं समालोचना, 2. साहित्येतिहास-लेखन, 3. कवित्व तथा 4. व्यंग्य लेखन।

जहाँ तक शोध और आलोचना का संबंध है, डॉ॰ वर्मा ने हिंदी साहित्य-जगत में अपनी पहली पहचान इसी विधा के माध्यम से स्थापित की है। डॉ॰ वर्मा के शोध-ग्रंथों में समालोचना

 ISSN 0975-735X

के उत्कृष्ट मानदंडों का तथा समालोचनात्मक ग्रंथों में शोध-दृष्टि एवं प्रविधि का ऐसा अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है कि उनमें भेद कर पाना संभव ही नहीं है। 'संस्कृत-कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति' तथा 'नई कविता में नाट्य काव्य' क्रमशः आ॰ वर्मा के संस्कृत और हिंदी के पीएच॰डी॰ शोधप्रबंध हैं, तो 'तुलसी साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन' उनका डी॰लिट्॰ (हिंदी) का शोधप्रबंध है। 'अंधायुग : एक विवेचन', 'तुलसी साहित्य में नीति, भक्ति एवं दर्शन' तथा 'तुलसी साहित्य में शरीरविज्ञान एवं मनोविज्ञान' उनके शोध-अध्ययन का विस्तार हैं। इन ग्रंथों में डॉ॰ वर्मा की विद्वत्ता, शोधदृष्टि, मौलिकता, वादमुक्त विवेचन-क्षमता एवं तथ्यबद्ध भाषिक अभिव्यक्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। डॉ॰ विजयकुमार वेदालंकार ने अपने लेख 'डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा की आलोचना दृष्टि तथा मान्यताएँ' में लिखा है, 'निश्चय ही वर्माजी आधुनिकयुग के महान् समीक्षक हैं। तुलसी की लोकमंगल की साधना, प्रसाद की समरसता, आचार्य शुक्ल की सामाजिकता और रसग्राही रागात्मिकता वृत्ति एवं डॉ॰ नगेंद्र की विश्लेषणात्मकता की छाप उनके चिंतन में परिलक्षित होती है।'[9]

साहित्येतिहास-लेखक के रूप में डॉ॰ वर्मा के ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' हैं। आचार्य हरिश्चंद्र वर्मा के साहित्येतिहास-लेखन के संबंध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उन्होंने आ॰ शुक्ल एवं डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त के साहित्येतिहासों का गंभीर अध्ययन करके दोनों के साहित्येतिहास-चिंतन एवं विवेचन-पद्धतियों के मध्य समन्वय स्थापित किया है। आ॰ वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ के आत्म-संदर्भ में स्वयं लिखा है, 'हिंदी-साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में यह एक निष्ठापूर्ण, विनम्र प्रयास है। इसमें साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा की शक्ति और महत्ता को पहचानते हुए कुछ ऐसे नवीन रचनात्मक प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है, जो साहित्येतिहास-लेखन के संरचनात्मक ढाँचे में सर्जनधर्मी लचीलापन और गतिमयता ला सकें।'[10] यही कारण है ऐतिहासिक तथ्यों को बिना तोड़े-मरोड़े, तर्कसंगत कारण-कार्य-शृंखला के माध्यम से, वे समुचित निष्कर्षों तक पहुँचने में सफल रहे हैं।

डॉ॰ वर्मा की सर्जनात्मक प्रतिभा मुख्यतः कविता एवं व्यंग्य-रचनाओं के रूप में अभिव्यक्त हुई है। जहाँ तक काव्य-रचना का संबंध है, डॉ॰ वर्मा ने एक ओर तो सुंदर-मनमोहक बाल-किशोर कविताएँ लिखकर बाल-किशोर साहित्य को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है, तो दूसरी ओर गहन अनुभूतिपरक कविताओं के माध्यम से उन्होंने अपने वस्तुनिष्ठ चिंतन को अभिव्यक्ति दी है। डॉ॰ वर्मा ने स्वयं लिखा है, 'एक निष्ठावान् साहित्यकार के रूप में मैं विश्वबंधुत्व के साथ ही राष्ट्र, राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति में अगाध आस्था रखता हूँ तथा राष्ट्र-विरोधी चिंतन और अपसंस्कृति के स्रोतों का घोर विरोधी हूँ।'[11] 'नई पीढ़ी : नए स्वर', 'संकल्पों के स्वर' तथा 'सुगंधि के स्वर' आचार्य वर्मा के बाल-किशोर कविता-संग्रह हैं। इन सभी कविताओं की भाषा बाल किशोरों के मानसिक स्तर के अनुरूप, बोलचाल की व्यावहारिक सरल भाषा है जिसमें उर्दू, फारसी, अँग्रेंजी तथा संस्कृत की साधारण शब्दावली का प्रयोग देखने को मिलता है। छंद, लय एवं संगीत की दृष्टि से ये सभी कविताएँ गेय हैं। 'सूरज नहीं बूझेगा', 'छक्के पर छक्के' तथा 'संस्कृति के आलोक-शिखर' आधुनिक भावबोध से युक्त विविधवर्णी

कविता-संग्रह हैं। डॉ॰ वर्मा के काव्य-संग्रह 'हिंदू हिंदी हिंदुस्तान' के आत्म-निवेदन में पुस्तक के संपादक डॉ॰ सीताराम व्यास लिखते हैं, 'विकृति के विरोध से ही संस्कृति के निर्विघ्न विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। कवि का धर्म है कि वह राष्ट्र की चेतना को कविता के माध्यम से सतत स्फूर्त करता रहे। डॉ॰ वर्मा ने इस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक निभाया है।'[12]

हास्य-व्यंग्य लेखन के क्षेत्र में आचार्य वर्मा का सर्जनात्मक व्यक्तित्व उनकी तीन व्यंग्य-रचनाओं के माध्यम से मुखरित हुआ है। ये तीन रचनाएँ हैं–'चमचा पुराण', 'चिट्ठी मिस स्वीटी की' तथा 'डॉ॰ डमरूगोपाल'। इनमें से प्रथम दो रचनाएँ निबंध-विधा के अंतर्गत आती हैं, जबकि तीसरी उपन्यास-विधा के अंतर्गत। 'व्यंग्य' के विषय में आचार्यप्रवर वर्माजी का कहना है, 'मन का सुमतिपक्ष संस्कारक है और कुमति पक्ष संस्कार्य। व्यंग्य सुमति के हाथ का वह अंकुश है, जो कुमति के उद्दंड विकारों पर प्रहार करके उन्हें सन्मार्ग पर लाता है और इस प्रकार समाज को पतन की दिशा से हटाकर उत्थान की दिशा में प्रेरित करता है। व्यक्ति और समाज को सुधारने के लिए जो काम भक्ति, धर्म, दर्शन सीधे मार्ग से करते हैं, वही काम व्यंग्य आड़े मार्ग से करता है।'[13] तीन व्यंग्य-कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने 'व्यंग्य के रंग', 'परिवेश के रंग' तथा 'व्यंग्य के प्रसंग' नाम से तीन व्यंग्य-पुस्तकों का संकलन भी किया है, जिनमें हरियाणा के व्यंग्य-लेखकों के व्यंग्य संकलित हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य हरिश्चंद्र वर्मा वर्तमान हरियाणा में ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय स्तर पर अग्रणी शिरोमणि साहित्यकार हैं। शोधक, समालोचक, आचार्य, कवि, व्यंग्यकार, निबंधकार, उपन्यासकार, साहित्येतिहासकार आदि अनेक रूपों में वर्तमान हिंदी-साहित्य को समृद्ध करने में उन्होंने अपना अमूल्य योगदान दिया है।

संदर्भ

1. डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा व्यक्तित्व और चिंतन, (दे॰) डॉ॰ बलजीत सिंह मलिक, पृ॰ 23
2. डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा के साहित्य में सांस्कृतिक चेतना, (दे॰) डॉ॰ प्रवीण हुड्डा, पृ॰ 49-50
3. डाक्टर डमरूगोपाल (उपन्यास), डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा, पृ॰ 88
4. साहित्यमनीषी डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा अभिनंदन-ग्रंथ, संपा॰ डॉ॰ बलजीतसिंह मलिक, पृ॰ 23
5. वही, पृ॰ 35
6. गीताज्ञान का वैज्ञानिक विवेचन से उद्धृत, डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा
7. डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा के साहित्य में सांस्कृतिक चेतना, (दे॰) डॉ॰ प्रवीण हुड्डा, पृ॰ 71-85
8. चिंतन और अनुशीलन, डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा, पृ॰ 29
9. हिंदी साहित्य के शिखर, डॉ॰ विजयकुमार वेदालंकार, पृ॰ 77
10. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा, आत्म-संदर्भ से
11. ऐसे होते हैं साहित्यकार, संपा॰ डॉ॰ रूप देवगुण, पृ॰ 28
12. हिंदू हिंदी हिंदुस्तान, डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा, पृ॰ 5
13. चिट्ठी मिस स्वीटी की, डॉ॰ हरिश्चंद्र वर्मा, पृ॰ 5

 ISSN 0975-735X

संस्कृत व्याकरण की उत्पत्ति एवं उसका विकासात्मक स्वरूप

वेदानंद

भाषा मानव-मस्तिष्क के भावों को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है। भाषा के बिना मानव अपनी भावाभिव्यक्ति नहीं कर सकता। अतः भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा की महती आवश्यकता है। मानव अपनी भावाभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से सम्यक् प्रकार से कर सके, इसके लिए भाषा का शुद्ध होना भी जरूरी है। भाषा की शुद्धता व्याकरण के बिना कदापि संभव नहीं है, इसलिए अधोलिखित श्लोक भाषा की शुद्धता पर प्रकाश डालता है–

यद्यपि बहुनाधीशे तथापि पठ पुत्रं व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्।

अर्थात् साधु शब्दों के ज्ञान तथा वर्णोच्चारण ज्ञान के बिना हम सकार और शकार में भेद भी नहीं कर सकते फलतः सकृत् 'भुङ्क्ते' एकबार खाता के स्थान पर 'शकृद् भुङ्क्ते' मल खाता है यह अर्थ के स्थान पर अनर्थ कर देते हैं। वर्णोच्चारण का ज्ञान शब्द-अपशब्द प्रकृति-प्रत्यय तथा विविध शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया का ज्ञान व्याकरण से ही संभव हो पाता है। इसलिए व्याकरण को 'मुखं व्याकरणम् स्मृतं' कहा गया है। व्याकरण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भगवान् पतंजलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन बतलाए हैं। 'रक्षोहागमलंवसन्देहाः' प्रयोजनम् (महाभाष्य आ-1) इस प्रकार शुद्ध शब्दों के ज्ञान तथा उसके प्रयोग के लिए प्रायः सभी विद्वानों ने व्याकरण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भाषा शुद्ध हो, परिष्कृत हो इसके लिए विभिन्न संप्रदाय के विद्वानों ने अनेक व्याकरणशास्त्रों का निर्माण किया। यथा पालि-प्राकृत संस्कृत हिंदी इत्यादि। इन सभी विषयों के अनुयायियों ने अपने पक्ष को महान बताते हुए अपनी-अपनी भाषा को आदिभाषा होने का समर्थन किया। भाषायी दृष्टि देखने पर यह पता चलता है कि संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन है। इस पर प्रायः सभी विद्वान् एकमत भी हैं। कारण सभी विद्वान् वेदों को प्रामाणिक मानते हैं, जो कि संस्कृत भाषा में हैं। वेदों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किए हैं, वे इस प्रकार हैं।

प्रो॰ मैक्समूलर ने सन् 1859 ई॰ में अपने ग्रंथ History of ancient Sanskrit literature में वेदों के कालनिर्णय का प्रथम श्लाघनीय प्रयास किया। उनके अनुसार सर्वप्राचीन ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रम पूर्व में हुई। इस प्रकार वेद बौद्धधर्म के परवर्ती कदापि नहीं हो सकते।

जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने भी वेदों को सर्वज्ञानमयत्व मानते हुए यह युक्तिवाद प्रस्तुत किया है–महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नही ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ

गुणान्वितस्यसर्वज्ञात अन्यतः संभव अस्ति।

अर्थात् ऋग्वेदादि महान् शास्त्र अनेक विद्या स्थानों से विकसित हुआ है और यह प्रदीपवत् समस्त विषयों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार सर्वज्ञान संपन्न शास्त्र की उत्पत्ति स्थान ब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी से ऋग्वेदादि सर्वज्ञान संपन्न शास्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार इन उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा ही सबसे प्राचीन भाषा है। इस बात को मानने पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जैसा कि मैंने पूर्व ही कहा है कि भाषा शुद्ध हो परिष्कृत हो, इसके लिए व्याकरण के बिना हम शब्दों के साधुत्व, असाधुत्व तथा प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि को नहीं जान सकते। इत्यादि बातों का विचार भी मेरे मतानुसार संस्कृत भाषा के साथ-साथ सृष्टि के आदि में ही शुरू हो गया था। यदि हम ऋग्वेद के कुछ मंत्रों पर ध्यान दें तो इस मत की पुष्टि और भी प्रामाणिक रूप में हो जाती है। यथा–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मत्र्यां आ विवेश।

(ऋग्वेद 4.58.31)

अर्थात् इस वृषभ रूप शब्द महादेव के चार शृंग (चार प्रकार के पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) हैं। तीन पद (दो शब्द स्वरूप नित्य स्फोटात्मक और कार्य ध्वन्यात्मक) हैं। सात हाथ (सात विभक्तियाँ) हैं। तीन स्थानों (उर, कंठ और शिर) में बँधा हुआ यह वृषभ रूपी शब्द महादेव बार-बार शब्द करता है। और भी–

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विर्दुब्राह्मणो ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदंति।

(ऋग्वेद 1.164.45)

अर्थात् वाणी के चार नपे-तुले शब्द हैं। उनको जो मनीषि ब्राह्मण हैं, वे जानते हैं। उन चारों में से तीन गुहा में निहित होते हुए चेष्टित नहीं होते। वाणी के चौथे भाग को मनुष्य बोलते हैं। और भी–

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुशिरामिव।

(ऋग्वेद 118.69.12)

अर्थात् हे वरुण, तुम सुदेव हो, जिससे आपके काकुद (तालु) प्रति सात सिंधु (सात विभक्तियाँ) अनुक्षर्रति प्रकाशित होते हैं। जैसे–सुशिरा सूर्मि को अग्नि।

इत्यादि मंत्रों के ऊपर प्रकाश डाले तो यह तथ्य सामने आता है कि व्याकरण-संबंधी पद विभक्ति आदि सूक्ष्म तत्त्वों का बीज तो वेदों में ही निहित है। इसी का आश्रय लेकर लौकिक व्याकरण की उत्पत्ति हुई। महाभारत के युद्ध के पश्चात् जब वैदिकयुग का प्रायः अंत हो गया, समाज में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हो गईं तो पुनः महर्षि पाणिनी ने वैदिक सिद्धांतों के रक्षार्थ अष्टाध्यायी नामक व्याकरण के महान् ग्रंथ का प्रणयन किया जिसमें उन्होंने अपनी

 ISSN 0975-735X

स्वोपज्ञा में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को तथा व्याकरण के गूढ़ सिद्धांतों को भी प्रतिपादित किया। पाणिनि ने भाषा की जिस सूक्ष्मतम ईकाई का व्याकरण में आत्मसात् किया, कात्यायन के समय में उसमें कुछ परिवर्तन आ गया, जिसको दूर करने के लिए उन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया। इसी क्रम को जारी रखते हुए पतंजलि ने भी महाभाष्य की रचना कर पाणिनीय व्याकरण रूपी भवन को दृढ़ता प्रदान की। इस प्रकार इन तीनों मुनियों ने मिलकर व्याकरण रूपी सुदृढ़ भवन की स्थापना की, जिसके अनुसार भाषा की गाड़ी चल पड़ी और संस्कृत भाषा एक परिनिष्ठित भाषा बन गई। किंतु पुनः जब यह भाषा कालक्रम के अनुसार केवल विद्वानों की भाषा रह गई या फिर यह जनसामान्य से दूर होने लगी ठीक उसी वक्त उपभाषा कल्प सरल प्राकृत आदि भाषाओं का प्रयोग चल पड़ा, ऐसी स्थिति में संस्कृत भाषा स्खलित होने लगी। इसलिए विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्वानों ने इसके रक्षार्थ अपने ग्रंथों एवं उपदेशों को संस्कृत भाषा के माध्यम से ही विस्तार किया। पुनरपि जनसामान्य का इस भाषा से मोह भंग हो गया। जो कुछ साधारण जन विद्वानों से प्रभावित होकर संस्कृत पढ़ना चाहते थे, वे लाघव को न पाकर संस्कृत भाषा से विरत होने लगे। दूसरी ओर लोगों की सरलता एवं आकर्षण को ध्यान में रखते हुए कोई नातिदीर्घ व्यावहारिक व्याकरण हो ऐसा सोचकर शर्ववर्मा ने जनता की आवश्यकतानुसार त्रिमुनिकाल के बाद का तंत्र व्याकरण की रचना की। नतीजा यह हुआ कि लोग तंत्र व्याकरण की ओर अग्रसर होने लगे। कारण यह कि पाणिनीय व्याकरण को जब तक पूरा न पढ़ लिया जाए तब तक किसी भी क्षेत्र का ज्ञान संपूर्ण रूप में नहीं होता है। जैसे-समास के विषय में प्रौढ़ता हासिल करने के लिए कम-से-कम छह अध्याय का ज्ञान आवश्यक है। अष्टाध्यायी में समास प्रकरण द्वितीय अध्याय में है, किंतु समासांत प्रत्यय पंचमाध्याय में हैं। समास में पूर्वोत्तर पद को निर्मित मानकर होनेवाले कार्य का विधान षष्ठाध्याय के तृतीय पाद में है। कुछ कार्य प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और कुछ द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ा है। इस प्रकार समास से संबंधित कार्य अनेक स्थल पर विकीर्ण है। छात्र जब तक अष्टाध्यायी के कम-से-कम छह अध्याय ने पढ़ ले तक समास का ज्ञान उसको सम्यकतया नहीं होगा। इसप्रकार अष्टाध्यायी के बृहत् क्रम के ज्ञान को छोड़कर जब जनसामान्य लघुता के कारण का तंत्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी पाणिनीय व्याकरण के रक्षार्थ अष्टाध्यायी क्रम को उच्छिन्न कर किसी एक विषय के समस्त सूत्रों को एक जगह एकत्रित कर उसका व्याख्यान एक नए ढंग से प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार किसी विषय के ज्ञान के लिए उससे संबधित अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को एक जगह इकट्ठा कर जो व्याख्यान पद्धति का एक नया ढंग चला उसे ही प्रक्रिया क्रम कहा जाने लगा। प्रक्रिया क्रम के इस अध्ययन अध्यापन में अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ जिसमें धर्मकीर्ति का रूपावतार, विमल सरस्वती की रूपमाला, रामचंद्र की प्रक्रिया कौमुदी, भट्टोजीदीक्षित की सिद्धांत कौमुदी एवं नारायणभट्ट का प्रक्रिया सर्वस्व आदि महत्त्वपूर्ण है। आज इन्हीं ग्रंथों में ही प्रायः सर्वत्र अध्ययन अध्यापन कार्य चलता नजर आ रहा है। इन पाँचों ग्रंथों के अध्ययन करने पर बहुत सारी महत्त्वपूर्ण बाते हमारे सामने उपस्थित होती हैं यथा भट्टोजीदीक्षित की 'सिद्धांत-कौमुदी' के अतिरिक्त कोई भी ग्रंथ अपने संपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सका। कारण यह है कि प्रक्रिया पद्धति किसी एक दिन का

प्रयास न होकर शताब्दियों के प्रयासों का फल था। धर्मकीर्ति के बनाए हुए मार्ग पर चलते हुए भले ही विमल सरस्वती की रूपमाला ख्याति को प्राप्त नहीं हुई। किंतु इसके अनंतर रचित रामचंद्र की प्रक्रिया कौमुदी पूर्ण मुखरित होकर अध्येता के लिए ग्राह्य हुई। सर्वोच्चता के शिखर पर विद्यमान प्रक्रियामार्ग के मार्ग का अनुसरण कर तथा इसका पूर्ण लाभ लेते हुए महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार के लक्ष्मीधर के सुपुत्र भट्टोजीदीक्षित ने जहाँ 'सिद्धांत-कौमुदी' की रचना की, वहीं केरल देशांतर्गत नावा क्षेत्र के समीप निला नदी तटवर्ती झेल्युतूर ग्राम में उत्पन्न नारायणभट्ट ने 'प्रक्रियासर्वस्व' नामक ग्रंथ की रचना की। यद्यपि दोनों विद्वानों ने अपने ग्रंथों में प्रक्रिया कौमुदी को आधार बनाया तथा इसकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया। क्योंकि प्रक्रिया कौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेष नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए जहाँ भट्टोजीदीक्षित ने सिद्धांत कौमुदी की रचना की वहीं नारायण भट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व की। इन दोनों ग्रंथकारों की ग्रंथ निर्माण में प्रक्रिया कौमुदी और उसकी टीकाओं का स्थान-स्थान पर खंडन कर यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम् कहकर मुनित्रय के अतिरिक्त किसी को मान्यता नहीं दी वहीं प्रक्रियासर्वस्व के लेखक नारायणभट्ट ने अति उदार दृष्टि रखते हुए अन्य विद्वानों को पूर्ण स्थान दिया। इस प्रकार दोनों ग्रंथों ने पाणिनीय व्याकरण के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु प्रसिद्धि सिद्धांत कौमुदी को ही मिली। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रक्रियाग्रंथों का निर्माण शुरू हुआ, उस उद्देश्य की पूर्ति में सिद्धांत कौमुदी सफल नहीं हुई। कारण इसके शास्त्रीय विवेचन ने ग्रंथ को पाठकों के लिए दुर्बोध एवं क्लिष्ट बना दिया। पुनरपि 'सिद्धांत-कौमुदी' की ख्याति नष्ट होने बजाय धीरे-धीरे बढ़ती ही गई। इस कौमुदी से जहाँ भट्टोजीदीक्षित केा 'चन्द्रस्य कान्तीव कीर्तिं' की प्राप्ति हुई, वहीं इस ग्रंथ ने पाणिनीय व्याकरण को पाणिनीयेतर व्याकरणों से रक्षा करने में अहम भूमिका निभाई। इसकी ख्याति के कारण जहाँ पाणिनीय व्याकरण की ख्याति में कमी आई, वहीं अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने की बजाय प्रक्रिया-पद्धति से पढ़ने के लिए लोगों में उत्साह जारी किया। नतीजा यह हुआ कि लोग अष्टाध्यायी क्रम से विमुख होने लगे। सूत्रों की वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है? उनका पौर्वापर्य क्रम क्या है? इत्यादि विषयों की जिज्ञासा भी समाप्त होती चली गई। पुनरपि यह निर्विवाद सिद्ध है कि अष्टाध्यायी कंठाग्र किया हुआ व्यक्ति यदि सिद्धांत कौमुदी का अध्ययन करे तो वह उसका पूर्ण लाभ उठा सकता है एवं पाणिनीय व्याकरण की सूक्ष्मता को भी समझ सकता है–

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रम:
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भष्ये परिश्रम:।

इस प्रकार कौमुदी के अध्ययन के बिना कभी भी पाणिनीय व्याकरण का सूक्ष्म ज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रकार संस्कृत भाषा तथा व्याकरण का जो स्वरूप आज हमारे सामने उपलब्ध है, चाहे वह अष्टाध्यायी पद्धति हो या फिर प्रक्रियात्मक ग्रंथ निश्चय ही इसका बीज पाणिनी से पूर्व वेद आदि ब्राह्मण ग्रंथों में ही उद्‌भुत हो चुका, जिसका विकासात्मक रूप अष्टाध्यायी पद्धति या प्रक्रियात्मक ग्रंथ हमारे सामने उपलब्ध है। विकास की प्रक्रिया में व्याकरण शास्त्र ने दो महत्त्वपूर्ण आयाम प्राप्त किए।

 ISSN 0975-735X

एक अष्टाध्यायी पद्धति का युग तथा दूसरा प्रक्रियात्मक युग। यद्यपि ये दोनों रूप आज हमारे सामने उपलब्ध हैं फिर भी आज अष्टाध्यायी पद्धति से व्याकरण शास्त्र का पठन-पाठन बहुत कम जगहों पर ही देखने को मिल रहा है। सर्वत्र प्रक्रिया ग्रंथों के अनुसार ही आजकल विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों इत्यादि में पठन-पाठन का कार्य चालू है।

संदर्भ

1. द्रष्टव्य संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ॰ 601
2. पाणिनीय प्रक्रिया ग्रंथ पंचक मीमांसा, पृ॰ XVI

सुपुत्र श्री मुखलाल
ग्राम-खिरिया, थाना-शिकारपुर
पोस्ट नरकटिया गंज
जिला प॰ चंपारण, विहार
मो॰ 9931817452
vedanandvedanand@gmail.com

संत दादूदयाल के दार्शनिक विचार

उषादेवी मीणा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, जगत, जन्म, मोक्ष आदि दार्शनिक चिंतन के विषय रहे हैं। वैदिककाल से ही इन विषयों की जटिल गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। ये संपूर्ण विश्व के लिए रहस्य का विषय रहा है। कोई भी इस रहस्य को नहीं जान पाया। इस ओर प्रयत्न अनवरत जारी है। विज्ञान भी इस रहस्य को नहीं भेद पाया है।

संपूर्ण भारतीय वेदांत दर्शन इन्हीं विचारों से युक्त है। वेदांत साहित्य को आधार बनाकर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने मतों की स्थापना के द्वारा अपने चिंतन के माध्यम से इन दार्शनिक विषयों की व्याख्या कर इनके रहस्य को जानने का प्रयास किया है। मध्यकालीन भारत में संतमत का आविर्भाव होता है। ये संत निर्गुण ब्रह्म के उपासक रहे हैं। हिंदी साहित्य में इन निर्गुण उपासकों को 'संत' नाम से अभिहित किया गया है। इनमें से अधिकांश संत समाज के निम्न वर्गों से आए थे। अत: इन्हें क्रमबद्ध शिक्षा-प्राप्ति का अवसर नहीं मिला। इन संतों ने भी उपर्युक्त दार्शनिक विषयों पर अपने चिंतन को वाणी दी है और जनसाधारण को ध्यान में रखते हुए सरल भाषा में इन गूढ़ विषयों पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। इसी संत परंपरा में मध्यकालीन भारत में एक महान संत हुए हैं–दादूदयाल। इन्होंने भी उपर्युक्त विषयों पर अपने विचार अपनी वाणी में प्रकट किए हैं। दादू के विचार एक दार्शनिक की भाँति तर्क से व्यवस्थित या क्रमबद्ध नहीं हैं। क्योंकि वे भक्त हैं, दार्शनिक नहीं। उन्होंने अपने जीवनानुभव से ज्ञान प्राप्त किया और अपने इन विचारों को जनसामान्य की लोकप्रचलित भाषा में अभिव्यक्त कर दिया। अत: उनके दार्शनिक विचारों का आधार तर्क न होकर अनुभव है। इनके सिद्धांत स्वानुभूति पर आधारित हैं। अनुभूति के सूक्ष्म साँचे में ढलकर इनके निजी विचार सिद्धांतों का रूप धारण करते हैं। तर्क संदेह उत्पन्न करता है, जबकि भक्ति आस्था पर आधारित होती है।

अत: दादू ने बिना वाद-विवाद के पचड़े में पड़े परंपरा से प्राप्त दार्शनिक विचारों को ग्रहण कर उन्हें ही प्रस्तुत कर दिया है और उनके पक्ष में मौलिक तर्क दिए हैं। अत: उनके दार्शनिक विचार महत्त्वपूर्ण है, जिनका विवेचन निम्न प्रकार करेंगे–

1. ब्रह्म का स्वरूप

संत दादू निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। इनका ब्रह्म अगम-अगोचर, सर्वव्यापक, शून्य, परमपद आदि गुणों एवं संज्ञाओं से अभिहित है। इन्होंने ब्रह्म को राम, रहीम, अल्लाह, ईश्वर आदि नामों से संबोधित किया है। उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का परिचय देते हुए उसे सत्य

 ISSN 0975-735X

माना है और उसके अलावा सब असत्य है। वे ब्रह्म को सर्वत्र एक समान व्याप्त मानते हैं और उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्त्व अस्वीकार करते हैं। उनका यह विचार शंकर के अद्वैतवाद से मिलता है, जिसमें ब्रह्म ही सत्य है और जगत् असत्य। दादू ब्रह्म को निरंजन और निराकार मानते हैं, जो ब्रह्म के सकारात्मक होने का प्रमाण है। जबकि शंकराचार्य ने ब्रह्म को गुणों से रहित माना है।

दादू ने ब्रह्म को प्रकाशमय, निर्मल, नूर, तेजयुक्त माना है और उसका ज्ञान भी निर्मल है। ब्रह्म वह नीर है जिसमें प्राणी अपने दोष धोकर पवित्र होता है। जिस प्रकार मीन जल में रहकर प्रसन्न रहती है उसी प्रकार प्राणी भी ब्रह्म से मिलकर प्रसन्न रहते हैं–

ब्रह्म सुनि तहँ ब्रह्म है, निरंजन निराकार
नूर तेज तहँ जोति है, दादू देखणहार।[1]

दादू ब्रह्म को अगाध एवं अविगत कहते हैं उसे सगुण-निर्गुण रूप में नहीं देखना चाहिए क्योंकि वह अनिर्वचनीय है–

दादू राम अगाध है, अविगत लखै न कोइ
निरगुण सगुण का कहै, नांबू विलंब न होइ।[2]

दादू ब्रह्म को अखंड, अद्वैत, तेजस्वरूप मानते हैं और कहते हैं कि जैसा वह आदि में था वैसा ही अब है–

खंड-खंड निज नां भया, इकलस एकै नूर
ज्यूँ था त्यूँ ही तेज है, जोति रही भरपूर।[3]

दादू के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप वाणी का विषय न होकर अनुभव का विषय है। वह जगत में रहकर भी जगत के प्राणियों द्वारा अव्यक्त है। उसका वर्णन मौलवी, वेद, पुराण द्वारा संभव नहीं है।[4]

दादू के अनुसार ब्रह्म सभी के हृदय में निवास करता है परंतु मनुष्य उसे बाहर उस मृग की तरह ढूँढता है जिसकी नाभि में कस्तूरी है परंतु वह उसे बाहर ढूँढता फिरता है।

दादू सब घट मैं गोविंद है, संगि रहै हरि पास
कस्तूरी मृग मैं बसे, सूँघत डौले घास।[5]

दादू ने ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु उसे सरोवर का रूपक प्रदान किया है। राम का शून्य-सरोवर पूर्ण है और सर्वत्र व्याप्त है। उसके जल का पान कहीं भी किया जा सकता है और ऐसा करने से जीवन की संपूर्ण तृषा बुझ जाती है और आत्मा परम सुखी हो जाती है। उस शून्य-सरोवर का जल निरंजन स्वरूप है और मन मीन की भाँति उसमें रम जाता है। इस अलख अद्वैत, ब्रह्मरूपी जल में सदा विलास संभव है–

दादू हरि सरवर पूरण सबै, जित तित पाणी पीव
जहाँ तहाँ जल अचतां, गई तृषा सुख जीव।[6]
सुन्य सरोवर मीन मन, नीर निरंजन देव।
दादू यहु रस बिलसियें, ऐसा अलख अभेव।।[7]

इस शून्य-सरोवर को दादू 'सहज का सरोवर' भी कहते हैं और उसकी तरंगें प्रेम की

होती हैं, वहाँ आत्मा अपने स्वामी परमात्मा के साथ नित्य उसी प्रकार खेला करती है जिस प्रकार से हंस सरोवर में विहार करते हैं और दोनों अभेद रूप में एक रस हो जाते हैं–

परआतम सौ आतमा, ज्यूँ हंस सरोवर माँहि
हिलिमिलि खैलैं पीव सौ, दादू दूसर नाँहि।[8]

दादू अन्यत्र भी ब्रह्म के स्वरूप को व्यक्त कर कहते हैं कि वह सर्वत्र व्याप्त है उसके तेज के दीपक दशों दिशाओं में बिना तेल एवं बाती के जल रहे हैं। यह सैकड़ों सूर्यों का प्रकाश शीतल एवं सुखद है–

दहँ दिसि दीपक तेज के, बिन बाती बिन तेल।
चहुँदिसि सूरिज देखिए, दादू अद्‌भुत खेल।[9]

इसी प्रकार दादू उक्त प्रेम-तरंगों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इश्क व प्रेम ही 'अलह' या 'ईश्वर' की जाति है, वह उसका अंग स्वरूप और वही उसका रंग है और यही उसका अस्तित्त्व भी है–

दादू इसक अल्लह की जाति है, इसक अल्लह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग।[10]

2. **आत्मा या जीव**

संत दादू ने आत्मा को जीव भी कहा है। उन्होंने ब्रह्म को आत्मा माना है। यह विचार शंकर के अद्वैतवाद से साम्य रखता है। दादू ने आत्मा एवं ब्रह्म को एक माना है। दादू कहते हैं कि जब आत्मा अपने नेत्रों से स्वयं को देखती है तभी वह ब्रह्म/परमात्मा हो जाती है–

अपने नैंनहु आप कौ, जब आत्म देखै
तहँ दादू पर आत्मा, ताही कूँ पेखै।[11]

दादू ने इन दोनों के अभेद को इस उदाहरण द्वारा समझाया है जैसे पानी में नमक मिलता है तो दोनों एक हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्म एवं आत्मा का मिलन होता है–

परआतम सौ आतमा, ज्यौं पाणी मैं लूंण
दादू तन मन एक रस, तब दूजा कहिय कूंण।[12]

इसी प्रकार अन्यत्र भी दादू इस तथ्य को अन्य उदाहरण द्वारा अभिव्यक्त करते हैं कि ब्रह्म एवं जीव का संबंध उसी प्रकार का है जैसे जल में आकाश का प्रतिबिंब होता है और आकाश में जल है और जैसे दर्पण में मुख देखते हैं और पानी में अपना प्रतिबिंब। उसी भाँति ब्रह्मा सबकी आत्माओं में रहता है। उसका प्रतिबिंब अंत:करण में आत्म-रूप से रहता है–

क्रमश: दादू जल मैं गगन, गगन मैं जल है, पुनि वै गगन निराल।
ब्रह्म जीव इहिं विधि रहें, ऐसा भेद विचार।।[13]
ज्यूँ दर्पन मैं मुख देखिए, पानी मैं प्रतिबिंब।
ऐसे आतम राम है, दादू सब ही संग।[14]

संत दादू कहते हैं कि जब पूर्ण ब्रह्म का विचार करके देखा जाए तो आत्मा की एकता के कारण कोई भेद भाव नहीं, किंतु शरीर की दृष्टि से देखा जाए तो अनेक ही दिखते हैं–

जब पूरण ब्रह्म विचारिए, तब सकल आतमा एक।

 ISSN 0975-735X

काया के गुण देखिए, तो नाना वरण अनेक।[15]

इसी प्रकार दादू कहते हैं कि सभी घट एवं शरीर में एक ही आत्मा व्याप्त है और हिंदू-मुसलमान अथवा स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं है–

दादू सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नांही आन।
सब घट एके आतमाँ, क्या हिंदू मुसलमान।[16]
दादू नारि पुरिष का गाँव धरि, इहै संसै भरमि भुलाँन।
सब घटि एके आतमाँ, क्या हिंदू मुसलमान।[17]

दादू कहते हैं कि जब मेरा ब्रह्म से मिलन/साक्षात्कार होने पर मेरा सारा भ्रम नष्ट हो गया। वे कहते हैं कि 'आपके प्रत्यक्ष दर्शन के अनुभव से मुझे किसी भी तरह का भेद नहीं नजर आ रहा, सबके प्राण, रक्त-माँस, आँखें, नाक भी वे ही हैं। सहजावस्था की प्राप्ति के कारण कानों में शब्द की धुन एक ही भाँति सभी में सुनाई पड़ती है, सभी की जीभ मीठे का रस लेती है, वही भूख सभी को लगती है, वे ही हाथ-पाँव, वे ही शरीर सबके एक जैसे हैं। पहले मुझे ये सब अलग प्रतीत होते थे परंतु अब मैं इन्हीं में एकता का अनुभव कर रहा हूँ मुझे अब हिंदू-तुरक में कोई भेद नहीं दीख रहा है–

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिंदू तुरक भेद कुछ नाँही, देखूँ दर्शन तोरा।।टेक।।
सोई प्राण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मांसा।
सोई नैंन नासिका सोई, सहजै कीन्ह तमासा।
श्रवणौं सबद बाजता सुणीयें, जिभ्या मीठा लागै।
सोई भूख सबनि कौ ब्यापै, एक युक्ति सोइ जागै।
सोई संधि बंध पुनि सोई, सोई सुख सोई पीरा।
सोई हस्त पाव पुनि सोई, सोई एक सरीरा।
यहु सब खेल खालिक हरि तेरा, तैं ही एक करि लीनां।
दादू जुगति जांनि कर ऐसी, तब यहु प्राण पतीनां।[18]

3. जगत-संबंधी विचार

संत दादूदयाल के जगत-संबंधी विचार उनकी रचनाओं में मिलते हैं। दादूदयाल ने ब्रह्म को ब्रह्म-शून्य, ब्रह्म-निरंजन निराकार अथवा ज्योतिर्मय तत्त्व बताया है–

ब्रह्म सुनि तहँ ब्रह्म है, निरंजन निराकार।
नूर तेज तहँ जोति है, दादू देखणहार।[19]

दादू ने चार शून्य माने हैं, इनमें से तीन शून्य में जगत का निवास है और चतुर्थ शून्य में ब्रह्म का निवास है। उसे 'परम शून्य' भी कहा गया है–

दादू तीनि सुनि आकार की, चौथी निर्गुण नाँव।
सहज सुनि मैं रमि रह्या, जहाँ वहाँ सब ठाँव।[20]

इस परम शून्य से सब उत्पन्न होता है। सूर्य, चंद्र, आकाश, पानी, अग्नि, पवन, धरती काल, कर्म, माया, मन, जीव, घट, श्वास आदि की उत्पत्ति होती है और उसी में सभी का लाभ

भी होता है–

दादू जहाँ थैं सब ऊपजैं, चंद सूर आकास।
पानी पवन पावक किये, धरती का परकास।
काल करम जिव ऊपजैं, माया मन घट सास।
तहँ रहिता रमिता राम है, सहज सुनि सब पास।[21]

दादूदयाल ने इस जगत की उत्पत्ति का कारण भी बताया है वह है–रहस्यमय विनोद या परमानंद, और इस संदर्भ में उन्होंने प्रभु से जिज्ञासा भी की है। वे कहते हैं कि सृष्टिकर्ता प्रभु निरंतर खेल किया करता है जिसे कुछ बिरले मनुष्य ही समझ पाते हैं, उस प्रभु को कुछ भी लेने में नहीं बल्कि सब कुछ देने में अति आनंद मिलता है और यही आनंद इस जगत की उत्पत्ति का मूल कारण है–

क्यौं कर यहु जग रच्यौ गुसांई।
तेरे कौन विनोद बन्यौं मन मांहीं।।टेक।।
के तुम आपा प्रगट करणाँ, के यहु रचि ले जीव उधरणाँ।
के यहु तुम्ह कौ सेवग जानै, के यहु रचि ले मन के मानैं।
के यहु तुम्ह कौ सेवग भावैं, के यहु रचि ले खेल दिखावै।
के यहु तुम्ह कौ खेल पियारा, के यहु भावै कीन्ह पसारा।
यहु सब दादू अकथ कहाणी, कहि समझावौं, सारं पानी।[22]

दादू अपनी वाणी में एक अन्य स्थान पर यह भी कहते हैं कि जगत की उत्पत्ति का मूल तत्त्व है–'ओंकार' शब्द। जिसे परमात्मा ने स्वयं उत्पन्न किया और इस रहस्यमय शब्द के द्वारा ही पंच तत्त्वों का निर्माण हुआ और शरीरों की रचना हुई। जीवों में गुणों के आधार पर 'मैं' आदि की भेदमयी दृष्टि से इनका क्रमिक विकास हुआ। और पंच तत्त्वों की निर्मिति का कारण यही 'ओंकार' शब्द कार्यरूप जीव होकर बोलता है। परंतु दादू ने कहा कि यह सब माया है। यह परम तत्त्व नहीं है। यह व्यक्त एवं साकार तत्त्व है अव्यक्त तत्त्व तो निरंजन एवं निराकार होता है–

पहली कीया आप थैं, उत्पत्ति ओंकार।
ओंकार थै ऊपजैं, पंच तत्त आकार।
पंच तत्त थैं घट भया, बहुविधि सब विस्तार।
दादू घट थै, ऊपजै, मैं तै बरण विचार।[23]
निरंजन निराकार है, ओंकार आकार।
दादू सब रंग रूप सब, सब विधि सब विस्तार।
आदि सबद ओंकार है, बोले सब घट माहिं।
दादू माया बिस्तरी, परमं तत्त यहु नाहिं।।[24]

दादू ने ब्रह्म को ही सत्य माना और जगत् को सत्य नहीं माना क्योंकि जगत में सब कुछ उत्पन्न एवं नष्ट होता रहता है। दादू ने इसे एक स्वप्न बताया है जो जागते ही नष्ट हो जाता है–

साहिब है पर हम नहीं, सब जग आवै जाइ
दादू सुपिनां देखिए, जागत गया बिलाइ।।[25]

 ISSN 0975-735X

संत दादूदयाल का जगत की उत्पत्ति का सिद्धांत भारतीय दर्शन परंपरा में नहीं मिलता है। शंकराचार्य ने जगत की उत्पत्ति का क्रम नहीं बताया है। जबकि दादू ने इसका क्रम बताया है– परम तत्त्व ने पहले 'ओंकार' शब्द को उत्पन्न किया और इसी रहस्यमय शब्द से जगत की उत्पत्ति बताई है।

4. मोक्ष-संबंधी विचार

दादू वाणी में दादूदयाल के मोक्ष-संबंधी विचार भी मिलते हैं जो अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। उन्होंने 'मोक्ष' का अर्थ जीव या आत्मा का ब्रह्म हो जाना माना है। दादू ने जीव और ब्रह्म दोनों को एक माना है। शंकर के मोक्ष सिद्धांत से दादू के मोक्ष-संबंधी विचार मिलते हैं। आत्मा जब अपना स्वरूप पहचान लेती है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। दादूदयाल मरने के पश्चात् मोक्ष-प्राप्ति में विश्वास नहीं रखते। वे जीवित अवस्था में ही मुक्ति-प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं कि जब मनुष्य या आत्मा को पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तो उस स्थिति को ही 'जीवनमुक्त' की दशा कहते हैं। उन्हें मृत्यु के बाद मुक्त होने में विश्वास नहीं है। वे कहते हैं कि निरंजन के समीप पहुँचते ही मैं जीवनमुक्त हो गया। जीवित रहते ही राम की प्राप्ति से ही दादू जीवन की सफलता सिद्ध मानते हैं।

निकटि निरंजन लागि रहे।
तब हम जीवत मुकति भये।।टेक।।
मरि करि मुकति जहाँ जग जाइ, तहाँ न मेरा मन पतियाइ।
आगै जनम लहै औंतारा, तहां न मानै मन हमारा।
तन छूटे गति जौ पद होई, मृतक जीव मिलै सब कोई।
जीवत जनम सुफल करि जानां, दादू राम मिले मन मानां।[26]

संत दादूदयाल कहते हैं कि मनुष्य जीवन का मूल उद्धेश्य परमात्मा की प्राप्ति है और इसके लिए मनुष्य को सभी प्रकार के सांसारिक बंधनों से मुक्त रहकर परमात्मा राम का स्मरण-चिंतन करना चाहिए। इसके लिए दादू ने राम की 'सहज-साधना' करने एवं 'सहजावस्था' की प्राप्ति को ही परम लक्ष्य बताया है। अर्थात् 'सहज-साधना' से परम ब्रह्म रूपी निर्गुण राम की प्राप्ति संभव है, और इस साधना हेतु किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं है इसके लिए जो साधन चाहिए वे हमारे शरीर के भीतर ही मौजूद है।

दादू कहते हैं कि इस दशा में पहुँचने पर केवल आंतरिक परिवर्तन ही आत्मा में होते है जिससे अहं का परदा हट जाता है और सारा भ्रम नष्ट हो जाता है और आत्मा परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लेती है। इसे दादू ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

जब पूरण ब्रह्म विचारिए, तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिए, तौ नाना वरण अनेक। [27]

दादू कहते हैं कि उपर्युक्त 'सहजावस्था' की प्राप्ति हेतु तन-मन का मान-मर्दन करके इन्हें अपने वश में करना होता है जिससे आत्मा प्रेम-रस (परमात्मा रूपी प्रेमी) का आस्वादन करने लगती है–

पहली तन मन मारिये, इनका मरदै मान

दादू काढ़ै जंत्र मैं, पीछैं सहज समान
जीवत माटी मिलि रहै, सांई सन्मुख होइ
दादू पहली मरि रहै, पीछै तौ सब कोइ।[28]

दादू कहते हैं कि 'सहजावस्था' के द्वारा 'राम' या परमब्रह्म की प्राप्ति होने पर आत्मारूपी 'राम का रसिक', 'राम रस' में लीन होकर निर्विकार ब्रह्म स्थिति को प्राप्त करते हुए राम-रसायन रस अमृत से मस्त होकर रहता है और वह कभी नरक में नहीं जाता है। वह तो निश्चित ही ब्रह्मरूप हो जाता है।

रस के रसिया लीन भये।
सकल सिरोमणि तहां गये।।टेक।।
राम रसांयन अमृत माते, अविचल भये नरक नहिं जाते।
राम रसांयन भरि भरि पीवै, सदा सजीवन जुग-जुग जीवै।
राम रसांयन त्रिभुवन सार, राम रसिक सब उतरे पार।
दादू अमली बहुरि न आये, सुख सागर ता मांहि समाये।[29]

अन्यत्र भी दादू कहते हैं कि 'सहजावस्था' की प्राप्ति होने पर मनुष्य जीवित अवस्था में ही शव के समान हो जाता है। वे कहते हैं कि राजा-रंक सभी मरेंगे, जो सब तरह के अहंकार को त्यागकर तथा ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीवित है, वही ब्रह्म रूप होने से मरकर भी जीवित कहा जाता है–

राव रंक सब मरहिंगे, जीवै नाँही कोइ।
सोई कहिये जीवता, जे मरिजीवा होइ।।[30]

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत हम कह सकते हैं कि संत दादूदयाल के दार्शनिक विचार भारतीय वेदांत दर्शन, श्रीमद्भगवद्गीता एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद से साम्य रखते हैं। इन्होंने परमात्मा को ही संपूर्ण जगत का सृजनकर्त्ता, पालक एवं संहारक माना है। वह स्वयं इस संपूर्ण जगत एवं प्रकृति में व्याप्त है और इस सृष्टि का नियमनकर्ता है। प्रत्येक चराचर जगत् में परमात्मतत्त्व व्याप्त है और वही प्रत्येक प्राणी में ध्वनित हो रहा है। माया के आवरण के कारण मनुष्य की आत्मा एवं परमात्मा में भेद है। जब गुरु के ज्ञानरूपी दीपक से यह आवरण हट जाता है तो आत्मा-परमात्मा की एकता, जो कि मनुष्य के जीवन का उद्धेश्य है कि प्राप्ति संभव हो जाती है। परमात्मा ही जगत में सत्य, शाश्वत एवं सारवान तत्त्व है और संपूर्ण जगत एवं जगत के पदार्थ निस्सार एवं क्षणभंगुर हैं। अतः दादू के दार्शनिक विचार भारतीय दार्शनिक चिंतन परंपरा के अनुकूल भी हैं। इन्होंने प्रेमाभक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति मानी है।

संदर्भ

1. श्री दादू वाणी, म०अ० आत्माराम स्वामी, श्री दादू द्वारा, बगड, (संस्करण 1994) परिचय को अंग, 4/130, पृ० 287
2. वही, स्मरण को अंग 2/17, पृ० 106
3. वही, परिचय को अंग 4/106, पृ० 278
4. वही, राग आसावरी-9, 244, पृ० 334
5. वही, कस्तूरिया मृग को अंग, 31/3, पृ० 1200

 ISSN 0975-735X

6. वही, परिचय का अंग 4/62, पृ॰ 259
7. वही, परिचय का अंग 4/65, पृ॰ 260
8. वही, परिचय का अंग 4/72, पृ॰ 263
9. वही, परिचय का अंग 4/87 पृ॰ 270
10. वही, विरह का अंग 3/152, पृ॰ 227
11. वही, परिचय का अंग 4/27 पृ॰ 243
12. वही, परिचय का अंग 4/164, पृ॰ 300
13. वही, विचार को अंग 18/2, पृ॰ 884
14. वही, विचार को अंग 18/3, पृ॰ 886
15. वही, साँच को अंग 13/124, पृ॰ 739
16. वही, दया निर्बरता के अंग, 29/5 पृ॰ 1169
17. दादू समग्र, गोविंद रजनीश, दया निर्बरता को अंग, पृ॰ 553, अमर सत्य प्रकाशन दिल्ली-2007
18. श्री दादू वाणी, म॰अ॰ आत्माराम स्वामी, श्री दादू द्वारा, बगड, (सं॰ 1994), राग गौडी, 65, पृ॰ 88
19. वही, परिचयको अंग, 4/130, पृ॰ 287
20. वही, वही, 4/50, पृ॰ 252
21. वही, परिचय का अंग, 4/54, 55 पृ॰ 256
22. वही, राग असावरी, पद 234, पृ॰ 320
23. वही, सबद कौ अंग, 22/8,9
24. वही, सबद कौ अंग, 22/11,12, पृ॰ 992,993
25. वही, माया को अंग, 12/2, पृ॰ 597
26. दादू समग्र-1, गोविंद रजनीश, राग गौड़ी, पद 52, पृ॰ 115
27. श्री दादू वाणी, म॰अ॰ आत्माराम स्वामी, श्री दादू द्वारा, बगड, (संस्करण 1994), साँच को अंग, 13/124, पृ॰ 739
28. वही, जीवत-मृतक कौ अंग, 23/4, पृ॰ 1005,1027
29. वही, राग गौडी, पद 60, पृ॰ 82
30. वही, जीवत-मृतक कौ अंग, 23/10, पृ॰ 1009

द्वारा श्री गोपाललाल मीणा
ग्राम-कल्लावाला, पोस्ट वाटिका
तह॰ सांगानेर, जयपुर (राज॰) 303905
मो॰ 7073719634
ईमेलः anuradhajarwal@gmail.com

मंजुल भगत के कथासाहित्य में दमन, आतंक एवं उग्रवाद

डॉ॰ नर्मदा रावत

जी श्वार्जन बर्गर की दृष्टि में–'आतंकवाद भय पैदा करने के उद्देश्य से शक्ति का प्रयोग करना और इस प्रकार अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना। वस्तुतः संकुचित दृष्टि ही आतंकवाद की जननी है। हमारी स्वार्थबद्धता की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है जो अंततः आतंकवाद के पोषण एवं प्रसार में सहायक बनते हैं। जैसे–क्षेत्रवाद, धर्मांधता, ऐतिहासिक घटनाएँ, भौगोलिक कारण सामाजिक एवं सांस्कृतिक टकराव, आर्थिक विषमता, भाषायी मतभेद, समन्वय की कमी, अन्याय की तीव्रता, न्यायपालिका की दुर्बलता तथा संगठनों, सरकारी संस्थानों एवं प्रशासनिक विभागों की निष्क्रियता नैतिक पतन या जीवनमूल्यों का अवमूल्यन शिक्षा तथा अपराध का राजनीतिकरण आदि।'[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आकलन किया जाए तो यथार्थ में आतंकवाद रुग्ण सामाजिक व्यवस्था का उत्पाद है। जब सामाजिक व्यवस्था पर लंबे समय तक ध्यान नहीं दिया जाता है तो अपनी बात मनवाने हेतु व्यक्ति वायुयानों का अपहरण करना, निरीह लोगों को बंधक बनाना, अनायास ही लोगों की हत्या करना, धार्मिक स्थलों में गंदगी फैलाना या कार्यों में अवरोध उत्पन्न करना, विधिपालक नागरिकों में भय का संचार करना आदि घिनौनी हरकत करता है।

आतंकवाद रूपी जहरीले सर्प ने केवल हमारे राष्ट्र को ही नहीं डसा, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र का एक-एक कोना इसके दंश से प्रभावित है। समाज में घटित अनेक मर्मांतक घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जो सुरक्षा की दृष्टि से पूरे विश्व के लिए चुनौती बन गई हैं। शांति व्यक्ति समुदाय से कोसों दूर जाती नजर आ रही है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति दहशत व भय से आतंकित है। पता नहीं कौनसा पल तबाही और आतंक रूपी तूफान लेकर आ जाए।

तनवीर जाफरी धार्मिक आतंकवाद के कारणों का बयान करते हैं–'आतंकवादियों का जीवनवृत्त बताता है कि वे अधिकांशतः बेरोजगार होते हैं और पैसे के लालच में घृणित काम करते हैं। इस्लामी शिक्षा के नाम पर उन्हें मुल्लाओं के द्वारा सिखाया जाता है कि वे खुदा की राह में जेहाद कर रहे हैं। उन मुस्लिम युवकों को विश्वास दिलाया जाता है कि जेहाद की राह चलने पर इंसान के दोनों हाथों में लड्डू रहता है अर्थात् यदि उन्होंने हत्या की तो गोया उन्होंने खुदा या गाजी की राह में नेक काम किया।'[2]

आज दिनों-दिन आतंकवाद बढ़ता जा रहा है। विभिन्न धर्मावलंबियों ने धर्म की आड़ लेकर राष्ट्र में उग्रवाद फैलाया है। भारत में आतंकवाद की शुरुआत 1969 के नकसली विद्रोह से मानी जा सकती है। दरअसल, नक्सलवादी आंदोलन माओवादी विचारधारा उग्रवाद से ही

 ISSN 0975-735X

जन्मा था। आतंकवाद आज देश के लिए गंभीर संकट बन गया है। जगह-जगह बम-विस्फोट कर निर्दोष लोगों का खून बहाया जा रहा है। मुंबई 26/11/08 को हुए 'ताज होटल' में अनेक लोगों की जानें गईं। अनेक जवान शहीद हो गए। अभी 16 जुलाई 2009 के 'दैनिक जागरण' में यह खबर फिर से सुर्खियों में आ गई कि 'मुंबई पर फिर मँडरा रहा आतंकी हमले का खतरा।' 'लश्कर ए-तैयबा' के निशाने पर इस दफा मुंबई स्थित भारतीय रिजर्व बैंक का मुख्यालय समेत सात सामाजिक, आर्थिक व पर्यटक स्थल हैं। खुफिया ब्यूरो ने मुंबई व सुरक्षा एजेंसियों को इस बारे में सतर्क कर दिया है।'[3]

संपूर्ण विश्व आतंक व उग्रवाद की दहशत से आतंकित है। 'गुटनिरपेक्ष' देशों के शिखर सम्मेलन में सभी राष्ट्र शांति का प्रस्ताव रखते हैं। आतंकवाद को जड़ से मिटाने की बात करते हैं, फिर भी आएदिन दमन आतंक व उग्रवाद अपना रौद्र तांडव दिखाकर सामाजिक गतिविधियों को तहस-नहस कर देता है।

मंजुल भगत समाज की गतिविधियों से अनभिज्ञ नहीं थीं। उन्होंने (1970 से 1998 तक) सप्तम दशक से नवम दशक तक समाज की प्रत्येक गतिविधि को अपनी पैनी दृष्टि से देखा-परखा है। उस समय की सामाजिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण उन्होंने अपने कथासाहित्य में प्रतिस्थापित कर समाज के प्रत्येक पहलू से अवगत कराने में सफलता प्राप्त की। सन् 1983 में प्रकाशित 'खातुल' उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने आतंकवाद की विभीषिका का यथार्थ चित्रण किया है। लेखिका ने अफगान-प्रवासी परिवारों और विस्थापितों की जो अफगानिस्तान पर रूसी आक्रमण के बाद दिल्ली आकर बस गए थे, 'खातुल' नायिका के माध्यम से आतंक की त्रासदी से पीड़ित लोगों की मनोदशा का यथार्थ चित्रांकन और द्वंद्व का चित्रण कर अपनी अंतर्दृष्टि व लेखन-कुशलता से प्रत्येक जन को भाव-विह्वल किया है। समाज में व्याप्त आतंक व उग्रवाद का मर्मस्पर्शी आख्यान उन्होंने अपनी रचना 'खातुल' में प्रस्तुत किया है। आतंक का दंश भावुक व्यक्तित्व को पूरी तरह से झकझोर देता है, 'खातुल' व उसका परिवार इसका जीता-जागता उदाहरण है।

'खातुल' एक आतंक पीड़ित महिला के त्रस्त संवेगों की मार्मिक रचना है। यही नहीं 'खातुल' में लेखिका ने अफगान परिवार एवं हिंदू परिवारों में भावात्मक एवं आत्मीय रिश्ता दर्शाया है। धर्म, जाति, भाषा एवं संस्कारों की चिंता न कर आपस में सीधा सरल मानवीय संबंध प्रदर्शित कर मासूमियत का नूतन संकेत भी दिया है। मंजुल भगत ने आतंकवादियों व दहशतगर्दियों के आतंक का यथार्थ चित्रांकन 'खातुल' उपन्यास में निम्न अंशों में किया है—अंगोमा नन्ही बालिका आतंकवादियों की दहशत से मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाती है कि उसके मुँह से आवाज नहीं आती। बस उसकी आँखों में एक ही भयानक दृश्य रहता है—'रूसी फौजियों के बूटों की भयावह ठक-ठक। उनकी रायफलों से दगती जान-मारू गोलियाँ। दहाड़ती हुई मुख-मुद्रा और वहशियाना हुक्म।'[4]

बुलबुल-सी चहकने वाली अंगोमा अब बेबस डरी-सहमी कलपती सिमटकर रहने लगी। उसे उस त्रासदी के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं देता। आतंकवादियों द्वारा दादा का खून, दनदनाते हुए गुस्सैल बूट, खौफनाक मुख-मुद्रा अंगोमा की याददाश्त से बिंध गए हैं। यही

स्थिति विश्व में न जाने कितनी अंगोमा की होगी। आतंक व उग्रवाद से तहस-नहस घर, राज्य, राष्ट्र, विश्व कोई भी इससे बचा नहीं। मंजुल भगत ने 'स्याह घर' कहानी में दंगे से जले घर, पत्नी व बेटे की मृत्यु आदि का मार्मिक चित्रण किया है। आतंकवाद व उग्रवाद रूपी विभीषिका में असंख्य लोगों के घर उजड़ गए; असंख्य तबाह हो गए और महिलाओं पर अत्याचार चरम सीमा तक बढ़ता जा रहा है। मुस्लिम महिलाओं को शिक्षा से वंचित किया जा रहा है। पर्दा-प्रथा को मुस्लिम समाज महत्त्व दे रहा है।

समाज में व्याप्त दमन, आतंक, उग्रवाद जैसी व्याधियों पर रोक लगाने के उद्देश्य से मंजुल भगत ने अपने कथा-संसार में इन व्याधियों का यथार्थ चित्रांकन कर जन-जन में चेतना का संचार किया। भगत की लेखिनी का सकारात्मक पक्ष यह भी है कि सांप्रदायिक सद्भावना, प्रेम, सहयोग में ओत-प्रोत साहित्य की रचना कर, जन-जन में आपसी भाई-चारा को बढ़ावा दिया है। इस प्रकार की उल्लेखनीय रचनाएँ 'बेगाने घर में', 'खातुल' व 'कबाड़' आदि हैं।

'बेगाने घर में' उपन्यास में लेखिका ने एक ही कोठी में अनेक धर्म-जाति के लोगों को एक साथ प्रेमपूर्वक रहते दिखाया है, वे एक-दूसरे के धर्म-जाति का आदर करते हैं। भाई-चारे की भावना व्यक्त कर खुशहाल जीवनयापन करते हैं। इस प्रकार मंजुल भगत एक आदर्शवादी कथाकार सिद्ध होती हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ नगेंद्र सिंह, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद और साहित्य, पृ॰ 41
2. तनवीर जाफरी, राजस्थान पत्रिका, इस्लामी आतंकवाद की समस्या, (18.11.2004) पृ॰ 45
3. दैनिक जागरण (16.07.2009), पृ॰ 1
4. मंजुल भगत समग्र कथासाहित्य, खातुल, कमलकिशोर गोयनका, पृ॰ 138

 ISSN 0975-735X

आली मोहि लागत बृंदाबन नीको

डॉ॰ महीपाल सिंह राठौड़
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

मीरा श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त हैं। उनके आराध्य गिरधर गोपाल हैं और वे उन्हें ही रिझाती हैं। ब्रजभूमि कृष्ण और गोपियों की रासलीला भूमि है, जहाँ कृष्ण ने गाएँ चराई हैं, माखन चुराया है, ग्वाल-बालों के संग गेंद खेली है और कालिया नाग को नथा है। इसीलिए ब्रज प्रदेश का हर पेड़, नदी, नाला, पर्वत, पशु, पक्षी सभी भक्तजनों को प्रिय है।

जिस तरह रामचरितमानस की भाषा अवधी है। उसी तरह कृष्णभक्तों की भाषा ब्रज है मीरा ने जहाँ कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग प्रकट किया है, वहाँ उन्होंने ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा कोमलकांत पदावली की भाषा है। मीरा को वृंदावन की कुंज गलियों से मोह है। वे कृष्ण को कुंज गलियों में ढूँढती हैं।

ब्रज अथवा ब्रज शब्द संस्कृत धातु 'व्रज' से बना है, जिसका अर्थ 'गतिशीलता है। व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति ब्रज:/जहाँ गाएँ नित्य चलती अथवा चरती हैं, वह स्थान भी 'व्रज' कहा गया है। कोशकारों ने ब्रज के तीन अर्थ बतलाए हैं—गोष्ठ (गायों का खिरक), मार्ग और वृंद (झुंड)। इनसे भी गायों से संबंधित स्थान का ही बोध होता है। इसी संस्कृत शब्द 'व्रज' से हिंदी रूप 'ब्रज' बना है।[1]

ब्रजभाषा का अन्य नाम ब्रजभाखा भी है। दक्षिणी-भरतपुर, करौली तथा पूर्वी-जयपुर की गूजर जातियाँ भी ब्रजभाखा-भाषी हैं। इनकी बोली में अनेक स्थानीय विशेषताएँ हैं। वास्तव में इधर की ब्रजभाखा में राजस्थानी का सम्मिश्रण मिलता है और इस प्रकार यह राजस्थानी तथा ब्रजभाखा के बीच की कड़ी है।[2] गुजराती और राजस्थानी में इतना घनिष्ठ संबंध है कि भाषाशास्त्री उसे एक ही मानते हैं।[3]

मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। परंतु सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—नरसी जी का मायरा, गीतगोविंद टीका, रागगोविंद, रागसोरठ के पद।[4]

मीराबाई मेड़ता व मेवाड़ से लेकर कुछ दिनों तक वृंदावन में भी रह चुकी थीं। अतएव उनकी रचनाओं में उन स्थलों की भाषाओं के प्रयोगों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।[5]

मीरा 1538 ई॰ के बाद ही वृंदावन तीर्थयात्रा करने गई होंगी।[6]

विविध भक्तिधाराओं में हमें ऐसे बहुत से कवि मिलते हैं, जिनकी रचनाएँ किसी एक भाषा या बोली में न होकर कई भाषाओं या बोलियों में मिलती हैं। कवियों ने एक तो उस युग

की प्रधान भाषा ब्रजभाषा में भी काव्य-रचना की और अपनी मातृभाषा में भी तथा अपने निवास-भूमि की भाषा में भी। मीरा को हम इसी तीसरी कोटि का मानते हैं। इस नाते वे ब्रजभाषा में भी पद-रचना करती थीं। ब्रजभाषा इस युग में सर्वत्र सामान्य भक्ति की भाषा थी। हम उन्हें ब्रजभाषा का भी कवि मानते हैं।[7]

मीरा के फुटकल पदों में बहुत से पद राजस्थानी भाषा के दिखाई पड़ते हैं, किंतु ब्रजभाषा में लिखे पदों की संख्या भी कम नहीं है। इसी तरह के पद मीराबाई की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद अथवा नरोत्तम स्वामी के ग्रंथ 'मीरा मंदाकिनी' में काफी संख्या में मिल सकते हैं। नीचे एक पद दिया जाता है–

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
रैन पड़े ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।[8]

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ब्रजवासी श्याम-सलोने के प्रणय में अपना सर्वस्व समर्पित कर सभी से नाता तोड़ देने वाली मीरा ने, अपने भक्तिभाव के लिए मातृभाषा के साथ ब्रजभाषा को भी अपनाया होगा।[9]

मीराँ पदावली में ब्रजभाषा के शब्दों या उससे प्रभावित शब्द-रूपों का भी प्रयोग हुआ है, जो ब्रज की व्यापकता, उसके लालित्य एवं भक्ति के संदर्भ में उसकी सहज लोकप्रियता का ही घोतक हैं।[10]

वृंदावन महिमा वृंदा (तुलसी) के वन ब्रज की विशेषता है। मीरा ने उसे पहचाना है[11]

आली, मोहि लागत बृंदाबन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दर्शन गोविंदजी को।
निर्मल नीर बहत यमुना को, भोजन दूध-दही को।
रत्न-सिंहासन आप बिराजे, मुकुट धर्‌यो तुलसी को।
कुंजन कुंजन फिरत राधिके, शब्द सुनत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, भजन बिना नर फीको।[12]

मीरा का मन साँवरी सूरत से लगा है, इसलिए वह ब्रज में अंत समय तक रहकर श्रीकृष्ण का ध्यान लगाना चाहती हैं–

साँवरी सूरत पर तिलक बिराजे, वाही से लाग्यो मेरो ध्यान।
सुरनर मुनिजन ध्यान धरत हैं, गावत वेद पुरान।
मीरा ने प्रभु दरसण दीज्यो, बृज तज अंत न जान।[13]

कृष्ण के सिर पर केशर का टीका है और उन्हें मोरमुकुट पीतांबर शोभायमान हो रहे हैं। बृंदावन में गाएँ बहुत हैं और दूध-दही के भोजन की कोई कमी नहीं है। वहीं मीरा का मन रमता है–

बृंदाबन में धेनु बहुत हैं, भोजन दूध दही को रे।
मोरमुकुट पीतांबर सोहै, सिर केसर को टीको रे।[14]

 ISSN 0975-735X

कृष्ण ब्रज के भूषण हैं और वे ही इस लीलाभूमि के प्राण हैं। मीरा के कृष्ण गाएँ चराने यमुना के तट पर निकल पड़े हैं। उसी का वर्णन इस पद में है–

सारी गउएँ निकस गईं यमुना, लेकर संग लवारे।
बस्तर भूषण तन पर धारो, पगियाँ पेच सँवारे।
या ब्रज के प्रभु भूषण तुम हो, तुम ही प्राण हमारे।[15]

हे यदुवर (कृष्ण) आप मुझे बहुत प्रिय लगते हो। मथुरा में आपका जन्म हुआ है और गोकुल में अपने पदार्पण किया है। काला कंबल धारे ग्वाल बने हुए यमुना के तीर पर गाएँ चरा रहे हो, वह ब्रजभूमि धाय है जहाँ कृष्ण का जन्म हुआ और गोचारन किया–

यदुवर लागत है मोहिं प्यारो।
मथुरा में हरि जन्म लियो है, गोकुल में पग धारो।
यमुना के तीरे धेनु चरावे, ओढ़े कामल कारो।[16]

कृष्ण को मोरमुकुट, पीतांबर सभी शोभा दे रहे हैं और कुंडल की छवि भी न्यारी है। कृष्ण की मुरली की मीठी तान पर गाएँ चर रही हैं। कितना सुंदर चित्रण किया है, भारतीय कृषि संस्कृति का–

मोरमुकुट पीतांबर शोभे, कुंडल की छवि न्यारी।
बृंदावन में धेनु चरावे, मुरली बजावत प्यारी।[17]

बरसाने से चली गूजरी को नंदगाँव जाना है। आगे कृष्ण गाएँ चरा रहे हैं, जिनसे मुझे प्रेम का बाण लग गया है–

बरसाने सों चली गुजरिया, नंदगाम को जाना।
आगे केशो धेनु चरावै, लगे प्रेम के बाना।

वृंदावन की कुंज गली में रुनझुन नुपुर बज रहे हैं। प्रिय कृष्ण अब तो मीरा को दर्शन दो–

बृंदाबन की कुंजगलिन में, नूपुर रुनझुन लाना।
मीराँबाई को दरशन दीजो, ब्रज तज अंत न जाना।[18]

इंद्र ने जब ब्रज पर कोप किया तो मूसलाधार बारिश की। कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को बाएँ नख पर धारण कर डूबती हुई ब्रज को उबारा उसी प्रकार आप हमें भी उबारो–

आज बिरज पर इंदर कोप्यो, बरसे मूसलधारा।
बाँवां नख पर गिरवर धार्‌यो, डूबत बिरज उबारा।[19]

हे सखी! कन्हैया मेरे कलेजे का टुकड़ा है। उसे मोर मुकुट, पीतांबर व कुंडल शोभा देते हैं। वृंदावन की कुंजगली में नंदकिशोर नृत्य कर रहे हैं–

सखी मेरो कानूड़ो कलेजे-कोर।
मोर मुकुट पीतांबर सोहै, कुंडल की झकझोर।
बृंदाबन की कुंजगलिन में, नाचत नंदकिशोर।[20]

मीरा कृष्ण की प्रेमदीवानी हैं और कृष्ण ब्रज के राजा हैं–

साँवराजी हो, चूड़ें रंग लाग रह्यो छे, लाग रह्यो छै ब्रजराज।
रंग चूड़ो रंग चूनड़ी जी काँई रंगीलो साज रंग बृंदावन कुंजलता जी।

काँई सहस गोप्याँ रा सिरताज।[21]

हे नंदलाला, आपके द्वार पर ब्रजबाला दर्शन को खड़ी है। आपसे विनती कर रही है कि आप उसे दर्शन दीजिए। बिन दर्शन के सब शृंगार फीका लग रहा है–

नंदजी के लाला ठाड़ी ब्रजबाला दरसन दीजिए।
ब्रजबाला बिनती करे, सुनियो स्याम पुकार।
बिन दरसन फीको लगै, सबही हार-सिंगार।[22]

ब्रज में होली को विशेष चाव से मनाया जाता है। ब्रज के मंदिरों में गुलाल उड़ती है। झाँझ, पखावज, डफ पर होरियाँ गाई जाती हैं। मीरा के कृष्ण भी ब्रज नर-नारी के साथ होली खेल रहे हैं–

होरी खेलत है गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारौ, सँग जुंवती ब्रजनारी।
फागु जु खेलत रसिक साँवरो, बाढ्यौ रस ब्रज भारी।[23]

नंदगाँव और बरसाने की होली तो आज भी प्रसिद्ध है। मीरा कहती हैं ब्रजमंडल में फाग रचा है सखियों ने उत्साह बढ़ा दिया है–

साँवरो होरी खेलन आयो, आयो।
नंदगाँव से संग सखा ले, बरसाने में ध्यायो।
ब्रजमंडल में फाग रच्यो है, सखियन मोद बढ़ायो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, केसर रँग करायो।
सखी मन आनंद छायो।[24]

कृष्ण के बिना मीरा को ब्रज सूना लग रहा है। वह उदास हो गई है। वृंदावन सूखने लगा है और कुंज कुम्हला गए हैं। जन्मभूमि मथुरा को छोड़कर कृष्ण द्वारका में जा बसे हैं–

ब्रज में आवोलाजी ब्रजबासी, रामाँ थाँ बिन भौमि उदासी।
बृंदाबन थारी सूखण लागी, कुंज कुंज कुमलासी।
जन्मभौमि मथुरा की छोड़ी, अब हुए द्वारिकाबासी।
सीतल जल जमुना को छोड्यो, अब खारो केयाँ भासी।।[25]

मीरा ने पूरे वृंदावन को ढूँढ लिया, पर कृष्ण नहीं मिले। इसी भाव की मार्मिकता को उन्होंने वर्णित किया है। पद को पढ़कर पाठक का मन भी उदास हो जाता है–

वै न मिले जिनकी हम दासी।
पात-पात बृंदाबन ढूंढ्यौ ढूँढि फिरी सगरी मैं कासी।[26]

मीरा विश्व की महान भक्त कवयित्रियों में से हैं। उनके पद, उनके भाव प्रत्येक भाषाभाषी को अपने से लगते हैं, क्योंकि उनके पद सहज भाव से निकले हैं। लोकवाणी में प्रचलित मीरा के हरजसों में ब्रज का वर्णन मिलता है–

साँवरिया म्हांने कीन्हा क्यूँ नीं बन का मोर
ब्रज में रे' ता बनफळ खाता बन में करता किलोळ।[27]

संदर्भ

1. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास प्रथम भाग रचयिता प्रभुदयाल मीतल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1966 ई॰, पृ॰ 1
2. हिंदीभाषा का उद्‌गम और विकास, डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1995, पृ॰ 181
3. वही, पृ॰ 134
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2056 वि॰, पृ॰ 101
5. मीराबाई की पदावली, सं॰ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण सन् 1993 ई॰ पृ॰ 58
6. मीराबाई : ऐतिहासिक व सामाजिक विवेचन, डॉ॰ हुकमसिंह भाटी, रतन प्रकाशन जोधपुर, सन् 1986, पृ॰ 20
7. ब्रज-साहित्य का इतिहास, डॉ॰ सत्येंद्र, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद सं॰ 2024 वि॰, पृ॰ 245
8. सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, डॉ॰ शिवप्रसादसिंह, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी अक्टूबर 1958 ई॰, पृ॰ 216
9. मीरा जीवन और काव्य (द्वितीय खंड), डॉ॰ सी॰एल॰ प्रभात, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1999, पृ॰ 397
10. मीराँ पदावली, डॉ॰ शंभूसिंह मनोहर, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, सन् 1969, पृ॰ 64
11. हिंदी कृष्णभक्ति काव्य पर श्रीमद्‌भागवत का प्रभाव, विश्वनाथ शुक्ल, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, पृ॰ 255
12. मीरा बृहत्पदावली, सं॰ हरिनारायण पुरोहित, प्रथम भाग राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर तृतीय संस्करण सन् 2006, पद सं॰ 31, पृ॰ 15
13. वही, पद सं॰ 52, पृ॰ 26
14. वही, पद सं॰ 46, पृ॰ 23
15. वही, पद सं॰ 200, पृ॰ 95
16. वही, पद सं॰ 488, पृ॰ 236
17. वही, पद सं॰ 207, पृ॰ 99
18. वहीं पद सं॰ 83, पृ॰ 41
19. वही, पद सं॰ 41, पृ॰ 20
20. वही, पद सं॰ 585, पृ॰ 292
21. वही, पद सं॰ 604, पृ॰ 305
22. वही, पद सं॰ 243, पृ॰ 117
23. वही, पद सं॰ 657, पृ॰ 329
24. वही, पद सं॰ 615, पृ॰ 310
25. वही, पद सं॰ 301, पृ॰ 144
26. वही, पद सं॰ 564, पृ॰ 281
27. लूर सं॰ डॉ॰ जयपाल सिंह राठौड़, मीरा विशेषांक वर्ष 1, अंक 2, जुलाई-दिसंबर 2003, पृ॰ 88

mpsrchopasni@gmail.com

अलका सरावगी के उपन्यासों में स्त्री-अस्मिता

महादेव मीणा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

स्त्री-स्वातंत्र्य की पैरोकार और मानवीय मूल्यों को शाश्वत रूप देनेवाली अलका सरावगी उपन्यास साहित्य की बहुचर्चित और सम्मानित हस्ताक्षर हैं। मौलिक कथ्य और निर्भीक अभिव्यक्ति के कारण अलका सरावगी का लेखन जीवनशक्ति से ओतप्रोत है। लेखिका अपने समूचे लेखन में अनुभवगम्य विमर्श प्रस्तुत करती हैं, जिसमें समाज की क्रूर से क्रूरतम विसंगतियों को जड़ से उखाड़ फेंकने और खोखली हुई हमारी मान्यताओं में क्रांतिकारी बदलाव लाने की उनकी जिद व महत्त्वाकांक्षा दिखाई देती है। 'अलका जी उपन्यासों के माध्यम से परंपरागत मान्यताओं और रूढ़िगत संस्कारों की असली परख और पहचान करती हैं। बेड़ियों में जकड़े समाज को स्वतंत्र करके नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करने की पक्षधर और खुले मन की लेखिका हैं। खुले मन की लेखिका होने के नाते वैचारिकी के स्तर पर तमाम ज्वलंत मुद्दों को चुनौती देती हैं तथा आज के स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम देती हैं।'[1]

लेखिका अलका सरावगी ने 'कलि-कथा : वाया बाइपास' उपन्यास में स्त्री-जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला है, जिसमें वह कभी संघर्ष करती नजर आती हैं तो कभी अपने जीवन के मायने तलाश करती दिखाई देती हैं। कभी सूरज की तेज धूप में अपने को खड़ा पाती हैं तो कभी चंद्रमा की शीतलता उसे ठंडक प्रदान करती है। नारी धैर्य और साहस की प्रतिमूर्ति होती है, इसलिए जीवन में आनेवाली समस्याओं से विचलित नहीं होती है। अलका सरावगी का यह कथन नारी के धैर्य और साहस को प्रमाणित करता है–'माँ की आँखें तरलता को आने से पहले ही सोख लेती हैं। वह अपने शब्दों को मजबूती से सहारा देकर खड़ा करती है।'[2] हर तकलीफ को चुपचाप सहती है और किसी से कुछ न कह पाने की विवशता में जीती है। 'माँ को दादी के ऐसे कहने से बहुत तकलीफ होती, पर वे कुछ कर नहीं पाती थीं। वे न पिताजी को ऐसा करने से रोक सकती थीं और न दादी को ऐसा कहने से।'[3]

असल में भारतीय नारी की इस जीवनशैली का कारण उनकी स्वयं की सोच भी है। वह परंपरा और मर्यादा को बनाए रखने के नाम पर अपने-आपको कभी उस पायदान पर नहीं खड़ा करना चाहती, जहाँ से समाज उस पर उँगली उठा सके। इसलिए वह उस निर्धारित जीवन को अपने लिए स्वीकार कर लेती हैं। 'किशोर बाबू की पत्नी ने आज तक पति से बिना पूछे जीवन में कोई कदम नहीं उठाया था।'[4] क्योंकि वह जानती थी कि यदि वह बिना अनुमति के कोई कार्य करेगी तो उसे समाज के अनेक प्रश्नों का उत्तर देना होगा। अपने जीवन के अनेक निर्णयों के लिए पति पर निर्भर रहती है। वह उनसे पहले मरना चाहती है। 'वह इच्छा भी पूरी हो गई।

 ISSN 0975-735X

वह सुहागन मरी–नथ, चूनड़ी, सिंदूर, चूड़ियाँ पहनकर। उसको सबसे बड़ा भय था कि वह अगर विधवा हो गई तो उसकी नए-नए असली चाँदी-सोने के तार की, जरी कलावत और गोटे की ओढ़नियाँ रखी रह जाएँगी, जिन्हें ओढ़े बिना वह उसके बहुत समझाने पर भी घर के बाहर नहीं निकलती थी। वह कभी कलकत्ते नहीं आई। उसने उसे कलकत्ते ले चलने के लिए एक बार कहा तक नहीं। उसकी छोटी-छोटी बहुत मामूली इच्छाएँ थीं।'[5]

स्त्री को अपने छोटे से छोटे निर्णय के लिए पुरुष की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उसके जीवन की डोर पुरुषसत्ता के हाथ में होती है, जो पिता, भाई, पति, देवर किसी भी रिश्ते के रूप में कसने को तैयार रहता है। किशोर की भाभी ने भी अपने निर्णय स्वयं कभी नहीं किए। अपने कपड़ों के लिए भी वह किशोर बाबू की अनुमति का इंतजार करती है। उनकी बिना अनुमति के लालफाड़ की साड़ी पहनने पर उन्हें किशोर बाबू के क्रोध का सामना करना पड़ता है। 'भाभी को देखकर उनका चेहरा पहले काला हुआ और फिर लाल–तुम्हारा दिमाग क्या अब एकदम ही खराब हो गया है भाभी? उम्र बढ़ने के साथ-साथ आदमी की अक्ल बढ़ती है। पर मुझे लगता है यू॰पी॰ (उत्तर प्रदेश) वालों की अक्ल कम होने लगती है। यह क्या इतने चटक-मटक रंग की साड़ी पहनी है। क्या कहेंगे लोग देखकर। कुछ तो मर्यादा रखी होती समाज में।'[6]

'मर्यादा' एक ऐसा भयावह शब्द है, जो स्त्री को हर तरफ से डराने और बाँधकर रखने के लिए कारगर है। यह स्त्री को अनेक दु:ख व कष्ट होने के बावजूद उस जीवन में रहने के लिए मजबूर कर देता है, जिसमें दु:ख, दर्द और पीड़ा है और नारी उसे सहते हुए सहनशीलता की प्रतिमूर्ति बन जाती है। 'भाभी ने भी साड़ी बदल ली और अपने अंदर उमड़ते आँसुओं के लावे को दबाकर किशोर बाबू की पहली सांस्कृतिक पहल को पिटते हुए देखती रही।'[7] हर कष्ट और पीड़ा को सहती स्त्रियाँ अपने दामन में दु:ख और दूसरों के लिए खुशियों का गुलिस्ताँ तैयार करती हैं। अपने जीवन के सारे सुख अपने परिवार की खुशियों के लिए न्योछावर कर देती हैं। दूसरों को खुशी देकर जो सुख की अनुभूति उन्हें होती है वही उनके जीवन का आधार होती है। किशोर की माँ में नारी का वही रूप विद्यमान है जो त्याग और प्रेम की प्रतिपूर्ति होता है। 'माँ कभी किसी से कुछ माँगती नहीं। कभी अपनी गरीबी प्रकट नहीं होने देती। बड़े चाचाजी अगर मिलने आ जाएँ, तो झट पैसे देकर नीचे से बढ़िया से बढ़िया मिठाई-कचौड़ी मँगवाती है, उनके लिए–जैसे अलमारी में ऐसे कितने ही पैसे दबे पड़े हों। उन्हें खिलाकर इतना खुश होती है जैसे न जाने क्या मिल गया हो। उन पैसों के खर्च होने का लेशमात्र भी दु:ख उसे नहीं होता है।'[8]

अलका सरावगी आज की नारी और पुरानी पीढ़ी की नारी का अंतर स्पष्ट करते हुए दोनों की अलग-अलग मानसिकता को उजागर करती हैं। नारी की नई चेतना ने उसे एक ऐसी नई जीवन-दृष्टि प्रदान की है जिसने युग-युग से चली आ रही मानसिकता को परिवर्तित कर एक नया जीवन समाज में स्थापित किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि आज स्त्री को सब-कुछ अकुंठ भाव से कहने का साहस सहज ही प्राप्त हो गया है। उसे जब भी लगा कि वह प्रताड़ना, अत्याचार, शोषण का शिकार हो रही है तो उसने अपनी बात को बेबाकी से कहने

की हिम्मत जुटाई। 'कलि-कथा : वाया बाइपास' में किशोर बाबू की पत्नी अपनी तीन साल की छोटी नातिन से बात-बात पर 'मेरी मर्जी' की उद्घोषणा सुन हतप्रभ रह जाती है। 'वे दंग रह गईं कि इतनी छोटी नातिन बच्ची को 'मर्जी' का अर्थ मालूम है।'[9] वस्तुतः यहाँ पुरानी पीढ़ी हतप्रभ है कि जब इतने छोटे बच्चे की मर्जी के खिलाफ कुछ नहीं किया जा सकता तो फिर बड़े बच्चों, लड़कियों को किस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है। वस्तुतः यह नई पीढ़ी विशेषतः स्त्रियों के अपनी राह चलने के प्रति पुरानी पीढ़ी का क्षुब्ध भाव है।

'शेष कादंबरी' अलका सरावगी का दूसरा उपन्यास है। नारी-जीवन अभावों का सागर है और इस सागर में कुछ बूँदें विचारों के अभाव की भी हैं। लेखिका ने सविता के द्वारा नारी की उस सीमित सोच के दायरे को दर्शाया है, जो उसे मानसिक रूप से अपनी प्रगति के दायरे को बढ़ाने की अनुमति नहीं प्रदान करती है। 'वह उनकी उम्मीद के ठीक मुताबिक लड़की टेबुल के नीचे निगाहें जमाए, अपने हाथ की रेखाओं को देखती हुई उनके पहले प्रश्न का इंतजार कर रही थी। रूबी दी को जोर की चिढ़ हुई। इस लड़की से पाँच-सात बार मिल लेने के कारण वे इतना जान गईं थी कि यह लड़की कुछ भी कहने से पहले हमेशा प्रश्न पूछे जाने का इंतजार करती है और इतना छोटा जवाब देती है कि उससे पूरी बात समझने के लिए कम-से-कम चार प्रश्न और करने पड़ें।'[10]

वास्तव में नारी की इस सीमित सोच का कारण वह समाज है, जिसमें वह पैदा होकर बड़ी होती है। 'जिस दुनिया में वे बड़ी हुई थीं, वहाँ इस तरह की कोई निजी बात, जिसको पूछने का कोई विशेष मकसद न हो, किसी से पूछना अमर्यादित व्यवहार था।'[11] इस अमर्यादित व्यवहार से बचने और अपने को मर्यादित बनाए रहने के लिए वह उस सीमा में कैद रहती है, जिसका निर्धारण समाज उसके लिए करता है। 'अपनी जिंदगी को एक नया मोड़ देने के लिए जब घर की चहारदीवारी के बाहर कदम रखा था, तबसे आज तक ऐसा नहीं हुआ कि आदि गंगा का पुल पार करने के बाद घर की तरफ जाते हुए उन्होंने घर-गृहस्थी के अलावा किसी के बारे में कुछ सोचा हो। पुल पार करते ही उनकी दुनिया का वह हिस्सा, जिसमें वे दूसरों के लिए जीती थीं, एकदम कटकर अलग हो जाता था। यह पुल उनके लिए एक लैंडमार्क था अपनी दुनिया में प्रवेश की सरहद।'[12]

'शेष कादंबरी' के माध्यम से अलका सरावगी ने तीन पीढ़ियों के स्त्री-जीवन की विविध समस्याओं को यथार्थ रूप में ही सामने नहीं रखा है, अपितु अबला कही जानेवाली औरत के सशक्त व जुझारू व्यक्तित्व को भी दर्शाया है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र रूबी दी के माध्यम से समाज में स्त्री की स्थिति और भारतीय परिदृश्य में नारी-जागृति की ऐतिहासिक विवेचना को देखा जा सकता है। रूबी दी उपन्यास में एक ऐसे पात्र के रूप में उपस्थित है, जो न पुरुष से शोषित है, न किसी से दमित जीवन जीती है, वह स्वतंत्र और आत्मनिर्भर जीवन जीती है। रूबी के माध्यम से अलका सरावगी ने स्त्री से जुड़े प्रश्नों को उभारा है, स्त्री के जीवन की नियति की ओर संकेत करते हुए लिखा है-'ऐ औरत तूने जब भी किसी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ बनाया है तो तुझे इसकी कीमत देनी पड़ी है।'[13]

इस उपन्यास में समाज का सच अनेक रूपों में सामने आता है। रूबी दी की दुनिया का

 ISSN 0975-735X

सच हमारे समाज का सच सिद्ध होता है–'क्यों नहीं सोचा कि सुधारक आप लड़के के ब्याह करते समय हो सकते हैं, लड़की का ब्याह करते समय नहीं। आप दुनिया की रस्मों को न मानकर अपने को दुनिया से अलग और ऊपर समझ सकते हैं, पर उसमें आप दुनिया से बच नहीं सकते।'[14] रूबी दी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण एक प्रेरणादायी व्यक्तित्व के रूप में सामने आता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि समय के साथ स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति में आए बदलाव को लेखिका ने बारीकी से पकड़ा है।

अलका सरावगी का तीसरा उपन्यास 'कोई बात नहीं' भी नारी की उस दशा का वर्णन करता है, जिसमें वह सारी उम्र पुरुष-समाज द्वारा प्रताड़ित और शोषित की जाती रही है। यह वर्चस्व का सर्वसत्तावाद है। उपन्यास के पुरुष पात्र शीर्षेन्दु की पत्नी भी पितृसत्ता का शिकार है, जो पुलिस अफसर के रूप में अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। 'जतीन दा फिर शीर्षेन्दु की पत्नी को दी गई यातनाओं का वर्णन करने लगे थे। कैसे उसे बालों से पकड़कर घसीटा, कैसे उसे जानवर की तरह एक महीना नहाने और कपड़े बदलने नहीं दिया गया, कैसे उसे मुँह में झाग आने पर ही मारना बंद किया जाता था।'[15]

स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर से भिन्न होता है। कोमलांगी होने के कारण वह पुरुष के अत्याचारों का सामना डटकर नहीं कर पाती और एक पक्ष के कमजोर होने पर दूसरे पक्ष की सत्ता आसानी से स्थापित हो जाती है। पुरुष सत्ता का यह अहंकार औरत को औरत होने की सजा देता है, उसके जीवन के सही मायने बदल देता है। 'कोई बात नहीं' की नारी-पात्र सीता का जीवन भी ऐसा ही है। 'दादी के पास एक जीवन था और वह ऐसे ही बीत गया। वह उसे वैसे कहाँ जी पाई, जैसे जीना चाहती होगी। लेकिन फिर भी किसी तरह वह अपने उस खोए हुए जीवन का कोई अर्थ पाना चाहती है तभी तो उन अट्ठाईस वर्षों का मतलब खोजती हुई दु:ख को गुरु बताती है।'[16]

उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में अलका सरावगी द्वारा कार्पोरेट दुनिया के स्त्री-चरित्रों का चित्रण अपने-आपमें स्त्री-विमर्श को नई दिशा देता है। इस उपन्यास में भट्ट और उसकी पत्नी के माध्यम से अलका सरावगी स्त्री की सहनशक्ति पर प्रकाश डालती हैं–'भट्ट जानता था कि उसकी पत्नी उससे वह सवाल नहीं पूछेगी जो हर घड़ी पूछना चाहती थी–और कितना दु:ख दोगे मुझे? या फिर और कितना भटकोगे और भटकाओगे इस तरह? इसीलिए भट्ट सोचता है कि सचमुच, मेरा भारत महान है क्योंकि यहाँ ऐसी पत्नियाँ मिलती हैं।'[17] भट्ट सोचता है कि 'वह अपनी पत्नी पर कभी उस तरह तानाशाही नहीं चलाएगा जिस तरह दुनिया में पिताजी जैसे तमाम पति अपनी पत्नियों पर चलाते आए हैं और रहेंगे।'[18] उपन्यास के अन्य पात्र के०वी० की पत्नी 'सोशल वेलफेयर होम' के सिलसिले में बंगाल के मुख्यमंत्री पुरस्कार से सम्मानित हो चुकी है। 'वह पढ़ी-लिखी व विशुद्ध अँग्रेजी बोलनेवाली महिला थी। खुद के०वी० किसी जमाने में उनकी बोलने और समझने की प्रतिभा पर रीझकर उनके प्रेम में पड़े थे।'[19]

'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में नारी के उस रूप का वर्णन है जो अपने अधिकारों को पूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहती है और अधिकारों की प्राप्ति के लिए वह संघर्षरत भी है। उपन्यास की पात्र 'शीरी' औरत के उस रूप का प्रतिबिंब है जो प्रतिभा पाटिल और सोनिया

गाँधी के रूप में देश की सत्ता में मौजूद हैं जो हिम्मत और बहादुरी के साथ जीवन जीना जानती है। शीरी नारी की प्रगति का सूचक है तथा नारी के उस रूप का खंडन करती है जो दबी, कुचली और प्रताड़ित है। 'वह शीरी है हवा में गोली चला रही है। जैसे ही भालू की आवाज सुनती है या कल्पना करती है कि भालू पास के खजूर के पेड़ पर चढ़ा है, तो बस गोली चला दी।'[20] शीरी आज की वह नारी है जो अपने निर्णय स्वयं करने में सक्षम है। वह अपने निर्णय के लिए पुरुष मानसिकता पर निर्भर नहीं रहती। 'बहुत हिम्मती औरत है 'शीरी'–गुरु ने कहा–इसने अपने जीवन के सारे चुनाव खुद किए हैं और मेरे खयाल में यह बात दुनिया में बहुत कम लोग अपने बारे में बोल सकते हैं। इसके पति फौज में थे। शीरी यहाँ के रजवाड़े में बरसों से गवर्नेस रही है। इस इलाके में ऐसा कोई नहीं जो इसे जानता और मानता नहीं। भालू तक नहीं फटकता इसके यहाँ।'[21]

आज की नारी पुरुष के दंभ को चुनौती देने का प्रयास कर रही है। अलका सरावगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में भट्ट की पत्नी के मनोभाव अवश्य स्त्री के अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए अपनी छटपटाहट दर्शाते हैं–'भट्ट की पत्नी को विवेक देवराय या उसके परिवार की रत्ती भर भी परवाह नहीं थी। बस यह अपनी एक निजी 'स्पेस' बनाने के लिए उसे उन लोगों की जरूरत थी। वह एक ऐसी दुनिया चाहती है जिसमें उसका प्रवेश किसी उपाधि के कारण यानी कि माँ या पत्नी होने के कारण नहीं था, बल्कि इसलिए था क्योंकि लोग उसे हाड़-मांस के व्यक्ति के रूप में देखते थे जो अपनी मर्जी से चलता-फिरता या हँसता-रोता है।'[22] वस्तुतः परिवार जितना अधिक समृद्धि के सोपान चढ़ता है, घर की मालकिन उतनी ही अधिक, दूसरों के लिए व्यस्त होकर अपना निजी 'स्पेस खोजती है, भट्ट की पत्नी इसी पीड़ा से व्यथित है।

अलका सरावगी की विशिष्टता यह है कि वे स्त्री की प्रचारित और प्रचलित छवि को तोड़ती हैं। अपने उपन्यासों के माध्यम से पुरुषों के द्वारा स्त्री पर किए गए शोषण के साथ स्त्री-जीवन के अन्य पक्षों पर भी सोचने के लिए मजबूर करती हैं, जिससे उनके उपन्यास स्त्री-जीवन की समस्याओं को उकेरने वाले महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन जाते हैं। अंततः यही कहना समीचीन होगा कि अलका सरावगी स्त्री-अस्मिता के वैचारिक स्तर पर प्रश्न करने और प्रश्नों का उत्तर ढूँढने हेतु सभ्य समाज को खुला निमंत्रण देती हुई अपने उपन्यासों में नजर आती है। उनका मानना है कि सर्वप्रथम नारी-सम्मान के लिए सामाजिक परिवर्तन की महती आवश्यकता है। अलका सरावगी ने अपने साहित्य के द्वारा समाज में व्याप्त तमाम वर्जनाओं को तोड़ते हुए दर्शा दिया कि प्रत्येक क्षेत्र में उनकी निरीक्षण-क्षमता एवं समझ सूक्ष्म और पैनी है। उन्होंने अपने समग्र उपन्यासों के जरिए आधुनिक समसामयिक ज्वलंत विषयों को उठाकर नए प्रतिमानों का सृजन किया है, साथ-ही-साथ समय की नाड़ियों के स्पंदन को समाज को स्पर्श करने की शिक्षा भी दी है ताकि महिलाओं की शिक्षा, सुरक्षा और सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।

संदर्भ

1. डॉ॰ वीरेंद्रसिंह यादव, बदलते परिदृश्य में नई सहस्राब्दी का भारत, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 331

2. अलका सरावगी, कलि-कथा : वाया बाइपास, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2009, पृ॰ 60
3. वही, पृ॰ 61
4. वही, पृ॰ 64
5. वही, पृ॰ 76
6. वही, पृ॰ 78
7. वही, पृ॰ 158
8. वही, पृ॰ 160
9. वही, पृ॰ 167
10. अलका सरावगी, शेष कादंबरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2012, पृ॰ 26
11. वही, पृ॰ 29
12. वही, पृ॰ 78
13. वही, पृ॰ 113
14. वही, पृ॰ 128
15. अलका सरावगी, कोई बात नहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ॰ 35
16. वही, पृ॰ 37
17. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ॰ 44
18. वही, पृ॰ 52
19. वही, पृ॰ 70
20. वही, पृ॰ 76
21. वही, पृ॰ 134
22. वही, पृ॰ 145

कमलकुमार के 'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास का समीक्षात्मक अध्ययन

लक्ष्मणराम जाट
शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास प्रसिद्ध कथाकार कमलकुमार का स्त्री कलाजगत व राजस्थानी संस्कृति पर आधारित स्त्री सशक्तिकरण का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णा नामक बालविधवा समाज की कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, आडंबरों का शिकार होकर यातनामय जीवन जीने को विवश होती है। 'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास विधवा-विवाह के पूर्व विधवा-विवाह के पश्चात किसी स्त्री को अत्याचार, शोषण, भेदभाव, अकेलापन, कठिनाइयों व संघर्ष का किस प्रकार सामना करना पड़ता है, उसका यथार्थ ढंग से चित्रण करता है। एक स्त्री जो पुरुषसत्ता के अत्याचार से पीड़ित व दुखी तो रहती ही है, साथ ही स्त्री-विरोधी तत्त्वों की भी शिकार होती है। स्त्री की इच्छा-आकांक्षा, स्त्री-हृदय की आंतरिक व बाह्य जिजीविषा तथा कोमलता को सामाजिक आडंबर, बंधन, कुप्रथाएँ व अंधविश्वास किस प्रकार ध्वस्त कर उसको पीड़ित व व्यथित करते हैं, उसका मार्मिक चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में मिलता है।

'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास की प्रमुख पात्र है—कृष्णा नामक बाल-विधवा, जिसकी माँ की मृत्यु हो चुकी है और उसका लालन-पालन कृष्णा के पिता बड़े दुलार से करते हैं। वह बाल-विधवा होने के कारण समाज की वीभत्स मानसिकता का शिकार होती है। मासूम बालिका कृष्णा को विधवा होने की परिभाषा तक पता नहीं और समाज में उसको असमानता और अछूत की दृष्टि से देखा जाता है। कृष्णा को सबसे अधिक पीड़ा व अत्याचार का सामना अपनी ताई से करना पड़ता है—वह उसे एक कमरे में कैद कर देती है और राँड जैसे अपशब्दों का प्रयोग करती है। वहीं कृष्णा के पिता उसे प्रेम व दुलार करते हैं। वह उसके बालकपन व मासूमियत का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'टाबर है, नादान है, कुल सात साल की है। उसे क्या पता विधवा क्या होती है।'[1] ताई जो स्वयं विधवा है, घर-परिवार के लोगों ने उसे अपने पति की जमीन व नौकरी हड़पने के आरोप में घर से बाहर निकाल दिया था। पाँच बच्चों का पालन-पोषण करने के साथ ही दर्दनाक समय से गुजरी थी ताई। ताई के माँ-बाप ने भी संवेदनाहीन होकर उसे नारकीय जीवन में रहने को विवश कर दिया था। ताई पर अनेकानेक अत्याचार किए गए, जिसमें ताई के बाल काटना हर तीन महीने में और ताई को सफेद साड़ी पहनाकर कोठरी में कैदी की भाँति जीवन जीने को मजबूर किया गया। ताई की सास उसके साथ मारपीट करती है और उस पर आक्षेप लगाते हुए कहती है—'राँड, जरा सी चोट न सह

 ISSN 0975-735X

सके। अपनी जान कितनी प्यारी लागै। मेरे बेटे ने खागी। इब तेरे ये चार टाबर और तू मणे खाएँगे। जा मर, ओखली मा पड्यों बाजरो कूट जाके।'[2] ताई इन दुर्व्यवहारों का शिकार होने के कारण शक्तिहीन हो जाती है। उसकी देह में कमजोरी आ जाती है, जिससे उसके नवजात शिशु की भी मृत्यु हो जाती है। उसकी अपने देवर की कुदृष्टि के कारण कृष्णा के पिता व ताई से छोटे देवर रामलाल उसे अपने घर में ले आए, जिससे वह सुरक्षित जीवन जी सके। वह बाल-विधवा कृष्णा के साथ रहने लगी और उस घर की अंतरंग सदस्य हो गई। ताई ताउम्र उत्पीड़न, उपेक्षित व शोषित जीवन व्यतीत करती रही, जिससे वह संवेदनाओं से हीन हो गई और कठोरता से जीवनयापन करने लगी।

ताई खुद विधवा होने पर भी बालिका कृष्णा की भावनाओं को नहीं समझती और उस पर हमेशा चिढ़चिढ़ाी रहती है। कृष्णा पर्व, त्योहार, संगीत, नृत्य आदि में शामिल होने की जिजीविषा रखती तो उसे अपमानित व तिरस्कार का भाव रखती है। कृष्णा अपने उपेक्षित जीवन की त्रासदी को चित्रित करते हुए कहती है–'मुझे और दूसरी लड़कियों की तरह वही सब करना था, माँगना था जो उन्हें मिल जाता और मुझे नहीं दिया जाता, क्योंकि मैं विधवा थी।'[3] कृष्णा का विवाह डॉ॰ शाह से कर दिया जाता है। डॉ॰ शाह कृष्णा से उम्र में चौबीस वर्ष बड़े होते हैं। डॉ॰ शाह की पहले भी शादी हो चुकी है, जिसकी पत्नी शिकागो में रहती है। डॉ॰ शाह की बहन व ताई कृष्णा से यह बात छुपाती हैं। बाद में जब कृष्णा को पता चलता है तो उसे अत्यधिक पीड़ा होती है। हालाँकि कृष्णा विवाह करने से इंकार करते हुए शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करती है। वह अपने पिता से कहती है–'बापू इब मनै पढ़ तो लेने दे। अबार तो कॉलेज में दाखिला लियो है। पहला साल छै मेरा।'[4] उपन्यास का घटनाक्रम कभी अतीत तो कभी वर्तमान समय में चक्र की भाँति घूमता-फिरता रहता है।

उपन्यास की एक और प्रमुख पात्रा है–जरीन। उसके पुत्र का नाम है करीम। यह पाकिस्तान के रहनेवाले हैं और विभाजन से अपनों के बिछुड़ने का दुख इन्हें है। जरीन सिफर ख्यातिप्राप्त अंतराष्ट्रीय चित्रकार है। जरीन सिफर जितनी बाहरी दुनिया को प्रसन्नचित व संगीदगी से भरी लगती है, सभी उसे बड़ी बेगम कहकर सलाम करते हैं, उतनी ही आंतरिक रूप से जरीन की स्थिति दास के समान व्यथापूर्ण भी है। उसके पति फरुखद्दीन द्वारा दूसरी पत्नी लाने के कारण वह पति-सुख से वंचित हो गई। परिणामस्वरूप जरीन पति के अत्याचार, तिरस्कार व उपेक्षा का शिकार हो गई। उसके पति फरुखद्दीन ने उसे व उसके पुत्र को अपमानित करके घर से निकाल दिया। जरीन ने अपने माँ-बाप से आश्रय माँगा, पर माँ-बाप ने उसे पति के पाँव की जूती बने रहने की सलाह दी। जरीन स्त्री संबंधित इस्लामिक मान्यता व पुरुषसत्ता के सर्वमान्य निर्णय व स्त्रीसत्ता को दरकिनार करने के भाव को व्यक्त करते हुए कहती है–'उनके निर्णय के पक्ष में सारा जनमत जुट जाता है, लेकिन हमारे निर्णय एकतरफा और निष्क्रिय हो जाते हैं। हमारे उनके विरुद्ध, जिसे वे इस्लाम और महजब का नाम देते हैं, फैसले के लिए वे फतवे जारी करने की ताकत रखते हैं।'[5] तदुपरांत जरीन चित्रकला के जगत में संजीव नामक मित्र के सहयोग से जरीन से जरीन सिफर के रूप में अंतराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त करती है। पति द्वारा अपने अकेले स्वामित्व व मेहनत के बल पर यश प्राप्त प्राप्त

करती है। परिणामस्वरूप पति उसे वापस लौटने की बात करता है। वह पति पर प्रहार करते हुए संजीव से अपने रिश्ते को बिना अपराधभाव से स्वीकार करती है। जरीन स्त्री तलाक, स्त्रीधर्म संबंधित अवहेलना, सर्वत्र पुरुषसत्ता के वर्चस्व आदि का बेबाक तरीके से विरोध करती है। वह लड़की पैदा होने को अभिशाप मानती है, क्योंकि उसे निसहाय, कैदखाने के समान और बेसहारा जीवन व्यतीत करने को विवश किया जाता है।

'मैं घूमर नाचूँ' उपन्यास में मासूम कृष्णा जब बालकपन में ही विधवा हो जाती है तो उसे घर तथा बाहर सभी जगह तिरस्कार को झेलना पड़ता है। अनेकानेक यातनाओं को सामना करना पड़ता है। कृष्णा की महत्त्वाकांक्षा अधूरी रह जाती है और उसे प्रेम में भी अपूर्णता ही प्राप्त होती है। डॉ॰ शाह के मशीनी जीवन में पिसती जाती है और यातनामय जीवन को भोगती जाती है। पति के सामने कृष्णा की आशाएँ और अभिलाषाएँ सभी पलभर में धराशायी हो जाती हैं। वह सर्वत्र पति के सुख से वंचित ही दिखाई देती है। वह पति के साथ हर पर्व-त्योहार खुशी से मानना चाहती है, लेकिन वहाँ भी उसे भेदभाव व अकेलेपन का शिकार होना पड़ता है। वह बचपन से लेकर शादी के बाद तक घूमर नाचने की अभिलाषा पाले रहती है, लेकिन वह कभी पूरी नहीं हो पाती। पहले तो वह विधवा थी, इसलिए समाज उसका तिरस्कार व विरोध करता, अब जब सधवा है तो पति के सुख से वंचित है। अपने जीवन की इस त्रासदी को अभिव्यक्त करते हुए वह कहती है–'बापू सच कहता था तेरे भाग मा ना लिख्या। पहले विधवा थी तो नहीं था, अब सधवा हूँ तो भी नहीं है।'[6]

समय के बदलते प्रवाह में डॉ॰ शाह के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता और वह अपने अस्पताल में यांत्रिकता की भाँति लिप्त रहता और अपनी संवेदनहीनता का परिचय बराबर देता रहता। कृष्णा अपने बच्चों–बेटी मीनू और दो बेटों–अजय और अभय की परवरिश उचित ढंग से करती है और उन्हें उचित शिक्षा भी दिलाती है। अपने बच्चों की परवरिश में डॉ॰ शाह निष्क्रिय रहता है। बच्चों के प्रति कृष्णा की आत्मीयता और अंतरगता बढ़ते देख डॉ॰ शाह एक-एक बच्चे को माँ से अलग करके कृष्णा का जीवन एकाकी बना देते हैं। कृष्णा के दुखों का पहाड़ यहीं समाप्त नहीं होता, वह अपनी बेटी मीनू का विवाह कर देती है लेकिन मीनू के ससुराल वाले भी उस पर अत्याचार करते हैं। उसको आत्मनिर्भर बनने से रोकते हैं। इस कारण कृष्णा मीनू के पुत्र अमिष की परवरिश स्वयं करती है और मीनू को शिक्षा प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहित करती है और ससुराल वालों से भी मीनू की शिक्षा-प्राप्ति में व्यवधान डालने पर समझाइश की कोशिश करती है। मीनू के शिक्षा-प्राप्ति पर ससुरालपक्ष वाले अदालत में मुकदमा दायर कर देते हैं। अपने पुत्र की मृत्यु का कारण वह मीनू को बताते हैं। कृष्णा अपनी बेटी मीनू को आत्मनिर्भर बनने की सीख देते हुए कहती है–'अपने पैरों पर खड़ी हो बेटी। रोना-धोना हो चुका है। वह बच्चा भी तेरे पास कानून तभी रहने देगा, जब तू इसके पालने, पढ़ाने, लिखाने का खर्चा उठाने के काबिल होगी।'[7]

इसके उपरांत मीनू एम॰बी॰ए॰ कर मल्टीनेशनल कंपनी में नौकरी करती है और अपने पुत्र अमिष को आस्ट्रेलिया ले जाती है। मीनू वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान स्थापित करती है। भारतीय संस्कृति में स्त्री की स्थिति और विदेशी संस्कृति में स्त्री की स्थिति की तुलना

करती हुए कहती है–'अविवाहित लड़कियाँ भी माएँ होती हैं। पर वे राँड, कुलच्छिनी और कर्मजली नहीं होतीं। वे भी अपना जीवन नॉर्मल जीती हैं।'[8]

इस प्रकार मीनू अपने आत्मविश्वास के बल पर जीवन की कठिनाइयों और समस्याओं को अकेले ही पार करना चाहती है। बुआ उर्मिला महिला संस्था के माध्यम से पीड़ित व कमजोर स्त्रियों की उन्नति के प्रयास स्त्री-जागृति के स्वर बुलंद करती है। वह समाज की वीभत्स मानसिकता की शिकार नारियों के प्रति संवेदनशीलता का परिचय देकर उनको आत्मनिर्भर व स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करने हेतु जाग्रत करती है। समाज के लोगों द्वारा निर्दोष बिंदिया नामक पर नारी के अत्याचार का बखान करते हुए कहती है कि 'कृशि तू सोच भी नहीं सकती, आज एक औरत को डायन बनाकर उसका जो बुरा हाल किया, उसे ट्रक के पीछे बाँध दिया और वह घिसटती हुई, चलते हुए ट्रक के पीछे लहूलुहान होती कई किमी तक ले जाई गई। उसकी देह चिथड़ा हो गई। फिर उसे खोलकर ढाणी के नीचे फेंक दिया गया।'[9] उर्मिला बुआ अपने एनजीओ द्वारा महिला-उत्थान का प्रयास करती है और समाज के औरत के प्रति अमानवीय व्यवहार पर दोषियों को सजा दिलवाने का प्रयत्न करती है और स्त्रियों को मूलभूत सुख-सुविधाएँ उपलब्ध करवाकर अच्छा जीवन जीने का सहयोग प्रदान करती है।

कृष्णा अपने पति की संवेदनहीता व मशीनी जिंदगी के व्यथित जीवन जीने को विवश हो जाती है। डॉ॰ साहब कृष्णा को केवल एक देह ही मानते हैं। वे उसकी आंतरिक अनुभूतियों को तनिक भी नहीं समझ पाते हैं। वह अपने पति से कहती है कि 'मवेशी हूँ क्या मैं? मेरी सिर्फ शारीरिक जरूरतें हैं। बोनटर समझते हो।'[10] अपने पति की गैरजिम्मेदारी व व्यस्तता में डॉ॰ शाह के मित्र डॉ॰ आयुष से नजदीकियाँ बढ़ती जाती हैं और परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं, परंतु कृष्णा को आयुष के पुरुष होने के कारण हमेशा भय व्याप्त रहता है। वह पुरुषों के प्रति भयवादी मानसिकता का परिचय देते हुए कहती है कि 'पुरुष को लेकर भय, नफरत और वितृष्णा। कभी इच्छा ही नहीं पुरुष हमारे सामने आते ही साँप, बिच्छू, होआ, भूत और राक्षस में बदल जाते हैं।' कृष्णा और डॉ॰ आयुष में समय के चलते प्रेम परवान पर चढ़ता है और वे परस्पर शारीरिक संबंध बनाते हैं, जिससे वे अपराधबोध की हीनभावना का शिकार होते हैं। आयुष कृष्णा से प्रेम का बखान करते हुए कहता है–'कृशि मैं आपसे बहुत प्यार करता हूँ। आपका सम्मान करता हूँ। शायद इसलिए मैं आपके लिए और मुसीबतें पैदा नहीं करना चाहता।'[11] कृष्णा के गर्भ में आयुष का बच्चा होने पर आयुष को अपने घर व प्रोफेशनल जीवन का अंत होने के डर पर कृष्णा प्रेम में समर्पण की भावना का चित्रण करते हुए कहती है कि 'ऐसा नहीं होगा। मेरा वायदा है ना तुम्हारा कोई भी नुकसान मैं नहीं होने दूँगी। इसकी चिंता तुम छोड़ दो।'[12]

कृष्णा अपने जीवानुभवों को चित्रों के माध्यम से उकेरती और प्रदर्शित करती है। जब प्रिंट मीडिया कृष्णा से चित्रकार बनने को लेकर सवाल करती है तो वह विधवा बुआ को अपना प्रेरणास्रोत बताती है। अपने चित्र में जीवन की त्रासदियों को चित्रित करने पर वह कहती है कि 'मैंने भी जीवन की भट्टी में तपकर ये चित्र बनाए हैं। इसमें एक ही औरत है। ये सारे चित्र एक ही औरत के हैं। इन चित्रों में औरत के विविध रूप और अलग-अलग चेहरे भी एक ही

औरत के हैं। विधवा, पत्नी और माँ ये भी एक ही औरत हैं। सारे कर्म, क्रियाएँ, भंगिमाएँ, मुद्राएँ ये सब एक ही औरत की हैं जो अलग-अलग तरह प्रकट हुई हैं। इन भिन्न कर्मविधियों में, जीवन-पद्धतियों और जीवन-शैलियों में दिखनेवाली औरतें भी एक ही औरत है। और, यह औरत मैं हूँ।'[13]

कृष्णा के आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने व भौतिक जगत में प्रवेश करने पर घर के सदस्यों व बाहर के लोगों को अच्छा नहीं लगता है। वह कहती है कि 'डॉक्टर ने अजय और अभय को बुला लिया व मीनाक्षी भी आ गई थी। सबके चेहरे पर सर्द उदासीनता थी। वे सब इकट्टे बैठते और मेरे विश्वासघाती और बेहूदा औरत होने पर आपस में एक-दूसरे को विश्वास दिलाते।'[14] उर्मिला बुआ समाज कल्याण बोर्ड की सदस्य नियुक्त होती हैं और स्त्रियों में शिक्षा, प्रसव व प्रजनन पीड़ा के प्रति जागृति, छोटे व लघु उद्योगों की प्रशिक्षण व आर्थिक स्तर उच्च करने हेतु व आत्मनिर्भरता से युक्त जीवनयापन करने हेतु संघर्ष करती हैं। वहीं कृष्णा पति के मशीनी जिंदगी व अनजाने व्यवहार से व्यथित रहती है। कृष्णा के बापू की मृत्यु पर भी डॉ॰ शाह नहीं जाते हैं, जिससे कृष्णा के भीतर उदासी व अकेलापन घर कर जाता है। वह अपने जीवन की त्रासदी को व्यक्त करते हुए कहती है कि 'पहले वह विधवा थी इसलिए अछूत जैसी थी, अब यह सधवा है और बड़े आदमी की पत्नी है, इसलिए अछूत है।'[15] डॉ॰ शाह द्वारा कृष्णा से तलाक पर अपनी बदतर स्थिति का बखान करते हुए कहती है कि 'मैं शायद बीसवीं सदी की आखिरी औरत हूँ। अकेली इसी बीती शताब्दी की दहलीज पर खड़ी। एकदम निस्सहाय। मेरी इस सोच ने मुझे और भी अकेला और मेरी स्थिति को जटिल बना दिया है।'[16] कृष्णा ने बाहरी जिंदगी को अपने अनुसार ढाला और वैश्वीकरण में अपनी धूमिल होती छवि को प्रकाशमान पुंज के समान आलोकित किया। जरीन नामक चित्रकार वैश्वीकरण में स्त्री दशा का वर्णन करते हुए कहती है–'कृष्णा हम आज की मध्ययुगीन दुनिया में जीने के लिए मजबूर हैं। सदियों से हमें घसीटने की कोशिश की जा रही है। लेकिन अब पुरुष और स्त्री की अस्मिताओं में विद्वेषपूर्ण संघर्ष शुरू हो गया है।'[17] जरीन धर्म में स्त्री-शोषण का पर्दापाश करते हुए कहती है–'इस्लाम और मजहब के रखवाले मुल्ला-मौलवी बुलडोजर में औरत के जिस्म, उसके मन और दिमाग को रौंदते हैं।'[18] डॉ॰ शाह कृष्णा पर अपशब्दों का प्रयोग करता है और उस पर अदालत में वेश्या, चरित्रहीन, बदचलन, घर की मान मर्यादा नष्ट करनेवाली आदि अनेकोनेक आरोप लगाता है। लेकिन कृष्णा भारतीय आदर्शवादी नारी का परिचय देते हुए डॉ॰ शाह को पति को मानकर जीवनयापन करने का दृढ़ संकल्प लेती है। वह कहती है–'तुम्हारे तलाक से मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं तो तुम्हें तलाक नहीं दे रही। मेरी चिता में पहली समिधा तुम ही रखना। मेरी औरत ने सुख-दुख तुम्हारे साथ भोगा। जीवन में तुमने अभाव की पूर्ति की।'[19]

इस प्रकार उपन्यास के आरंभ से अंत तक स्त्री का जीवन पीड़ित, उपेक्षित, अपमानित, तिरस्कृत, शोषित व अत्याचारों से ग्रसित ही रहा है। वह जीवनभर संघर्ष ही करती रहती है लेकिन सफलता कभी भी नहीं मिल पाती है। वह अपना यश बाहरी संसार में स्थापित करती है परंतु पुरुषसत्ता के अत्याचारों के सामने अंदर से खोखली ही प्रतीत होती है। निष्कर्ष रूप में

 ISSN 0975-735X

कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास में स्त्री-अस्मिता, स्त्री-अधिकार, स्त्रियों की निर्णयात्मक शक्ति, स्त्री-संबधित कानून, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति में स्त्री-शोषण की अभिव्यक्ति पर व्यापक प्रकाश डाला गया है।

संदर्भ

1. मैं घूमर नाचूँ, कमलकुमार, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2010, पृ॰ 24 व 32
2. वही, पृ॰ 29
3. वही, पृ॰ 69
4. वही, पृ॰ 58
5. वही, पृ॰ 87
6. वही, पृ॰ 115
7. वही, पृ॰ 116
8. वही, पृ॰ 127
9. वही, पृ॰ 141
10. वही, पृ॰ 222
11. वही, पृ॰ 222
12. वही, पृ॰ 204
13. वही, पृ॰ 206
14. वही, पृ॰ 209
15. वही, पृ॰ 262
16. वही, पृ॰ 262
17. वही, पृ॰ 266
18. वही, पृ॰ 269
19. वही

हिंदी और पंजाबी के नाटकों में बदलता पारिवारिक परिवेश

(21वीं शताब्दी के विशेष संदर्भ में)

गुरमीत सिंह, शोधकर्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर
एस॰यू॰एस॰ कॉलेज, गुरु हरसहाय (फिरोजपुर)
डॉ॰ विनोदकुमार, शोध निर्देशक
एसोसिएट प्रोफेसर

परिवार, समाज और समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। आधुनिकयुग के परिवेश ने परिवार को प्रभावित ही नहीं किया, बल्कि विघटित भी किया है। केवल संयुक्त परिवार ही नहीं, पति-पत्नी और बच्चों में भी परिवारों का विघटित होना साधारण-सी बात हो गई है। आधुनिकयुग के परिवेश ने व्यक्तिवाद और अहंवाद को उभारा है। इसने व्यक्ति को एकमात्र इकाई बना दिया है। उत्तर-आधुनिकता के कारण जो व्यापक और स्वेच्छापूर्ण परिवेश हमारे परिवारों के सामने आए हैं, उसका वास्तविक रूप आसानी से देखा जा सकता है। पहले लोग संयुक्त परिवार में रहकर भी खुश थे। आज भारत के लोग एकल परिवार में रहकर भी खुश नहीं रह पाए। बेटे को बाप नहीं समझ रहा और बाप को बेटा नहीं समझ रहा, दोनों ही एक-दूसरे को बोझ समझते हैं।

पहले परिवार साफ-सुथरे सरोकारों से भरे हुए थे। आज के परिवार में न ही वह सरोकार रहा और न ही संस्कार। बस भाग-दौड़ का एक सिलसला है, जो रोज सुबह उठते ही शुरू हो जाता है और शाम को सोने तक खत्म होता है। इस भाग-दौड़ की जिंदगी में किसी के लिए समय ही नहीं है। यदि इस भाग-दौड़ की जिंदगी में थोड़ा-सा समय अपने परिवार और समाज के लिए निकाल लें तो सामन्य परिवेश में परिवर्तन आ सकता है। परिवार व्यक्तियों का वह समूह होता है, जो विवाह और रक्त-संबंधों से जुड़ा होता है। परिवार मनुष्य के जीवन का बुनियादी पहलु है। व्यक्ति का निर्माण और विकास परिवार से ही होता है। परिवार मनुष्य को मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करता है। प्रेम, स्नेह, सहानभूति, आदर-सम्मान आदि जैसी भावनाएँ सिखाता है। श्रीराम शर्मा ने अपनी रचना 'लोकसाहित्य का समाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन' में लिखा है-'समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार होती है। पारिवारिक जीवन के विश्लेष्ण से समाज के स्वरूप की स्पष्ट झाँकी मिल सकती है।'[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परिवार का समाज में विशेष महत्त्व है किंतु इससे भी

 ISSN 0975-735X

अधिक महत्ता भारतीय समाज में सयुंक्त परिवार की हुआ करती थी। संयुक्त परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की जिम्मेदारी होती थी कि वह स्वस्थ, आर्थिक, समाजिक एवं सुरक्षा-संबंधी समस्याओं को सभी मिलकर वहन करते थे। कोई भी अकेला व्यक्ति परेशानी नहीं उठाता और न ही किसी एक पर तनाव रहता है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, नौकरी की समस्या, आर्थिक परिस्थिति आदि ने संयुक्त परिवारों को छोटे परिवारों में बदल दिया और एक-एक व्यक्ति पर तनाव रहने लगा। जिस कारण पहले जैसा पारिवारिक परिवेश न रहकर बदलने लगा।

हिंदी नाट्य साहित्य में यदि हम 21वीं शताब्दी के नाटकों में पारिवारिक परिवेश को प्रस्तुत करें तो इसकी तुलना के लिए हमें सबसे पहले अतीत के नाटकों में से पारिवारिक परिवेश को प्रस्तुत करना होगा। इस दृष्टि से देखें तो विष्णु प्रभाकर ने अपनी रचना 'टूटते परिवेश' में पीढ़ियों के इसी संघर्ष को उभारकर संयुक्त परिवार के विघटन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। करुणा के इन शब्दों में संयुक्त परिवार के विघटन के स्वर बोल रहे हैं, 'कोई रहा है तुम्हारे कहने में। एक-एक कर सभी चले गए। जितना ही तुम परिवार को सहेजने की कोशिश करते हो, उतना ही वह बिखरता जाता है। हर कोई इंतजार में रहते हैं कि बहाना मिले और वह बाहर निकल जाएँ।'[2]

ऐसे ही पुरातन परिवेश को प्रस्तुत करता पारिवारिक समस्याओं से जुड़ा लक्ष्मीनारायण का सामाजिक नाटक 'अंधा-कुआँ' है। इस नाटक में अंधा-कुआँ एक मुक्ति का प्रतीक माना गया है। इसमें कमालपुर गाँव की पृष्ठभूमि में एक किसान-दंपती के विषम जीवन को लेकर पुरुष द्वारा नारी के प्रति होनेवाले अन्याय को दर्शाया गया है। यह नाटक पारिवारिक जीवन में नारी की मजबूरी, उसके प्रति सहानुभूति की भावना और ग्रामीण नारी-जाति के जीवन में यथार्थ के कारुणिक चित्रण का नाटक है। इस नाटक में सुका नामक स्त्री मुख्य पात्र है। भगौती सुका का पति है, जो सुका को जीवन-संगिनी नहीं, बल्कि अपने मिथ्या पुरुष की कसौटी मानता है। अंधे कुएँ में जल का आभाव है। इस अभाव का कारण यह है कि कुआँ सूखा है और उसमें गिरकर सुका जैसी नारी अपने हाथ-पैर भी तोड़ चुकी है। सुका की स्थिति बहुत दयनीय है। इन कष्टों से मुक्ति पाने के लिए एक बार कुएँ में भी कूद पड़ती है, लेकिन दुर्भाग्यवश वह कुआँ भी अंधा निकलता है। इस विषय में नाटक का कुछ अंश प्रस्तुत है–

कथाकार : हरने से पहले ही क्यों हार जाऊँ। सुका ने सोचा, फिर क्यों ना भाग जाऊँ। मगर इस बार वह किसी के संग न गई भागकर। वह एक कुएँ में कूद गई। मगर वहाँ भी किस्मत देखिए कुआँ अंधा था।

सब : कुआँ अंधा था, कुआँ अंधा था.., कुआँ अंधा था। (संगीत)
केहुना सुनी पुकार
हिरनी तब कुँअना गिरी
तुहि राखों यहि बार
बिस्न गोसाई कुँअना।[3]

इसी प्रकार शांति मेहरोत्रा का नाटक 'ठहरा हुआ पानी' पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों के संघर्ष, मूल्यों के अंतर और टकराहट तथा आधुनिक संवेदना का नाटक है। इस नाटक में संबंधों

का खोखलापन और उससे उत्पन्न असामान्य ग्रंथि एवं शून्यता का चित्रण किया गया है। नाटक की कथावस्तु शिथिल है। परिवार के छोटे-मोटे क्रियाकलापों द्वारा विषय को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी गई है। परिवार में महिलाओं को काफी संघर्ष करना पड़ता है, जिसके कारण तनाव की स्थिति आ जाती है। विभारानी का नाटक 'अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजे' भी इस विषय से ही संबंधित है। नाटक में अंकिता नामक पात्र के साथ दुष्कर्म उसके पिता और भाई द्वारा ही किया जाता है। अंकिता के पिता अंकिता की माँ को धमकाते हैं–

पापा : मैंने तुम्हें भी कहा कि तुम कहीं नहीं जाओगी।

मम्मी : क्यों इससे तुम्हारी इज्जत चली जाएगी? इतना ही इज्जत का डर था तो ऐसा काम क्यों किया?

पापा : ज्यादा तेवर दिखाने की कोशिश मत करो। मत भूलो कि इस घर में मैं कमाता हूँ, तुम मेरे पैसे पर पलनेवाली पालतू कुतिया हो, मैंने अगर तुम्हें छोड़ दिया न, तो दर-दर की भिखारन हो जाओगी, दर-दर की भिखारन और घर से निकली हुई कुतिया को बाहरवाले नोच-नोचकर खा जाते हैं।[4]

इस प्रकार हिंदी नाटकों को रोमांस के कटघरे से बाहर निकालकर आधुनिक भावबोध एवं जीवन के यथार्थ के साथ जोड़कर नई दिशा, नया आयाम प्रदान करनेवाले कुशल नाटककार उपेंद्रनाथ अश्क ने भी अपने नाटक 'अलग अलग रास्ते' में मध्यवर्गीय परिवार की विडंबना का चित्रण प्रस्तुत किया है। यदि तत्कालीन हिंदी नाटकों के द्वारा आधुनिक बदलते पारिवारिक परिवेश की बात करें तो इस समस्या से संबंधित नादिरा जहीर बब्बर का नाटक 'जी जैसी आपकी मर्जी' है। इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 21वीं शताब्दी आ जाने के बाद और इतनी वैज्ञानिक उन्नति होने के बाद भी हमारे परिवारों की स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया। आज भी परिवारों में स्त्री को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जो होना चाहिए। लड़कियों को आज भी घर से बाहर जाने और नाटक देखने आदि को माँ-बाप मना करते हैं। इस नाटक की पात्र दीपा हमेशा ही अपने स्कूल में प्रथम श्रेणी से पास होती है। लेकिन उनकी माँ सामाजिक रिवाजों से हिचकते हुए और अपने परिवार के मान-सम्मान पर कोई आँच न आने के डर से तीनों बहनों को नाटकों में भाग लेने से मना करती है और उसकी दादी के द्वारा आज भी परिवार में मतभेद रखा जाता है। जिसको देखकर परिवार के अन्य सदस्य घुटन महसूस करते हैं। दीपा कहती है–

'दादी हमेशा ऐसा ही करती है। मुझे और मेरी दीदियों को कभी भी पहनने के लिए अच्छे कपड़े नहीं मिले। दीवाली पे साल में एक बार हमारे नए कपड़े बनते हैं। वो भी सड़क पर बैठे हुए दुकानदारों से और भैया के कपड़े, कपड़े की दुकान से खरीदे जाते हैं। हमारा कभी बर्थडे भी नहीं मनाया जाता। भैया के बर्थडे पर बहुत बड़ी पार्टी होती है। घर के सामने टेंट भी लगता है। गाने भी बजते हैं। ऐसा नहीं कि हमें भैया के बर्थडे पर खुशी नहीं होती, लेकिन हमारा भी बर्थडे मनाना चाहिए।'[5]

यदि हम पंजाबी नाटकों में पारिवारिक परिवेश देखें तो परिवार समाज की एक छोटी इकाई अथवा साँझ का ही एक छोटा हिस्सा है। परिवार मानव-जीवन के प्रारंभ से ही इसके

 ISSN 0975-735X

साथ रहा है। परिवार व्यक्ति के समाजीकरण का एक प्रमुख साधन भी है। पंजाबी नाटकों का आरंभ अन्य भाषाओं के अनुवाद में से समाज-सुधार एवं पारिवारिक उपदेशात्मक के रूप में हुआ है। यदि आरंभिक पारिवारिक नाटकों की बात करें तो इसमें ब्रजलाल शास्त्री का 'सुकन्या' है, इस नाटक की कथा पारिवारिक है। इस नाटक में पतिव्रता औरत की जीत दिखाई देती है। नाटक के अंत में पतिव्रता नारी भगवान से प्राथना करती है और असली पति को पहचान लेती है। इसी प्रकार आई॰सी॰ नंदा के नाटक 'सुभद्रा' में भी उस समय के पारिवारिक परिवेश की झलक देखने को मिलती है–सुभद्रा जवानी में ही विधवा हो जाती है और उसके ससुराल में उसकी सास उसे बहुत परेशान करती है।

इस प्रकार हम बदलते परिवेश को विकास की दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए पंजाबी नाटक में पारिवारिक परिवेश को देखें तो दूसरी पीढ़ी में भी इस विषय से संबंधित काफी नाटकों की रचना हुई है, जिसमें रोशनलाल आहुजा का नाटक 'तलाक' भी है। इस नाटक में मध्यम परिवार की मुख्य समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। नाटककार ने दो स्तरों में पारिवारिक तकरार को प्रस्तुत किया है। एक में पति पारिवारिक समस्याओं का कारण बनता है तो दूसरे में पत्नी पारिवारिक समस्याओं का कारण बनती है। प्रथम स्तर पर धर्मदेवी और उसके पति देवराज की घटना को प्रस्तुत किया गया है और दूसरे में हरबंसलाल कपूर और उसकी पत्नी सुशीला के बीच में टकराव को प्रस्तुत किया गया है। प्रथम धर्मदेवी एक ऐसी स्त्री-पात्र है, जो अपने परिवार के लिए अपनी इच्छाओं का नाश करती है। उसका पति नशा करता है और वह अंदर से टूटी हुई भी अपने फर्जों के प्रति सजग है।

पारिवारिक झगड़ों में सिर्फ आदमी ही जिम्मेदार नहीं होता। कई बार औरतें भी इसकी जिम्मेदार होती हैं। दूसरे परिवार की समस्या की कथा में कपूर नामक एक अच्छे स्वभाव का आदमी और उच्च पदवी का अफसर है। उसकी पत्नी सुशीला माँ-बाप की लाडली बेटी थी। वह अपने पति और बच्चों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देती एवं अपने पैरों पर खड़े होना चाहती है। वह अपने गृहस्थ जीवन से खुश नहीं रहती। एक बार सुशीला गैर मर्दों के साथ शराब पीते हुए पकड़ी जाती है। इस जुर्म से वह इतनी डर जाती है कि थानेदार से कहती है कि मैं अपने पति के साथ घर नहीं जा सकती। जब सुशीला जज के सामने तलाक के लिए बयान देती है तो कहती है–

> सुशीला : मेरे लिए सारे पुरुष एक जैसे हैं, स्वार्थी, कामुकता के भूखे, जुल्म के पियासे, गुलामी के पत-पालक, गृहस्थी पुरुषों का रचा हुआ जाल है, फंदा है, पिंजरा है। मैं अपनी जाति के नाते इस कैद को बगावत कहती हूँ और किसी पुरुष के साथ रहने के लिए त्यार नहीं।[6]

नाटककार ने पश्चिमी प्रभाव के अधीन आधुनिक परिवारों में तेजी से आ रही मोहभंगता, अविश्वसनीयता और अहम् के कारण बिगड़ रही स्थिति को प्रस्तुत किया है, इसका शिकार पुरुषों के साथ नारी भी हो रही हैं।

यदि हम 21वीं शताब्दी के पंजाबी नाटकों के माध्यम से बदलते पारिवारिक परिवेश की बात करें तो इस विषय से संबंधित कुलदीपसिंह दीप का नाटक 'तू मेरा की लगदें' है। इस

नाटक का मुख्य पात्र प्रधमनसिंह है, जिसने सारी जिंदगी रेलवे की नौकरी करके अपने परिवार को पाला-पोसा और बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाई, लेकिन जब वह अपनी नौकरी से रिटायर होकर अपने परिवार के साथ रहने के लिए घर आया तो उसे सब बदला-बदला लगा। वह बिना बताए ही अपने घर आ जाता है। इस दौरान उनकी पत्नी के साथ वार्तालाप का अंश देखें–

बचनकौर : ओ... तुम कब आए... बताया तक नहीं?

प्रधमन : बताने को पगली मैं कौनसा नरेंद्र मोदी आ भी... तुझे सिकुरटी का इंतजाम करना था ...रिटायर हो गए ... चुका बिस्तरा रात की ट्रेन पे बैठे ...और सुबह आपके चरणों में पहुँच गया।

बचन कौर : अब ढंग से बोला करों, बच्चे बड़े हो गए।

प्रधमन : लो फिर हम कोनसे छोटे हैं... हम ओर बड़े हो गए।

बचनकौर : लो जी याद आ गया... अभी तो मैंने योगा करना भाई...

प्रधमन : बचन कुरे, आज तो तुम जोग सिऊ करने लगी हो, कल को बौघा सिऊ करोंगे और मुझे करे कराए को दरकार रही हों... मेरे खार्ष पड़ी हुई है? मॉडल ही पुराना ऐ... इंजन तो आठों आठ मरता है ...चलो चाय लाओ।

बचनकौर : फेर भकाई...? तुझे बोला है न इस कलमुही जुबान को लगाम लगाकर रखो ...अब यह तेरा घर नहीं बच्चों का घर है।

प्रधमन : मेरा घर नहीं ...बच्चों का घर है? (उदास संगीत चलता है)

सामान्य शब्दों में कहें तो 21वीं शताब्दी के बदलते परिवेश की दृष्टि से सामाजिक संबंधों के साथ-साथ आत्मीय रिश्तों से जुड़े सरोकार भी बहुत कमजोर पड़ रहे हैं। सही बात यह है कि इस आधुनिकता के दौर में रक्त-संबंधों के साथ-साथ अब रिश्ते-नाते भी स्वार्थ की आग में झुलसने को मजबूर हैं। संयुक्त परिवार की टूटन, रक्त-संबंधों में बिखराव तथा रातोंरात सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचने की लालसा जैसे कारणों के चलते सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों में बदलाव की तेज चाल महसूस हो रही है। वैसे तो हमारे सामाजिक संबंधों और रिश्तों में खूनी जंग का एक लंबा इतिहास रहा है। पहले इस प्रकार की घटनाएँ राजघरानों के आपसी स्वार्थों के टकराने तक सीमित रहती थीं, लेकिन अब यह मुद्दा और भी गंभीर हो गया है, क्योंकि अब छोटे-छोटे निजी स्वार्थों को लेकर रक्त-संबंधों अथवा रिश्ते-नातों की बलि चढ़ाने में आमजन भी शामिल हो गए हैं।

वर्तमान की इस सच्चाई को प्रस्तुत करते ये नाटक जिसमें तकनीकी मूल्य, पूँजी के जमाव, सूचना तकनीकि के साथ-साथ सोशल मीडिया से बढ़ती घनिष्ठता जैसे कारकों के फैलाव के सामने परिवार, समुदाय तथा इनमें सामाजिक रिश्तों में टूटन की तीव्रता वास्तव में हमारी चिंता का विषय है। कुसुम खेमानी अपनी रचना 'हिंदी नाटक के पाँच दशक' में लिखती हैं, 'हम यह स्पष्ट देख चुके हैं कि अधिकांश नाट्य-कृतियों में परिवार, दांपत्य-जीवन और कामेषणा के अतिरिक्त घात-प्रतिघात, द्वंद्व, घुटन, संत्रास आदि को ही मनोवैज्ञानिक आधारभूमि पर प्रस्तुत किया गया है। इस तरह एक भावना यह भी बनती है कि ये नाटक वैयक्तिक यथार्थ को लेकर रचे गए हैं और भोगी हुई अनुभूतियाँ केवल व्यक्ति-सापेक्ष हैं।'[8]

 ISSN 0975-735X

संदर्भ

1. लोकसाहित्य का समाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीराम शर्मा, पृ॰ 18
2. टूटते परिवेश, विष्णु प्रभाकर, पृ॰ 34
3. अंधा-कुआँ, लक्ष्मीनारायण लाल, पृ॰ 44
4. अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजे, विभा रानी, पृ॰ 74
5. जी जैसी आपकी मर्जी, नादिरा जरीर बब्बर, पृ॰ 61
6. तलाक, रोशनलाल आहुजा, पृ॰ 30
7. तू मेरा की लगदें, कुलदीपसिंह दीप, पृ॰ 24,25
8. हिंदी नाटक के पाँच दशक, कुसुम खेमानी, पृ॰ 203

सुपुत्र श्री बलविंदर सिंह
ग्राम हौज खास, पोस्ट चिमने वाला
जिला फजिल्का (पंजाब) 152123
ईमेलः gurmeet-singh42584@gmail.com
मो॰ 9417849367

प्रगतिवादी आंदोलन का उदय और विकास

डॉ॰ नीता कुमारी

साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रगतिवादी आंदोलन एक ऐसा आंदोलन था, जिसने साहित्य की विषयवस्तु, उसके सरोकार, रूप-विधान तथा संप्रेषण, भाषा-शैली और पाठक में ही युगांतरकारी परिवर्तन नहीं किए बल्कि साहित्य को जनजीवन के इतना समीप कर दिया कि वह जनजागृति का माध्यम बन गया। जीवन के प्रति साहित्य के जो उद्देश्य सैद्धांतिक रूप में ज्ञात थे लेकिन फलीभूत नहीं हो पाए थे, प्रगतिवाद ने पहले-पहल उन्हें व्यावहारिक स्तर पर मूर्त और मुखर किया। प्रगतिवादी आंदोलन के उदय और प्रगतिशील लेखक संगठन के निर्माण को लेकर अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। धर्मवीर भारती के अनुसार, 'हिंदोस्तान की कुछ ऐसी बदकिस्मती रही कि यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला निकल चुका था। विदेशों की उस उतरन को हमने बड़े चाव से दौड़कर पहना।'[1] इसी तर्क के आधार पर यह भी कहा जाता है कि इसका वास्तविक प्रेरणास्रोत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत रूस द्वारा प्रारंभ किया सांस्कृतिक अभियान था और यह आंदोलन कंयुनिस्ट पार्टी द्वारा नियंत्रित था। इन्हीं तर्कों और आधारों पर यह निष्कर्ष निकाले जाते हैं कि यह आंदोलन हिंदी की अपनी जातीय साहित्यिक परंपरा से उद्‌भूत न होने के कारण यहाँ की जातीय भावभूमि से अलग-थलग था परंतु 19वीं शती के अंत और 20वीं शती के प्रारंभिककाल में हो रहे राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय घटना-विकास के क्रम को देखकर हम समझ सकते हैं कि सारी दुनिया में घट रही घटनाएँ संपूर्ण मानवता का एक जैसा सरोकार थीं और उनके सकारात्मक व नकारात्मक पहलुओं से सभी राष्ट्र प्रभावित हो रहे थे।

प्रगतिशील आंदोलन : उदय का अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य

विध्वंस का वास्तविक रूप प्रथम महायुद्ध की सूरत में दुनिया देख चुकी थी। मानवता के इस भयंकर शत्रु के विरुद्ध शांति के लिए जनमत संग्रह के प्रयास यूरोप में बड़े पैमाने पर शुरू हो चुके थे। 1917 की क्रांति से समाजवादी शक्ति का उदय हो चुका था। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इन प्रयासों को संगठित करने, उन्हें सहायता देने के लिए 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' नामक संगठन सक्रिय हुआ, जिसकी स्थापना लेनिन ने की थी। इसकी प्रथम काँग्रेस में कहा गया कि 'सर्वहारा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल साम्राज्यवाद' के उपनिवेशों की शोषित-पीड़ित जनता के संघर्ष को हरसंभव सहायता देगी जिससे कि साम्राज्यवाद विश्व-व्यवस्था का अंतिम विघटन हो जाए। भारत में रवींद्रनाथ टैगोर और ए॰ कुमार स्वामी ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किए थे।

प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन : उदय का राष्ट्रीय संदर्भ

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के प्रयासों और प्रगतिशील सांस्कृतिक

 ISSN 0975-735X

संगठनों के निर्माण की परिस्थितियों और प्रेरणाओं से यह तथ्य उभरकर सामने आया कि उस समय विश्व के स्तर पर घट रहीं घटनाएँ इतिहास को एक ऐसा मोड़ दे रही थीं। उनके सामने कुछ इस प्रकार की चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रही थीं, जिनसे संपूर्ण विश्व की जनता प्रभावित हो रही थी। भारत की समसामयिक परिस्थितियों ने प्रगतिवाद के उदय और विकास को संभव बनाया।

(क) राजनीतिक पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में ब्रिटिश सरकार औद्योगीकरण की प्रक्रिया को और उसके साथ आने वाले महान सामाजिक परिवर्तनों को रोक नहीं सकी। भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व नए औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि पार्टी 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' के हाथों में सौंपा गया। 'काँग्रेस की स्थापना यद्यपि 1885 में हो चुकी थी तथापि बीसवीं सदी के प्रारंभ तक वह ब्रिटिश साम्राज्य की वफादार सेविका थी।'[2] पर 1905 में स्थिति बदली। बंग-भंग ने राष्ट्रीय चेतना को झकझोरा। जनता ने विदेशी बहिष्कार के माध्यम से इसका भरसक विरोध किया। इसने आगे चलकर स्वदेशी और स्वराज्य के आंदोलन का रूप ले लिया। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में काँग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' प्राप्त करना रखा गया। 1908 में लेख लिखने पर तिलक की गिरफ्तारी पर बंबई के कपड़ा मजदूरों ने आम हड़ताल कर दी। 'भारतीय मजदूरों की यह पहली राजनीतिक हड़ताल थी, जिसका अभिनंदन लेनिन ने भारतीय मजदूरवर्ग की परिपक्वता का चिह्न कहकर किया था।'[3]

बढ़ते हुए साम्राज्यवादी दोहन, असंतुलित विनिमय, अकाल और महामारी, जमींदारों और सूदखोरों के शोषण के साथ-साथ पूँजी बाजार की बढ़ती हुई शक्ति ने मिलकर छोटे और बेजमीन किसानों की तबाही का सारा सामान एकत्र कर दिया। साधारण जनता के असंतोष की छाया में काँग्रेस ने अपने क्रियाकलापों को नया रूप देते हुए गरम दल, नरम दल और मुस्लिम लीग के बीच समझौते के प्रयास किए और मिलकर सुधारों की एक योजना बनाई, जिसका उद्देश्य आंशिक स्वराज्य की माँग थी। चंपारन में पहली बार गांधी जी द्वारा सत्याग्रह किया गया। 1928 में औद्योगिक मजदूरों की हड़तालों का एक देशव्यापी सिलसिला शुरू हुआ, वहीं 18 मार्च 1929 को रोलेट एक्ट द्वारा जनरल और अन्य शासकों को बिना मुकदमा चलाए किसी को भी जेल भेज देने का अधिकार दे दिया। इस कानून का विरोध किया गया। सरकारी रिपोर्ट में भारतीयों की एकता पर चिंता व्यक्त की गई। इन विरोधों को दबाने के लिए जलियावाला बाग का नृशंस हत्याकांड हुआ। पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया और जगह-जगह प्रदर्शनकारियों के जुलूसों पर हवाई जहाज से बम गिराए गए। असहयोग आंदोलन शुरू हुआ, खिलाफत आंदोलन शुरू हुआ। अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन के साथ जनता के क्रांतिकारी आंदोलन उठ खड़े हुए। मजदूरवर्ग ने भी हड़तालें आरंभ कर दीं। 1920-21 में बंबई, कलकत्ता, लखनऊ, अहमदाबाद और आसाम के चाय बागानों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं। अखिल भारतीय स्तर पर एक मजदूर संगठन बनाने के प्रयत्न आरंभ हुए। 30 अक्टूबर 1920 को बंबई में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस का पहला अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ। किसान आंदोलन 20-21 में विशेष तीव्र होने लगा। काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में 'मजदूरों और

किसानों में काम करने और उन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के प्रस्ताव भी काँग्रेस ने स्वीकार किए।'[4] किसान आंदोलन पर नेहरू ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, 'मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहर वालों की मदद के या राजनीतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के कैसे बिलकुल अपने आप वह इतना आगे बढ़ गया। यह किसान आंदोलन काँग्रेस से बिलकुल अलहदा था।'[5] 1920 के अंतिम महीनों में कुछ गिरफ्तार किसान नेताओं पर प्रतापगढ़ में मुकदमा चलाया जा रहा था। मुकदमे के दिन हजारों किसान एकत्र हो गए और मजिस्ट्रेट ने घबराकर नेताओं को छोड़ दिया। किसानों ने इसे बहुत बड़ी विजय समझा। 1921 में जनवरी में फैजाबाद में दस हजार किसानों ने कस्बे के हजारों लोगों के साथ मिलकर प्रदर्शन किए और जमींदारों की संपत्ति पर आक्रमण किए। रायबरेली में भी प्रदर्शन हुए। उन्होंने जमींदारों की संपत्ति जलाई, टैक्स देने से इंकार किया और अपने साथियों को छुड़ाने के लिए हथियार उठाए।

साइमन कमीशन का बहिष्कार, नेहरू रिपोर्ट और विधान के प्रति असंतोष बढ़ते हुए मजदूर आंदोलन आदि स्थितियाँ निम्न-मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को भी क्रांतिकारी क्रियाकलाप की प्रेरणा दे रही थी। बहुत से महायुद्ध के समय के पुराने आतंकवादी संगठनों को पुनर्जीवित किया गया। काकोरी षड्यंत्र की घटना, जिसमें सरकारी खजाना लूटा गया, इसी बात का प्रमाण है। भगतसिंह और उनके साथियों ने 'नौजवान भारत सभा' बनाई। यह सभा मजदूर किसान पार्टियों के मूल सिद्धांतों और कार्यक्रमों को तथा कम्युनिस्ट आंदोलन के अंतिम उद्देश्य को स्वीकार करती थी। इसका महत्त्वपूर्ण काम काँग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना कर जनता को उग्र राजनीतिक कार्यक्रम की प्रेरणा देना और जनता में क्रांतिकारी आंदोलन के लिए सहानुभूति उत्पन्न करना था।

(ख) सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

भारतवर्ष सामाजिक दृष्टि से बहुत रोगग्रस्त रहा है। यह धर्म और संप्रदाय-बहुल देश है। हिंदूसमाज की कुरीतियों में छुआछूत, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, ब्राह्मण-पूजा, वर्ण-व्यवस्था आदि प्रमुख हैं। मुस्लिम समाज भी पर्दा-प्रथा, बहुविवाह, अरब की अनावश्यक अनुकृतियाँ आदि कुरीतियों से ग्रस्त रहा है। जब भारत के लोग पश्चिमी सभ्यता के संपर्क में आए तो उन्हें सामाजिक सुधार की आवश्यकता महसूस हुई।

राममोहन राय ने पश्चिमी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को आत्मसात करके और हिंदू शास्त्रों में से हिंदूधर्म के सार के रूप में एकेश्वरवाद की खोज करके, 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। नारी-सम्मान में वृद्धि का श्रेय भी इन्हीं को है। केशवचंद्र सेन ने प्रतिमा-पूजा, जाति-पाति और अन्य हिंदू रूढ़ियों के खिलाफ जबरदस्त आंदोलन चलाया। डोरोजियो ने बंगाली युवकों में नए और प्रगतिशील विचार भरने में बहुत योग दिया। महाराष्ट्र में नवजागरण का नेतृत्व महादेव गोविंद रानाडे ने किया। तिलक के 'गीता की प्रवृत्तिवादी व्याख्या ने अपने चिंतकों को बहुत प्रभावित किया।'[6] पंजाब में दयानंद सरस्वती ने आर्यसमाज के माध्यम से प्रगतिशील आंदोलन चलाया। थियोसोफीकल सोसायटी द्वारा एनी बेसेंट ने अतीत के प्रति गर्व की भावना भरने का काम किया। रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद ने अलग-अलग धर्मों के

 ISSN 0975-735X

अनुसार अपने जीवन को ढालकर सभी धर्मों की समानता की घोषणा की। निवृत्तिवादी दर्शन का विवेकानंद ने प्रबल विरोध किया। हिंदूधर्म की रूढ़ियों और बाह्याडंबरों पर उन्होंने कसकर प्रकार किए। महात्मा गांधी, टैगोर, अरविंद घोष ने भी जागृति लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सर सैयद अहमद ने बहावी आंदोलन चलाया, यह पुनरुत्थानवादी आंदोलन था। 'इस आंदोलन ने गरीब किसानों के जमींदारों और उनके हिमायती मुल्लाओं के विरुद्ध विद्रोह का रूप धारण कर लिया।'[7] यही नहीं, इन्होंने हाली और शिबली में इस्लाम के पुनरुत्थान की भावनाएँ भरकर मुसलमानों को अतीत के प्रति गर्व दिया।

प्रगतिशील आंदोलन के जन्म के समय राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक समानता के आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक नवजागरण की धारा भी अधिकाधिक बलवती होती जा रही थी। हिंदीभाषी क्षेत्रों में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल इस नवीन जागरण के प्रधान व्याख्याता थे। इस नवजागरण ने और उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति ने आगे आनेवाले प्रगतिशील आंदोलन की उसी प्रकार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार की, जिस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन ने उसकी राजनीतिक-आर्थिक पृष्ठभूमि तैयार की थी।

आर्थिक दृष्टि से भारतीय समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग। इनमें राजनीतिक दृष्टि से मध्यमवर्ग ही अधिक प्रबुद्ध रहा है। इस वर्ग के बुद्धिजीवियों ने धर्म की प्रतिगामिता को पहचाना और समाज की संपूर्ण बुराइयों तथा अंधविश्वासों का एक ही निदान उसे अधिक उपयुक्त जँचा, वह था—कार्लमार्क्स का समाजवाद।

निम्नवर्ग के लोग शिक्षा से वंचित, शोषित व घृणित अत्याचार के शिकार थे। उच्चवर्ग शिक्षित, अहंकारी, विलासिताप्रिय और राष्ट्रीयता के डरपोक समर्थक थे। इन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में अपने स्वार्थों का अवसान होता दिखाई देने लगा, फलतः मध्य व निम्नवर्ग में उच्चवर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न होती गई और इसलिए उच्चवर्ग पर प्रहार करनेवाला समाजवादी नारा उन्हें प्रिय लगने लगा। यही नहीं यूरोपीय शिक्षा ने सामंतवाद के खोखलेपन से परिचित करा दिया था। शीघ्र परिवर्तन की कल्पना साकार नहीं हो पा रही थी। इस अकुलाहट ने साहित्य में विद्रोह के स्वर की अभिव्यक्ति को अनिवार्य बना दिया।

(ग) आर्थिक परिस्थितियाँ

अर्थ के मूल स्रोत श्रम पर कृषि और उद्योग आधारित हैं। समाज की समृद्धि दोनों के सम्यक् विकास पर निर्भर है। समाज के सभी लोग सुखी तभी रह सकते हैं जबकि कृषि और उद्योग से होनेवाले उत्पादन का लाभ सभी को समान रूप से उपलब्ध हो सके। अँग्रेजों ने जब भारत को लूटना प्रारंभ किया, तो भारत का प्राचीन आर्थिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया। उस समय हिंदुस्तान के 49 प्रतिशत लोग उद्योग पर तथा 51 प्रतिशत कृषि पर निर्भर रहनेवालों के शोषण के लिए जमींदारी प्रथा की व्यवस्था हुई। सन् 1857 से लेकर सन् 1900 तक 32 बार अकाल पड़ा, जिनमें लगभग साढ़े तीन करोड़ लोग मारे गए। सन् 1931 में कृषि पर निर्भर लोगों का प्रतिशत 75 हो गया। इन गरीब किसानों के गाँवों में रोगों से बचने की कोई व्यवस्था नहीं थी। जमींदार इन्हें लूटते थे। धीरे-धीरे कृषकवर्ग में असंतोष और विद्रोह का संचार होने लगा। सन् 1917 का चंपारन सत्याग्रह, सन् 1918 का खेड़ा सत्याग्रह, सन् 1922 का चौरी-चौरा कांड

और 1928 का बारडोली सत्याग्रह इसके प्रमाण हैं। किसान सभाओं का संगठनकार्य प्रारंभ हुआ। सन् 27 में बिहार में किसान सभा की स्थापना हुई। सन् 1931 में अखिल भारतीय किसान सभा संगठित की गई और सन् 35 में उत्तर प्रदेश की प्रांतीय किसान सभा का जन्म हुआ।

अँग्रेजी शासन के पूर्व के भारत का कारीगर वर्ग नष्ट हो गया था। भारतीय पूँजीपतियों के अथक् प्रयास और विदेशी पूँजी की सहायता से भारत में यूरोपीय ढंग के जब कुछ उद्योग से स्थापित हुए तो दो नए वर्गों–पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति हुई। सन् 1918 तक कपड़े की 264 तथा जूट की 64 मिलें खुल चुकी थीं। अँग्रेजी शासन के औद्योगीकरण पर विरोधी रवैया अपनाने के कारण भारत विदेशी मालों पर आयात कर लगाने के पक्ष में नहीं था। किंतु प्रथम विश्वयुद्ध ने धनहानि की पूर्ति के लिए विदेशों से आयातित वस्तुओं पर सन् 1920 में कर लेने को बाध्य होना पड़ा तो भी विदेशों की तुलना में भारतीय उद्योगपति धन और साधन दोनों दृष्टियों से काफी पिछड़े हुए थे। इसकी पूर्ति के हेतु मजदूरों से अधिक से अधिक श्रम करवाते और कम से कम वेतन देते। उनके लिए वे न उचित आवास की व्यवस्था करते और न उनके स्वास्थ्य और शिक्षा की उन्हें चिंता थी। फलतः मजदूर वर्ग में भी विद्रोही भावना पनपने लगी। सन् 1918 की रूसी क्रांति का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् 1921 में अखिल भारतीय मजदूर संघ की स्थापना हुई। 1929 में एम॰एन॰ जोशी ने इंडियन ट्रेड यूनियन का संगठन किया। 1931–32 में नेशनल फेडरेशन गठित हुआ। मजदूरों ने अपने वेतन में वृद्धि तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के हेतु हड़ताल का सहारा लेना प्रारंभ किया। उनकी इस संघर्ष–चेतना ने समाजवाद की स्वीकृति का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव तथा पूँजीवाद संकट

प्रथम विश्वयुद्ध में इंगलैंड को विजय प्राप्त हुई थी, इसलिए अँग्रेज अपने साम्राज्यवादी अहंकार में भारतीय जनता की स्वाधीनता की माँग ठुकराने लगे। अँग्रेजों की दमनकारी नीतियों से जनता और उत्तेजित होती गई और उसमें शासन के विरुद्ध गहरी घृणा का भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। प्रारंभ में भारत के उद्योगपतियों और प्रबुद्ध वर्ग ने औद्योगीकरण अभियान में पर्याप्त सहयोग दिया, परंतु कुछ ही वर्षों में गलाकाट प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप संपूर्ण विश्व में जबर्दस्त मंदी आई। इसे रोकने के लिए उद्योगों का उत्पादन कम किया जाने लगा और वस्तुओं की कीमत बढ़ाई जाने लगी। भारत पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यहाँ के उद्योगपति तो विदेशियों की तुलना में सब तरह से पीछे थे ही, उन्हें इस मंदी से प्राण बचाने के लिए मजदूरों की छँटनी करनी पड़ी, उनका वेतन बढ़ाने के बजाय घटाना पड़ा और स्वदेशी आंदोलन से ऊपरी नाता भी तोड़कर अपने को अँग्रेजी शासन का सहायक प्रमाणित करने के लिए विवश होना पड़ा। रजनी पामदत्त ने लिखा है–'भारतीय माल की कीमतों में गिरावट के कारण भारत के विदेश व्यापार में बहुत कमी आई। 1928–29 में भारत से 339 करोड़ रुपए का सामान बाहर गया था, 32–33 में स्थिति यह हो गई कि कुल मिलाकर 135 करोड़ का सामान ही बाहर जा पाया।'[8] यही नहीं 'ब्रिटिश अधिकारियों ने गैरअँग्रेजी माल पर कर लगाना शुरू किया, जो 1933 तक 75 प्रतिशत हो गया।'[9]

इस मंदी का मूल कारण पूँजीवाद की निकृष्ट विभाजन प्रणाली थी। जहाँ समाज की उत्पादन–क्षमता अत्यधिक बढ़ गई थी, वहीं दूसरी ओर प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप तथा

 ISSN 0975-735X

भीषण शोषण-प्रक्रिया से लोगों की क्रयशक्ति में महान ह्रास हुआ था। लाखों किसान और मजदूर बर्बाद हो गए थे और बेकारी की समस्या मुँह खोले खड़ी थी।

वस्तुत: इस मंदी ने यह प्रमाणित कर दिया कि पूँजीवाद के पनपने और विस्तार पाने का समय समाप्त हो गया है। इस पूँजीवादी संकट से बचने के क्रम में ध्यान रूस की ओर आकर्षित होता गया जहाँ समाजवाद का प्रयोग सफल हो रहा था। इस प्रकार भारत की धरती पर क्रांतिकारी संदेश लेकर समाजवाद अवतरित हुआ। लेनिन की मृत्यु के पश्चात नेतृत्व का भार लौहपुरुष स्तालिन ने उठाया, उसके विवेकपूर्ण निर्देशन में समाजवाद फूलने-फलने लगा। एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'कोमिनटर्न' की स्थापना सन् 1919 में हुई। लेनिन ने मानवेंद्रनाथ राय को मैक्सिको से बुला लिया।

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ

अप्रैल 1936 में प्रेमचंद के सभापतित्व में इसके पहले अधिवेशन ने ही अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही हिंदी में भी प्रगतिशील आंदोलन का औपचारिक सूत्रपात किया। इसमें पंत, यशपाल, फैज अहमद फैज, सज्जाद जहीर और हीरेंद्रनाथ मुखोपाध्याय प्रमुख थे, भाग लिया। इस अधिवेशन के बाद प्रगतिशील लेखक संघ का मुख्य कार्यालय प्रयाग में खोल दिया गया और शीघ्र ही उसकी शाखाएँ भारत के अनेक नगरों में काम करने लगीं।

आगे चलकर 1938 में कलकत्ता में रवींद्रनाथ ठाकुर, 1946 में बंबई में श्रीपाद अमृत डाँगे, 1947 में इलाहाबाद में राहुल सांकृत्यायन, 1949 भिवंडी में, 1953 में दिल्ली में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकें हुईं। ऐसी ही परिस्थितियों में साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में हिंदी कविता में प्रगतिवाद का आरंभ हुआ और वह फला-फूला।

संदर्भ

1. सं॰ चंद्रकांत बांदीवडेरकर, धर्मवीर भारती ग्रंथावली, खंड 5, पृ॰ 26
2. रजनी पामदत्त, भारत : वर्तमान और भावी, पृ॰ 129
3. रजनी पामदत्त, भारत : वर्तमान और भावी, पृ॰ 192
4. पट्टाभि सीतारमैया, काँग्रेस का इतिहास, भाग 1, पृ॰ 157-163
5. जवाहरलाल नेहरू, मेरी कहानी, पृ॰ 75
6. दिनकर, पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृ॰ 56
7. जवाहरलाल नेहरू, हिंदुस्तान की कहानी, पृ॰ 147
8. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ॰ 584
9. रजनी पामदत्त, भारत : वर्तमान और भावी, पृ॰ 65
10. मैक्स हैवर्ड, लिटरेचर एंड रेवोलूशन इन सोवियत एशिया, पृ॰ 63
11. हंस, जनवरी 1948, सज्जाद जहीर वाला लेख 'वे दिन जो बीत गए

51-**डी, हर्ष अपार्टमेंट, पॉकेट** 1, **द्वारका सेक्टर** 10,
नई दिल्ली 110075
मो॰ 8178865456, 8285560632

आलोचना और आलोचक : एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ॰ जितेंद्रकुमार सिंह
सहआचार्य, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अँग्रेजी शब्द 'Criticism' के पर्याय के रूप में हिंदी में समीक्षा, आलोचना, समालोचना तथा विवेचन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। अँग्रेजी शब्द 'Criticism' मूल धातु 'Krites' से बना है, जिसका अर्थ होता है गुण-दोष का निर्णय करना या मूल्यांकन करना। हिंदी शब्द 'आलोचना' की व्युत्पत्ति 'लुच' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है देखना। 'लुच' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय जोड़ने पर 'लोचन' शब्द बनता है, इसमें 'आङ्' उपसर्ग जोड़ने पर आलोचना शब्द बना है। हिंदी पर्यायकोश के अनुसार 'समीक्षा' आलोचना, छिद्रान्वेषण, मीमांसा, रिव्यु समानार्थी शब्द हैं।[1]

'समीक्षा' शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्षण' धातु के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका मूलार्थ है–सम्यक् प्रकार से देखना। 'समीक्षा' (सम्+ईक्ष+आङ्+टाप्) ईक्ष् धातु में सम् उपसर्ग तथा बाद में आङ् उपसर्ग तथा टाप् स्त्रीवाचक प्रत्यय लगाकर ईक्ष शब्द का निर्माण हुआ है। 'किसी वस्तु रचना या विषय के संबंध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्त्व का विवेचन करना समीक्षा है।'[2]

समालोचना शब्द सम्+आङ्+लोचन+आ... ये विग्रहांश हैं। इनमें दो सम्+आङ् उपवर्ग हैं। सम् का अर्थ है सम्यक् रूप से अर्थात् भली-भाँति और आङ् का अर्थ है 'मर्यादा' आङ् मर्यादाभिविधौ (पाणिनी 2/1/13) 'आ' से अभिप्राय समंतात् अर्थात् चारों ओर से (देखना) 'लोचन' लोचना या ईक्षा शब्द देखने का अर्थ-बोध कराते हैं। इस प्रकार समालोचना का अर्थ है सम्यक, संपूर्ण या सांगोपांग। समालोचना पर विचार करते हुए 'प्रेमघन' जी का कहना था कि–'समालोचना का अर्थ है पक्षपात रहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष का विवेचन करना।'[3]

इस प्रकार आलोचना, समीक्षा और समालोचना इन तीनों शब्दों के अर्थ की व्याख्या करें तो इनका अर्थ एक ही निकलता है। साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक कृति को निष्पक्ष दृष्टि से देखकर उस पर विचार कर उसके गुण-दोषों को उजागर कर स्वतंत्र रूप से अपना अभिमत व्यक्त कर पाठकों के समक्ष कृति को रखना ही आलोचना, समालोचना या समीक्षा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने आलोचना की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं–

ड्राइडन के मतानुसार–'आलोचना वह कसौटी है जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्यांकन किया जाता है। वह उन विशेषताओं का लेखा प्रस्तुत करती है जो साधारण तथा

 ISSN 0975-735X

किसी संभ्रांत पाठक को आनंद प्रदान कर सके।'[4]

कार्लाइल के अनुसार–'आलोचना पुस्तक के प्रति उद्‌भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है। (Literary criticism is nothing and should be nothing but the recital of one"s personal adventures with a book.)'[5] एडिसन ने आलोचना के अंतर्गत समालोचक के धर्म के बारे में बताया है–समालोचक का धर्म कलाकारों का दोष निकालना नहीं है, बल्कि उनका कर्त्तव्य है उनकी कृति का सौंदर्योद्‌घाटन करना।'[6]

मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना के मुख्य गुण 'तटस्थता' के आधार पर आलोचना को परिभाषित करते हुए कहा है–आलोचक तटस्थ होकर वस्तु के स्वरूप को जानने की लालसा से आलोचना करता है। अतएव आलोचना संसार के सर्वोत्तम विचारों को व्यक्त करती है। (The criticism real criticism is essentially exercise of this very quality (curiosity and dis-interested love of free play of mind). It obeys on instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world)'[7]

आई॰ए॰ रिचड्‌र्स ने मूल्य-निर्धारण को समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हुए कहा है–आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारोपरांत उनका सम्यक् विवेचन करती है। (To set up a critic is to set up as a judgment of value) उनके अनुसार आलोचक की नियुक्ति करना निर्णायक की नियुक्ति करना है।'[8] वर्सफील्ड के अनुसार–'आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना करता है। (Criticism is the exercise of judgment in the province of art and literature.)'[9] विलियम हेनरी हडसन ने समीक्षा की उपयोगिता इस प्रकार बताई है–'The chief function of criticism is to enlighten and stimulate. If a great poet makes us partakers of his large sense of the meaning of life, a great critic may make us partakers of his larger sense of the meaning of Literature.'[10]

अँग्रेजी साहित्य के प्रख्यात समीक्षक विलियम हेनरी हडसन ने समीक्षा की सारगर्भित परिभाषा दी है–'In strict sense the word criticism means judgment and this sense commonly colors our sense of it even when it is mostly broadly employed...If creative literature may be defined as an interpretation of life under various forms of literary art, critical literature may be defined as an interpretation of that interpretation and of the forms of art through which it is given.' (An introduction of the study of Literature, William Henry, P.k 346)

आधुनिक हिंदी आलोचकों में श्री श्यामसुंदरदास ने आलोचना के बारे में लिखा है–'साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुण तथा दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'[11]

आचार्य गुलाबराय ने आलोचना के कार्य और प्रभाव का विवेचन करते हुए कहा है–'आलोचना का मुख्य उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद करना और पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उसकी रुचि का परिमार्जन करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।'[12]

आलोचना तथा आलोचक पर विचार करते हुए डॉ॰ रामचंद्र तिवारी ने कहा है–'कला

और साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न ही समीक्षा या आलोचना है और आलोचक वह व्यक्ति है जिसमें कलाकृतियों के उचित मूल्यांकन की योग्यता हो।'[13] समीक्षा की एक अत्यंत सटीक परिभाषा देते हुए डॉ॰ देवराज ने लिखा है–'आलोचना किसी कलाकृति में निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न है।'[14]

आधुनिकयुग गद्य का युग है। आज समीक्षा पाठकों पर गहरा प्रभाव छोड़ती है अत: समीक्षक का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। डॉ॰ प्रतापनारायण टंडन ने समीक्षा के कार्यों पर प्रकाश डाला है–'प्रधानत: समीक्षा का कार्य साहित्य की संपूर्णता से परीक्षा है। इसलिए उसका साहित्य से प्रत्यक्ष संबंध है और साहित्य को हम मनुष्य की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों की भाषाबद्ध अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा साहित्य का मात्र परीक्षण ही नहीं करती, वरन् पाठक और साहित्यकार के बीच एक माध्यम का काम करती है। यहाँ वह साहित्य को अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य बनाती है और उसकी ऐसी व्याख्या करती है कि एक अपेक्षाकृत साधारण कोटि का पाठक भी उसकी सहायता से किसी विशिष्ट साहित्यकार, किसी विशिष्ट रचना को पढ़ और समझ सके।'[15]

आलोचना-पद्धतियों को दो व्यापक वर्गों में बाँटा जा सकता है–(1) सैद्धांतिक (2) व्यावहारिक। यहाँ सैद्धांतिक आलोचना को छोड़कर अन्य सभी पद्धतियाँ व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आती हैं। आलोचना की पद्धतियाँ एक-दूसरे की सीमा-रेखाओं का स्पर्श करती रहती हैं। यह विभाजन तो केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है।

सैद्धांतिक आलोचना काव्य का शास्त्रीय पक्ष है। साहित्य का स्वरूप जब स्थिर हो जाता है, तब उसके आधार पर आलोचक की प्रतिभा जिन सिद्धांतों का निर्माण-संकलन करती है, वे कालांतर में साहित्य के नियामक मान बन जाते हैं। इन सिद्धांतों की आधारशिला पर ही व्यावहारिक आलोचना का भव्य भवन खड़ा होता है। ये सिद्धांत जब निरूपित होते हैं तो स्वेच्छाचारी रूप में नहीं, उनके पीछे काव्य की एक परिमित किंतु उत्कृष्ट पृष्ठभूमि होती है। अरस्तू के पोएटिक्स (Poetics) के पीछे उसका पूर्ववर्ती ग्रीक साहित्य है। सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत काव्यशास्त्र-संबंधी सभी प्रकार की नवीन-प्राचीन तत्त्व-निरूपिणी आलोचनाएँ आती हैं। संस्कृत में दंडी का काव्यादर्श, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, राजशेखर की काव्यमीमांसा, जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि। पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू, लोंजाइनस, ड्राइडन, पोप, कॉलरिज, आर्नाल्ड, इलियट, रिचड्र्स, क्रोचे आदि की सैद्धांतिक रचनाएँ। हिंदी में रीतिकाल के लक्षणग्रंथ, श्यामसुंदर दास का साहित्यालोचन, गुलाबराय का सिद्धांत और अध्ययन, सुधांशु का काव्य में अभिव्यंजनावाद आदि ग्रंथ सैद्धांतिक आलोचना के उदाहरण हैं।

व्यावहारिक आलोचना सिद्धांतों का प्रयोगात्मक पक्ष है। सैद्धांतिक आलोचना जहाँ काव्य के लक्षण-ग्रंथों तथा उसके निरीक्षण-परीक्षण के सिद्धांतों की रचना करती है, वहाँ व्यावहारिक आलोचना काव्य का प्रयोगात्मक अध्ययन करती है। व्यावहारिक आलोचना की तीन मुख्य पद्धतियाँ हैं–प्रभावात्मक, निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक।

समीक्षा का उद्देश्य 'यही खोज निकालना है कि कवि या लेखक की कल्पना में मनुष्य के हृदय के किस विशेष रूप ने घनीभूत होकर अपने अनंत वैचित्र्य के प्रकाश को सौंदर्य द्वारा

प्रस्फुटित किया है।'[16] समीक्षा कवि/लेखक और पाठक के बीच की कड़ी है। साहित्य में अंतर्निहित सत्यं, शिवं, सुंदरम् को जानना और समाज को उसका ज्ञान कराना समीक्षा का उद्देश्य होता है।

'जब साहित्य के संबंध में उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध अंगों, गुण-दोष आदि विभिन्न तत्त्वों और पक्षों के संबंध में सम्यक् विवेचन किया जाता है तो उसे 'साहित्यिक समीक्षा' कहते हैं।'[17] वास्तव में साहित्य में निखरा हुआ अंत:सौंदर्य आलोचना या समीक्षा के बिना स्पष्टत: दृष्टिगत नहीं होता। डॉ॰ श्यामसुंदर दास ने आलोचना का कार्य जीवन की व्याख्या माना है। उनके शब्दों में–यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। समीक्षक कर्म को हिंदी साहित्य कोश में इस प्रकार विवेचित किया गया है–'साहित्य के विभिन्न तत्त्वों और रूपों का स्वयं दर्शन कर दूसरों के लिए उसे द्रष्टव्य बनाना ही समीक्षक का कर्म है।'[18] 'भारतवर्ष में राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में समीक्षा या आलोचना का वास्तविक सूत्रपात किया और औचित्यवादियों ने इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया।'[19]

प्राचीन संस्कृत साहित्य में समीक्षा को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। पंडित राजशेखर ने इसके महत्त्व को देखते हुए ही उसे वेद का सातवाँ अंग माना है। आचार्य शुक्ल ने भी साहित्य के विकास में संस्कृत समीक्षा साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। 'हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास' में डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने विभिन्न मतों के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र के प्रणेता नाट्याचार्य 'भरत' ही संस्कृत समीक्षा के प्रथम आचार्य हैं और उनका नाट्यशास्त्र ही प्रथम समीक्षा ग्रंथ है, क्योंकि आगे के समीक्षाचार्य भी अनेक समीक्षा-सिद्धांतों की चर्चा अपने ग्रंथों में करते हैं।[20] भरतमुनि के पश्चात् अनेक महत्त्वपूर्ण आचार्य हुए। राजशेखर ने उन्हें तीन कोटियों में बाँटा–त्रिधा शास्त्र कवि:। य: शास्त्रं विद्यते। पश्यशास्त्रे काव्यं संविधते। योऽपि काव्ये शास्त्रार्थ निधते।[21]

संस्कृत काव्य के आचार्यों ने काव्य की समीक्षा के लिए रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को सिद्धांत रूप में स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेंद्र के औचित्य को भी कुछ विद्वानों ने सिद्धांत का दर्जा दिया है। भक्तिकाल में साहित्य का प्रेरणास्रोत धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था रही है। जायसी तथा तुलसी ने साहित्य-रचना के जो आदर्श बताए हैं। वे साहित्य समीक्षा के आदर्श हैं। रामचरितमानस के प्रारंभ में ही तुलसीदास ने–

नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबंधमति मंजुलमातनोति।[22]

लिखकर अपने आनंद के साथ सर्वसाधारण से भी तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ काव्य का मानदंड प्रस्तुत किया है–

तेसेहि-सुकवि-कवित्त बुध कहहीं। उपजहिं अंत-अंत छवि लहहीं।[23]
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकवि करहीं।[24]

रीतिकाल में समीक्षा-ग्रंथों की रचना की लंबी शृंखला है। इस काल में रीति को लक्षण ग्रंथ का पर्याय माना गया। इन लक्षणग्रंथों का उपजीव्य संस्कृत का काव्यशास्त्र था। चिंतामणि,

देव, मतिराम, बेनी, प्रवीन तथा रसलीन रसवादी आचार्य थे तो केशव, जसवंतसिंह, दूलह आदि आचार्य 'अलंकार' संप्रदाय से अधिक प्रभावित थे। सोमनाथ, कुलपति मिश्र, भिखारीदास और श्रीपति रस तथा ध्वनि संप्रदाय में आस्था रखते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की सीमाबद्धता और पर्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है–'आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए-नए सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क-वितर्क नहीं हो सकता। इस अवस्था में चंद्रालोक की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुट्टी ले ली।'[25] डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी का मत भी आचार्य शुक्ल के मत से साम्य रखता है–'रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचना में सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन का अभाव है, उसमें नए सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं हुआ।'[26] उस युग की समीक्षा में सरदार कवि रचित 'मानसरहस्य' ही ऐसी पुस्तक प्राप्त होती है, जिसमें सैद्धांतिक समीक्षा के साथ प्रयोगात्मक समीक्षा का संतुलित समन्वय प्राप्त होता है। भारतेंदुयुग से हिंदी साहित्य का आधुनिकयुग आरंभ होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'नाटक' (1883) नामक निबंध से आधुनिक समीक्षा साहित्य का प्रवर्तन माना जाता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भारतेंदु की आलोचना-दृष्टि को निष्पक्ष माना है। वे लिखते हैं–'आलोचना का उदय भारतेंदु के निबंध 'नाटक' (1883) के माध्यम से होता है, जहाँ नाटक का शास्त्रीय विवेचन और संक्षिप्त इतिहास प्रायः 60 पृष्ठों में दिया गया है। यह केवल इतिवृत्त ही नहीं, नई और साहसिक आलोचना-दृष्टि है।'[27] इस समय की पत्र-पत्रिकाओं 'हिंदी-प्रदीप' में गंभीर आलोचनाएँ प्रकाशित होती थीं। इस युग में लिखित आलोचना मुख्य रूप से तीन प्रकार की थीं–

(i) रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परंपरा में लिखित सैद्धांतिक आलोचना। (ii) ब्रज भाषा एवं खड़ीबोली गद्य में लिखी गई टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना। (iii) इतिहास ग्रंथों में कवि परिचय के रूप में लिखी गई आलोचना।[28]

'वस्तुतः भारतेंदुयुग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम 'प्रेमघन' का है। उन्होंने श्री निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर', गदाधर कृत 'बंग विजेता' के अनुवाद की विस्तृत समीक्षा 'आनंद कादंबिनी' में की थी। इसके बाद बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'एकांतवासी योगी' आदि ग्रंथों की समीक्षाएँ तत्कालीन समीक्षा साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।'[29]

भारतेंदुयुग में आधुनिक समीक्षा-पद्धति का श्रीगणेश तो हो गया था, किंतु यह उसका शैशवकाल ही था। इस युग में गंभीर आलोचना का अभाव था। 'परिमाण और गुण की दृष्टि से

 ISSN 0975-735X

द्विवेदीयुग की हिंदी आलोचना अपने पूर्ववर्ती युगों से अधिक सशक्त, समृद्ध व मौलिक कही जाएगी, क्योंकि एक तो इसको युग-निर्माता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्यामसुंदर दास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे महारथियों का योगदान प्राप्त हुआ और दूसरे हिंदी में पहली बार आलोचना अपने मूल या वास्तविक स्वरूप, जो भारतीय व अंतरराष्ट्रीय रंगमंच पर क्रीड़ा करनेवाली प्राचीन-नवीन के विराट संघर्ष से प्रसूत नवयुगीन विचारधारा के आलोक में क्रमशः तैयार हो रहा था, के निकट पहुँचने का प्रयास करती दिखाई पड़ी।'[30] मुख्यतः इस युग में हिंदी-आलोचना के पाँच रूप लक्षित किए जा सकते हैं—शास्त्रीय आलोचना (लक्षण ग्रंथों की परंपरा में काव्यांग-विवेचन), तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना।[31]

आधुनिक हिंदी समीक्षा साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके संपादन में प्रकाशित सरस्वती (1900) का योगदान अमूल्य है। द्विवेदीजी ने अनेक लेख, पुस्तक परिचय तथा समीक्षात्मक पुस्तकों की रचना की। द्विवेदीजी निर्भीक आलोचक थे। इस युग में तुलनात्मक समीक्षा को विशेष महत्त्व दिया गया। 1910 में मिश्रबंधुओं (श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र, गणेशबिहारी मिश्र) का 'हिंदी-नवरत्न' प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक सामान्यतः तुलनात्मक आलोचना के सिद्धांत पर आधारित थी। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना, साहित्यिक समीक्षा की मुख्य प्रवृत्तियों में एक हुई। 'देव' और 'बिहारी' में कौन श्रेष्ठ, यह विवाद बहुत बढ़ा।

मिश्रबंधु, बाबू श्यामसुंदर दास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' अनुसंधानपरक समीक्षा के उन्नायक थे। अन्वेषणात्मक समीक्षा के विकास में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का महत्त्वपूर्ण योगदान था। व्याख्यात्मक तथा परिचयात्मक समीक्षा पद्धतियों की भी इसी युग में पर्याप्त प्रगति हुई। भारतेंदुयुग में जिस आधुनिक समालोचना प्रणाली का प्रवर्तन हुआ, वह द्विवेदीयुग में आकर संवर्धित और शुक्लयुग में आकर विकसित हुई। 'द्विवेदीयुग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन समीक्षकों ने समालोचना-ग्रंथों की रचना आरंभ तो कर दी थी पर उनके द्वारा आरंभ किए गए आलोचना-साहित्य को सम्यक् आकार देने का श्रेय विवेच्य काल के समालोचकों, विशेषकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है।'[32]

डॉ॰ बच्चनसिंह ने भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के योगदान को रेखांकित करते हुए लिखा है—'जिस प्रकार प्रसाद, निराला और प्रेमचंद ने रचनात्मक साहित्य को भारतीय परंपरा और जीवन के साथ जोड़ा, उसी प्रकार रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को अपनी जीवंत शास्त्रीय परंपरा और लोक से संबद्ध किया।'[33]

आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का महत्त्व निर्विवाद है। शुक्लजी ने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के गंभीर अध्ययन, काव्य-गुणों को पहचानने की अद्‌भुत क्षमता और विश्लेषण-बुद्धि के द्वारा हिंदी-समीक्षा को अभूतपूर्व ऊँचाई प्रदान की। उन्होंने अपने विवेचन के लिए हिंदी के तीन बड़े कवियों गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी को चुना। तुलसीदास उनके प्रिय कवि थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने 'तुलसी ग्रंथावली' (1923) का संपादन किया और उसकी भूमिका में 'रामचरितमानस' तथा तुलसी के अन्य ग्रंथों के काव्य-सौंदर्य का

विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया।[34] शुक्लजी के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'जायसी ग्रंथावली' (1925), 'भ्रमरगीत सार'(1926) हैं।

केशरीनाथ शुक्ल, कन्हैयालाल सहल, कृष्णशंकर शुक्ल, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, चंद्रबली पांडेय, दीनदयाल गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी, धीरेंद्र वर्मा, भगीरथ मिश्र, माताप्रसाद गुप्त, सोमनाथ गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि अन्य प्रमुख शुक्लयुगीन समीक्षक हैं। नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ॰ नगेंद्र ने इसी समय से लिखना प्रारंभ किया। आगे चलकर इन समीक्षकों ने हिंदी समीक्षा को नई दिशा दी। डॉ॰ नगेंद्र ने छायावादोत्तर हिंदी समीक्षा पर शुक्लजी का प्रभाव परिलक्षित किया है–'छायावादयुगीन हिंदी-समीक्षकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का अवदान संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। इतने प्रौढ़ सर्वांगीण आलोचक की विचार-सरणि से परवर्ती हिंदी आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्यजनक होता है, किंतु उनके प्रभाव को ग्रहण करते हुए आलोचकों ने अपनी मौलिकता और स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए नवीन पद्धति के निर्माण की चेष्टा की, तो हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र ने भी शुक्लजी से टकराकर एक ओर उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया और दूसरी ओर अपने लिए नया मार्ग ढूँढकर हिंदी आलोचना को बढ़ाया।'[35]

नंददुलारे वाजपेयी की 'हिंदी साहित्य 'बीसवीं शताब्दी', 'नया साहित्य : नए प्रश्न', हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'सूरसाहित्य' (1936), 'कबीर' (1942) 'हिंदी साहित्य' (1952), 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', डॉ॰ नगेंद्र कृत 'रससिद्धांत', 'सुमित्रानंदन पंत' (1938) 'साकेत: एक अध्ययन' (1939), 'रीतिकाव्य की भूमिका' (1949), विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'हिंदी साहित्य का अतीत' (दो भाग), 'बिहारी की वाग्विभूति', 'वाङ्मय विमर्श' आदि अन्य समीक्षकों की प्रमुख समीक्षा कृतियाँ हैं। मार्क्सवादी समीक्षकों में शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, रामविलास शर्मा, अमृतराय, नामवरसिंह प्रमुख समीक्षक के रूप में उभरे। मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम शिवदानसिंह चौहान का है। 'प्रगतिवाद' (1946), 'साहित्य की परख (1948), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ' (1959) उनके समीक्षा ग्रंथ हैं। मार्क्सवादी समीक्षकों में रामविलास शर्मा अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।'

साठोत्तरी हिंदी आलोचना की उत्पत्ति नगेंद्र मोहभंग की स्थितियों से मानते हैं। वे लिखते हैं–'साठोत्तरी हिंदी आलोचना का जन्म रचनाकर्म की भाँति ही मोहभंग की स्थितियों से हुआ। साथ ही आधुनिक विचारधाराओं, साहित्य और कला के आंदोलनों, घटनाओं, सिद्धांतों, संघातों, समस्याओं ने बुनियादी तौर पर रचना और आलोचना दोनों में परिवर्तन किए। फ्रायड, युंग, एडलर, एजरा पाउंड, इलियट, एफ॰ आर॰ लीविस, सार्त्र आदि विचारकों से हिंदी के लेखकों का संपर्क बढ़ा। मार्क्स और लूकाच उनकी चेतना में नए बोध से जाग्रत हुए। अस्तित्ववाद, मानववाद, प्रभाववाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, न्यू क्रिटिसिज्म, नव्य अरस्तूवादी सिद्धांतों और आलोचना-पद्धतियों के परिचय ने हिंदी-आलोचना में एक नया बौद्धिक परिवेश तैयार किया।'[36]

नेमिचंद्र जैन की मार्क्सवाद में गहरी आस्था रही। 'अधूरे साक्षात्कार' (1960), 'बदलते

परिप्रेक्ष्य (1968) और 'जनांतिक' (1981) आदि प्रकाशित समीक्षा-ग्रंथ हैं। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में 'रमेश कुंतल मेघ' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध' (1968) 'क्योंकि समय एक शब्द है' (1975), 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' (1977) और 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक' (1980) इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

शिवकुमार मिश्र की समीक्षा निर्णयात्मक होती है। 'नया हिंदीकाव्य', 'आधुनिक कविता और युग दृष्टि' (1966), 'प्रगतिवाद' (1966), 'मार्क्सवादी साहित्य चिंतन', 'इतिहास तथा सिद्धांत' (1973), 'यथार्थवाद' (1975), 'साहित्य और सामाजिक संबंध' (1977), 'प्रेमचंद: विरासत का सवाल' (1981), दर्शन साहित्य और समाज (1981), 'हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल' (1986) और 'आलोचना के प्रगतिशील आयाम' (1987) इनकी चर्चित समीक्षा कृतियाँ हैं।

नई पीढ़ी के आलोचक नंदकिशोर नवल की प्रमुख समीक्षा कृतियाँ हैं–'कविता की मुक्ति' (1980), 'हिंदी आलोचना का विकास' (1981), 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र' (1982) और 'शब्द जहाँ सक्रिय हैं' (1984)। लक्ष्मीकांत वर्मा नए समीक्षकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'नई कविता के प्रतिमान' (1957) और 'नए प्रतिमान पुराने निकष' (1966), इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। रामदरश मिश्र सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा दोनों पक्षों से जुड़े हैं। 'हिंदी समीक्षा के स्वरूप और सौंदर्य' (1974), 'आधुनिक हिंदी कविता के सर्जनात्मक संदर्भ' (1986) इनकी प्रमुख कृतियाँ है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने मुख्यत: संवेदना और भाषा की सर्जनात्मकता को समीक्षा के केंद्र में रखा है। 'हिंदी नवलेखन' (1960), 'भाषा और संवेदना' (1964), अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या (1968), 'हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' (1969), 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' (1970), 'मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा' (1974), 'कविता यात्रा, रत्नाकर से अज्ञेय तक' (1976), 'सर्जन और भाषिक संरचना' (1980), 'इतिहास और आलोचक दृष्टि' (1982), 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (1986), 'काव्यभाषा पर तीन निबंध' (1989), 'प्रसाद, निराला, अज्ञेय' (1989) आदि महत्त्वपूर्ण समीक्षा कृतियाँ हैं।

बच्चनसिंह के समीक्षा का क्षेत्र विस्तृत है–'हिंदी नाटक' (1954), 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना' (1956), 'बिहारी का नया मूल्यांकन' (1957), 'समकालीन साहित्य और आलोचना चुनौती' (1968), 'आलोचक और आलोचना' (1970), 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (1978), 'आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द' (1983) 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' (1984), 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' (1987), 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए' (1989), 'कथाकार जैनेंद्र' (1993), 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (1996), महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। परमानंद श्रीवास्तव की प्रमुख कृतियाँ हैं–'कविकर्म और काव्यभाषा' (1975), 'उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा' (1976) 'समकालीन कविता का व्याकरण' (1980), 'शब्द और मनुष्य' (1988) 'कविता का अर्थात' (2000)।

प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'नया ज्ञानोदय' का कुशलतापूर्वक संपादन करके प्रसिद्धि प्राप्त की।

'कविता की तीसरी आँख', 'संवाद' (1982), 'रचना एक यातना है' इत्यादि इनकी समीक्षा कृतियाँ हैं। विश्वनाथप्रसाद तिवारी अलग-अलग काव्य संवेदनाओं के कवियों को एक साथ परखने वाले कवि समीक्षक हैं। 'नए साहित्य का तर्कशास्त्र' (1975), 'आधुनिक हिंदी कविता' (1977), 'समकालीन हिंदी कविता' (1982), 'रचना के सरोकार' (1987) आदि इनकी प्रकाशित समीक्षा कृतियाँ हैं।

नए समीक्षकों में अशोक वाजपेयी अपने विस्तृत दृष्टिकोण, वैचारिक प्रखरता और दृढ़ मान्यताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी दो समीक्षा कृतियाँ 'फिलहाल' (1970) और 'कुछ पूर्वाग्रह' (1984) हैं। समकालीन समीक्षकों में मैनेजर पांडेय का नाम भी उल्लेखनीय है। 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' एवं 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' इनकी प्रमुख कृतियाँ है। अन्य अद्यतन समीक्षकों में विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानंद तिवारी, श्रीराम वर्मा, मधुरेश, गोपाल राय, विष्णु खरे, खगेंद्र ठाकुर, अजय तिवारी, वीर भारत तलवार, अरुण प्रकाश, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजेश जोशी, रवि भूषण, कृष्णदत्त पालीवाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि 'समकालीन हिंदी-आलोचना का विकास तेजी से हो रहा है। नए और पुराने आलोचक इस क्षेत्र में बड़े उत्साह से सक्रिय दृष्टिगत हो रहे हैं। हालाँकि बहुत से नए समीक्षक समसामयिक सृजन पर ही लेखनी उठाते हैं। अपने साहित्य की समृद्ध परंपरा का ज्ञान उनमें नहीं खनकता, इसलिए अपने पुराने साहित्य के पुनर्मूल्यांकन से वे बचते-से दृष्टिगत होते हैं। परंपरा की गहरी और सार्थक पकड़ की कमी ने इधर की समीक्षा को धक्का दिया है। फिर भी स्थिति बहुत निराशाजनक नहीं है। कुल मिलाकर देखा जाए तो आज हिंदी-आलोचना सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से काफी समृद्ध है तथा नए चिंतन को आत्मसात करते हुए हिंदी समीक्षा प्रगतिपथ पर निरंतर अग्रसर है।'[37]

वस्तुत: साहित्य और आलोचना दोनों के मूल में जीवन की अन्यतम प्रेरणा है। वास्तव में आलोचना के नाम पर इतनी पूर्वाग्रह-दूषित एवं एकांकी सामग्री निकलती है जो साहित्य की आत्मा का स्पर्श भी नहीं करती। यदि आलोचना हमें मूल साहित्य तक पहुँचने से रोकती है तो वह सच्ची आलोचना नहीं। सच्ची आलोचना तो उस विद्युत की तरंग की तरह है जो निमेष मात्र में साहित्यिक कृति को प्रकाश से उद्‌भासित कर देती है। वह साहित्य के मर्म का उसी प्रकार उद्‌घाटन करती है जैसे साहित्य जीवन के मर्म का। यद्यपि साहित्य और आलोचना दोनों जीवन से अनुप्रेरित हैं किंतु उनकी अपनी विशिष्ट प्रतिभाएँ हैं। काव्य की प्रतिभा क्रियात्मक है, वह कारयित्री है तथा आलोचना भावयित्री प्रतिभा का प्रकाशन है।

संदर्भ

1. हिंदी पर्याय कोश, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1990, पृ॰ 641
2. हिंदी साहित्य कोश, संपादक धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 2000, पृ॰ 732
3. हिंदी आलोचना का विकास, नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पटना, 2007, पृ॰ 26
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, राजकिशोरसिंह, डॉ॰ दुर्गाशंकर मिश्र, प्रकाशन केंद्र लखनऊ, 1985, पृ॰ 4
5. आलोचना का द्वंद्व, डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ॰ 78

6. हिंदी आलोचना के आधार स्तंभ, डॉ॰ राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, रीगल बुक डिपो-एम, 2005, पृ॰ 69
7. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, राजकिशोरसिंह, डॉ॰ दुर्गाशंकर मिश्र, प्रकाशन केंद्र लखनऊ, 1985, पृ॰ 2
8. वही, पृ॰ 2
9. हिंदी आलोचना के आधार स्तंभ, डॉ॰ राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, रीगल बुक डिपो, 2005, पृ॰ 68
10. An Introduction to the study of literature, W. H. Hudson, London, March -1960, P. 354
11. आलोचना का द्वंद्व, डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ॰ 79
12. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, राजकिशोरसिंह, डॉ॰ दुर्गाशंकर मिश्र, प्रकाशन केंद्र लखनऊ, 1985, पृ॰ 269
13. साहित्य का मूल्यांकन (अनुवाद), रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008, पृ॰ 18
14. आलोचना का द्वंद्व, डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 82
15. समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, भाग-2, डॉ॰ प्रतापनारायण टंडन, पृ॰ 57
16. हिंदी साहित्य कोश, संपादक धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 2000, पृ॰ 95
17. वही, पृ॰ 732
18. वही, पृ॰ 732
19. वही, पृ॰ 95
20. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, पृ॰ 14
21. सुरेंद्रदेव शास्त्री, काव्यमीमांसा, राजशेखर (भाष्य, गंगासागर राय) चौखंबा, वाराणसी, 1954, पृ॰ 40
22. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकांड, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ॰ 18
23. वही, पृ॰ 24
24. वही, पृ॰ 26
25. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1984 पृ॰ 234
26. हिंदी आलोचना, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1999, पृ॰ 16
27. हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 169
28. हिंदी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार, रामचंद्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि॰सं॰ 2000, पृ॰ 19
29. हिंदी आलोचना, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1999, पृ॰ 20
30. हिंदी आलोचना के आधार-स्तंभ, संपादक रामेश्वरलाल खंडेलवाल, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, 1966, पृ॰ 4
31. हिंदी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार, रामचंद्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 11
32. हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक नगेंद्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 32वाँ संस्करण, 2004, पृ॰ 588
33. वही, पृ॰ 588
34. वही, पृ॰ 590
35. वही, पृ॰ 697
36. वही, पृ॰777
37. वही, पृ॰ 787

मो॰ 09571088878
ई-मेल : jitendraciil@gmail.com

सुरेंद्र वर्मा के उपन्यासों में स्त्री-चेतना के विविध रूप

अनुराधा जारवाल
शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सुरेंद्र वर्मा बहुआयामी प्रतिभा के धनी व सर्वाधिक प्रयोगधर्मी साहित्यकारों में गिने जाते हैं। उन्होंने अपने साहित्य में सदैव उन मुद्दों को अपना विषय बनाया जो एक चेतनशील मनुष्य को विचलित कर सकते हैं। इनके उपन्यासों में सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन तथा मूल्य संक्रमण की गंभीर स्थिति को दिखाया गया है। ऐसे बहुमुखी रचनाकार के उपन्यासों में स्त्री-चेतना के विभिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। आज स्त्री-विषयक चिंतन साहित्य के केंद्र में है। हर युग और स्थिति में स्त्री की समस्याओं पर विचार किया जा रहा है। सदियों से स्त्री पर पितृसत्तात्मक समाज द्वारा अनेक तरह के अत्याचार किए गए है। स्त्री के प्रति समाज की दृष्टि पुरुष प्रधान रही है, और उस पुरुषवादी दृष्टि से ही स्त्री को देखा जाता रहा है। लेकिन इन सबके बावजूद भी स्त्री अपनी मुक्ति के प्रयास करती देखी जाती है। बदलते परिवेश के साथ ही स्त्री ने अपनी मुक्ति व स्वतंत्रता के रास्ते खुद तलाशे हैं। आज की स्त्री में चेतना का विकास हुआ है और उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति में बदलाव आया है। आज स्त्री पुरुषों के शोषण, रूढ़िवादी मान्यताओं तथा सामंतवादी सोच को नकारकर आगे बढ़ रही है। स्त्री-चेतना व स्त्री के आधुनिक रूप को सुरेंद्र वर्मा के उपन्यासों में विविधता के साथ प्रस्तुत किया गया है। स्त्री की समस्याओं तथा स्त्री-पुरुष संबंधों पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

प्राचीन समय से स्त्री का शोषण होता आया है। उसे हमेशा बंधनों में रहकर ही अपना जीवन गुजारना पड़ा है लेकिन सुरेंद्र वर्मा के उपन्यासों में चित्रित आधुनिक स्त्री ने इस परंपराओं को नकारा है और उनका विरोध कर आगे बढ़ी है।

'अँधेरे से परे' उपन्यास में बिंदो आधुनिकयुग की स्वतंत्र सोच रखनेवाली स्त्री है। यह किसी भी तरह की परंपरा और रूढ़ियों में विश्वास नहीं रखती है। बिंदो अपने पति जितन की बेरोजगारी से परेशान रहती है तथा चाहती है कि वह कुछ-न-कुछ काम करे। वह परंपरागत भारतीय स्त्री की तरह नहीं है, जो किसी भी रूप में पति को स्वीकार कर ले। जितन का ससुराल में इस तरह बेरोजगार होकर पड़े रहना बिंदो को अच्छा नहीं लगता है जिस कारण वह जितन को हमेशा अपमानित करती रहती है। वह उसे खरी-खोटी सुनाते हुए कहती है-'संस्पेड हुए पूरा साल होने को आ रहा है, जो थोड़ा सा बचाया था, खा-पीकर बराबर हो चुके हो... अपना नहीं, मेरा नहीं, कम-से-कम बच्चों की तो सोचो।'

'ससुराल में इस तरह रहते हुए तुम्हें जलालत महसूस नहीं होती है।'[1]

बिंदो और जितन का रिश्ता समाज के सामने सिर्फ कहने-भर का रह गया है। जितन

 ISSN 0975-735X

अपनी कमजोरियों के कारण नौकरी छोड़कर अपनी परेशानियों में ही इतना उलझ जाता है कि इससे उसका और बिंदो का दांपत्य जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। लेकिन यहाँ बिंदो असहाय, दुर्बल नारी की तरह नहीं बल्कि सशक्त स्त्री के रूप में चित्रित की गई है। वह आधुनिक विचारों वाली स्त्री है जो पति द्वारा किए गए अत्याचारों को चुपचाप सहन नहीं करती, बल्कि उनके खिलाफ आवाज उठाती है और जितन को छोड़ने जैसा बड़ा फैसला स्वयं लेती है। वह अपने जीवन और अस्तित्व को लेकर सजग है। वह अपनी मर्जी से अपना जीवन जीना चाहती है तथा अपने सहकर्मी के प्रति आकर्षित है तथा उसी से विवाह भी करना चाहती है। वह उसी के साथ देर रात तक पार्टियों में भी रहती है। लेकिन बिंदो की माँ परंपरागत विचारों वाली स्त्री है तथा वह चाहती है कि जितन और बिंदो साथ रहें। लेकिन बिंदो अब जितन के साथ नहीं रहना चाहती। वह अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेती है तथा बेटे सोमू को भी अपने साथ रखना चाहती है। वह अपनी माँ के साथ तर्क-वितर्क करती है–'अरे जो कुछ हो रहा है, उसके अलावा फैसला हो भी क्या सकता है।'

'लगता तो यही है।' बिंदो बोली।

माँ के होंठों के कोने वक्र हो गए, 'तुम्हें तो लगेगा ही।'

'सवाल सिर्फ मेरा है, क्योंकि जिंदगी तो मेरी ही उलझी है।'

माँ ने तेजी से कहा, 'तब फिर मुझे क्यों सुननी पड़ती है दस तरह की बातें।' बिंदो एक पल तौलती दृष्टि से देखती रही, फिर बोली, 'ठीक है। मैं छोड़ दूँगी यह घर! फिर तो कोई तुम पर उँगली नहीं उठाएगा।'

'अभी भी सोच लो। बिना खूँटे की गाय की तरह जगह-जगह मुँह मारने से तो अच्छा है कि...'

' बस, बहुत हुआ।' मैं चीखा।

बिंदो आवेश में कुर्सी से उठ खड़ी हुई, 'अगर तुमको जरा-सी भी शर्म बाकी है तो एक लफ्ज भी मुँह से मत निकालना।'[2]

जब स्त्री समाज के रूढ़िवादी विचारों का विरोध करने लगती है तो इससे केवल स्त्री पर ही नहीं, बल्कि समाज के लोग उसके सब घरवालों पर भी ताने कसने लगते हैं। सुरेंद्र वर्मा ने समाज की उस मानसिकता का विरोध किया है, जिसके अनुसार कहा जाता है कि पुरुष चाहे जैसा व्यवहार करे, वह चाहे जो भी करे, लेकिन वह सही है। अब समय के साथ इस मानसिकता में बदलाव देखा जा रहा है।

'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में नैन आत्मनिर्भर स्त्री है तथा स्वयं के अस्तित्व के प्रति जाग्रत है। वह अपने जीवन में विवाह से ज्यादा शिक्षा तथा कैरियर को पहली प्राथमिकता देती है। इसी कारण अपने मामा-मामी द्वारा लाए गए विवाह-प्रस्ताव को ठुकराकर उनसे अलग रहने लगती है। वह अकेली संघर्ष करती हुई संगीत की शिक्षा लेती है तथा एक सफल गायिका के रूप में स्थापित होती है। वह आम भारतीय स्त्रियों की तरह घरेलू कार्यों में पिसकर अपना जीवन नहीं गुजारना चाहती तथा विवाह के बाद भी संगीत नहीं छोड़ना चाहती।

नील द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखने पर वह उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है–'बात यह है

कि मेरे जीवन की रूपरेखा बिलकुल सपाट है। मैं अपने क्षेत्र में जरूर ऊपर उठना चाहती हूँ। इसके अलावा मेरी कोई अभिलाषाएँ नहीं। स्त्री के रूप में जो जीवन हो सकता है वह अपने लिए मैंने कभी नहीं सोचा। ...मेरी भी एक शर्त है। स्वर कसा हुआ था, मैं संगीत नहीं छोड़ सकती।'[3] यहाँ नैन की अपने जीवन को लेकर अपनी विचारधारा तथा अलग व्यक्तित्व है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में स्त्री-चेतना के विभिन्न पहलू देखने को मिलते हैं। इसमें वर्षा वशिष्ठ उर्फ सिलबिल स्त्री-चेतना की सशक्त पात्र के रूप में चित्रित की गई है। वर्षा वशिष्ठ बचपन से ही परिवार के दकियानूसी व परंपरागत विचारों का विरोध करती है। वह प्रारंभ से ही अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेत रहती है। वह हमेशा से ही कुछ सवालों का जवाब जानने को उत्सुक रहती थी, जैसे 'वह क्यों पैदा हुई; उसके जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या जीवन की प्रकृति वैसी ही होती है जैसी 54 सुल्तान गंज की है? क्या उसे भी वैसा ही जीवन जीना होगा, जैसा अम्मा, दद्दा और जिज्जी का है?'[4] वर्षा को अपना यशोदा शर्मा नाम पसंद नहीं होने के कारण वह स्कूल में फॉर्म भरते समय अपना नाम बदलकर वर्षा वशिष्ठ रख लेती है। पिता किशनदास शर्मा को जब यह बात पता चलती है तो वे यह सुनकर अवाक् रह जाते हैं। क्योंकि उनके अनुसार वंश की सात पीढ़ियों में पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। इस प्रसंग से वर्षा की जाग्रत चेतना व अस्मिता की खोज के प्रयास का पता चलता है। यशोदा शर्मा नाम उसे घिसा-पिटा, दकियानूसी लगता है। उसे इस नाम में कोई सुंदरता नजर नहीं आती।

पुरानी रूढ़िवादी परंपरा व बंधनों में जकड़ी वर्षा को अत्यधिक संघर्षों के दौर से गुजरना पड़ता है। परिवार द्वारा अनेक रुकावटें पैदा करने पर भी वह हिम्मत नहीं हारती और अभिनय क्षेत्र में सफलता प्राप्त करती है। परंपरानुसार घरवाले उसका विवाह करना चाहते हैं, इसके लिए उसे परिवार वालों द्वारा मानसिक व शारीरिक रूप से कई यातनाएँ व धमकियाँ भी दी जाती हैं, लेकिन इन सबको झेलते हुए वह अपना जीवन सँवारने तथा कुछ बनने की आशा लिए सबका विरोध करके आगे बढ़ती जाती है और उसे सफलता भी प्राप्त होती है। शिक्षिका व मार्गदर्शिका उसे हर कदम पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती है। उनकी ही प्रेरणा से वह कॉलेज के बाद बच्चों को ट्यूशन देना शुरू करती है। यह बात जब वर्षा के पिताजी को पता चलती है तो वे आग-बबूला हो जाते हैं। उन्हें यह गँवारा नहीं कि उनकी बेटी कामकाजी हो। वे कन्या के धन को हाथ लगाना पाप समझते हैं। वे परंपरावादी व्यक्ति थे, इसी कारण उन्हें स्वीकार नहीं था कि उनके घर की लड़की परंपरा के विरुद्ध जाकर कोई काम करे। उनके अनुसार यह कार्य अकरणीय है। लोग इस बारे में क्या कहेंगे। वर्षा के संदर्भ में पिता की हर बात अकरणीय ही होती है। पिता को समाज का डर है। शर्मा परिवार की सात पीढ़ियों में काम करनेवाली यह पहली कन्या थी।

वर्षा अपनी जीजी के विवाह तथा विवाह बाद के जीवन को देखकर व्यथित हो जाती है और सोचती है कि मेरा जीवन ऐसा नहीं हो सकता। 'नहीं यह जीवन की सुंदरता नहीं हो सकती। ये लोग मेरे अपने हैं, मगर उनके और मेरे सुख की परिभाषा अलग है। यह सब मेरे लिए नहीं हो सकता। ये मेरे रक्त संबंधी है, इनका सुख-दु:ख मेरा है, पर मेरा सुख-दु:ख मेरा ही रहेगा। ये उसे बाँट नहीं सकेंगे। एक हद के बाद उसे समझेंगे भी नहीं।'[5] वर्षा एक ऐसी

मध्यवर्गीय शिक्षित लड़की है जो परंपरागत मूल्यों को तोड़कर अपने व्यक्तित्व को निखारना चाहती है, जीवन में सौंदर्यबोध को जानना चाहती है। वह महज मादा नहीं है। किसी दोहजू-तिहजू से विवाह कर बच्चे पैदा कर रसोई सँभालना उसकी दृष्टि में जीवन नहीं है। इसी कारण वह परिवारवालों द्वारा लाए गए सभी विवाह-प्रस्तावों को ठुकरा देती है। अपने बड़े भाई महादेव द्वारा समझाने पर भी वर्षा ऐसे जवाब देती है, 'आयु के जिस मोड़ पर मैं खड़ी हूँ, उसमें शादी मुझे उतने महत्त्व की नहीं लगती जितना अपने पाँवों पर खड़ा होना लगता है।'

'यह तुम क्या कह रही हो ? वंश की एक परंपरा होती है। उसके खिलाफ आदमी कैसे जा सकता है।'

'अगर चारा न हो तो जाना ही होगा।' वर्षा ने उत्तर दिया, यह मैं मानती हूँ कि मेरी वजह से घर के लोगों को बाहर दो बातें सुननी पड़ेंगी, लेकिन ऐसा होना मेरी मजबूरी होगी। ...कुपात्र के साथ बँधने से अकेले रहना अच्छा है।'[6] वर्षा के हर कार्य व महत्त्वाकांक्षा पर परिवार द्वारा अवरोध डाला जाता है। दिल्ली नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में प्रवेश लेने जाने पर भी वर्षा को वहाँ जाने से रोका जाता है तथा उसे बाथरूम में बंद कर दिया जाता है। वर्षा के ऊपर विवाह करने का दबाव बनाया जाता है, लेकिन वर्षा पहले अपने पैरों पर खड़े होना, आत्मनिर्भर होना ज्यादा जरूरी समझती है।

'मैं बी॰ए॰ कर लूँ। फिर नौकरी करूँगी।'

'हमारे वंश में कभी लड़की ने नौकरी नहीं की।' पिता बोले।

'वंश में जो नहीं हुआ वह आगे भी न हो, यह जरूरी नहीं।' इस बार सिलबिल से नहीं रहा गया।

'यह ब्याह मैं नहीं करूँगी। तुम लोग चाहे मारो, चाहे कूटो।'[7]

परंपरागत सनातन मूल्यों से विद्रोह करनेवाली वर्षा वह करना चाहती है जो उसके परिवार की सात पीढ़ियों में किसी ने नहीं किया। वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के चाँद को पाना चाहती है।

वर्तमान में स्त्री सभी प्रकार की चुनौतियों को स्वीकार करती है और संघर्ष करती है, लेकिन उनसे भयभीत नहीं होती। वर्षा भी ऐसी ही स्त्री है जो अब स्वतंत्र व आत्मनिर्भर है तथा उसकी स्वयं की एक अलग पहचान है। वह अपने सभी निर्णय स्वयं लेती है चाहे विवाह का निर्णय हो या फिल्मों में अभिनय करने का। वह रंगमंच के माध्यम से सिनेमा-क्षेत्र में पहुँचती है और सफल अभिनेत्री के रूप में स्थापित होती है। साथ ही कई बड़े पुरस्कार भी प्राप्त करती है। वर्षा डॉ॰ अटलजी द्वारा दिए गए सारे दायित्वों को सफलतापूर्वक पूरा करती है तथा अटलजी के समकक्षी बनकर यह प्रमाणित कर देती है कि चाहे कलाक्षेत्र हो या व्यक्तिगत क्षेत्र स्त्रीपुरुष से कहीं भी कम नहीं है। फिल्म क्षेत्र में भी अपने अभिनय व कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर वह हर्ष से भी आगे निकल जाती है। वर्षा हर्ष से प्रेम करती है लेकिन उससे शादी करने की जल्दबाजी नहीं करती। वह अपना और हर्ष का कैरियर स्थापित होने के बाद ही शादी करना चाहती है। हर्ष अपनी असफलताओं के कारण आत्महत्या कर लेता है। लेकिन वर्षा सभी सामाजिक मर्यादाओं को जानते हुए भी उसके बच्चे की कुँआरी माँ बनने का निर्णय लेती है।

उसे इस बात की परवाह नहीं की समाज के लोग इसे किस तरह लेंगे या उसकी लोकप्रियता पर इसका क्या असर पड़ेगा। वह हर्ष और उसके संबंध की इस निशानी को जन्म देना चाहती है चाहे कोई उसका साथ दे या ना दे। यह उसका व्यक्तिगत फैसला है। उसके इस फैसले पर वर्षा का सेक्रेटरी पांडे उसे समझाता भी है, 'मैडम, इस बार तो आपने हद ही कर दी। ...अभी कैरियर के लिहाज से आपका शादी का फैसला ही ठीक नहीं था। शादी के बाद हीरोइन की लोकप्रियता में एकदम गिरावट आती है।...लेकिन आपने ऐसा विध्वंसक शगूफा छोड़ दिया। बच्चे वाली...और वह भी शादी के बगैर...हीरोइन के लिए इंडस्ट्री में कोई जगह नहीं मैडम।'

लेकिन वर्षा को कोई परवाह नहीं। 'पांडेजी,' वर्षा ने स्थिर स्वर में कहा, 'मैं एक बार कह चुकी हूँ, मेरी जाती जिंदगी पर टिप्पणी करने का आपको कोई अधिकार नहीं।'[8] वर्षा पांडे को टका-सा जवाब देती है कि वह चाहे तो उससे अलग होकर काम कर सकते हैं। समाज में बदनामी के डर से हर्ष की बहन सुजाता व उसकी मम्मी भी उसे समझाने आती है कि वह इस बच्चे से छुटकारा पा ले, लेकिन वर्षा अपने निर्णय पर दृढ़ रहती है। उसे पता है इस रास्ते पर उसे अकेले ही चलना होगा लेकिन वह घबराती नहीं, बल्कि सभी परिस्थितियों का सामना करने के लिए अपने आपको तैयार करती है।

इस तरह वर्षा अपने जीवन में संघर्ष करती हुई, आत्मनिर्भर बनती है तथा अपनी अलग पहचान, अलग व्यक्तित्व स्थापित करती है। अपने परिवारवालों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में भी सहयोग देती है, साथ ही बिना किसी के दबाव के अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेती है। 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास इस बात का परिचायक है कि एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार की स्त्री भी मन में ठान ले तो अपने हौसलों की उड़ान लेकर बुलंदियों को हासिल कर सकती है।

सुरेंद्र वर्मा के उपन्यासों में आज की नारी के जीवन संघर्षों, शिक्षा व आधुनिकता के कारण आई चेतना, अपने अधिकारों के प्रति सजगता, आर्थिक संघर्ष, स्वतंत्र निर्णय लेने की चेतना आदि स्थितियों व उपलब्धियों को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है।

संदर्भ

1. अँधेरे से परे, सुरेंद्र वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1980, पृ॰ 13
2. वही, पृ॰ 171
3. दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, सुरेंद्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ॰ 213-215
4. मुझे चाँद चाहिए, सुरेंद्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ॰ 12
5. वही, पृ॰ 23
6. वही, पृ॰ 43
7. वही, पृ॰ 69
8. वही, पृ॰ 498

सुपुत्री श्री रमेशचंद्र जारवाल
बैरवा मौहल्ला, ग्राम व पोस्ट-बीलवा
तहसील-सांगानेर, जिला-जयपुर (राज॰) 302022
मो॰ 9352379120
ईमेल anuradhajarwal@gmail.com

ISSN 0975-735X

अभिनंदन-ग्रंथों और स्मृति-ग्रंथों की परंपरा

गुंजन अग्रवाल
कार्यकारी संपादक, सभ्यता-संवाद (हिंदी-त्रैमासिक) दिल्ली

पिछले दिनों उदयपुर में आयोजित एक पुरस्कार-समारोह में बक्सर, बिहार के एक साहित्यकार ने मुझे अपना 'अभिनंदन-ग्रंथ' भेंट किया। इसे 'ग्रंथ' न कहकर 'पुस्तिका' कहा जाना चाहिए। डिमाई आकार की कुल 136 पृष्ठों की पुस्तिका, वह भी अनेक फूहड़ विज्ञापनों के साथ, कम-से-कम 'ग्रंथ' की श्रेणी में तो नहीं रखी जा सकती। इधर एक दशक से देख रहा हूँ कि साहित्य-जगत् में हलके-फुलके, कूड़ा-करकट 'अभिनंदन-ग्रंथों' की बाढ़-सी आ गई है। इनमें पूरी-की-पूरी सामग्री व्यक्ति-केंद्रित होती है और अधिकांश लेख आग्रहपूर्वक लिखवाए गए होते हैं। जिस व्यक्ति का अभिनंदन-ग्रंथ होता है, उस व्यक्ति के संस्तवन के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री उसमें नहीं होती। एक समय ऐसा था कि पाँच सौ से लेकर एक-एक हजार पृष्ठों के बृहदाकार 'अभिनंदन-ग्रंथ' प्रकाशित किए जाते थे और उनमें एक तिहाई सामग्री व्यक्ति-केंद्रित और दो-तिहाई सामग्री विषय-केंद्रित होती थी। ऐसे 'अभिनंदन-ग्रंथ' आज भी भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। किंतु विगत तीन दशक से इस विधा में उल्लेखनीय ह्रास हुआ है।

आजकल एक यह भी परंपरा शुरू हुई है कि जिस व्यक्ति को अपना अभिनंदन-ग्रंथ निकालना होता है, वह स्वयं ही प्रयास करके लेख लिखवाता है और अपना अभिनंदन करवाता है। बिहार के ही एक वयोवृद्ध साहित्यकार विगत एक दशक से अपने ही अभिनंदन-ग्रंथ का संपादन कर रहे हैं और लेख जुटा रहे हैं।

अपने देश में किसी असाधारण व्यक्तित्व की किसी विशिष्ट क्षेत्र में समाज एवं राष्ट्र को देन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए कृतज्ञ समाज एवं राष्ट्र द्वारा उस महापुरुष के जीते-जी उसको 'अभिनंदन-ग्रंथ' और मरणोपरांत 'स्मृति-ग्रंथ' समर्पित करने की एक शती पुरानी परंपरा है। पहले-पहल पत्र-पत्रिकाओं द्वारा महापुरुषों के निधन पर 'स्मृति-अंक' प्रकाशित किए गए। सन् 1915 में गोपालकृष्ण गोखले के निधन के पश्चात 'सरस्वती' द्वारा प्रकाशित 'श्रद्धांक' को हिंदी का पहला 'स्मृति-ग्रंथ' कहा जा सकता है। इसके बाद ही व्यवस्थित रूप से 'अभिनंदन-ग्रंथों' और 'स्मृति-ग्रंथों' का प्रकाशन शुरू हुआ।

बीसवीं शताब्दी में साहित्य, संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाजसेवा आदि विविध क्षेत्रों में सार्थक योगदान देनेवाले अनेक नामी-गिरामी साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, पुरातत्त्ववेत्ताओं, समाज-सुधारकों, विचारकों, राजा-महाराजाओं, राजनीतिज्ञों, आदि को 'अभिनंदन-ग्रंथ' और 'स्मृति-ग्रंथ' समर्पित किए गए हैं। इनमें जितने भी 'अभिनंदन-ग्रंथ' निकले हैं, वे उन योगदानकर्ताओं के 50वें, 60वें, 70वें, 75वें या 80वें जन्मदिवस पर प्रकाशित करके उनको समर्पित किए गए हैं। ऐसे ग्रंथों का प्रायः एक तिहाई भाग उनके व्यक्तित्व-कृतित्व,

शुभकामना-संस्मरण केंद्रित तथा शेष दो-तिहाई भाग में साहित्य-संस्कृति-इतिहास पर केंद्रित उच्चकोटि के गवेषणात्मक निबंधों का संग्रह किया गया है। दूसरी ओर 'स्मृति-ग्रंथ' महापुरुष के निधन के उपरांत प्रकाशित किए जाते हैं और उनमें भी ग्रंथ का एक तिहाई भाग उस मनीषी के व्यक्तित्व-कृतित्व, श्रद्धांजलि तथा शेष दो-तिहाई भाग में गंभीर शोध-निबंध रहते हैं।

इस तरह हिंदी-साहित्य में अभिनंदन-ग्रंथों और स्मृति-ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक ओर उस मनीषी के व्यक्तित्व-कृतित्व से संबंधित प्रचुर सामग्री एक ही स्थान पर मिल जाती है, साथ ही उस मनीषी के लोकसंग्रही व्यक्तित्व की झलक भी मिलती है। यह बाद में उस महापुरुष की जीवनी लिखने के लिए जीवनी-लेखक को मूल्यवान् सामग्री प्रदान करती है। दूसरी ओर इसमें प्रकाशित गंभीर निबंध भी इतिहास, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन, संस्कृति की परतें खोलने में मदद करते हैं।

अनुमान है कि पिछली शताब्दी में प्रायः तीन सौ अभिनंदन ग्रंथ और स्मृति-ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं। स्वाधीनता-आंदोलन से जुड़े प्रमुख नेताओं और हिंदी के प्रायः सभी बड़े साहित्यकारों को अभिनंदन-ग्रंथ एवं स्मृति-ग्रंथ समर्पित किए गए हैं। इनमें कुछ तो इतने श्रेष्ठ महाग्रंथ बन गए हैं कि इनका अनेक बार पुनर्मुद्रण करना पड़ा है। इनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ', महाराजा विक्रमादित्य द्वारा चलाए गए विक्रम संवत् के 2000 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में पं॰ सूर्यनारायण व्यास द्वारा संपादित-प्रकाशित 'विक्रम स्मृति ग्रंथ', 'नेहरू अभिनंदन ग्रंथ', सोहनलाल द्विवेदी द्वारा संपादित 'गांधी अभिनंदन ग्रंथ', पं॰ सीताराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'मालवीय स्मृति ग्रंथ' आदि विश्वकोशीय महत्त्व के हैं और आज भी उपादेय हैं। यदि इन सभी ग्रंथों को इंटरनेट पर अपलोड कर दिया जाए, तो शोध में मदद मिलेगी और सही तथ्यों का पता चल सकेगा और इतिहास लिखने में सहायता मिलेगी।

अभिनंदन-ग्रंथ :

1. अभिनंदन सुमन : श्री सुरेंद्रप्रसादसिंह की पाँच दशकीय साहित्य-साधना (सं॰ डॉ॰ शिववंश पांडेय)
2. आचार्य श्री तुलसी अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल), 1962
3. आदित्येंद्र अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ युगलकिशोर चतुर्वेदी)
4. आर्ट एंड थॉट : इस्स्यूड इन हॉनर ऑफ डॉ॰ आनंद के॰ कुमारस्वामी ऑन द ऑकेजन ऑफ हिज सेवेंटीयथ बर्थडे (सं॰ के॰ भारत अय्यर), 1947
5. आर्यिका इंदुमति अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ चेतनप्रकाश पाटनी), 1983
6. एक युग : एक प्रतीक (बाबू जगजीवनराम अभिनंदन ग्रंथ) (सं॰ कन्हैयालाल चंचरीक)
7. कर्मयोगी केसरीमल सुराणा अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ नाथमल टांटिया)
8. कर्मयोगी : सुरेशकुमारसिंह षष्ट्यब्दि कीर्ति-कलश (सं॰ डॉ॰ जितेंद्रकुमारसिंह 'संजय'), 2018
9. कर्मयोद्धा : राम नाईक अभिनंदन ग्रंथ, 2009

10. काका हाथरसी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल)
11. कांतप : डॉ॰ भगवानदास माहोर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ विश्वंभर आरोही)
12. कालकाप्रसाद भटनागर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ विश्वनाथप्रसाद), 1961
13. क्रांतिदृष्टा (डॉ॰ शंकरदयाल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ) (सं॰ सत्यनारायण श्रीवास्तव, द्वारकाप्रसाद कटारे)
14. गंगासहाय शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ रामेश्वरप्रसाद शास्त्री एवं अन्य), 1956
15. गांधी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ सोहनलाल द्विवेदी), 1944
16. छवि : राय कृष्णदास अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल), 1981
17. जवाहिरलाल जैन अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पूर्णचंद जैन)
18. ज्ञान-विज्ञान-विचक्षण आचार्य वंदना प्रो॰ एम॰ए॰ लक्ष्मीताताचार्य स्वामी सेवेंटींथ फेलिसिटेशन वॉल्यूम (सं॰ प्रो॰ एम॰ए॰ नरसिंहन, डॉ॰ एम॰ए॰ अलवर), 1974
19. डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ सीताराम चतुर्वेदी), 1989
20. डॉ॰ परमेश्वर गोयल अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ सतीशराज पुष्करणा)
21. डॉ॰ पूर्णेंदुनारायण सिन्हा अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ सत्यनारायण)
22. डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल)
23. डॉ॰ ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ श्यामलाल चतुर्वेदी)
24. डॉ॰ रामकुमार गुप्त अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ रघुनाथ भट्ट)
25. डॉ॰ रामकुमार वर्मा गौरव ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, डॉ॰ राजलक्ष्मी वर्मा)
26. डॉ॰ लालबहादुर शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ विमलकुमार जैन सौरया), 1986
27. डॉ॰ सियाराम तिवारी : व्यक्ति और उपलब्धि (अभिनंदन ग्रंथ) (डॉ॰ रामदेव प्रसाद)
28. डॉ॰ स्वर्णकिरण अभिनंदन ग्रंथ (डॉ॰ प्रभुनारायण विद्यार्थी)
29. दयाशंकर श्रोत्रिय अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पुरुषोत्तमलाल मेनारिया)
30. द स्पिरिट ऑफ इंडिया : इंदिरा गाँधी फेलिसिटेशन वॉल्यूम (संपादक मंडल), 1975
31. दीनानाथ नादिम अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ चमनलाल सप्रू), 1985
32. दीप ज्योति : समाजसेवी सेठ दीपचंद जैन अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ शेषमल चौरड़िया)
33. दुर्गा खोटे अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ गणेश वात्स्यायन)
34. देशगौरव जगजीवनराम अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ जी॰एस॰ पथिक)
35. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ श्यामसुंदरदास, राय कृष्णदास), 1933
36. निष्काम साधक श्री यशपाल जैन अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी)
37. नेहरू अभिनंदन-ग्रंथ (संपादन समिति), 1949
38. न्यायाचार्य डॉ॰ दरबारीलाल कोठिया अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ ज्योतिप्रसाद जैन)
39. पं॰ इकबाल नारायण गुर्टू अभिनंदन ग्रंथ, 1953
40. पं॰ जगदीश पांडेय अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ शिववंश पांडेय)
41. पं॰ रामकर्ण असोपा अभिनंदन-ग्रंथ (सं॰ पं॰ गोविंदनारायण शर्मा असोपा), 1940
42. पं॰ श्यामलाल चतुर्वेदी अभिनंदन ग्रंथ (डॉ॰ विनय पाठक)

43. पं॰ सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनंदन-ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र, डॉ॰ बलराम श्रीवास्तव), 1965
44. पद्मविभूषण श्री हरिविनायक पाटसकर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ आचार्य वाचस्पति शुक्ल, ईशनारायण जोशी)
45. पद्मश्री डॉ॰ विष्णु श्रीधर वाकणकर अभिनंदन-ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ विष्णु भटनागर), 1987
46. पटेल अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'), 1948
47. परंतप : चौधरी चरणसिंह अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ माधवीलता शुक्ल)
48. पाटलिपुत्र की धरोहर रामजी मिश्र मनोहर (सं॰ डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव, राय प्रभाकर प्रसाद)
49. पुष्कर मुनि अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ देवेंद्र मुनि शास्त्री)
50. पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ देवदत्त शास्त्री), 1963
51. पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ : साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ वासुदेवशरण अग्रवाल), 1953
52. प्राच्यबोध : प्रो॰ टी॰पी॰ वर्मा फेस्टच्रिफ्ट (सं॰ बी॰आर॰ मणि, अरविंदकुमार सिंह, रवींद्रकुमार)
53. नाथूराम प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी), 1946
54. प्रो॰ कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ अनंतकुमार नाथ)
55. बाबूलाल जैन 'जलज' अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ लखनलाल गुप्त, उत्तमचंद्र गोयल)
56. बाबू वृंदावनदास अभिनंदन ग्रंथ (डॉ॰ आनंदस्वरूप पाठक, कन्हैयालाल चंचरीक)
57. बाबू शारदाप्रसाद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ राममित्र चतुर्वेदी, डॉ॰ भगवतीप्रसाद शुक्ल, डॉ॰ शंकर शेष)
58. ब्र॰ पं॰ चंदाबाई अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ सुशीला जैन, जयमाला जैन)
59. ब्रजलोक : रामनारायण अग्रवाल अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ कैलाशचंद्र भाटिया)
60. ब्रह्मगवी : महाकवि ब्रह्मदत्त वाग्मि अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ हरिसिंह शास्त्री)
61. भँवरलाल नाहटा अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ गणेश ललवानी)
62. भागवत साबू अभिनंदन प्रसंग (सं॰ श्रीराम आगार, रामस्वरूप माहेश्वरी)
63. भानु अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ बलदेवप्रसाद मिश्र, शिवनाथ मिश्र, प्यारेलाल गुप्त, भालचंद्र राव, घनश्यामप्रसाद)
64. भारतीय नाट्य साहित्य : सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ नगेंद्र)
65. भारतीय पुरातत्त्व : पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल), 1971
66. मरुधर केसरी पं॰ रत्न मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज अभिनंदन ग्रंथ, 1968
67. महाकवि आरसीप्रसाद सिंह अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ उमाशंकर वर्मा)
68. महाकवि मोहन प्रेमयोगी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ शिववंश पांडेय)
69. महात्मा गांधी : अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन), 1939

 ISSN 0975-735X

70. महादेवी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ देवदत्त शास्त्री), 1964
71. महेंद्र शताब्दी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ शिवाजीराव आयदे)
72. मुंशी अभिनंदन (सं॰ विश्वनाथप्रसाद), 1957
73. मुंशी अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल), 1950
74. मुनिद्वय अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ श्रीचंद सुराना 'सरस'), 1973
75. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल), 1960
76. राजा महेंद्र प्रताप अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ रामनारायण अग्रवाल)
77. राजा रमन्ना : सिक्सटीयथ बर्थडे फेलिसिटेशन वॉल्यूम (सं॰ सी॰एन॰आर॰ राव), 1985
78. राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ शिवनंदनप्रसाद)
79. राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, रायकृष्णदास, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी), 1959
80. रोशनलाल गुप्त 'करुणेश' अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल)
81. लखनलाल गुप्त अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ रामनारायण शुक्ल)
82. लुड्विक स्टर्नबाख अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ जे॰पी॰ सिन्हा), 1979
83. लोकसाहित्य : स्वरूप एवं सर्वेक्षण (सत्येंद्र अभिनंदन ग्रंथ) (सं॰ जवाहरलाल हंडू, स्वर्णलता अग्रवाल)
84. वनज्योत्स्ना–सहस्रसौमनसी : फ्लोरा एंड प्लांट किंगडम इन संस्कृत लिटरेचर (सं॰ आभा कुलश्रेष्ठ), 2003
85. वर्णी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ खुशालचन्द्र गोरावाला), 1949
86. विनायकराव अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ वंशीधर विद्यालंकार), 1956
87. विप्र अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ लखनलाल गुप्त)
88. वेंकटेश्वर से विश्वनाथ : डॉ॰ विजयपाल सिंह अभिनंदन ग्रंथ (संपादक मंडल)
89. वैशाली अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ योगेंद्र मिश्र), 1985
90. श्री अगरचन्द नाहटा अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ दशरथ शर्मा), 1977
91. श्री अमर अर्चना : श्री चंद्रनाथ मिश्र अमर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ मदनेश्वर झा, डॉ॰ जयमंत मिश्र, डॉ॰ सुरेश्वर झा), 2001
92. श्रीकृष्ण अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ रामधारीसिंह 'दिनकर' एवं अन्य), 1948
93. श्री गोपालप्रसाद व्यास अभिनंदन ग्रंथ (संपादन समिति)
94. श्री दिवाकर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ शोभाचंद्र जी भारिल्ल), 1947
95. श्री महारावल रजत जयंती अभिनंदन ग्रंथ, 1947
96. श्री रविशंकर शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ (संपादन समिति), 1955
97. श्री राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ राधिकारमण प्रसाद सिंह, शिवपूजन सहाय एवं अन्य), 1949
98. श्री सच्चिदानंद सहाय अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ शिववंश पांडेय)
99. श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ मुनि कांतिसागर), 1950

100. श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी), 1950
101. श्री सिंहल अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ गजाधर तिवारी वैद्य, श्री शिवकुमार गोयल)
102. श्री हजारीमल बाँठिया अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ रमेशचंद्र शर्मा), 1995
103. श्रुतिमहती : ग्लोरी ऑफ संस्कृत ट्रेडीशन, प्रो॰ रामकरण शर्मा फेसिसिटेशन वॉल्यूम (सं॰ राधावल्लभ त्रिपाठी), 2008
104. समर्पित अर्धशती : पं॰ द्वारकाप्रसाद मिश्र अभिनंदन ग्रंथ (संपादन समिति)
105. सरस्वती वरदपुत्र पं॰ बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य), 1989
106. सातवळेकर अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ क्षितीश वेदालंकार)
107. साधना एवं समर्पण : शाही स्वामी अभिनंदन (सं॰ डॉ॰ रामजीसिंह, रामेश्वरप्रसाद सिंह, नागेश्वर चौधरी)
108. साध्वी रत्न श्री पुष्पवती अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ दिनेश मुनि)
109. सिंध से गोमती तक : डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'मंगल' अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ जितेंद्रकुमार सिंह 'संजय'), 2016
110. सिद्धांताचार्य पं॰ कैलाशचंद्र शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ वागीश शास्त्री एवं अन्य), 1980
111. सीताराम सेकसरिया अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ भँवरमल सिंघी), 1974
112. सेठ श्री गुलाबचंद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ मदनराज डी॰ मेहता), 1978
113. स्टडीज इन मीमांसा : डॉ॰ मंडन मिश्र फेलिसिटेशन वॉल्यूम (सं॰ डॉ॰ आर॰सी॰ द्विवेदी), 1994
114. स्वयंप्रभ-गिरिजाशंकर त्रिवेदी अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ बुद्धिनाथ मिश्र)
115. स्वामी केशवानंद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी), 1958
116. हजारीमल बाँठिया अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ रमेशचंद शर्मा)
117. हीरालाल खन्ना अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ गोविंद मालवीय), 1950
118. हीरालाल दीक्षित अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ आनंदीप्रसाद माथुर)
119. हुकमचंद अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ सत्यदेव विद्यालंकार), 1951

स्मृति-ग्रंथ :

1. अभिनव शंकर : स्वामी करपात्रीजी स्मृति ग्रंथ (सं॰ कृष्णप्रसाद शर्मा), 1988
2. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ (प्रधान संपादक कन्हैयालाल दूगड़), 1961
3. आचार्य पद्मसिंह शर्मा स्मृति ग्रंथ (सं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी)
4. आचार्य सारंग शास्त्री स्मृतिग्रंथ (व्यक्तित्व और कृतित्व) (सं॰ नरेंद्रप्रसाद मिश्र शास्त्री)
5. आजाद स्मृति ग्रंथ (सं॰ ठा॰ शिवप्रताप सिंह, महेशशरण जौहरी 'ललित')
6. आनंदीलाल पोद्दार स्मृति पुष्पी (सं॰ विश्वंभरनाथ चतुर्वेदी, रामेश्वरप्रसाद पाटोदिया)
7. आर्यपुरुष पं॰ रामनारायण शास्त्री (सं॰ डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव)

 ISSN 0975-735X

8. ऋषिकल्प : डॉ॰ हीरालाल जैन स्मृति-ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ धरमचंद जैन)
9. एक बिंदु : एक सिंधु : जुगलकिशोर बिरला (सं॰ देवदत्त शास्त्री)
10. ओरछेश स्मृति ग्रंथ (सं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी)
11. कृष्णमाधव चिंतामणि स्मृति ग्रंथ (सं॰ पं॰ गोविंद झा)
12. गणेशशंकर विद्यार्थी स्मृति ग्रंथ
13. गांधी-श्रद्धांजलि-ग्रंथ (सं॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन), 1955
14. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति-ग्रंथ (सं॰ पं॰ कैलाशचंद्र शास्त्री)
15. गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रंथ (संपादक समिति), 1964
16. गोस्वामी सदानंद स्मृति ग्रंथ (सं॰ अक्षय वट दीक्षित)
17. जगमोहनदास स्मृति ग्रंथ (संपादन समिति)
18. जननायक श्री दौलतराम सारण अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ रतनलाल मिश्र), 2008
19. जयनारायण व्यास स्मृति ग्रंथ (सं॰ राजेंद्रलाल हांडा)
20. डॉ॰ महेंद्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव, दरबारीलाल कोठिया)
21. डॉ॰ राजबली पांडेय स्मृति ग्रंथ (सं॰ सीताराम चतुर्वेदी), 1976
22. दुर्गाप्रसाद स्मृति ग्रंथ (संपादक मंडल), 1963
23. द्विजदेनी जन्मशती स्मृति ग्रंथ (सं॰ राय रामनारायण)
24. धुन के धनी : लोकनायक जयनारायणव्यास स्मृतिग्रंथ (सं॰ सत्यदेव विद्यालंकार)
25. नमन : डॉ॰ नरेंद्रभानावत एवं शांता भानावत स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ महेंद्र भानावत)
26. नवोन्मेष : महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज स्मृति ग्रंथ (सं॰ जयदेवसिंह), 1967
27. निराला-स्मृति ग्रंथ (सं॰ ओंकार शरद)
28. निर्मलचंद्र चतुर्वेदी स्मृति ग्रंथ (सं॰ अविनाशचंद्र चतुर्वेदी)
29. पं॰ चौनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रंथ (सं॰ ज्ञानचंद्र खिंदूका), 1976
30. पं॰ जगन्नाथप्रसाद मिश्र स्मृति ग्रंथ (सं॰ राजेश्वर मिश्र एवं डॉ॰ रेखा मिश्र)
31. पं॰ परमेश्वरानंद शास्त्री स्मृति ग्रंथ (सं॰ देवनंदनप्रसाद यादव)
32. पं॰ रामदयाल जोशी स्मृति ग्रंथ (सं॰ रामधारीसिंह 'दिनकर')
33. पं॰ रामनारायण मिश्र स्मृति ग्रंथ (सं॰ विष्णुचंद्र शर्मा)
34. पं॰ रूपनारायण पांडेय स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ प्रेमनारायण टंडन)
35. पद्मभूषण पं॰ कुंजीलाल दुबे स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ राजबली पांडेय)
36. पांडेय स्मृति ग्रंथ : स्व॰ पं॰ रूपनारायण पांडेय की स्मृति में (सं॰ डॉ॰ प्रेमनारायण टंडन), 1959
37. पुण्य स्मरण : चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा (सं॰ रामबहोरी शुक्ल, डॉ॰ उदयनारायण तिवारी)
38. बाबू गुलाबराय स्मृति ग्रंथ (सं॰ हरिशंकर शर्मा, वियोगी हरि), 1970
39. बिंदेश्वरी दुबे स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ उमेश्वरप्रसाद वर्मा)

40. बिहार केसरी डॉ॰ श्रीकृष्णसिंह स्मृति कलश (सं॰ राधावल्लभ शर्मा)
41. बुंदेलखंड गौरव पं॰ गोरेलाल शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ श्रियांशकुमार सिंघई), 1999
42. भगवान महावीर स्मृति ग्रंथ (सं॰ प्रो॰ समुरेचंद के॰ जैन), 1976
43. भाईजी : पावन स्मरण (श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार की पुण्य स्मृति) (सं॰ महामहोपाध्याय पं॰ गोपीनाथ कविराज), 1971
44. भातखंडे स्मृति ग्रंथ (सं॰ प्रभाकर नारायण चिंचोरे)
45. भोगीलाल पंड्या स्मृति ग्रंथ (सं॰ उत्सवलाल शर्मा)
46. महाकवि ग्वाल स्मृति ग्रंथ (सं॰ भगवान सहाय पचौरी 'भवेश')
47. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ देवीलाल पालीवाल), 1969
48. मालवीय स्मृति ग्रंथ (सं॰ पं॰ सीताराम चतुर्वेदी)
49. मीरा स्मृति ग्रंथ (संपादक मंडल), 1949
50. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ (सं॰ शोभाचंद्र भारिल्ल), 1965
51. रामलोचनशरणबिहारी स्वर्ण जयंती स्मारक ग्रंथ (सं॰ शिवपूजन सहाय, हरिमोहन झा, अच्युतानंद दत्त)
52. लोकनायक मुरलीधर व्यास स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ भवानीशंकर व्यास 'विनोद'), 1990
53. लौहपुरुष रामलखनप्रसाद स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ रमेश नीलकमल), 2007
54. वर्धमान महावीर स्मृति ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ सुदीप जैन)
55. विक्रम स्मृति ग्रंथ (सं॰ पं॰ सूर्यनारायण व्यास), 1944
56. विश्वदृष्टि : डॉ॰ संपूर्णानंद स्मृति-ग्रंथ (सं॰ प्रो॰ ह्वी॰ वेंकटाचल), 1993
57. शतवार्षिकी : श्री श्रीप्रकाश स्मृति ग्रंथ (1890-1991) (सं॰ घनश्याम पंकज)
58. शिवनाथ मिश्र स्मृति ग्रंथ (सं॰ ज्वालाप्रसाद मिश्र)
59. श्री चंद्रसागर स्मृति ग्रंथ (सं॰ जिनेंद्रप्रकाश जैन)
60. श्री महावीर स्मृति ग्रंथ (सं॰ कामताप्रसाद जैन), 1948
61. संस्तवन एक आलोक पुरुष का : चौधरी चरणसिंह स्मृति-ग्रंथ (सं॰ डॉ॰ किरणपालसिंह), 2010
62. साध्वीरत्ना श्री महाप्रभा स्मृति ग्रंथ (सं॰ साध्वी डॉ॰ प्रियदर्शनाश्री), 2004
63. सुरभि : स्व॰ आदर्श कुमारी जैन स्मृति ग्रंथ (सं॰ विष्णु प्रभाकर)
64. स्मृति-संचय : श्री रामनरेश पाठक (सं॰ कृष्णमोहन प्यारे)
65. हास्यरसावतार पं॰ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी स्मृति ग्रंथ (सं॰ श्रीनारायण चतुर्वेदी)
66. हिंदुत्व के पुरोधा : अशोक सिंहल स्मृति ग्रंथ (सं॰ महेश भागचंदका), 2016

सी-18, **ग्राउंड फ्लोर**
हरगोविंद इंक्लेव, छतरपुर, नई दिल्ली 110068
मो॰ : 09654669293, 07836890487
ई-मेल : gunjanaggrawala@gmail.com

 ISSN 0975-735X

मुद्दे की बात और एक सहज व्यंग्यकार का लेखन

डॉ॰ रमेश तिवारी

समकालीन व्यंग्य का यथार्थ यह है कि आज के अधिकतर व्यंग्य लेखन से चाहे-अनचाहे मुद्दा निरंतर छूटता अथवा गायब होता जा रहा है। जीजाजी छत पर हैं, भाभीजी घर पर हैं, टाइप अभिव्यक्तियों को ही व्यंग्य का पर्याय समझने की भूल की जा रही है। व्यंग्य को 'मजे-मजे में, मजे-मजे के लिए' लिखने का संदेश दिया जा रहा है। ऐसे माहौल में व्यंग्य की तस्वीर तो धूमिल होनी ही है। समकालीन व्यंग्य की चुनौती अथवा संकट यह निरंतर धुँधली होती तस्वीर ही है। बावजूद इसके इस धुंध-भरे वातावरण में रोशनी की कुछ किरणें भी मौजूद हैं, जो अपनी पूरी ऊर्जा से निरंतर इस धुंध को छाँटने का प्रयास करती दिखाई पड़ती हैं। हिंदी व्यंग्य में ऐसी ही एक शख्सियत का नाम है—संतोष त्रिवेदी। समकालीन व्यंग्य लेखन में संतोष त्रिवेदी का नाम नया नहीं है। संतोष त्रिवेदी का परिचय मुझे देना हो तो कुछ यूँ देना चाहूँगा—उम्र लगभग पचास साल, रंग गोरा, कद औसत से अधिक (कुछ ऐसा जो दूर से ही पहचान में आ जाए), मिजाज ईमानदारी से परिपूर्ण, व्यंग्य में दखल, रचनाओं के माध्यम से सक्रिय हस्तक्षेप, समाचारपत्र-पत्रिकाओं में लगातार प्रकाशित, लेखन और चिंतन में साम्य के पक्षधर और दिखावेपन की दोहरी जिंदगी से पूरी तरह असंबद्ध। गलत बात कितने भी करीबी व्यक्ति ने कही हो, उससे असहमति जताने और आवश्यकतानुसार उसका विरोध करने का गुण उनका स्थायी भाव है, और इसे बदल पाना असंभवप्राय है। मेरा मानना है कि ऐसे व्यक्ति की हिंदी व्यंग्य में सक्रिय मौजूदगी ही हिंदी व्यंग्य की सेहत के लिए अच्छी है। संतोष त्रिवेदी पेशे से हिंदी भाषा-साहित्य के प्रवक्ता होने के कारण भाषा-साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण में पर्याप्त दक्षता रखते हैं। अध्ययन-विश्लेषण के परिणामस्वरूप हासिल यह समझ इनके लेखन और चिंतन-मनन को धारदार बनाती है।

'सब मिले हुए हैं' शीर्षक से संतोष त्रिवेदी का पहला व्यंग्य-संग्रह सन् 2016 में अयन प्रकाशन, महरौली, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। अपने पहले व्यंग्य-संग्रह में प्रकाशित रचनाओं के आरंभिक लेखन से स्वाभाविक रूप से निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर संतोष त्रिवेदी का लेखन पाठकों के लिए हर्षमिश्रित आश्वस्ति का विषय है। इनका दूसरा व्यंग्य-संग्रह भी अयन प्रकाशन ने ही छापा है। शीर्षक है—'नकटों के शहर में'। उल्लेखनीय है कि इनकी रचनात्मकता निरर्थक, निरुद्देश्य और मात्र लिखने के लिए लिखना का परिणाम न होकर हमारे समय-समाज के बीच निरंतर व्याप्त होती विसंगतियों-विद्रूपताओं की खोज और टकराहट से जन्म लेती है। यदि अद्यतन संग्रह (नकटों के शहर में) में संकलित चंद प्रमुख रचनाओं पर विचार करें तो हम पाएँगे कि 'आरत काह न करइ कुकरमू' हो या 'न बिक पाने का दु:ख' या अन्य रचनाओं को जितना पढ़ा-समझा और जाना जाता है, उसका निष्कर्ष यही निकलता है कि संतोष त्रिवेदी की

रचनाएँ समाज की विसंगतियों-विद्रूपताओं को सामने लाने का परिणाम है।

हम जब आज के समय-समाज की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि आज हम सब बाजारवादी व्यवस्था में जीने के लिए मजबूर हैं। चाहकर भी इस व्यवस्था से स्वयं को बाहर रख पाना या बचा पाना संभव नहीं है। बाजारवादी व्यवस्था हम सबको अपने सुरसारूपी मुख में समाविष्ट कर लेने को बेताब है। हमारे समय-समाज की बिडंबना यह है कि आज के दौर में जो बिकाऊ है, अथवा बिक गया, वही सफल है। जो बिकाऊ न हो सके, या जो 'अनबिके' रह गए, उनको आज के समय के लिए मिसफिट और असफल करार दिया जाता है। यह पढ़ने-सुनने में पाठकों को भले ही कड़वा लगे, किंतु समकालीन यथार्थ यही है। इसका एक छोटा-सा नमूना आप 'न बिक पाने का दु:ख' रचना में देख सकते हैं। यह रचना 'आईपीएल' के लिए क्रिकेट खिलाड़ियों की नीलामी में अनबिके रह गए खिलाड़ी की व्यथा-कथा को जिस तरह उभारती है, वह हमें बार-बार सोचने को मजबूर करती है। 'अनबिका' रह जाना उनके कैरियर की सबसे बड़ी असफलता है। इस बिकाऊ समय में 'अनबिके' रहने का दर्द उनसे ज्यादा और किसे होगा? घरवालों को बिना-बिका मुँह दिखाएँगे तो लज्जा नहीं आएगी? वे तो उजला करनेवाली क्रीम चुपड़कर बैठे थे, फिर भी खरीदारों को गच्चा नहीं दे पाए। उन्हें पता नहीं कि गच्चा देने का काम बाजार का है। आज बाजार से बाहर हुए हैं, कल 'खेल' से भी बाहर होंगे। जो खुद को ठीक से बेच भी न सके वह कुछ भी हो सकता है, अच्छा 'खिलाड़ी' नहीं।' यह तो मात्र एक उदाहरण भर है। ऐसी असंख्य विसंगतियाँ प्राय: हम सब देखते हुए जीने के अभ्यस्त हो चुके हैं किंतु इनके पीछे की अमानवीयता को जब रचनाकार अपनी रचनात्मकता में समाविष्ट कर हमारे सामने रखता है तो हमारी आँखें खुली-की-खुली रह जाती हैं। संतोष अक्सर इसी प्रकार अपनी रचनाओं के लिए विषय की तलाश करते हुए और उनके साथ प्राय: इसी प्रकार का ट्रीटमेंट करते हैं। ऐसी रचनाओं को पढ़कर आप मुस्कुरा तो नहीं ही सकेंगे। यह अमानवीय व्यवस्था लेखक को बहुत गहरे तक कचोटती है जिसे वह अपनी रचना में पुन: सृजित कर संवेदना के उसी धरातल पर पाठकों को भी जोड़ने का सार्थक प्रयास करता है। यही कारण है कि ऐसी अनेक रचनाओं को पढ़ते हुए हमारे भीतर संवेदनाओं पर पड़ी धूल-गर्त की परत मानो छिलती हुई प्रतीत होती है।

वर्तमान समय की जो नियामक शक्तियाँ हैं, उनमें राजनीति सर्वप्रमुख है। और राजनीति का वर्तमान स्वरूप इतना विकृत हो चुका है कि उसकी ओर कोई भी सभ्य व्यक्ति अथवा समाज आकर्षित ही नहीं होता। आज आप किसी शरीफ अथवा पढ़े-लिखे मनुष्य की रुचि राजनीति में शामिल होकर कुछ नया करने की ओर नहीं देख सकेंगे। संतोष की लेखकीय दृष्टि राजनीति और अन्य सभी समकालीन नियामक शक्तियों पर निरंतर केंद्रित रहती है। चाहे वह बाजार हो, धर्म राजनीति हो अथवा कुछ और। इस संग्रह में अनेक ऐसी रचनाएँ संकलित हैं जिहें पढ़ते हुए पाठकों को एक अलग ही अंदाज, एक अलग ही तेवर का साक्षात्कार होगा। इस संग्रह की रचनाओं में-आरत काह न करइ कुकरमू, न बिक पाने का दु:ख, दुबई से बैंक के नाम पाती, नकटों के शहर में, पुस्तक मेले में किताबों से बतकही, मित्रता पर ऑनलाइन वज्रपात, गिरकर उठने का सुख, बिनु व्हाट्स अप सब सून, टोंटी-तोड़ जवाब, कलियुग के देव गुगलदेव, पलटने का मुफीद मौसम, बस एक सम्मान का सवाल है, ट्रोल नाके से गुजरना, साहित्य में सफल प्रक्षेपण, फेसबुक कुछ

 ISSN 0975-735X

दृश्य, पुस्तक-मेला लाइव, सब मिले हुए हैं, परसाई-प्रेमी से मुलाकात, काम पर भारी पड़ता नाम, आश्वासन आखिरी दौर का इत्यादि प्रमुख रूप से पठनीय हैं। हालाँकि कहीं-कहीं कुछ रचनाओं को पढ़ते हुए आप पाएँगे कि हिंदी का यह लेखक अँग्रेजी के शब्दों से भी कोई गुरेज नहीं करता। इसका आशय यह कतई नहीं है कि लेखक अँग्रेजी के शब्दों को जबरन रचना में ठूँसने का पक्षधर है, बल्कि जहाँ प्रसंग की माँग है वहाँ उस शब्दिशेष को उसका अनुवाद कर प्रस्तुत करने की बजाय प्रचलित रूप में ही रखकर पाठकों की सुविधा का ख्याल रखा गया है ताकि अर्थ बाधित न हो। न ही पठनीयता में बाधा हो।

हमारे समय की विडंबना यह है कि यहाँ नीचे गिरनेवालों की भीड़ बढ़ती ही जा रही है और आश्चर्य यह है कि गिरने का कोई अफसोस भी नहीं है। ऐसी प्रवृत्तियों को लक्ष्य करते हुए एक रचना लिखी गई है–'गिरकर उठने का सुख।' इसे पढ़ते हुए इसके सहज-सरल और सांकेतिक वाक्य-रचना को बहुत प्रभावी बनाते हैं। 'वे फिर से गिर गए हैं। अबकी बार गहरे गड्ढे में गिरे हैं सड़क पर चलते हुए वे देश के प्रति चिंतन कर रहे थे। इस बीच बरसाती पानी से लबालब छोटे-मोटे गड्ढों ने कई बार उन्हें अपनी गोद में बैठाना चाहा पर वे सफल नहीं हो पाए। वे जरा गहरे मिजाज के आदमी ठहरे, इसलिए गहराई में चले गए। दृढ़निश्चयी इतने कि बारिश की तरह उनका चिंतन भी मूसलाधार बरस रहा था। ...सहमति से 'गिरना' वैसे भी कोई अपराध नहीं है। यहाँ तो सड़क, सरकार और ईश्वर सब उनके साथ हैं। वे गिरे हैं, तो इसमें भी देश का ही भला है। गिरने में काहे की लाज और शर्म! वे तो फिर भी खुलेआम गिरे हैं। अब वे खुलकर चिंतन करने लगे।' लेखक ने बड़ी ही सफाई से इन पंक्तियों में संकेतों द्वारा व्यंग्य-प्रहार किया है। इसी से मिलती-जुलती एक रचना है–'पलटने का मुफीद मौसम।' यूँ तो परिवर्तन प्रकृति का अटल सत्य है किंतु मनुष्य परिवर्तनशील होकर भी अपनी बात से पलट जाए तो इसे अच्छी आदत नहीं मानी जाती, कमजोरी माना जाता है। यह रचना इन्हीं मानवीय प्रवृत्तियों की पड़ताल करती है। इस रचना को पढ़कर पाठकों को अपने आसपास के चरित्रों की याद भी आ सकती है। असल में लेखक जिस परिवेश में जीवन जी रहा होता है, उसमें जो कुछ भी उसे असंगत प्रतीत होता है, उन्हीं बिंदुओं पर उसकी कलम चलती है। लेखक हम लोगों के बीच का मनुष्य ही तो होता है। हमारी तरह ही उसकी भी जीवनचर्या होती है। इसलिए वह जिं बिंदुओं पर लिखता है, उससे जुड़े अथवा मिलते-जुलते पात्र हमारे परिवेश में भी हो सकते हैं।

इस संग्रह की शीर्षक रचना है–नकटों के शहर में। हालाँकि नाक पर पहले भी व्यंग्य लिखा जाता रहा है। हरिशंकर परसाई ने तो 'दो नाक वाले लोग' नामक रचना लिखी ही है, अन्य रचनाकारों ने भी नाक पर लिखा है। भारतीय जनमानस में जो मान्यता व्याप्त है, उसके अनुसार नाक हमारी प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसीलिए जब कोई गतिविधि हमारी प्रतिष्ठा में कमी का कारण बनती है, तो उसे नाक कटानेवाला कृत्य कहा-माना जाता है। वर्तमान समाज की विडंबना यह है कि आज पहले के दौर से परिवर्तन यह आया है कि आज नाक कटानेवाले लोगों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। यह संख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि पूरी नाकवाले अपवाद और अल्पसंख्यक की भाँति नजर आने लगे हैं। जिधर-जिधर जहाँ तक लेखक की दृष्टि जाती है, चहुँओर नकटे-ही-नकटे नजर आते हैं। ऐसे परिदृश्य में जब चारों

ओर नकटे-ही-नकटे दीखते हैं, तो लेखक को लगता है, मानो वह नकटों के शहर में रह रहा है, जिंहोंने अपने स्वार्थों में अंधे होकर अपनी नाक (प्रतिष्ठा) कटा डाली है। संवेदना की इसी जमीन पर संग्रह की शीर्षक रचना 'नकटों के शहर में' रची गई है। 'जबसे नाक कटने का एलान हुआ है, शहर के नकटे खुश हैं। उनको लगता है कि इस कदम से समाज में बराबरी कायम होगी। लोग जैसे होंगे, वैसे ही दिखेंगे। ऊँच-नीच का भेद भी खत्म होगा। सभी की सूरतें सपाट और सच्ची होंगी। अभी तक सुंदरता और समृद्धि की माप नाक से होती थी। वही नहीं होगी, तो क्या अमीर क्या गरीब। सौंदर्य के बाजार में भी ठंडक बढ़ेगी। इससे सामाजिक सद्भाव तो बढ़ेगा ही, सरकार को भी राहत मिलेगी।'

बाजार, राजनीति के साथ-साथ आज सोशल मीडिया ने भी जन-जन के जीवन में अपनी पैठ बनाई है। क्या गाँव, क्या शहर हर जगह हमारे हाथों में स्मार्टफोन और स्मार्टफोन में व्हाट्सअप, फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम आदि माध्यमों का प्रयोग धीरे-धीरे बहुत आम होता जा रहा है। लेखक ने इस संग्रह की रचनाओं में भी सोशल मीडिया की विसंगतियों पर व्यंग्य-प्रहार किया है। ट्रोल नाके से गुजरना, बिनु 'व्हाट्स अप' सब सून, मित्रता पर ऑनलाइन वज्रपात, फेसबुक : कुछ दृश्य आदि रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। 'मित्रता पर ऑनलाइन वज्रपात' शीर्षक रचना का यह अंश देखिए–'वे मित्र थे। अब नहीं रहे। पिछली रात जब हम सोए थे, सब-कुछ ठीक-ठाक था। यह जानकर हमने इत्मीनान की नींद ली थी कि उनके फेसबुकी दिल में अपन महफूज हैं। सुबह उठा तो देखा ठुकराए प्रेमी के गुलदस्ते की तरह अपन उनके फेसबुकी दरवाजे पर मुरझाए पड़े हैं। दरवाजा अंदर से कसकर बंद है। धूल झाड़कर अंदर जाने की कोशिश की, तो यह जानकर दिल बैठ गया कि दरवाजा लॉक है और हम 'ब्लॉक'।' सोशल मीडिया ने हमें जहाँ एक-दूसरे से जुड़ने का मंच मुहैया कराया है वहीं एक-दूसरे के प्रति थोड़ा असहिष्णु भी बनाया है। असहमतियों की गुंजाइश निरंतर कम से कमतर होती जा रही है। हालात कुछ यूँ बन रहे हैं कि जो जहाँ है, वह वहाँ अपना एकाधिकार चाहता है। अपनी बात से असहमति किसी को तनिक भी स्वीकार नहीं है। सोशल मीडिया के मंच पर तो नजदीकी मित्र भी कई बार हलके-फुलके वातावरण में भी सामान्यत: बुरा मान जाते हैं और अपने घनिष्ठ मित्र को भी झट अंफ्रेंड कर ब्लॉक करने में भी नहीं चूकते। इसी प्रवृत्ति पर यह पूरी रचना लिखी गई है।

इस लेखक की एक अन्य प्रमुख रचना है–'आरत काह न करइ कुकरमू।' इस रचना में दल-बदल की अवसरवादी राजनीतिक प्रवृत्ति पर करारा प्रहार किया गया है। लेखक ने आज के राजनीतिज्ञों की पोल-पट्टी पूरी तरह खोलकर रख दी है। एक बानगी देखिए–'सच्चा जनसेवक दूरदर्शी होता है। सर्वदल समभाव में उसका पक्का यकीन ही उसे यायावर बनाता है। वह टिकट- वितरण से समझ लेता है कि उसकी 'वैतरणी-यात्रा' संकट में है। 'अंतर-आत्मा' की आवाज उसे जोर-जोर से पुकारने लगती है। उसके सामने सारे विकल्प खुल जाते हैं और वह नए खोल में आ जाता है।' एक तरफ शीर्षक और दूसरी तरफ रचना का अंत:स्वर, दोनों से जब पाठक का व्यंजना के धरातल पर तादात्म्य होता है, तो समकालीन राजनीति की वास्तविक तस्वीर और उसमें व्याप्त विसंगति का मर्म समझ में आने लगता है।

किसी भी लेखक का किताबों की दुनिया से बहुत गहरा लगाव होता है। पुस्तकों के मेले में

 ISSN 0975-735X

वह रुचि लेता है। मेले में जाकर वह किताबों से वार्तालाप करता है तो किताबों के साथ उसकी बातचीत बड़े ही रोचक अंदाज में होती है। समकालीन व्यंग्य साहित्य के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण व्यंग्यकारों की प्रवृत्तियों पर उनकी रचनाओं के संकेतों के साथ लेखक ने बहुत करारा प्रहार व्यंग्य में किया है। आप स्वयं जब रचना को पढ़ेंगे तो उम्मीद है कि मेरे निष्कर्षों से आप भी सहमत होंगे। 'पुस्तक मेले में किताबों से बतकही' शीर्षक रचना से यह बानगी देखिए–

'सबसे पहले 'नारद की चिंता' से बात की। आखिर समकालीन व्यंग्य में सबसे प्रिय पुस्तक है यह मेरी।

'आपके लेखक कहाँ हैं?'

'इन दिनों वो सबसे ऊँचे टीले पर चढ़ने में लगे हैं। उनका मानना है कि बड़ा होने के लिए ऊँचाई पर चढ़ना ही सेफ पैसेज है। इससे बाकियों पर नजर बनी रहती है और ऊपर कोई थूकने की हिम्मत भी नहीं करता।'

'पर इस बात की आशंका हुई ही क्यों? वे तो अच्छा-खासा लिख भी लेते हैं।'

'तुमसे ज्यादा इस बात की चिंता हमें है। पाठक जब तक मेरा पन्ना पलटता है, उसके पहले ही वो पलट लेते हैं...'

पास में रखी व्यंग्य-यात्रा सिसक पड़ी। कहने लगी, 'हमारे उनका तो और बुरा हाल है। अपने काम में इतना व्यस्त रहते हैं कि पूछो मत। मैं खुद ही बताए देती हूँ। उनके दोनों पैर हमेशा यात्रा में रहते हैं–एक पैर विमोचन सँभालता है, तो दूसरा लगातार मिल रहे सम्मान को।'

'यह तो अच्छी बात है। सम्मानों का गिनीज बुक रिकॉर्ड वे ही हमारे साहित्य को दे सकते हैं।' गौरतलब है कि लेखक ने किसी व्यंग्यकार का नाम लिए बगैर रचनाओं आदि के द्वारा संकेत-भर किया है और पाठक इन पंक्तियों को पढ़ते हुए असल बात तक पहुँच जाता है, जो लेखक का अभीष्ट है। शायद ही कोई ऐसी शख्सियत हो जिसे इस रचना में लेखक ने बख्शा है। जिसमें जहाँ जो भी विसंगतियाँ लेखक को दिखाई पड़ी हैं, उसे रचना में शामिल करने का काम लेखक ने बखूबी किया है। इसी रचना में आगे लेखक बार-बार प्रहार करता चलता है–'अचानक बगल से आवाज सुनाई दी', 'हम न मरब। हम न मरब।' मैंने देखा बब्बा कराह रहे थे। कहने लगे–'मेरा स्टेटमेंट भी ले लो। अभी हमने अपनी वसीयत नहीं बनाई है।' लेखक इनसे भी जवाब-तलब करता है। आगे बढ़ते हुए 'कल्लू मामा जिंदाबाद' संग्रह से मुलाकात हो जाती है। उनसे भी सवाल जवाब शुरू होते हैं। 'मैंने गौर से देखा तो कल्लू मामा जिंदाबाद के पन्नों से एक बूढ़ा कबूतर फड़फड़ाकर निकल रहा था। उसे देखते ही हमने उस पर सवालों की गोली दाग दी...' आपकी घर वापसी कब हुई? अगला बयान किस थाने में है? जवाब : भई, मेरी पसंदीदा जगह मंच है, थाना नहीं। वो इतिहास की बात है। अब मैं मंच से ही बयान पढ़ता हूँ। किसी भी मंच में बैठकर ईमानदारी से दाना चुगता हूँ और उड़ लेता हूँ।' जब लेखक यहाँ सवाल करता है कि 'नए लेखकों के लिए क्या संदेश है? तो जवाब मिलता है–'हमेशा झुंड में रहें, जहाँ दाना मिले दबोचें और फुर्र हो लें। हम जैसे बुजुर्गों की इज्जत करते रहें। किरपा मिलती रहेगी। तभी पीछे से अट्टाहास सुनाई दिया। गर्दन पलटकर देखा तो अट्टहास के पन्नों में जटायु दबे हुए थे। हमने पूछा, 'कैसे हैं आप?' जवाब मिला, 'जब तक साँस है, आस है। इधर नए बंदरों ने जीना हराम कर दिया

है। लेकिन मैंने भी सोच रखा है कि जब तक 'सब मिले हुए हैं', हमारे इनबॉक्स की बत्ती जलती और लालबत्ती की कार चलती रहेगी।' इस प्रकार के संवादों की व्यंजना को, जो व्यंग्य प्रेमी और अध्येता हैं, वे आसानी से समझ सकते हैं। यही सवाल-जवाब यदि नामवाची कर दिए जाते तो उतना आनंद नहीं आता, जितना रचनाओं के नाम लेकर प्रस्तुत करने में आ रहा है। यह लेखक की अध्ययन दृष्टि और उसकी विशिष्टता है कि वह पूरे प्रसंगों को इस प्रकार ईंट-दर-ईंट सजाता चलता है। यही लेखक का अपना तेवर है और विसंगतियों को व्यंग्य में पिरोते हुए प्रस्तुत करनेवाली उसकी अपनी शैली। वरना ऐसी रचनाओं को कई पत्रिकाओं के संपादक तो नामचीन व्यंग्यकारों से बिगाड़ के डर से छापने से भी इनकार कर देते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि ऐसे कमजोर हृदयवाले संपादक खुद को व्यंग्यकारों में गिनते नहीं अघाते। जब व्यंग्यकार ही रिश्तों में बिगाड़ के डर से सचाई का पक्ष लेने में संकोच करेगा तो ऐसे व्यंग्यकारों के होने-न होने के कोई मायने नहीं हैं। कम-से-कम ऐसी रचनाएँ इस बात का जवाब तो हैं ही कि यदि व्यंग्यकार भी विसंगतियों से ग्रसित होगा तो उन पर भी कोई-न-कोई व्यंग्यकार लेखनी चलाएगा और उनकी विसंगतियों पर रचनात्मक प्रहार करेगा।

रिश्तों में बिगाड़ के डर से जो लोग सच कहने में संकोच कर जाते हैं या सच का दामन छोड़ देते हैं, उनको मैं मुंशी प्रेमचंद की अमर कथा 'पंच परमेश्वर' के उस प्रसंग की याद दिलाना चाहूँगा, जब खालाजान से संवाद करते हुए अलगू चौधरी अपने मित्र जुम्मन के खिलाफ फैसला देने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। वहाँ प्रेमचंद खाला के द्वारा एक ऐसा सवाल खड़ा करते हैं, जो इस कहानी की थीमलाइन सिद्ध होती है। खाला अलगू से पूछती है–'बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?' प्रेमचंद यहाँ लिखते हैं–'हमारे सोए हुए धर्म-ज्ञान की सारी संपत्ति लुट जाए, तो उसे खबर नहीं होती, परंतु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। अलगू इस सवाल का कोई उत्तर न दे सका, पर उसके हृदय में ये शब्द गूँज रहे थे– क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?' इन्हीं कालजयी पंक्तियों की वजह से प्रेमचंद अमर कथाशिल्पी माने जाते हैं। भूलना नहीं चाहिए कि ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है, मानवमूल्य है। और इस मूल्य की रक्षा हर हाल में होनी चाहिए। अपनी इस कहानी से प्रेमचंद यही संदेश देना चाहते थे। यह संदेश कल भी प्रासंगिक था, आज भी है और कल भी रहेगा। वर्तमानयुग के किसी भी साहित्यकार और व्यंग्यकार के लिए अनिवार्य रूप से यह संदेश लागू होता है। व्यंग्यकार को सदा विसंगतियों के खिलाफ लिखना होता है। चाहे वे विसंगतियाँ कनिष्ठ-वरिष्ठ किसी की भी हों, विसंगतियाँ, विसंगतियाँ हैं। उन पर प्रहार ही व्यंग्यकार का दायित्व है। मुझे खुशी और गर्व है कि संतोष त्रिवेदी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं और कभी ऐसे कठिन सवालों से कतराते हुए दिखाई नहीं देते। आज हमारे समाज में ऐसे ही व्यंग्यकारों की अधिकाधिक आवश्यकता है जो मुँहदेखी बातें न करके मुद्दों की बातें करें और सच को स्वीकार करते हुए तमाम विसंगतियों को बेपर्दा कर अपनी रचनाओं द्वारा उन पर व्यंग्य-प्रहार करें। मेरी समझ से यही किसी रचनाकार के लिए बेहतरी का मार्ग है, और उसकी मुक्ति का भी।

मो॰ 9868722444
ईमेलः vyangyarth@gmail.com

जनसंचार की आवश्यकता और हिंदीभाषा का योगदान

डॉ॰ पूजा झा
माध्यमिक शिक्षिका
इंटरस्तरीय श्यामसुंदर विद्या निकेतन

वर्तमान संदर्भ में जिस प्रकार भोजन, जल, वायु मानव की प्राथमिक शारीरिक आवश्यकता है, उसी प्रकार जनसंचार मानव की प्राथमिक मानसिक आवश्यकता है। 'संचार' शब्द में 'जन' विशेष को जोड़कर 'जनसंचार' शब्द बनाया गया है अर्थात् संचार की प्रक्रिया जब बड़े पैमाने पर या समूहों में होती है, तब हम उसे 'जनसंचार' की संज्ञा देते हैं। जनसंचार का दायरा बहुत विस्तृत है। यद्यपि मानव के प्रारंभिक विकासकाल में जनसंचार की आवश्यकता कम थी, क्योंकि पहले मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में रहता था, उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं। धीरे-धीरे वह खेती करने लगा और बसने लगा तो जीवन कुछ जटिल हो गया। सामूहिक विचार-विमर्श का दायरा बढ़ा। जनसंचार के साधनों की जरूरत महसूस होने लगी। आज जनसंचार के साधनों का ही प्रभाव है कि सात समुंदर पार बैठे व्यक्ति भी क्षण-भर में मोबाइल फोन या इंटरनेट के जरिए परिजनों का हाल-चाल जान सकते हैं। जनसंचार की सफलता भाषा माध्यम पर निर्भर करती है। भाषा के बिना संचार की कल्पना नहीं की जा सकती। जनसंचार और भाषा को एक-दूसरे का पूरक माना जा सकता है। एक के बिना दूसरा अपंग और अपूर्ण है। आज विभिन्न भाषाओं में हिंदीभाषा जनसंचार के लिए सर्वप्रमुख भाषा बन चुकी है। विभिन्न माध्यमों द्वारा इसका सर्वाधिक प्रयोग किया जा रहा है। चूँकि विश्वमंच पर आज भारत पूरे विश्व के लोगों के लिए व्यवसाय और मनोरंजन का प्रमुख केंद्र बन गया है। ऐसी स्थिति में हिंदी को जनसंचार की प्रमुख भाषा बनने से रोका नहीं जा सकता।

जनसंचार की आवश्यकता सृष्टि के प्रारंभ से ही हो रही है और इसकी आवश्यकता सृष्टि के सभी प्राणियों को है। आज जनसंचार का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है। इसके अभाव में मानव सभ्यता एवं संस्कृति का विकास नहीं हो सकता। इससे व्यक्ति की मानसिक भूख शांत होती है। 'सभ्यता के आरंभ से ही संदेशों को एक-दूसरे तक पहुँचाने और अपने विचारों और अनुभवों को भंडारित करने की जरूरत मानव-जाति को महसूस हुई होगी ताकि वे अपने ज्ञान की साझेदारी न सिर्फ अपने बंधु-बांधवों के साथ कर सकें, बल्कि उनको आगे आनेवाली पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुँचा सकें। अगर हम पाषाणयुग पर विचार करें तो हम पाते हैं कि उस युग के लोगों के पास अपनी भावनाएँ और विचार दूसरे तक पहुँचाने के लिए विकसित भाषा नहीं थी। कुछ ध्वनियाँ थीं जो काफी हद तक जानवरों की ध्वनियों से मिलती-जुलती होंगी। उन्हीं से आरंभिक शब्दों का निर्माण हुआ होगा, जो एक समुदाय के लोगों के बीच संदेशों के संप्रेषण का माध्यम बना।'[1] 'सूचना के प्रेषण के लिए पुराने जमाने में जब डाक-व्यवस्था

नहीं थी तो लोग यात्रियों के साथ अपने संदेश अपने प्रियजनों तक पहुँचाते थे। यह काम सिर्फ संदेशों तक ही सीमित नहीं था। जब व्यापार का विस्तार हुआ और संदेशों के आदान-प्रदान की आवश्यकता पहले से कई गुना बढ़ गई तो यह जरूरी हो गया कि संचार के नए साधनों का विकास हो। इसी जरूरत ने जनसंचार के नए माध्यमों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।'[2] 'जनसंचार के मामले में भारत, अमरीका और यूरोप के विकसित देशों की तुलना में काफी पीछे रहा है। लेकिन पिछले दो दशक में इसका जिस तीव्रता से विकास हुआ है, उससे यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि किसी और क्षेत्र में चाहे हम उतनी प्रगति नहीं कर पाए, लेकिन संचार माध्यमों के क्षेत्र में हम पश्चिमी देशों से बहुत पीछे नहीं होंगे। आज हमारे देश में जनसंचार के सभी आधुनिक साधन मौजूद हैं। मुद्रित, श्रव्य और दृश्य–तीनों तरह के माध्यमों का तेजी से विकास हुआ है। आज भारत में इंटरनेट का प्रयोग करनेवालों की खासी बड़ी संख्या है। इसी तरह कंप्यूटर के सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है।'[3] जनसंचार माध्यमों के विकास के लिए उपयुक्त भाषा माध्यम की आवश्यकता होती है। हिंदी जनसंचार माध्यमों के लिए आज उपयुक्त भाषा माध्यम साबित हो चुकी है। जनसंचार की आवश्यकता और हिंदीभाषा के योगदान को विभिन्न स्तरों पर देखा जा सकता है।

वैयक्तिक स्तर पर जनसंचार मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक है। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी संवेदनाओं और सुख-दुख को व्यक्त कर पाता है तथा सूचनाओं और विचारों को ग्रहण कर पाता है। फुर्सत के क्षणों में जनसंचार के साधनों के द्वारा व्यक्ति मनोरंजन कर अपनी थकान को मिटाता है। देश-विदेश में रहनेवाले अपने स्वजनों का हाल-चाल पलक झपकते पा लेता है। जनसंचार का ही यह प्रभाव है कि एक सामान्य व्यक्ति, जिसके पास मूलभूत सुविधाएँ भी नहीं होतीं, वह भी जनसंचार की प्रक्रिया से जुड़े रहना चाहता है। 'आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो सभी जीवों में होते हैं, मात्र चिंतन-मनन, कथन-श्रवण एवं आत्म-अभिव्यक्ति की क्षमता से संबंधित 'संचार' कला ने ही मानव को सृष्टि में सर्वोच्च स्थान पर सुप्रतिष्ठित किया है।'[4] जनसंचार ने आधुनिकयुग की जटिलताओं के बीच वैयक्तिक स्तर पर जीवन को सरल बनाने का प्रयास किया है और हिंदीभाषा ने हमेशा इन माध्यमों की उपोदयता बढ़ाई है। वैयक्तिक स्तर पर जनसंचार के लिए संवाद की आवश्यकता होती है और संवाद के लिए एक उपयुक्त भाषा-माध्यम की। इस भाषा-माध्यम की कसौटी पर हिंदी पूरी तरह खरी उतरती है। वर्तमान में देश की अधिकांश जनता व्यक्तिगत रूप से अपने शैक्षणिक बोलचाल के लिए हिंदीभाषा का प्रयोग करती है। सरकारी तथा गैरसरकारी कार्यालयों के कर्मचारी हिंदी और अँग्रेजी में ही अधिकतर अपने काम करते हैं। सही मायने में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों और विचारों को हिंदी में अधिक सहजता से व्यक्त कर पाता है, लेकिन वैयक्तिक स्तर पर हिंदी के लिए एक दुखदायी पक्ष भी है कि आज भी अँग्रेजी के प्रति लोगों का मोह समाप्त नहीं हुआ है। माँ-बाप अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों में बच्चों को पढ़ाते हुए गर्व महसूस करते हैं। यह सही है कि समय के अनुरूप हमें स्वयं को बदलना होगा, लेकिन हिंदी के मूल स्वरूप की रक्षा करना हमारा दायित्व है।

सामाजिक स्तर पर जनसंचार की आवश्यकता हमेशा रही है। संचार के द्वारा ही मनुष्य

समाज का निर्माण कर पाता है और समाज से जुड़ जाता है। आज समाज में विभिन्न रूपों में विकास की प्रक्रिया तेज हुई है या साक्षरता का प्रतिशत बढ़ा है। ये सब जनसंचार का ही परिणाम है। 'पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कहानी, उपलब्धियों, धरोहरों की जानकारी आदि स्तंभ छपते हैं। वहीं दूरदर्शन, आकाशवाणी के द्वारा निरंतर विभिन्न सूचनाओं के अतिरिक्त शैक्षणिक कार्यक्रमों का प्रसारण होता है। शैक्षणिक दूरदर्शन की शिक्षा के प्रसार में अहम भूमिका रही है। प्राथमिक कक्षाओं तक की शिक्षा हेतु दूरदर्शन पर व्यवस्था की गई है। 'साइट' तथा यू॰जी॰सी॰ जैसे कार्यक्रमों ने इसमें क्रांति ला दी है। 'स्काई रेडियो' प्रणाली से विभिन्न कक्षाओं में शैक्षणिक कार्यक्रम आकाशवाणी द्वारा सुलभ किए गए हैं।'[5] सही मायने में जनसंचार माध्यमों के विकास से जहाँ समाजिक जीवन गिरावट तथा समाज का विघटन भी हुआ है। संचार माध्यमों ने समाज का संपूर्ण ढाँचा ही बदलकर रख दिया है। संचार-माध्यमों की उपादेयता के पश्चात् हिंदीभाषा के योगदान की चर्चा भी आवश्यक है। आज विविध सेवा-क्षेत्रों में हिंदी जीविकोपार्जन का माध्यम बन रही है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं, यहाँ तक कि संघ लोकसेवा आयोग तथा अन्य सिविल सेवा परीक्षाओं के माध्यम और साक्षात्कार के लिए हिंदी को स्वीकृत किया गया है। नि:संदेह जनसंचार माध्यमों ने सामाजिक स्तर पर हिंदीभाषा को बखूबी लोकप्रिय बनाने का कार्य किया है। यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं या अँग्रेजी के लोकप्रिय और ज्ञानवर्द्धक कार्यक्रमों को हिंदी में 'डब' करके प्रसारित किया जा रहा है। उच्च गुणवत्ता वाले शैक्षणिक कार्यक्रम भी प्रसारित हो रहे हैं, लेकिन सामाजिक स्तर पर हिंदी की संप्रेषणमूलकता में वृद्धि के लिए हमें सतत प्रयत्नशील रहना होगा।

वैश्विक स्तर पर जनसंचार माध्यमों ने आज पूरे विश्व को एक मंच पर ला खड़ा किया है। आज प्रत्येक व्यक्ति को पूरी दुनिया की थोड़ी-बहुत खोज-खबर रखनी ही पड़ती है, वरना यह आज के प्रतिस्पर्धात्मक युग में अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख सकता। कोई भी व्यक्ति दुनियाभर की खबरें पलक झपकते जान सकता है। 'ई-मेल' के द्वारा कुछ सेकेंड में संदेश को विश्व के किसी कोने में भेज सकता है। जनसंचार माध्यमों ने विश्व की सभी संस्कृतियों या भाषाओं को एक-दूसरे से साक्षात्कार कराया है। सभी देशों की स्थिति, वहाँ के रहन-सहन, उद्योग, कार्य-प्रणाली से एक-दूसरे देश परिचित हुए हैं। मनोरंजन और शिक्षा के लिए इस माध्यम की पूरे विश्व में उपादेयता है। 'वैश्विक स्तर पर जनसंचार की जो प्रक्रिया है, उसमें हिंदीभाषा का प्रमुख योगदान है। हिंदी अब एक विश्वभाषा के रूप में विकसित हो रही है। भाषायी दृष्टि से देखा जाए तो विश्व में हिंदी जाननेवालों की संख्या दूसरे स्थान पर है। 1999 में मशीनी अनुवाद सम्मेलन में टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो॰ होजूमी तनाका ने जो भाषायी आँकड़े प्रस्तुत किए थे, उनके अनुसार विश्वभर में चीनी बोलनेवालों का स्थान प्रथम और हिंदी का द्वितीय है। अँग्रेजी तीसरे स्थान पर रह जाती है।'[6] जनसंचार माध्यमों ने हिंदी के महत्त्व को समझते हुए इसे अपनाने का भरसक प्रयास किया है। 'क्षेत्रीय आकाशवाणी केंद्रों से लेकर बी॰बी॰सी॰ लंदन तक वैश्विक प्रसारण में हिंदी प्रमुख भाषा बनी है। इसी प्रकार टेलीविजन पर कितने ही चैनल हिंदी के कार्यक्रम दिखा रहे हैं। उनमें अधिक-से-अधिक हिंदी के मनोरंजन-प्रधान और सूचना-प्रधान कार्यक्रम दिखाने की होड़ मची हुई है। विदेशी भाषाओं की फिल्में हिंदी में

डब की जा रही हैं। सभी व्यावसायिक कंपनियाँ अपने उत्पादनों का विज्ञापन हिंदी में देने के लिए बेचैन हैं। अतः यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि हिंदी का प्रयोग इन लोगों की मजबूरी है।'[7]

सांस्कृतिक स्तर पर जनसंचार आज के मानवजीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। मानवजीवन के रहन-सहन, भोजन-व्यवहार, बोलना-चालना, रचना-सोचना सभी जगह संस्कृति का प्रभाव दिखता है। संस्कृति कई रूपों में व्यक्त होती है और उनमें एक रूप जनसंचार माध्यम भी है क्योंकि जनसंचार माध्यमों द्वारा जो संदेश संप्रेषित होता है, उसका संबंध संस्कृति से जुड़ा हुआ होता है। 'जनसंचार के माध्यम से जो संदेश प्रसारित होते हैं, वे सिर्फ संदेश ही नहीं होते, सांस्कृतिक संदेश होते हैं और उनका उपयोग संप्रेषण के रूप में होता है। हर दिन, हर सप्ताह अखबार, रेडियो और टेलीविजन हमारे सामने उन घटनाओं से संबंधित शब्दों, बिंबों, सूचनाओं और विचारों को प्रवाहित करते रहते हैं, जो हमारे निकटस्थ सामाजिक परिवेश के परे घटित होते हैं। फिल्म और टेलीविजन कार्यक्रमों पर जो दृश्य दिखाए जाते हैं, वे उन लाखों-लाख व्यक्तियों के लिए एक समान संदर्भ बन जाते हैं, जिनका एक-दूसरे से कोई संपर्क नहीं होता, वे एक मध्यस्थ संस्कृति में भाग लेकर एक समान अनुभव, एक सामूहिक स्मृति के भागीदार बन जाते हैं।'[8] आज जनसंचार माध्यमों के लिए सांस्कृतिक स्तर पर हिंदी की उपादेयता सर्वविदित है। यह एक जीवंत और सशक्त भाषा है। यह हमारी सामाजिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण भाषा माध्यम है। अपने सामाजिक तथा वैश्विक स्वरूप के साथ ही यह सांस्कृतिक विकास की अवधारणा को नया आयाम दे सकती है।

आज जनसंचार माध्यमों की भाषा के रूप में हिंदी लोकप्रियता का परचम लहरा रही है। राजभाषा के रूप में हिंदी का क्षेत्र भले ही सीमित हो, पर जनभाषा या संचार-माध्यमों की भाषा के रूप में इसका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है। मूलतः आज की युवापीढ़ी कमाऊ भाषा या रोजगार को प्रश्रय देनेवाली भाषा को ही अपना भाषा माध्यम बनाना चाहती है। इस रूप में हिंदी आज अँग्रेजी का जमकर मुकाबला कर रही है। आज जनसंचार की आवश्यकता मानव-जीवन से जुड़े हर स्तर और हर क्षेत्र में है, चाहे वह वैयक्तिक स्तर हो, सामाजिक स्तर हो, वैश्विक स्तर हो या सांस्कृतिक स्तर हो। साथ ही हिंदीभाषा अपनी संप्रेषणीयता एवं सहजता के कारण प्रत्येक स्तर पर जनसंचार की प्रमुख भाषा बन चुकी है और भविष्य के लिए इसमें अपार संभावनाएँ हैं।

संदर्भ

1. दि एज ऑफ इनफोर्मेशन, स्टीफन सेक्सबी, मेकमिलन, लंदन, पृ॰ 41
2. पत्रकारिता एवं जनसंचार में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम, स्वाधिगम सामग्री, प्रथम पत्र, जनसंपर्क एवं पत्रकारिता की अवधारणा एवं विकास, कोटा एवं नालंदा खुला विश्वविद्यालय, पृ॰ 55
3. वही, पृ॰ 57
4. संपूर्ण पत्रकारिता, डॉ॰ अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (2007), पृ॰ 227
5. इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और बाल विकास, डॉ॰ योगेशकुमार पांडेय, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (2005), पृ॰ 41, 42

6. विशिष्ट साहित्यिक एवं प्रतियोगी निबंध, संपादक-डॉ॰ भगवानशरण भारद्वाज, नीलकमल प्रकाशन, दिल्ली (2007), पृ॰ 627
7. आधुनिक जनसंचार और हिंदी, प्रो॰ हरिमोहन, तक्षशिला, नई दिल्ली (2003), पृ॰ 122
8. जनसंपर्क एवं पत्रकारिता की अवधारणा एवं विकास, प्रथम पत्र-स्नातकोत्तर-पत्रकारिता एवं जनसंचार पाठ्यक्रम-कोटा एवं नालंदा खुला विश्वविद्यालय, पृ॰ 52

द्वारा उदयकुमार मिश्रा
बाबा नगर कॉलोनी, रजिस्ट्री ऑफिस के पास
जगदंबे मार्बल वाली गली में,
रेडक्रॉस रोड, आदमपुर,
भागलपुर-812001 **(बिहार)**
ईमेलः jhapuja004@gmail.com
मो॰ 9199519779

डॉ॰ प्रवीण शुक्ल को अखिल विश्व हिंदी सम्मान

हास्य-व्यंग्य कवि डॉ॰ प्रवीण शुक्ल को न्यूयार्क की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था 'अखिल विश्व हिंदी समिति' की ओर से 27 जुलाई 2019 को न्यूयार्क में 'अखिल विश्व हिंदी सम्मान' से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर संस्था के उपाध्यक्ष प्रदीप टंडन ने बताया कि उन्हें यह सम्मान विगत 30 वर्षों में उनके द्वारा अर्जित साहित्यिक उपलब्धियों के लिए दिया गया है। इस अवसर पर डॉ॰ प्रवीण शुक्ल के संचालन में एक भव्य कविसम्मेलन का भी आयोजन हुआ, जिसमें न्यूयार्क के लगभग चार सौ काव्यप्रेमी श्रोता उपस्थित थे। उल्लेखनीय है कि डॉ॰ प्रवीण शुक्ल हास्य-व्यंग्य कवि होने के साथ-साथ एक गीतकार, गजलकार भी हैं। उन्होंने मुक्तक और दोहे भी लिखे हैं। उनकी भीष्म प्रतिज्ञा नामक कविता पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। उन्हें उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए 'काका हाथरसी सम्मान', 'अट्टहास सम्मान' और 'टेपा सम्मान' सहित दर्जनों सम्मान और पुरस्कार उनको मिल चुके हैं। विभिन्न विषयों पर उनके द्वारा लिखित उन्नीस पुस्तकें प्रकाशित हैं। वह अमेरिका, कनाडा, बैंकाक, मस्कट, दुबई, भूटान, सिंगापुर, हाँगकाँग, यूनाइटेड किंगडम के विभिन्न शहरों आदि में काव्य-पाठ कर चुके हैं। उन्होंने डॉ कुँअर बेचैन जी के निर्देशन में 'डॉ॰ अशोक चक्रधर जी की व्यंग्य-चेतना' पर शोधकार्य भी किया है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में विधवा-विमर्श

डॉ प्रकाशकुमार अग्रवाल
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर

हालाँकि विधवाओं की समस्या एक सामाजिक समस्या है, लेकिन क्योंकि विधवा परिवार में रहती है, 'तो उसके लिए आर्थिक स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। वह बैठे-बैठे खाती है इसलिए सबको वह भार मालूम होती है और लोग उसे तंग करते हैं।'[1]

प्रेमचंद के उपन्यासों में अनेक ऐसी विधवाएँ हैं, जो परोपजीवी बनकर दयनीय जीवन जीने को बाध्य हैं। 'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी, रुक्मणी, सुधा जैसी नारियाँ विधवा जीवन का भार ढोने को विवश हैं। डॉ॰ महेंद्र भटनागर के अनुसार–'प्रतिज्ञा में विधवा समस्या प्रमुख है, 'वरदान' व 'निर्मला' में गौण और 'कर्मभूमि' में आर्थिक दृष्टि से संपन्न विधवा होने के कारण नगण्य ही है।'[2]

प्रेमचंद के उपन्यासों की विधवा नारियों में सर्वाधिक दयनीय स्थिति 'निर्मला' में तोताराम की विधवा बहन रुक्मणी की है। वह पारिवारिक तथा सामाजिक दोनों धरातल पर दीन-हीन, उपेक्षित एवं तिरस्कृत जीवन जीने को बाध्य है। 'गबन' उपन्यास में पति की मृत्यु के बाद विधवा रतन अपने भतीजे मणिभूषण द्वारा शोषित होती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह रोटी-कपड़े तक के लिए मोहताज हो जाती है। समाज की इस व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती हुई कहती है–'ना जाने किस पापी ने यह कानून बनाया कि पति के मरते ही हिंदू नारी इस प्रकार स्वत्व वंचिता हो जाती है।'[3]

पति की संपत्ति पर कब्जा कर लेनेवाले स्वार्थी रिश्तेदारों को वह निगल जानेवाला जंतु कहती है। वह इतनी स्वाभिमानी है कि पति की संपत्ति हड़प करनेवाले भतीजे मणिभूषण से कहती है–'मैं अपनी मर्यादा की रक्षा आप कर सकती हूँ, तुम्हारी मदद की जरूरत नहीं है... संसार में हजारों विधवाएँ हैं, जो मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह कर रही हैं। मैं भी उसी तरह मजदूरी करूँगी और अगर ना कर सकूँगी तो किसी गड्ढे में डूब मरूँगी। जो अपना पेट ना पाल सके, उसे जीते रहने का दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं।'[4] रतन का उपर्युक्त कथन नारी के जाग्रत होने का संकेत देता है। आज तक कठपुतली की तरह दूसरों के इशारों पर नाचनेवाली नारी अब अपने स्वत्व के प्रति, अधिकारों के प्रति जाग्रत हो गई है। अपनी परंपरागत स्थिति के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करती है। संयुक्त परिवार में नारी की स्थिति की वेदना को प्रेमचंद ने रतन के विद्रोही मन से इस प्रकार व्यक्त कराया है–'अगर मेरी जुबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती तो मैं सब स्त्रियों से कहती–बहनो! किसी सम्मिलित परिवार में विवाह ना करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग ना

 ISSN 0975-735X

बना लो, चैन की नींद ना सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरीका नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो, चाहे परिवार में एक ही बात है। तुम अपमान और मजबूरी से नहीं बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है तो अकेली रहकर भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटो की शय्या है। तुम्हें पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जानेवाला जंतु है।'[5]

प्रतिज्ञा की पूर्णा ऐसी नारी है, जो युवावस्था में ही विधवा बन जाती है। पूर्णा का पति गंगास्नान करते समय पानी में डूबकर मर जाता है। पूर्णा को उसके पति के मित्र एवं पड़ोसी कमलाप्रसाद के घर आश्रय मिलता है। कमलाप्रसाद के मन में उनके प्रति वासना का भाव जागता है और वह उसे अपनी अंकशायिनी बनाना चाहता है। पूर्णा इसका विरोध करते हुई कहती है– 'अब जाने भी दो बाबूजी, क्यों मेरा जीवन भ्रष्ट करते हो? तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए तो सब माफ है। मैं औरत हूँ, कहाँ जाऊँगी? डूब मरने के सिवाए मेरे लिए कोई रास्ता ना रह जाएगा।' [6]

'निर्मला की सुधा अपने पति की कामुक कुचेष्टाओं से चढ़कर उसे इतना फटकारती है कि वह आत्महत्या कर लेता है। अपने हाथ से अपना सौभाग्य सिंदूर पोंछ लेनेवाली सुधा जीवन के भयानकतम वेदना के क्षणों में भी विचलित नहीं होती, क्योंकि वह नारी के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों के प्रति पूर्ण जागरूक रहती है और उसका निर्वाह करती है। कामुक पति के स्थायी-विछोह की स्थिति में उसका एक ही उत्तर है–'ऐसे सौभाग्य से वैधव्य को मैं बुरा नहीं समझती।'[7]

प्रेमचंद से पूर्व उपन्यासों में नारी विधवा होना अपना दुर्भाग्य समझती थी। अपने पूर्वजन्म का फल मानती थी। इसलिए अपने-आपको दोषी समझकर वह अपने को ही कोसती थी। हीनता की भावना के कारण परिवार में दासी जैसा व्यवहार मिलने पर भी मुँह नहीं खोलती थी। परंतु प्रेमचंद के उपन्यास की विधवा अपनी स्थिति के लिए पूरी तरह भाग्य को दोषी नहीं ठहराती, बल्कि कहीं-कहीं तो उसके अंदर विद्रोह की भावना भी है। प्रेमचंद को विधवा के प्रति पूरी सहानुभूति थी। वह विधवा-विवाह के पक्षधर थे। इस संदर्भ में डॉक्टर शंभूनाथ कहते हैं–'प्रतिज्ञा के पुराने औपन्यासिक रूप 'प्रेमा' में बाबू अमृतराय ने विधवा पूर्णा से विवाह का निश्चय किया था, इससे समाज में खलबली मच गई थी। वह प्रगतिशील कदम था, लेकिन पता नहीं प्रेमचंद ने 'प्रतिज्ञा' में यह कदम क्यों वापस ले लिया।'[8]

सच तो यह है कि 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद ने विधवा-विवाह वाली अपनी सोच से पैर पीछे नहीं खींचा बल्कि एक वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में विधवा-विवाह को अंतिम विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि विधवा की रुचि एवं इच्छा के सापेक्ष दर्शाया गया है। कुल मिलाकर 'प्रेमचंद ने विधवा-जीवन की विवशताएँ, उन पर होनेवाले अत्याचार, उनके लिए सम्मानपूर्ण वातावरण बनाने के उपाय का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। विधवा के प्रति उनके हृदय में जो दर्द था, वही जगह-जगह ज्वालामय शब्दों में अंकित हो गया है।'[9]

संदर्भ

1. प्रेमचंद, आलोचनात्मक परिचय, डॉ॰ रामविलास शर्मा, पृ॰ 119
2. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद, डॉ॰ महेंद्र भटनागर, पृ॰ 158
3. गबन, प्रेमचंद, पृ॰ 333
4. वही, पृ॰ 230
5. वही, पृ॰ 266
6. प्रतिज्ञा, प्रेमचंद, पृ॰ 25
7. हिंदी उपन्यास : प्रेम और जीवन, डॉ॰ शांति भारद्वाज, पृ॰ 108
8. प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन, डॉ॰ शंभूनाथ, पृ॰ 41
9. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद, डॉ॰ महेंद्र भटनागर, पृ॰ 133

द्वारा रवि स्वीट्स, खरीद फाटक बाजार
खड़गपुर (पश्चिममेदिनीपुर) 721301 **प॰ बंगाल**
मो॰ 9932937094
ईमेलः agarwalparkash196@gmail.com

ISSN 0975-735X

महाकवि सेनापति के काव्य में रामकथा की अंतर्वस्तु

अशेष उपाध्याय

महाकवि सेनापति शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-विवेचन में रुचि प्रदर्शित करने में निपुण तथा काव्य में अलंकारों के सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करने वाले चमत्कारवादी रीति-प्रवर्त्तक आचार्य केशवदासजी की परंपरा के महाकवि थे। व्यावहारिक जीवन में धर्मचार्यों तथा भक्त-कवियों द्वारा स्थापित धर्म के व्यापक सामाजिक स्वरूप के प्रति इनके मन में अगाध श्रद्धा एवं प्रेम-भाव विद्यमान था। राजदरबार तथा गृहस्थ जीवन की परंपराओं के अनुरूप हिंदू संस्कृति में उपास्य भावना के आधार पर ब्रह्म स्वरूप 'आनंद निधि रिद्धि-सिद्धि मंगल करन' भक्तों के शरणागत वत्सल श्रीराम इनके मुख्य आराध्य थे। इसीलिए स्वयं को उनका सेवक स्वीकार करते हुए इनके द्वारा आलंकारिक चमत्कार के लिए प्रसिद्ध 'श्लेष वर्णन' में यह घोषण की गई है–

मूढ़न कौं अगम, सुगम एक ताकौं जाकी
तीछन अमल विधि बुधि है अथाह की।
कोई है अभंग, कोई पद है सभंग, सोधि
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद कोष सावधान, जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की।[1]

द्विअर्थ प्रधान कविता अर्थात् श्लेष अलंकार से युक्त काव्य में सभंगपद और अभंगपद श्लेष अलंकार के दो भेद दृष्टिगत होते हैं। सभंगपद श्लेष में पूर्ण शब्द का अर्थ एक होता है किंतु उसे खंडित या भंग करने पर दूसरा अर्थ स्पष्ट होता है। जहाँ पूर्ण शब्द के खंडित या भंग न करने की स्थिति में ही दो अर्थ स्पष्ट होते हैं, वहाँ अभंगपद श्लेष माना जाता है। भक्तिशालीन काव्य के विपरीत साहित्यिक शब्दजाल पूर्ण अलकारों के चमत्कार से युक्त काव्य संभवत: उनका अभीष्ट था। उनकी मान्यता थी कि आभूषण अर्थात् अलंकार रहित सदोष काव्य सृजन से प्रसिद्धि प्राप्त करना संभव नहीं है। इसी को दृष्टि में रखकर उनके द्वारा दोष से मलीन गुणहीन काव्य-सृजन से प्राप्त अपयश से रक्षा हेतु सियापति राम की अर्चना और चर्चा के साथ कवित्त रचना की गई है–

दोष सौं मलीन, गुनहीन कविता है तौ पै
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।
बिन ही सिखाए, सब सीखिहैं सुमति जौ पै

सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि है।
दूषन कौं करिके, कवित्त बिन भूषन कौं
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
रामै अरचत सेनापति चरचत दोऊ
कवित्त रचत याटैं पद चुनि चुनि है।[2]

स्पष्ट है कि सेनापति उचित शब्द चयन के साथ राम की भक्ति तथा रामकथा की अंतर्वस्तु को ग्रहण करके लोकप्रसिद्धि के आकांक्षी थे। धर्म के साक्षात् विग्रह भगवान श्रीराम के दो रूप भारतीय समाज में प्रतिष्ठित हैं। लौकिक रूप में वे अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के सबसे बड़े सुपुत्र, आदर्श राजा तथा मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनके द्वारा रामराज्य की स्थापना करके सर्वश्रेष्ठ प्रशासन के मानदंड के साथ-साथ सभी के प्रति प्रेम के नियम से अयोध्या को परम सौभाग्य प्रदान किया गया है–

भए और राजा राजधानियाँ अनेक भई
ऐसो प्रेम नेम न काहू बनि आयौ है।
अति अनुराग, सब ही तैं बड़भाग, पूरौ
परम सुहाग, जो अजुध्या एक पायौ है।
रही बाँह-छाँह राजा राम की जनम भरि
भूलि हूँ न सेनापति और उर आयौ है।
अंत समै जाकौं, देव लोकन के थोक छाँड़ि
तीनि लोकनाथ लोक पंद्रहौ बनायौ है।[3]

भक्तिकाल के अंतिम चरण में यवन शासकों के साथ-साथ उनके वशवर्त्ती राजा, सामंत, मंदिर एवं मठों के अधिकारी तथा धनपति सेठ-साहूकार आदि भी विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे थे। प्रतिक्रियावादी समाज की धार्मिक कट्टरता के कारण आनंदमय हास-विलासपूर्ण जीवन तथा प्रभु की कृपापूर्ण भक्ति का सुखद समीकरण विभिन्न ऋतुओं के दंपति विलास आदि में भी रघुवीर की कृपा से प्रारंभ हो गया था। ग्रीष्मऋतु वर्णन में सेनापति ने लिखा है–

सुंदर बिराजैं राज-मंदिर सरस, ताके
बीच सुख दैनी, सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलित, जल जंत्र है बिमल उठैं
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं
छिरकी पटीर-नीर टाटी तीर-तीर की।
ऐसे बिहरत दिन ग्रीषण के चितवत
सेनापति दंपत्ति मया तैं रघुवीर की।[4]

अलौकिक रूप में राम निर्गुण निराकार ब्रह्म के सगुणात्मक स्वरूप विष्णु के अवतार हैं। इनका सत्-चित् आनंद अर्थात् सच्चिदानंदमय रूप समस्त विश्व को चेतना प्रदायक एवं इसके सृजन, स्थिति एवं विलय का स्वयंसिद्ध कारण है। शौर्य, औदार्य, कारुण्य तथा अपार

सद्गुणों से परिपूर्ण अमंगल विनाशकारी मंगलमय माहात्म्य भावनाओं का प्रतिपादक श्रेष्ठ इष्ट देवात्मक रूप कवि के द्वारा बार-बार वंदनीय है–

दै कै जिन जीव, ज्ञान, प्रान, तन, मन, गति
जगत दिखायौ, जाकी रचना अपार है।
दृगन सौं देखै, विस्वरूप है अनूप जाकौं
बुद्धि सौं विचारै, निराकार निरधार है।
जाकौं अध-ऊरध, गगन, दस दिसि, उर
व्यापि रह्यौ तेज तीनि लोक कौं अधार है।
पूरन पुरुष हृषीकेस गुन-धाम राम
सेनापति ताहि विनवत बार-बार है।[5]

राम का पूर्ण पुरुष के रूप में अयोध्या में अवतरण, राजा दशरथ के चारों राजकुमारों का महत्त्व, राम की तेजस्विता, सीता स्वयंवर में धनुष-भंजन, सीता विवाह, सीता-सौंदर्य, परशुराम क्रोध शांति, राम वन-गमन, मारीच वध, सीताहरण, हनुमान द्वारा सीता की खोज, लंका दहन, राम की दया और दानवीरता, विभीषण की शरणागति, समुद्र पर सेतु-निर्माण, रावण की राजसभा में अंगद, राम-रावण युद्ध, कुंभकर्ण वध, रावण वध, सीता का अग्नि प्रवेश, रामराज्य वर्णन एवं भक्तितत्त्व ज्ञान आदि सेनापति द्वारा प्रस्तुत रामकथा की अंतर्वस्तु के मुख्य अंश हैं।

वीर-महाबली, धीर, धर्म-धुरंधर सारंगपाणि जग अभिराम राम पूर्ण पुरुष परब्रह्म के अवतार हैं। जीवन-मृत्यु के भय को नष्ट करके मुक्ति प्रदान करनेवाले राम कमल के समान सिद्ध मानस मधुप-निधि तथा करोड़ों सूर्यों से अधिक प्रकाशमान और कामधेनु से भी अधिक मनवांछित फल प्रदान करने में समर्थ हैं। अलंकार इत्यादि की युक्तियों से साध्य अल्प काव्योक्तियों से उन्हें प्रसन्न करना ठीक वैसा ही है जैसे जल से भरे दीपक से बिना अग्नि प्रज्ज्वलन के सूर्य को प्रसन्न करने का प्रयास, जो कि शत-प्रतिशत असंभव है।

धाता जाहि गावै, कछू मरम न पावै ताहि
कैसे के रिझावै, भलौ मौन ठहराइयै।
रसना कौं पाइ, पाइ बचन सकति, बिन
राम गुनगान तऊ मन अकुलाइयै।
जैसे बिन अनल, सलिल कौं दीपक दै
दीपति-निधान भान कौं भलौ मनाइयै।
ऐसे थोरी उकति, जुगति करि सेनापति
राजा राम तीनि लोक तिलक रिझाइयै।[6]

दशरथ पुत्र के रूप में अवतरित श्रीराम ने अत्याचारों से पीड़ित संसार के कष्टों का निवारण करने के लिए स्वयं प्रकाश, स्वतंत्र एवं अनादि रूप होते हुए भी माया से लोक विमोहनीय मनुष्य रूप ग्रहण किया है। ये मन-वाणी से अगोचर समस्त संसार का स्वरूप है। इनका निर्मल, सर्वव्यापी, चिरंतन असंग, अचल, नित्यशुद्ध, अद्वितीय, अव्यय, परमेश्वर स्वरूप कवि के दुखहरण का एक मात्र आधार है–

पाल्यौ प्रहलाद, गज ग्राह हैं उबारयौ जिन
जाकौ नाभि-कमल विधाता हैं कौं भौन है।
ध्यावैं सनकादि, जाहि गावैं बेद-बंदी सदा
सेवा के रिझावैं सेस, रवि ससि, पौन है।
ऐसे रघुवीर कों, अधीर ह्वै सुनावौ पीर
बंधु भीर आगे सेनापति भली मौन है।
साँवरे बरन, ताही सारंग धरन बिन
दूजौ दुख हरन हमारौ और कौन है।[7]

सीता स्वयंवर में आयोजित धनुषयज्ञ में विराजमान राम की प्रबलशक्ति संपन्न दोनों भुजाएँ बहुत सुंदर प्रतीत होती हैं। ये दोनों विक्रम निधान धनुष-बाण से सुशोभित पाताल एवं देव धाम स्वर्ग के विशाल स्तंभों के समान है। समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने और युद्ध के लिए सुसज्जित इनका दीर्घ, उदार, भुवभार का हरण कारक रूप सभी के लिए पूजनीय है। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए तत्पर प्रचंड, महापीन दोनों भुजदंड फणींद्र शेषनाग से भी अधिक श्रेष्ठ और प्रभावपूर्ण हैं। मदमत्त गजराज की गत से जब ये शिवधनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए अग्रसर हुए तब धरती की धुकधुकी चलने लगी और सुमेरू पर्वत डगमगाने लगा, सभी प्रसन्न हो उठे। सेनापति ने राजदरबार में विरूदावली गानेवाले चारणों की शैली में इस दृश्य का वर्णन निम्न प्रकार किया है–

हहरि गयौ हरि हिय, धधकि धीरत्तन मुक्किय
धुव नरिंद थरहर्‌यौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय।
अखिल पिख्खि नहिं सकइ, सेस नख्खिन लग्गिय टल
सेनापति जय सद्द, सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल।
उद्दंड चंड भुजदंड भरि, धनुष राम करषत प्रबल
टुट्टिय पिनाक निर्धात सुनि, लुट्टिय दिगंत दिग्गज बिकल।[8]

देवाधिदेव शंकर के इस धनुष की प्रसिद्धि उनके कैलाश से विशाल और देवराज इंद्र के वज्र से अधिक कठोर रूप में सर्वविदित थी। राजा जनक की कनकवर्णी सजी-धजी झनकार युक्त आभूषणों से सुसज्जित पुत्री सीता ने जब राम को वरमाला को पहनाई, तब मानो त्रिभुवन की सुंदरता ही 'लोन राई' बनकर उन पर निछावर हो गई थी। इसी के साथ ही तन-मन-अर्पण की एक पत्नीव्रत अर्थात् पातिव्रत की सीमा भी सहज ही निर्धारित हो गई थी। अयोध्या में कंकण खोलते समय स्त्रियों के हास-परिहास में सप्तर्षि मंडल के नक्षत्र के रूप में गुरु वशिष्ठ तथा इसके समीप स्थित नक्षत्र अरूंधती के नाम पर उनकी पत्नी की चर्चा लोक-व्यवहारजनित सुसंस्कृत व्यंग्य की दृष्टि से अवलोकनीय है–

मा जू महारानी कौं बुलाबौ महाराज हू कौ
लीजै मत कैकई सुमित्रा हू के जिय कौं।
रातिन कौं बीच सात रिषिन के बिलसत
सुनौ उपदेश ता अरूंधती के पिय कौं।

 ISSN 0975-735X

सेनापति बिस्व मैं बखानैं बिस्वामित्र नाम,
गुरु बोलि पूछियै, प्रबोध करैं हिय कौं।
खोलियै निसंक यह धनुष न संकर कौं
कुँवर मयंक मुख! कंकन है सिय कौं।[9]

बाल्मीकि रामायण का अनुसरण करते हुए सेनापति ने परशुराम के क्रोध की शांति के प्रकरण को अयोध्या में राजा दशरथ के समक्ष प्रस्तुत किया है। क्षत्रिय नरेशों का संहार करने के लिए विख्यात भृगुकुल नंदन जगदग्नि ऋषि के पुत्र परशुराम अपने क्रोधावेशमय मुखमंडल पर बिखरे हुए जटामंडल से युक्त अत्यंत भयंकर रूप में कैलाश से अधिक दुर्धर्ष, कालाग्नि के समान दु:सह, प्रज्ज्वलित स्वरूप में राजा दशरथ की सभा में उपस्थित ऋषि मुनियों तथा सभासदों को भयभीत कर देते हैं। सभी उनसे शांत होने की प्रार्थना करते हैं। राम उनके वैष्णव धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने विष्णु के अवतार रूप कर स्पष्ट परिचय देते हुए चेतावनी पूर्वक उन्हें समझाते हैं–

लीनौ है अभिमान सुभटाई ही कौं
छाँड़ी रिषि-रीति है न रखी कहनेऊ की।
दारू रे हथ्यार, मार-मार करैं आए, धरे
उद्घत कुठार सुधि-बुधि न भनेऊ की।
सेनापति राम गाइ-विप्र कौं करै प्रनाम
जाके उर लाज है बिरद अपनेऊ की।
आज जमदग्नि जानतेऊ एक धरी माँझ
होती जौ न ज्यारी यह जिरह जनेऊ की।[10]

तत्कालीन मुस्लिम कट्टरपंथियों के कारण यज्ञोपवीत ब्राह्मणों के सम्मान का प्रतीक बन गया था। यह उनके लिए लोहे की शृंखलाओं से निर्मित कवच के समान था। क्षत्रिय सदैव यज्ञोपवीत के कारण ब्राह्मणों की रक्षा करते थे। वैष्णव धनुष पर स्थित राम के बाण से परशुरामजी की रक्षा का महत्त्वपूर्ण कारण सेनापति की दृष्टि में यज्ञोपवीत ही था, जो कि उनके द्वारा कर्त्तव्य-विमुख होने पर भी सदैव धारण किया गया था। राम का वन-गमन उनके त्यागशील आचरण का उत्तम प्रमाण है। देवताओं के हित-साधन अर्थात् राक्षसों के विनाश के उपरांत धर्म की संस्थापना के लिए ही वे अयोध्या का सुखदायक राजवैभव त्यागकर वनवास में चले गए थे। सीताहरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए रावण द्वारा प्रेरित कंचन मायामृग रूपधारी 'मारीच वध' के संदर्भ को सेनापति ने राजदरबारों के चारणों की द्वित्व-प्रधान अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दावली में निम्नलिखित छप्पय द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

पिखिख हरिन मारीच, यप्पि लाखन सिय सत्थइ
चलयौ बीर रघुपत्ति, क्रुद्ध उद्धत धनु हत्थइ।
परत पग्ग भर मग्ग, किति सेनापति बुल्लिय
जलनिधि जल उच्छलिय, सब्ब पब्बै मन डुल्लिय।
दब्बिय जु छित्ति पत्ताल कहँ, भुजग पत्ति भग्गियसटकि

रख्ख्य जु हठ्ठि सुट्ठिय कठिन, कमढ पिठिठ टुट्टिय चटकि।[11]

इसी प्रकार की शब्दावली से युक्त छप्पय समुद्र पर सेतु-निर्माण के संदर्भ में रामबाण के प्रभाव के वर्णन में मिलता है। इसकी ज्वाला से पाताल तक ताप और प्रज्ज्वलन उत्पन्न हो गया। आकाश तक छायी हुई अग्नि की लपटों में सूर्य समाहित हो गया। जलचर व्याकुल हो गए और गरम तवे पर छनछनाकर समाप्त होनेवाली जल की बूँदों के समान कमठ की पीठ पर स्थित सागर ताप संभूत हो उठा। जल-जीव भ्रांतिवश उत्पन्न बाड़वाग्नि को शीतल हिमराशि समझकर उससे ग्रस्त हो उठे। जलराशि युक्त सागर धूलि-धाम में परिवर्तित होने की दशा में आ गया–

चुरइ सलिल, उच्छलइ भानु, जलनि जल झंपिय
मच्छ-मच्छ उच्चरिय, पिख्ख अहिपति उर कंपिय।
लपट लग्गि उच्छरत, चटकि फुट्टट नग पत्थर
सेनापति जय सद्द, विरद, बोलत विधाधर।
अति ज्वाल जाल पज्जलिय घिरि, चहइभग्गिबाड़व अनल
प्रगट्यौ प्रचंड पत्ताल जिमि, राम-बान पाउक प्रबल।[12]

सेनापति ने परंपरागत विचारों का समर्थन करते हुए मारीच की कंचन मृगमाया को उसकी मुक्ति हेतु उद्भूत अंतर भक्ति माना है। स्वेच्छाचारी निरंकुश दशशीश के बीस भुजदंड पर भी उनकी दृष्टि गई है। गिद्धराज जटायु को पूर्णतया घायल करके पंचवटी में स्थित कपट की काया स्वरूपा सीता को आकाशमार्ग से हरण का कार्य निंदनीय तथा दु:साहस पूर्ण कुकृत्य था। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि राम ने राक्षसों के विनाश की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए वास्तविक सीता को अग्नि में सुरक्षित कर दिया था। रावण-वध के उपरांत उनका प्रचंड पावक प्रवेश इसका प्रमाण है। इनके जीवन सत्य के समक्ष अग्नि शीतल होती चली गई और सभी दिशाएँ जयध्वनि से गूँज उठीं–

पाउक प्रचंड, राम पतिनी प्रवेस कीनौ
पतिब्रत पूरी पै न बासै परसति है।
सत्त सिय रानीजू के आगि सियारानी जाति
हियरा हिरानी देव सभा दरसति है।
सेनापति बानी सौं न जाति है बखानी, देह
कुंदन तैं अधिकानी बानी सरसति है।
लागत ही लूक मानौं लागत पिलूक नभ
होति जै जै कूक जगाजोति परसति है।[13]

यह तथ्य सर्वविदित है कि तत्कालीन रूढ़िवादी हिंदू समाज में नारियों का पावक प्रवेश अथवा अग्निस्नान अत्यंत साहसपूर्ण, प्रशंसनीय तथा धार्मिक आस्थापूर्ण दैवी-कृत्य माना जाता था। दसकंधर रावण का सैन्यदल सहित संहार करके पुष्पक विमान से अयोध्या में प्रविष्ट दशरथ रघुकुल चंद राजा रामचंद्र का सीता के साथ दर्शनीय रूप सभी के लिए आनंदविभोर तथा नेत्रों के लिए सुशीतल कारक था। इनके प्रभाव से अयोध्या सबसे श्रेष्ठ राजधानी बन गई और रामराज्य में सभी प्रजाजन सुख-समृद्धि-संपन्न हो गए–

 ISSN 0975-735X

पाए सब काम, बढ़े धनी ही की बाँह-छाँह
भाँति द्वै न जानी सपने हूँ मैं अनाथ की।
काऊ सुरराज, जगराज हू तैं डरपैं न
और सौं प्रनाम करिबे की चरचा थकी।
सेनापति जग मैं जे राखे ते अमर कीने
बाकी संग लीने, मुकति निज साथ की।
साँचे हैं सनाथ एक साकेत निवासी जीउ
साँची है रजाई एक राजा रघुनाथ की।[14]

सीता खोज हेतु तत्पर कपिराज हनुमान का एक पलक झपकने के समय में समुद्र संतरण और निर्भीकतापूर्वक रावण की 'हेम-राजधानी' लंका का दहन उनकी प्रचंड शक्ति एवं राम के बाण अग्रगामी क्षमता का भयंकर प्रदर्शन था। महाकवि ने संस्कृत के कवियों से प्रभावित अपनी उच्च कल्पना-शक्ति के माध्यम से यह स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त की है कि महाबलबंत हनुमंत के द्वारा जलाई गई लंका का ताप आज भी दक्षिण में विद्यमान है। इसी के कारण सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन में आता है क्योंकि उत्तर दिशा में उसका हिम-त्रास से प्रभावित रूप दक्षिण दिशा में स्थित लंका के प्रज्ज्वलित ताप से ही यथावत रहने में समर्थ होता है–

कोप्यौ रघुनाइक कौं पाइक प्रबल कपि
रावन की हेम-राजधानी कौं दहत है।
कोटिक लपटैं उठीं अंबर दपेटे लेटि
तप्यौ तयनीय पयपूर ज्यौं बहत है।
लंका बरि जरि एते मान है तपट भई
सेनापति कछू ताहि बराने कहत है।
सीत माँझ उत्तर हैं, भानु भाजि दच्छिन मैं
अजौं ताही आँच ही के आसरे रहत है।[15]

श्रीराम सृष्टि विकास की प्रक्रिया के अग्रदूत और संरक्षक हैं। जड़ से जगदीश्वर की दिशा में विकासलीला में उनकी अग्रगामित तथा सूक्ष्म रूप में चेतना तथा सद्रूपात्मक मन में स्थित होकर विश्व-प्रकृति को धारण करनेवाले धर्म के आयामों के प्रति निष्ठा जाग्रत करने में उनकी भूमिका चिरस्मरणीय एवं अनुकरणीय है। राम के चरित्र से संपूर्ण विश्व को धर्म तथा जीवन आदर्शों के साक्षात्कार का सुअवसर अनायास की प्राप्त हुआ है। परमात्मा होते हुए भी उन्होंने अपने लौकिक रूप में मानवीय स्वरूप की महिमा को सुंदरता एवं अनुकरणीय आध्यात्मिक निष्ठा तथा मर्यादा की मनोहरता एवं मानसिकता प्रदान की है। उनकी रामकथा भारतीय समाज और संस्कृति में जीवन के सभी रूपों के उत्थान की अद्भुत संजीवनी है। सेनापति ने इसी से प्रेरित होकर शनैः शनैः विकसित यवनों के भय से कुंठित तलवारों के उत्थानमूलक लोकचरित्र के अनुकूल अंतर्वस्तु की वीरोत्साहपूर्ण स्थिति का चयन किया है–

पाउक प्रचंड, राम पतिनी प्रवेस कीनौ

होति निरदोष, रवि जोति सील जगमगति
तहाँ कविताई कछू हेतु न धरति।
ऐसौई सुभाउ हरिकथा कौं सहज जातैं
दूषन बिनाही भूषन सौं सुधरति हैं।
कीन्हें हैं कवित्त कछू राम की कथा के, तामैं
दीजिए न दूषन कहत सेनापति है।
आप ही बिचारौ तुम जहाँ खर-दूषन हैं,
सो अखर दूषन सहित कहियत है।[16]

वास्तविकता यह है कि सेनापति के युग में भक्तिकालीन उपदेश, शांति तथा वैराग्यमूलक काव्यधारा का प्रभाव क्षीण हो गया था। मंदिरों और मठों की सुरक्षा हेतु तत्परता, राजे-रजबाड़ों का सत्ता संघर्ष एवं आत्म-प्रदर्शन की भावना प्रबल थी। अतीत की वैमनस्यतापूर्ण कटुता एवं धार्मिक असहष्णुता ने हिंदू धर्म के प्रति आस्था को शौर्य भावना से महिमामंडित करके धार्मिक प्रशस्तिकाव्य की लोकरुचि पूर्ण महिमा को अनायास ही स्थापित कर दिया था।

संदर्भ

1. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग 1936 ई॰, पृ॰ 3
2. वही, पृ॰ 3
3. वही, पृ॰ 121
4. वही, पृ॰ 76
5. वही, पृ॰ 124
6. वही, पृ॰ 95
7. वही, पृ॰ 125
8. वही, पृ॰ 99
9. वही, पृ॰ 100
10. वही, पृ॰ 104
11. वही, पृ॰ 105
12. वही, पृ॰ 110
13. वही, पृ॰ 119
14. वही, पृ॰ 121
15. वही, पृ॰ 107
16. वही, पृ॰ 122

द्वारा श्रीमती रजनी उपध्याय
197/199, **डाक्टर्स कॉलोनी**
सिविल लाइंस, बरेली (उ॰प्र॰)

ISSN 0975-735X

डॉ॰ अशोक चक्रधर के जीवनमूल्यों का व्यवहार पक्ष

डॉ॰ मनीषा मित्तल

डॉ॰ अशोक चक्रधर व्यावहारिक व्यक्तित्व के पुरुष हैं। इनके जीवनमूल्य अनोखे हैं। यद्यपि ये बहुत अच्छे कवि, फिल्मकार और चित्रकार हैं तथापि इनको कभी भी गर्व नहीं हुआ। इन्होंने स्वयं के व्यक्तित्व में कहीं भी अहंकार नहीं आने दिया। ये स्थान-स्थान पर जाते और वहाँ के मनोरम एवं सौंदर्ययुक्त दृश्यों को मस्तिष्क में ग्रहण करते। किंतु रहते सदैव धरती पर। अकसर देखा जाता है कि अधिकांश लोग थोड़ी-सी मान-प्रतिष्ठा मिलते ही आसमान में उड़ने लगते हैं और उन्हें सभी संबंध बौने लगने लगते हैं किंतु चक्रधर जी आज भी अपना संबंध धरा से बनाए हुए हैं।

अशोक जी समय को पछाड़ने में व्यस्त रहते हैं। यदि ये कहीं हल्की-सी मुस्कान के साथ चाय की चुस्की ले रहे हैं तब भी इनके मस्तिष्क में कोई कविता जन्म ले रही होती है। इनकी कविताओं में सकारात्मक सोच है। वे हास्य-व्यंग्य के सहारे अपनी बात समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। ये अध्यापक के साथ-साथ सृजनात्मक प्रवृत्ति वाले ऐसे व्यक्ति हैं जो स्वयं पारिवारिक संबंधों के साथ-साथ सामाजिक एवं साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं।

इनके जीवन में बसुधैव कुटुंबकम् की भावना का महत्त्व है। इसका साक्षात् प्रमाण इनकी पत्नी बागेश्री चक्रधर हैं। एक बार एक संन्यासी अशोक जी से बोला–'तुमने अपना ब्राहणत्व नष्ट कर लिया, एक वणिक-पुत्री को अपनी भार्या बनाकर! चक्रधरजी ने आत्मविश्वासपूर्वक तत्काल उत्तर दिया 'वसुधैव कुटुंबकम्' तो सुना ही होगा स्वामी जी? चक्रधर जी के इस वाक्य से संन्यासी मौन होकर चला गया।

अशोक जी मानवीयता का इद्रंधनुषी कलेवर हैं। ये साहित्य की गहन समझ रखते हुए भी गरिष्ठ-वरिष्ठ साहित्यकारों की भाँति हिप्पोक्रेट नहीं। इनमें सामाजिक मूल्यों से संबंधित मानवीय संवेदना है। अत: कवि हास्य-व्यंग्य के माध्यम से समाज एवं राजनीति को मानवीयता का इंद्रधनुषी कलेवर देते हुए जनमानस को प्रभावित करते हैं।

ये महकते गुलाब की भाँति हैं। जिस प्रकार गुलाब अपने सौंदर्य एवं सुगंध से संपूर्ण बगिया महका देता है, उसी प्रकार ये भी लेखनी रूपी गुलाब द्वारा समग्र समाज को महका देते हैं। अल्हड़ बीकानेरी ने अशोक चक्रधर जी के लिए कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार गुनगुनायी हैं–

हर अंजुमन में वो आली जनाब होता है,
गुलों के बीच महकता गुलाब होता है।
जो लाजवाब समझते हैं खुद को ऐ 'अल्हड़'
अशोक चक्रधर उनका जवाब होता है।[1]

इनके जीवन में ईमानदारी एवं श्रम की भावना शुद्ध रूप से स्थान लिए हुए है। इनमें

गीतों के सजृन की शक्ति है। अत: ज्ञात होता है कि ये सृजन के धनी हैं–

लाये हैं इंडिया से प्यारे से कुछ तराने
कुछ हँसी के फब्वारे, कुछ गीतों के खजाने। [2]

चक्रधर जी मंच पर कवि के रूप में प्रतीत होते हैं तो वर्किंग टेबल पर प्रशासनिक चेहरा सामने आता है। टेलीविजन धारावाहिकों में अभिनेता निर्माता एवं नाटककार का रूप प्रकट होता है। मित्रों के साथ स्नेहिल एवं सहृदय कवि दृष्टिगत होते हैं। इनके बहुआयामी व्यक्तित्व में एक अध्यापक, चित्रकार एवं संगीतकार छिपा हुआ है। इससे भी ऊपर ये एक वट–वृक्ष हैं, जहाँ लाखों साधकों को साधना करने का अवसर प्राप्त होता है। इनके अंदर समुद्र जितना धैर्य एवं हिमालय जैसा साहस है। ये विषम परिस्थिति में भी झुकते नहीं। स्वभाव में मधुरता है। ये सभी का सम्मान करते हैं। अधिकांशत: नारियों का सम्मान बड़ी विनम्रता से करते हैं। विश्वविख्यात हास्य कवि काका हाथरसी ने इनकी सराहना में लिखा था–

हास्य–व्यंग्य के रंग में, करें करारी चोट
कवि सम्मेलन–मंच पर, 'घुमा दिया लंगोट'
घुमा दिया लंगोट, न झुककर देखा नीचे
आगे थे जो 'काका', छूट गए वे पीछे
सभी चकित रह गए, 'चक्रधर' चक्र घुमाया
अल्प समय में, अल्प आयु में नाम कमाया। [3]

कवि सर्वप्रथम कृष्ण की नगरी मथुरा में रहे। अपने चक्र द्वारा बुराइयों को काटने का कृष्ण का सांकेतिक रूप इनको बहुत प्रिय लगा। जिस विचारधारा से वे परिचित हुए, उसका मंत्र भी समाजोत्थान रहा। समाज को अध:पतन के गर्त से उठाने की भावना उनमें आरंभ से ही रही। इसलिए उन्होंने अपना नाम चक्रधर रखा। उसमें उनके नाम का संकेतार्थ छिपा हुआ है। अत: अशोक शर्मा 'अशोक चक्रधर' बन गए।

इनमें विनम्रता, प्रबुद्धता, सरलता, सौम्यता आदि गुण दृष्टिगत होते हैं। अपने व्यवहार–कौशल द्वारा सबके मन पर विजय प्राप्त करते हैं। इनमें व्यावहारिकता के साथ कार्य कुशलता भी है। इनके जीवन एवं काव्य में गगन जैसी विशालता है। अत:

विनम्रता प्रबुद्धता/ सरल सुबोध–सौम्यता
है गहरे–गहरे सिंधु–सा गगन–सी विशालता।
जो सत्य को बखानता/ जो व्यंग्य–बाण तानता,
जो काव्य के स्वरूप को सँवारता/ सँवारता निखारता।
वो एक रस का कवि नहीं
वो नवरसों का है कलश/ वो मंत्र है वशीकरण
जो सबको कर ले अपने वश।[4]

इनका हृदय दर्पण की भाँति पारदर्शी है। ऐसा दर्पण, जिसमें दूसरों का दु:ख, सुख, हँसी, दर्द आदि दृष्टिगत होता है। ये ओरों के लिए समर्पित होकर ही अपना जीवन सफल मानते हैं। इनका मानना है कि उत्तम मनुष्य वही है, जो दूसरों के काम आए। अत: ये दर्पण से

 ISSN 0975-735X

अधिक समर्पण श्रेष्ठ मानते हैं–

दर्पण मुझे केवल/ मेरा चेहरा दिखाता था
मैं अपनी हँसी-ख़ुशी/ दु:ख-दर्द देख पाता था।
समर्पण मुझे दूसरों की हँसी-खुशी
दु:ख-दर्द दिखाता है
दूसरों की खुशी में खुश होना
और दूसरों के दु:ख में/ दुखी होना सिखाता है।
मेरा प्रयास होता है–
भले ही पीड़ा के शूल/ मेरे हाथों को मिलें।
परन्तु पीड़ित के चेहरे पर
खुशियों के गुलाब खिलें।
मैं अब सुबह-शाम और दिन-रात
पीड़ित मानवता की/ आँख के आँसू पीता हूँ।
समर्पण का सुख यह है
कि मैं अपने लिए नहीं/ दूसरों के लिए जीता हूँ।[5]

अशोक जी एक ओर विनोद जैसी कस्तूरी सुगंध का अनुभव कराते हैं, दूसरी ओर सत्य का दर्शन भी कराते हैं। इन्होंने हास्य-व्यंग्य की सृष्टि कर व्यक्तियों को इंसान और जानवर के बीच का अंतर मार्मिक ढंग से समझाया। इनकी कविता 'हँसो और मर जाओ' में कुछ पंक्तियाँ निम्नवत् हैं–

जानवर और इंसान में अंतर यही है।
कि आदमी के पास हँसी है
जानवर के पास नहीं है।
और इसलिए मेरा ये पुख्ता बयान है
कि जो नहीं हँसता वो जानवर के समान है।[6]

इन्होंने मानवता पर बल देते हुए हँसना और हँसाना जीवन का बहुमूल्य रत्न बताया। मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहना चाहिए। जीवन में विसंगतियाँ एवं कठिनाईयाँ आती ही रहती हैं किंतु उनका साहसपूर्वक सामना करना ही सच्चे अर्थों में जीवन का मूल है।

अशोक जी आशावादी हैं। इनका मानना है कि आशा के सहारे मनुष्य शीघ्र ही अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इसी आशा को जीवनमूल्य मानते हुए एक कविता 'ज़िंदा है आशा' में कवि ने कहा–

किसी एक आशा पर ही/ हमारा देश ज़िंदा है
माफ करिएगा/ ये प्रशंसा है।
न कि निंदा है।
माना इस हवेली में/ अभी
राजनीतिक भूतों का/ तमाशा तो है,

पर इनसे पिंड छूटेगा पिंड
खुशियों का फब्वारा फूटेगा
ऐसी आशा तो है।[7]

कठिन परिस्थितियों का सही ढंग से सामना करना कठिन कार्य है। जो मनुष्य परेशानियों से विचलित हो जाता है, वह पीछे रह जाता है। अत: ऐसे अवसर पर मनुष्य को मध्य का रास्ता खोजना चाहिए। कवि के अनुसार डूबते तो तिनके का सहारा मिल जाना उचित है। बीच का रास्ता एक ऐसा माध्यम है, जिससे जीवन को सरलतापूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता है। एक कविता 'बाँस की खप्पची' में कवि ने बताया–

अच्छी है फ्लैग्जिबिलिटी यानी बीच का रास्ता
उससे संतुलित रहता है आपस का वास्ता।[8]

अशोक जी को ठकुराई एवं विनम्रता के मध्य का मार्ग प्रिय लगा, क्योंकि वह संतुलित मार्ग है। इस मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों के आपसी संबंध भी संतुलित होते हैं। कवि ने सामंजस्य द्वारा जीवन का दर्शन कराया।

कवि ने अहिंसा पर बल दिया। मनुष्य हिंसा से विनाश की ओर ही अग्रसर होता है। अत: इन्होंने अहिंसा को स्वयं के जीवन का मूल माना। अहिंसा को दृष्टि में रखते हुए कवि ने 'चिठ्ठी राम के नाम' कविता लिखी–

हाथ जोड़ करूँ प्रार्थना/ सर्वप्रथम रघुराई
संकट में है आज तुम्हारे/ आसन की ठकुराई,
शोर तुम्हारे कानों तक/ शायद पहुँचा होगा,
इस चिट्ठी को तार समझना/ भारी विपदा आई
पीस रही इंसानों को/ हिंसा की चक्की है।[9]

चक्रधर जी ने कभी भी जाँति-पाँति का भेद नहीं माना, अपितु एकता पर बल देते हुए मनुष्यों को शिक्षित करने का प्रयास किया। भेद-भाव की भावना मनुष्य को नष्ट कर देती है। इस पीड़ा से व्यथित होकर कवि 'चोमन्ना दुड़ी' में कहा–

जात-पात की मजदूरी की
फैली पसरी पोखर में
जब उसका एक बेटा डूब मरा
(छूकर पाप चढ़ने के भय में
सवर्णों द्वारा बचाया नहीं गया।)[10]

जाँत-पाँत की बीमारी से ऊपर उठकर मानवता का पाठ पढ़ाया। प्रेम और भाईचारे द्वारा कठिनाइयों का सामना कर सकता है। चक्रधर जी के जीवन का मूल तत्त्व प्रेम एवं भाईचारा है। कवि स्वयं के लिए नहीं, अपितु मित्रों एवं सगे-संबंधियों के लिए जीवन-यापन करता रहा। इन्होंने स्वयं की भावनाओं को 'घर बनता है घरवालों से' कविता में आकार दिया–

गर प्रेम का ईंट और गारा हो
हर नीव में भाईचारा हो

 ISSN 0975-735X

कंधों पर छतों का सहारा हो
दिल खिड़की में उजियारा हो
घर गिरे नहीं भूचालों से।[11]

अशोक जी के संबंध में अधिक कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। कवि पति-पत्नी के मधुर संबंध को श्रेष्ठ मानते हैं। पत्नी के अभाव में पति और पति के अभाव में पत्नी अधूरी है। अत: दोनों को आपस में सांमजस्य बनाए रखना चाहिए। इनके विचार पति-पत्नी के संबंध में कोमल हैं। कवि ने सदैव अपने विचार कविताओं के माध्यम से प्रस्तुत किए। अत: कवि ने पति-पत्नी के मधुर संबंध व प्रेम के संदर्भ में कविता 'तो आ' लिखी–

मैं नहीं पूरा बिना तेरे
कहा था/कह रहा हूँ फिर।
मगर मुझको लगा
यदि तू अधूरी ही रही
पा संग मेरा
है कठिन जीना
बहुत मेरे लिए
यह सत्य है।
सत्य मुझको
मान पाए तू अगर
तो आ।[12]

उपर्युक्त पंक्तियों में पति-पत्नी के संबंध की गहराई प्रस्तुत है। जैसाकि इनके स्वयं के जीवन में दृष्टिगत होता है। इनकी सफलता का आधार बागेश्री जी हैं। उन्होंने ही सदैव आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। इनके मार्ग की रुकावट न बनकर पथ-प्रदर्शक बनीं।

अशोक जी जनकवि हैं। उन्होंने अपनी वाणी द्वारा गरीबी-अमीरी का भेद मिटाने का प्रयास किया। उनके अनुसार–'कोई भी धनी या निर्धन नहीं अपितु सब समान हैं।' किंतु जितनी मार्मिकता से इन्होंने गरीबी का निरीक्षण किया, शायद ही कोई करता इनका हृदय विशाल है। गरीबी से द्रवीभूत होकर 'गरीबी की रेखा' को शब्दों की पैनी से तराशते हुए दर्शाते हैं–

सिर्फ इतनी ऊँची है
जितनी ऊँची है पैर की एड़ी तेरी बीवी की
जितना ऊँचा है तेरी भैस का खूँटा
या जितना ऊँचा होता है खेत का ढूँठा
जितनी ऊँची होती है परात में पिट्ठी
या जितनी ऊँची होती है तसले में मिट्टी
बस इतनी ही ऊँची होती गरीबी की रेखा।[13]

ये सदैव निर्धनों के सहायक रहे हैं एवं निर्धनता की समस्या का निवारण करने का पर्याप्त प्रयास भी किया।

अशोक चक्रधर शंखधर हैं जैसा कि इनके नाम से ही प्रतिपादित होता है–चक्रधर। चक्रधर का अर्थ है बुराइयों पर विजय प्राप्त करनेवाला और शंखधर शक्ति को कहते हैं। अत: व्यंग्य-वाण रूपी चक्र द्वारा इन्होंने शंखधर (विष्णु) बनकर समाज की बुराइयों को दूर किया। इनको व्यर्थ में समय नष्ट करना अच्छा नहीं लगता। शायद ही कोई क्षण ऐसा हो जब इनके मस्तिष्क में कुछ न चल रहा हो। ये सदैव नवीनतम करने का प्रयास करते रहते हैं। अत: उनका जैसा नाम है, वैसा ही काम। उन्होंने अपने व्यक्तित्व में व्यावहारिकता का समावेश करके और अधिक निखारा है। अल्प समय में ही जीवन-मूल्यों का निर्धारण करना सहज कार्य नहीं। यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जो ईश्वर द्वारा प्रदत्त गुण रखता हो और ईश्वर की कृपा का पात्र हो।

अशोक जी के चरित्र में समाजिक व्यवहार, निजी संबंधों का निर्वाह, दूरदृष्टि, निरंतर सृजनशीलता, परोपकार की भावना, स्वाभिमान आदि बहुमूल्य रत्न हैं। कवि ने अपने कार्य से सभी को प्रभावित किया है–

व्यक्तित्व तुम्हारा बहुआयामी चर्चित है घर-घर में
कीर्ति-गंध फैली है सच ही हर घर, डगर-डगर में।
माता-पिता-गुरुजन-पुरजन सच हर्षित सभी हुए हैं,
गर्वोन्नत है भाल हमारा तुमसे नगर-नगर में।[14]

संदर्भ

1. संदर्भ अशोक चक्रधर, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 61
2. वही, पृ॰ 67
3. वही, पृ॰ 31
4. वही, पृ॰ 32
5. वही, पृ॰ 130
6. हँसो और मर जाओ, पृ॰ 87
7. हँसो और मर जाओ, पृ॰ 60
8. हँसो और मर जाओ
9. हँसो और मर जाओ, पृ॰ 118
10. सो तो है, पृ॰ 70
11. हँसी और मर जाओ, पृ॰ 132
12. सो तो है, पृ॰ 161
13. संदर्भ अशोक चक्रधर, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 281
14. वही, पृ॰ 159

 ISSN 0975-735X

नरेंद्रमोहन के नाटकों में दलित-चेतना

रितु, शोधछात्रा
हिंदी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ॰ संतराम वैश्य, शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

हिंदी साहित्य जगत में समकालीन नाटककारों में दलित-चेतना के विषय में बहुत से रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। परिणामस्वरूप समाज के उच्चवर्ग और जाति के विद्वद्जनों का ध्यान भी उस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने भी दलित-चेतना के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए। समकालीन लेखकों में नरेंद्रमोहन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ॰ श्यौराजसिंह बेचैन, माताप्रसाद और प्रभा खेतान जैसे अन्य कई रचनाकार हुए हैं जिन्होंने दलित-चेतना को लेकर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। हमारे समाज में दलितों की स्थिति बहुत अधिक दयनीय है। उन्हें समाज के निम्न तबके का माना जाता है और उनका शारीरिक तथा मानसिक शोषण उच्चवर्ग द्वारा किया जाता है। समय और परिस्थिति के परिवर्तन के पश्चात् भी दलितों की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। समाज में दलितवर्ग के व्यक्ति के साथ बहुत अधिक भेदभाव किया जाता रहा है और यह स्थिति वर्तमान समय में भी बहुत अधिक परिवर्तित नहीं हुई है। दलितवर्ग की ऐसी दयनीय स्थिति का वर्णन समकालीन नाटककार नरेंद्रमोहन ने अपने नाटकों में किया है। नरेंद्रमोहन ने दलितवर्ग को भी समाज में उसी प्रकार पद और स्थान का अधिकारी माना है जैसा उच्चवर्ग को प्राप्त है। नाटककार मानता है कि दलितवर्ग को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर आवाज उठानी चाहिए। ईश्वर ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है। यह जातिगत-भेदभाव मनुष्यों ने स्वयं उत्पन्न किया है। इसी कारण जाति के आधार पर कोई भी मानव निम्न या उच्च नहीं माना जाना चाहिए।

दलित का तात्पर्य

'दलित' शब्द का अर्थ है, जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्तहिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।[1]

इसप्रकार दलित शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कँवल भारती भी लिखते हैं कि 'दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।'[2]

दलित शब्द से एक विस्तृत अर्थ की व्याख्या होती है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर जिसका शोषण किया गया, उसे दबाया-कुचला गया और उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया गया, वही दलित श्रेणी में आता है। समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्रियाँ भी दलित की श्रेणी में आती हैं, क्योंकि वर्तमान समय में भी हमें समाज के उच्च और निम्न सभी वर्गों में नारी का मानसिक और शारीरिक शोषण देखने को मिलता है। समाज-व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक रूप से दबाया गया, कुचला गया व्यक्ति दलित शब्द की पूर्ण व्याख्या करता है और जिसे समाज में निम्न श्रेणी का कहा जाता है। इस श्रेणी के व्यक्ति को जन्म से ही अछूत की संज्ञा दी गई है। नाटककार नरेंद्रमोहन ने अपने नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में कबीर के द्वारा एक निर्भीक और समाज को इस असमानता के विरुद्ध जागरूक करनेवाले जननायक के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कबीर जैसी निर्भीकता धर्म, समाज, इतिहास, राजनीति, सबमें–आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसी निर्भीकता, चारित्रिक स्वतंत्रता और दृढ़ता को वह 'कलंदर' नाटक में कलंदर के चरित्र से संप्रेषित करते हैं। यह अपने ही प्रकार की 'फक्कड़ मिजाजी' एक अर्थ में मुक्ति, व्यापक मुक्ति का संकेत भी करती है। कबीर में रूढ़िवादी दृष्टि, अंधविश्वासों, धर्माडंबर, सामाजिक परंपराओं, कर्मकांड, राजनीतिक ताकतों और दमनकारी प्रवृत्तियों के प्रति जो तीखी प्रतिक्रिया और आक्रामक शक्ति मिलती है, वह आज की दृष्टि से सबसे अधिक प्रेरक स्रोत है। कबीर की नाटकीय शक्ति, उनमें अंतर्निहित क्रियाओं को, जनचेतना को रंगभाषा के मुहावरे में नाटककार ने पकड़ा है जिससे कबीर का व्यक्तित्व ताजगी और क्रांति का अहसास देता है।'[3]

दलितवर्ग को शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए कबीर जागरूक करता है। कबीर समाज-सुधारक के रूप में नाटक में प्रस्तुत है। वह जाति-भेद, धर्म-भेद तथा वर्ग भेद को नहीं मानता और सभी मानव को एक समान मानते हुए मानवता को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। गिरीश रस्तोगी कहते हैं, 'कहै कबीर...' का आरंभ ही संगीत की लय-ताल, गायक-गायिका के गीत और जनसमूह की भीड़ एकत्र होने से होता है। नुक्कड़ नाटक की लय भी बनती है और जनाक्रोश भी उभरता है–'तुम कत ब्राह्मण, हम कत सूद' जैसी उक्तियाँ और शोषण और अत्याचार की क्रूर शृंखला! मन की आँखें खोल।' के साथ नाटक कबीर की ओर मुड़ता है। कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व के प्रति जन-जागरण और आत्मीय संबंध के लिए कबीर के दोहों, पदों का भरपूर प्रयोग किया है। नाटककार ने स्वयं भी गीत-रचना की है। कबीर वही है, पर उन्हें देखने, उनके विचार और दर्शन को आज के संदर्भ में नई उद्‌भावनाएँ देने में नाटककार स्वतंत्र है।'[4]

इस प्रकार समकालीन नाटककार नरेंद्र मोहन ने 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक में समाज की वर्गभेद की प्रथा और जातिवाद जैसी कुप्रथा का विरोध प्रस्तुत किया है। नाटक का प्रत्येक अंश कबीर की समाज-सुधार प्रवृत्ति और समानतावादी प्रवृत्ति को दर्शाता है।

दलित चेतना

समकालीन रचनाकारों में नरेंद्रमोहन के अतिरिक्त जो अन्य रचनाकार हुए हैं, जिन्होंने जातिवाद एवं सामाजिक असमानता का विरोध किया है, वे सभी रचनाकार दलित-चेतना के

 ISSN 0975-735X

पक्षधर रहे हैं तथा मानव-मानव को समान मानते हुए मानवता को ही सर्वोत्तम धर्म मानते हैं। नरेंद्रमोहन के नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में प्रारंभ में ही गायक और गायिका जनता को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करते हुए कहते हैं–

आदमी-1 : कुछ नहीं होगा इस भक्ति-वक्ति में। कौन बचाएगा हमें दरिंदों से? कितनी बुरी तरह से पीटा है हमें जमींदार के कारिंदों ने! क्या कसूर है हमारा? यही न कि हम चमार हैं।

गायक : दुख है, परम दुख है, तुम्हारे साथ इस तरह का दुर्व्यवहार किया गया। पर बुरा न मानो तुम स्वयं इसके लिए जिम्मेदार हो।

आदमी-1, 2 : हम? कैसे?

गायिका : तुम्हें अपनी हालत का सही ज्ञान नहीं है।

आदमी-2 : हमने जुल्म को अपनी चमड़ी पर रेंगते महसूस किया है।

गायक : तुम पर जुलम हुए और तुमने महसूस भी किए, पर कभी उठे नहीं, उठकर तने नहीं, एकजुट नहीं हुए।[5]

इस प्रकार गायक और गायिका जनता को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करते हैं और उन्हें शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने को प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं समाज में प्रत्येक मनुष्य समान है तथा मानव का परम धर्म मानवता है। जाति-भेद तथा धर्म-भेद केवल मनुष्य को बाँटने के लिए समाज के कुछ स्वार्थी ठेकेदारों के उत्पन्न किए हैं।

लोगों को निराश और हताश देखकर गायक और गायिका उन्हें कबीर की वाणी का महत्त्व बताते हुए कहते हैं–

गायक : यह वाणी आज भी कारगर है– जलते हुए लोगों के घावों पर मरहम की तरह, प्यासों के लिए शीतल जल की तरह।

गायिका : हाँ, हमें लोकमानस से जुड़ना होगा, लोकचेतना को जगाना होगा।

आदमी-2 : (व्यंग्य से हँसता है) लोकचेतना को जगाना होगा! और वह जगाओगी तुम! (गायक-गायिका दोनों की ओर देखता हुआ) हाँ, ऐसा हुआ था बहुत पहले। ऐसा हुआ था उसके बाद भी। ऐसा ही हुआ है आज–शोषण और अत्याचार की क्रूर शृंखला। मन की आँखें खोल, रे मूर्ख, मन की आँखें खोलकर लड़ना होगा।[6]

जहाँ एक ओर साधुगण स्वयं को विद्वान व उच्चकोटि का बताते हैं, वहीं दूसरी ओर वे जाति-पाति जैसी तुच्छ बातों को मानते हुए जनसाधारण को वर्गों में विभाजित करते हैं। और ऐसा करते हुए वे स्वयं को बहुत अधिक गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

तिलकधारी : अरे जुलाहे, तेरी यह हिम्मत! तूने मुझे छुआ। महामना, महाबलशाली साधु महंत के अखाड़े के मुख्य द्वार की रक्षा-पंक्ति के आगे-आगे चलने वाला मैं उनका परम पवित्र चेला। तुम नीच जात ने मुझे छुआ।

कबीर : छुआछूत का यह अनोखा भूत कहाँ से पैदा हुआ है, साधु महाराज![7]

'अभंग गाथा' में भी मंबाजी द्वारा किए जानेवाले मानसिक और शारीरिक शोषण का

विरोध करते हुए तुकाराम कहता है–

तुकाराम : नीच हैं तो क्या अन्याय सहते रहें?

मंबाजी : अरे नीच, तू मेरे बगीचे को तहस-नहस कर आया।

तुकाराम : तेरा बगीचा! (हँसता है, जैसे पुचकार रहा हो) आसपास खिले फूलों के गिर्द तूने काँटेदार तार लगा ली और बन बैठा फूलों का मालिक! (खुलकर हँसता है) आम रास्ते को तू रोकेगा, बोल?

मंबाजी : शूद्र के बच्चे बताता हूँ तुझे। तूने मुझे छुआ, मेरा धर्म भ्रष्ट किया, मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं।

तुकाराम : पीटेगा? (हँसता हुआ अफसोस से) ओह, मुझे छुएगा तो तेरी देह में धर्म की वापसी कैसे होगी?[8]

मंबाजी स्वयं को उच्चवर्ग का विद्वान बताता है, परंतु तुकाराम उसके इस झूठे अहंकार और पाखंड का भंडाफोड़ करते हुए कहता है कि दूसरों को निम्न बताकर स्वयं कोई भी ऊँचा नहीं बनता तथा समाज में तुम जैसे पाखंडियों ने भेदभावपूर्ण नीति-नियम तथा जातिवाद जैसी खाई बना रखी है।

'मलिक अंबर' में अंबर और सईदा आपस में बात करते हैं। अंबर, सईदा को अपने जीवन में आनेवाली कठिनाइयों के विषय में बताता है और कहता है कि किस प्रकार अत्याचार और शोषण को सहते हुए और उनसे संघर्ष करते हुए वह आज यहाँ तक पहुँचा है–

सईदा : मेरी आवाज तुम्हारी आवाज, मेरे दिलबर! लगता ही नहीं कि सदियाँ बीत गई हों।

अंबर : हाँ, जैसे कल की बात हो। हम इथोपिया की अलहर्रा बस्ती से हब्शियों-गुलामों के काफिले के साथ मुरड जजीरा होते हुए अहमदनगर आए थे। (दूसरे पल) लगता है गुलाम और जानवर के बीच किसी ने हमें जकड़ दिया हो।

सईदा : छोड़ न, देख, आज माहौल कितना खुशगवार है, मस्त-मस्त, बदला-बदला।

अंबर : न वह जमी, न आसमान, न वह शहंशाह, न सुलतान–

सईदा : न मालिक, न गुलाम, तो भी मंडी में रौनक है। खरीद-फरोख्त और लूट जारी है।

अंबर : जुल्म कितना बढ़ गया है और जाति-पाति ने अपने जबड़ों में पूरा आसमान दबोच लिया है। याद है मैं दोनों के खिलाफ लड़ता रहा।[9]

इससे स्पष्ट होता है कि मलिक अंबर ने किस प्रकार हब्शी होने के दंश को सहा और अपनी इस प्रकार की स्थिति को सुधारते हुए नीच होने के कलंक को अपने कार्यों से मिटा दिया। अंबर ने अपनी नीति-निपुणता और कार्य-कुशलता के बल पर आम जनता के हृदय में अपने लिए प्रेम और सम्मान का स्थान बना लिया। परिणामस्वरूप जनता उसके प्रत्येक कार्य में सहयोग करते हुए उस पर विश्वास भी करने लगी। यही अंबर की विजय थी कि वह जनसाधारण के लिए नायक सिद्ध हुआ।

दलित-साहित्य को सही ढंग से समझने के लिए हमें उसके सकारात्मक और

नकारात्मक दोनों पक्षों को समझना होगा। 'एक वर्ग की वर्जनाएँ और पूर्वग्रह जरूरी नहीं कि दूसरे वर्ग पर भी उसी रूप में लागू हो जाएँ। हर वर्ग या समूह की दृष्टि या चेतना दूसरे वर्गों या समूहों से भिन्न होती है और यह भिन्नता किसी सरलीकृत सिद्धांत से समझी भी नहीं जाती। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सवर्णों के लिए जो प्राथमिकताएँ हैं, वही प्राथमिकताएँ दलितों की नहीं हैं।'[10]

इस प्रकार स्पष्ट है कि समकालीन नाटककार नरेंद्रमोहन ने अपने नाटकों में दलित-चेतना को भी स्थान दिया है। नाटककार ने समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अधिकार और सम्मान का अधिकारी माना है। पूँजीपति वर्ग ने दलितों को शोषण व अत्याचार करने हेतु इन्हें निम्नकोटि का बताया है और उन्हें समाज में हीनता की दृष्टि से देखा है। यद्यपि यह जातिभेद एवं वर्गभेद के नीति-नियम उच्चवर्ग ने ही बनाए हैं ताकि वह निम्नवर्ग का शोषण कर सके।

संदर्भ

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, दलित-साहित्य की अवधारणा, पृ॰ 13
2. कँवल भारती, युद्धरत आम आदमी (अंक 41-42), 1998, पृ॰ 41
3. गुरचरणसिंह, सुमन पंडित, नरेंद्रमोहन रचनावली, खंड-दो : नाटक, पृ॰ 14-15
4. वही, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 98
6. वही, पृ॰ 99
7. वही, पृ॰ 103
8. डॉ॰ नरेंद्रमोहन, अंभग गाथा, जगतराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण-2014, पृ॰ 32
9. डॉ॰ नरेंद्रमोहन, मलिक अंबर, संजय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2011, पृ॰ 28
10. डॉ॰ जयंतीलाल माकडिया, हिंदी कविता में दलित चेतना : एक अनुशीलन, आकाश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण-2009, पृ॰ 2

मोहल्ला अंबेडकरनगर
निकट एस॰एन॰ पब्लिक स्कूल
नहटौर रोड, किरतपुर (बिजनौर) उ॰प्र॰

किन्नर-विमर्श : 'अन्य' का दर्जा

डॉ॰ मधु कौशिक, असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी-विभाग, रामानुजन कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय), कालकाजी, नई दिल्ली

'अन्य' का दर्जा किसे और क्यों दिया गया? ये यक्ष प्रश्न कई चौराहों-दोराहों से गुजरता हुआ अपनी पहचान 'किन्नर' के अर्थ में दर्ज करवा चुका है। कभी-कभी हिरण्यकश्यप की मृत्यु का वह संकेत स्मरण हो आता है कि वह न मनुष्य से मरेगा न जानवर से, न वो दिन में मरेगा, न रात में, न घर के भीतर न बाहर। तभी तो उसे मारने के लिए भगवान ने नरसिंह अवतार धारण किया यानि आधा सिंह और आधा नर वाला रूप। इसी तरह न वह दिन में मरा न रात में बल्कि जब दोनों वक्त मिलते हैं अर्थात् संध्या समय उसकी मृत्यु हुई। साथ ही उसकी मृत्यु न घर के भीतर हुई न बाहर वह दहलीज पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। ऐसा ही कुछ लिंग निर्धारण में भी है या तो स्त्रीलिंग होता है या पुल्लिग नहीं तो आप 'अन्य' हैं।

एक खास अंदाज को धारण किए ये 'अन्य' या किन्नर समाज की संरचना का ही अंग हैं। इनकी ताली की थाप, अंगुलियों का कटकाना, इनकी गाली, एक पैर को उठा जोर से जमीन पर पटकना इनके नृत्य की शैली के रूप में रूढ़ हो चुकी है। कुछ एक गीत जो इनके साथ फेविकोल की तरह चिपक गए हैं उनमें हैं–'सज रही गली तेरी अम्मा चुनर गोटे में' और 'हाय गुल चमन के बाग में फूलों की वर्षा हो रही'। शादी हो या संतान उत्पति ये किन्नर बधाई देना और लेना नहीं भूलते। बधाई देने का काम इसलिए नहीं भूलते, क्योंकि ये उनकी परंपरागत विरासत का हिस्सा है और बधाई लेने के रूप में जो शगुन इन्हें मिलता है, उसी से इनका गुजारा होता है। पेट पलता है।

गरिमा संजय दुबे की कहानी 'पन्ना बा' में किन्नरों की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट किया गया है। गरिमा जी लिखती हैं–'कोई काम पर रखे नहीं, कोई माता-पिता इस अभिशाप को साथ रखने को राजी नहीं, कोई नौकरी नहीं, कोई पढ़ाई नहीं, बेचारा मनुष्य जिए भी तो कैसे? कैसे देह से परे हो, फिर भी जीता है एक किन्नर।[1]

समाज की संरचना का अंग होते हुए भी ये वर्षों से समाज के एक कोने में रहनेवाले लोग हैं, जिन्हें न तो इन्हें इनके घर में स्थान मिलता है न समाज में। इनके अधिकार, कर्तव्य, रोजगार, स्वास्थ्य, शिक्षा की बात करना बेमानी ही लगता है। किंतु वर्तमान में किन्नर विमर्श ने इसे एक पहचान दिलानी शुरू की है। किन्नर विमर्श को देखने का दृष्टिकोण नई बहसों से गुजर रहा है।

किन्नर-विमर्श को साहित्य में जगह मिलना एक बड़ी उपलब्धि कहा जा सकता है। समाज में जिस तरह से इनकी अनदेखी की गई है, उसे साहित्य में वाणी देना इस विमर्श को

 ISSN 0975-735X

एक नई पहचान देता है। साहित्य के भीतर उपस्थिति के क्या मायने हो सकते हैं? इसे राजेंद्र यादव बखूबी समझाते हैं–'मैंने साहित्य को हवाई हमले का नाम दिया है। हवाई हमले शत्रु के सामरिक दुर्गों और प्रतिरोध को तोड़ते हैं, खुद कब्जा नहीं करते। वे तो सिर्फ स्थिति को आसान बनाते हैं ताकि पैदल सेनाएँ सुविधा से कब्जा कर सकें। साहित्य के जरिए बदलती हुई मानसिकता हमें सही- गलत की पहचान और निगाह देती है, सही के लिए अधिक मानवीय और संवेदनशील बनाती है, चुनाव करते समय गलत को छाँट सकने का विवेक देती है।'[2] जो काम साहित्य करता है उसे धरातल पर समाज को पूर्ण करना होता है, अपनी मानसिकता को बदलकर। किन्नरों के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है।

आज किन्नरों में अपने अस्तित्व को लेकर चेतना जगी है। वह अपने समय और समाज की धड़कन को सुनने व समझने लगा है। अब विचारधाराएँ उसे भी प्रभावित करने लगी हैं। उसमें अपने होने-न-होने, अपने साथ हो रहे भेदभाव व अन्याय का बोध भी जगा है। यही बोध साहित्य में भी झलकता हुआ दिखाई दे रहा है। कलिकाल से लेकर रामायण और महाभारत काल में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने वाला यह वर्ग अब 'अन्य' कहलाने लगा है। अच्छा है 'हिजड़े' जैसे संवेदनशून्य शब्द से अब शायद छुटकारा मिल जाए। किंतु प्रश्न यह है कि क्या इस शब्द से छुटकारा पाना इतना आसान है? इसका उत्तर समाज के गर्भ में छिपा है। यह शब्द इस वर्ग के लिए न केवल पीड़ा का द्योतक है बल्कि यह उसे सालता है और उसके भीतर पैदा करता है एक खीज, रोष, आक्रोश, हिंसा, उसका अशिष्टीय रूप, जो शिष्ट समाज के गले नहीं उतरता। इसी समुदाय के लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने अपनी आत्मकथा 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' (2015) के माध्यम से किन्नर समाज के भीतर की सच्चाई को खोलकर रख दिया है। महेंद्र भीष्म के उपन्यास 'किन्नर कथा' में जैतपुर के राजा जगतराज और पत्नी आभा सिंह की दो जुड़वा संतानों में एक संतान लड़की और दूसरी किन्नर है। माँ का ममत्व अपनी किन्नर संतान का सच समाज व पति के सम्मुख नहीं आने देती। इसका कारण भी यही है कि वह परंपरा के उस कठोरतम निर्णय को जानती है, जहाँ ऐसी संतान को घर से अलग रहना होता है। इस उपन्यास में राजा अपने कुल की शान को बचाए रखने के लिए सोना जिसे उस बहुत प्यार से बड़ा किया किया, परंतु उसकी सच्चाई जानने के बाद वह उसे मरवाने का निर्णय लेता है।

दिव्यांग बच्चा जो देख, सुन या बोल न सकता हो उसे घर मिलता है, परंतु एक किन्नर जो जेनेटिक दोष से ग्रस्त है, उसे घर नसीब नहीं होता। माँ का प्यार जो उसका अधिकार है, पिता का संरक्षण, छोटे-छोटे रिश्तों में बँधा पूरा घर-परिवार, जिस पर उसका हक है, उसे इन सबसे वंचित कर दिया जाता है। फिर बात होती है उन्हें मुख्य धारा में लाने की और समाज से जोड़ने की। इन्हें मुख्य धारा में लाने का प्रश्न नहीं, बल्कि प्रश्न तो यह है कि आखिर इन्हें मुख्य धारा से अलग किया ही क्यों गया? अर्थात् मूल बात तो यहीं से निकलती है कि आखिर इन्हें हमने समाज और घर से विलग क्यों किया? क्यों इन्हें मजबूर किया अपनी जड़ों से दूर रहकर हिजड़ा कहलाने पर, आखिर क्यों? कहते हैं जो मिलता है वही लौटाया जाता है। जिस नफरत, घृणा, उपेक्षा का शिकार ये समाज है उसी का परिणाम है कि इनका नाम सुनते ही लोग दूर भागने लगते हैं। ये कब कैसा व्यवहार करेंगे यह सोचकर ही लोग इनके पास जाने से भी

कतराते हैं। जब आमजन इनके पास ही नहीं जाएगा तो फिर इनकी समस्याओं और इनकी जिंदगी को करीब से जानने समझने का मौका उसे कैसे मिलेगा? इसका बीड़ा अब साहित्यकारों ने उठाया है। इनकी जिंदगी का खाका वे अपने-अपने ढंग से विविध विधाओं के माध्यम से करते हैं। साथ ही राजनीतिज्ञ भी अब पीछे नहीं हैं, क्योंकि इनका वोट अब उन्हें हार-जीत की दहलीज पार करवाता है। इनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार को लेकर उठाए जाने वाले कदम अब इसका प्रमाण हैं।

समकालीन विमर्शों के केंद्र में किन्नर-विमर्श का आना अपने-आपमें एक नई कहानी कहता है। अपनी गुमशुदा पहचान को सबके सामने लाने के लिए न केवल यह समाज अब प्रतिबद्ध दिखाई देता है बल्कि संवैधानिक रूप से भी अब इस समुदाय को सशक्त बनाने लिए समाज के अलग-अलग कोनों से आवाजें आने लगी हैं। उसी का परिणाम है–चाहे सिनेमाई दुनिया का बड़ा पर्दा हो या छोटे पर्दे का बिग बॉस और कौन बनेगा करोड़पति, सब जगह ये अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रहे हैं। महाराष्ट्र में 'किन्नर कल्याण महामंडल' की स्थापना इनके विकास और मुख्यधारा में शामिल करने के लिए की गई है। इस महामंडल का गठन इस समुदाय को पहचान-पत्र, घर, शिक्षा, स्कॉलरशिप, स्वास्थ्य, रोजगार दिलाने के लिए किया गया है, जिसके किए 40 सदस्यीय कमेटी भी बनाई गई है। इस कमेटी में किन्नर समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए इसी समुदाय के सदस्यों को भी भी रखा गया। इस तरह की संस्थाओं का गठन इस बात का प्रमाण है कि एक बँधी-बँधाई जिंदगी के बंधनों को अब यह समाज तोड़ने लगा है। बधाई, ताली से अब ये समाज ऊपर उठने लगा है।

चित्रा मुद्गल, महेंद्र भीष्म, खुशवंत सिंह, श्याम बेनेगल साहित्यिक एवं सिनेमाई दुनिया के ये वे नाम हैं, जिन्होंने किन्नर-विमर्श को परत दर परत खोलकर हमारे सामने रखा है। इस विमर्श की अतल गहराइयों में छिपा है, बहिष्कार और अस्वीकृतिपन जो इन्हें समाज और घर से मिला है। समाज और घर इन्हें अपने लिए 'मिस-फिट' मानता है। ये स्वयं को निष्कासित, बहिष्कृत और तिरस्कृत महसूस करते हैं। यदि चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नंबर 203- नाला सोपारा' के विनोद उर्फ बिन्नी की बात करें तो उसका संवाद अपनी माँ से पत्रों के माध्यम से होता है। जिस विनोद को माँ महान गणितज्ञ बनाना चाहती थी, वास्तव में वह किन्नर निकलता है और किस तरह राजनीति के मोहरे के रूप में काम करता है। माँ की हृदयविदारक पीड़ा को इस उपन्यास में बखूबी दिखाया गया है कि केवल किन्नर ही नहीं बल्कि एक माँ को अपने ममत्व का परित्याग किस प्रकार करना पड़ता है। किन्नर की पीड़ा को व्यक्त करते हुए चित्रा जी लिखती हैं–'कहाँ मरूँ? मरूँ तो कैसे मरूँ? कैसे जन्मूँ यह तो नहीं चुन पाया। मौत चुन सकता हूँ।'[3] विनोद अपनी मर्जी से मरना चाहता है। वह अपनी लाश को किन्नरों के हाथ तक लगने नहीं देना चाहता। वह ऊँचे पहाड़ से मरना चाहता है ताकि उसकी लाश को कोई खोज न सके। जिस माँ से वह चिट्ठियों के जरिए संबंध बनाए हुए है, उसे भी वह अपनी मौत पर रोने का हक नहीं देता। विनोद अपनी माँ से कहता है कि तुझे मेरी मत का पता भी तब चलेगा, जब तू पोस्ट बॉक्स नं॰ 203 नाला सोपारा से खाली हाथ लौटेगी।'[4] एक ओर जहाँ विनोद की पीड़ा है तो दूसरी ओर उस माँ की, जिसने अपने गर्भ से संतान को जन्म दिया है वह किन्नर है, तो उसमें माँ के ममत्व का क्या दोष? माँ

 ISSN 0975-735X

अपने बेटे बिन्नी के स्कूल बैग और बोतल को छूकर अपनी तड़प को व्यक्त करती है। बिन्नी और पूनम जोशी के संबंध, पूनम जोशी के बलात्कार पर पर बिन्नी का तिलमिलाना और फिर विद्रोह के परिणामस्वरूप मृत्यु को प्राप्त होना। इस उपन्यास के माध्यम से किन्नर समुदाय के विविध पहलुओं को दर्शाने में चित्रा जी का कोई सानी नहीं। उपन्यास के अंत में विनोद उर्फ बिन्नी की मौत की खबर एक अखबार में छपती है–'नदी में पुलिस ने एक किन्नर की फूली लाश बरामद की। पुलिस इस वारदात को आपसी रंजिश का नतीजा मान रही है। इस हत्या का संबंध किसी किन्नर गिरोह से हो सकता है।' इसी तरह महेंद्र भीष्म के 'किन्नर कथा' उपन्यास में तारा किन्नर की हत्या करवा दी जाती है, वहीं श्याम बेनेगल की फिल्म 'वेलकम टू सज्जनपुर' में भी किन्नर की हत्या हो जाती है। जो राजानीति के अखाड़े में उतरता है, चुनाव लड़ता है, विद्रोह करता है किंतु उसकी भी अंततः हत्या हो जाती है।

स्वानुभूति से सहानुभूति के पथ से गुजरते इस विमर्श ने अब साहित्य के भीतर अपनी पैठ बनाई है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बिंदा महाराज', वृंदावनलाल का एकांकी 'नीलकंठ', प्रदीप सौरभ की रचना 'तीसरी ताली' (2014), कुसुम अंसल की कहानी 'ई मुर्दन का गाँव' आदि रचनाएँ किन्नर की यातना को जिस प्रकार से इनकी तार-तार होती जिंदगी से रूबरू करवाती हैं, उससे इनके प्रति एक संवेदना पैदा होती ही है।

साहित्य-जगत् जिस तरह से काम कर रहा है, वैसा ही समाज की सड़ी-गली मान्यताओं के खिलाफ समाज को करना होगा। इस ओर अब समाज धीरे-धीरे सोचने लगा है साथ ही इस समुदाय के लोग भी अब जागरूक हैं। अब ये केवल 'बधाई सिस्टम' से ही नहीं बँधे बल्कि राजनीति, कला, शिक्षा और धर्म के ठेकेदारों के बीच अपनी उपस्थिति को रजिस्टर करवाते हैं। प्रयागराज के कुंभ में किन्नर अखाड़े का सम्मिलित होना इसकी जीती-जागती मिसाल है। इस कुंभ में किन्नर आर्ट विलेज के द्वारा किन्नरों की कलाओं को एक प्लेटफॉर्म देने की कोशिश की गई। राष्ट्रीय ही नहीं अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इन्हें एक पहचान मिली है। किन्नर अखाड़ा की महामंडलेश्वर लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी किन्नरों की पुराणों से लेकर किन्नर के अर्थ-शिव शंकर और अपने आराध्य नटराज रूप शिव का उल्लेख करती हैं। वहीं 'किन्नर पुराण' के माध्यम से लोगों को इस समुदाय को जानने-समझने का एक अवसर भी देती हैं। आज सोशल मीडिया भी इनकी आवाज बुलंद करने में पीछे नहीं है। इनकी देवत्व यात्राएँ (पेशवाई) इन्हें देश और दुनिया के विविध क्षेत्रों से जोड़ती हैं।

किन्नरों की संस्था 'इंडिया एचआईवी एड्स अलायंस की एसोसिएट डायरेक्टर अभिना आहेर से जब एनबीटी ने बाचतीत की तो कुछ और पहलू हमारे सामने आए। जैसे–इनके भी अलग-अलग घराने होते हैं। हिजड़ा कम्यूनिटी के नायक इनके झगड़ों का निबटारा करते हैं। अपने गुस्से का कारण ये समाज का इनके प्रति किए गए व्यवहार को बताते हैं। साथ ही हार्मोनल ट्रीटमेंट के हैवी डोज को भी इसका कारण मानते हैं। बेरोजगारी की मार इन्हें ज्यादा शगुन लेने को मजबूर करती है। मेरठ में घटी घटना जिसमें दो किन्नर समुदाय आपस में लड़ रहे थे, उनकी पुलिस द्वारा की गई पिटाई ने एक ज्वलंत प्रश्न को जन्म दिया है, साथ ही प्रशासन को इस ओर सोचने के लिए भी मजबूर किया है। अभिना आहेर अपने इंटरव्यू में बताती हैं–'यह बात सही है कि दो गुटों

में झड़प हुई थी। पुलिस का काम था कि दोनों गुटों को थाने में बंद कर देती और जज के सामने पेश करती। वहाँ उन्हें सजा मिलती। आप उस घटना में देखिए कि पुलिस लाठी मार रही है महिला किन्नरों को, उनके पल्लू कहाँ हैं, साड़ी कहाँ है, यह सब देखे बगैर। आखिर पुरुष पुलिस को किसने हक दिया है महिला किन्नर को हाथ लगाने का। हम तो न तो पूरी तरह पुरुष में आते हैं न महिलाओं में। तो दोनों ही पक्ष हमें क्यों हाथ लगाएँ। जब आपने पुलिस स्टेशन में वुमेन सपोर्ट सेल बनाया है, तो आखिर किन्नर सेल बनाने में क्या परेशानी है?'[5] ऐसे ही ज्वलंत प्रश्नों को लेकर यह समुदाय अब जागरूक है। श्रेया करमाकर जो आज मॉडेल हैं, इसी समाज का हिस्सा हैं, जिन्होंने तमाम मुसीबतों से गुजरते हुए भी कभी हार नहीं मानी और अपनी मेहनत से समाज में एक मुकाम हासिल किया। उनके जीवन के शुरुआती साल कैसे रहे, इस पर एक नजर डालते हैं–पागलखाने भेज दिया था उसे, फिर घर से भी निकाल दिया। जहाँ आसरा मिला, वहाँ झाड़ू, पोछा बरतन करना पड़ता था। बच्चों को डांस सिखाया, तो बार डांसर और सेक्स वर्क से लेकर क्या कुछ तक नहीं करना पड़ा। उम्र थी महज 17 साल।'[6]

चाहे पूनम पाठक की 'किन्नर' कहानी हो या श्रीकृष्ण सैनी की 'हिजड़ा' कहानी किन्नरों की स्वीकृति में वक्त लगेगा। 'पोस्ट बॉक्स नं॰ 203 नाला सोपारा' में विनोद (किन्नर) का मोटा भाई इस शंका से ग्रस्त है कि कहीं उसकी संतान किन्नर न हो। डॉक्टर मोहिनी मोटा भाई को उनकी संतान के विषय में बताती हैं–'सब-कुछ ठीक-ठाक है। विकास सामान्य ढंग से हो रहा है, फिर आपने कह दिया है, लड़का हो या लड़की, दोनों आपको स्वीकार हैं।... स्वीकार हैं लेकिन लड़का और लड़की न होकर वह कोई अन्य हो तो?'[7] घर से निकाले जाने की टीस और जख्म इस समुदाय को ताउम्र सालता है। रास्ते का उठाया हुआ खाकर जिंदगी की गाड़ी चलानेवाला यह समुदाय बधाई से भीख माँगने रेड लाइट तक का भी सफर तय करता है। जहाँ तक इन्हें 'अन्य' का दर्जा दिए जाने की बात है तो वह केवल लिंग-निर्धारण तक ही सीमित रहना चाहिए। वरना अन्यों के साथ कब किसने संबंध बनाए हैं। आज वक्त की ताकत कहो या इस समुदाय की खूबी, जो इसने अपनी हाजिरी इस खोखले समाज में दर्ज करवाई है। आज ये समुदाय समाज में अपनी प्रेसेंट लगवाने की खासी ताकत रखता है। अब जरूरत इन्हें 'अन्य' के दर्जे से निकाल 'अपने' के दर्जे में लाने की है।

संदर्भ

1. पन्ना बा, गरिमा संजय दुबे, वाङ्मय पत्रिका, संपादक एम॰ फिरोज अहमद, जनवरी-मार्च 2017, पृ॰ 121
2. काँटे की बात-12, मैं हंस नहीं पढ़ता, राजेंद्र यादव, पृ॰ 36
3. पोस्ट बॉक्स नं॰ 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ॰ 33
4. वही, पृ॰ 33
5. नवभारत टाइम्स, 14 जून, 2019
6. नवभारत टाइम्स, 23 जून, 2019
7. पोस्ट बॉक्स नं॰ 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ॰ 23

मो॰ 9717715924, 8130370263
madhukaushik22@gmail.com

'काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरी की धार से' एक दृष्टि : कालिदास की संघर्ष यात्रा

मुकेशकुमार त्रिपाठी (शोध छात्र)
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तराखंड)

बीसवीं शती के प्रमुख साहित्यकारों में अपनी अमिट छाप छोड़नेवाले, उपन्यासकार, नाटककार के रूप में स्वयं को स्थापित कर, नवीन विचारधारा से ओतप्रोत, अद्वितीय प्रतिभा के धनी सुरेंद्र वर्मा जब किसी साहित्यिक रचना की सर्जना करते हैं, तो वह हिंदी साहित्य की बहुचर्चित रचना बन जाती है। 'मुझे चाँद चाहिए' के पश्चात् 'काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरी की धार से' साहित्यकारों के समक्ष प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास अपनी कथावस्तु और शैली के कारण बँधी बँधाई परिपाटी का विरोध करता है। उपन्यास 5 खंडों तथा 95 उच्छ्वासों में विभक्त है। कालिदास को केंद्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास अब तक लिखी गई कालिदासविषयक रचनाओं से बिल्कुल भिन्न है।

राहुल सिंह 'फिर कालिदास' लेख में सुरेंद्र वर्मा के विषय में लिखते हैं–'इन्होंने कालिदास की उस विकास-यात्रा को दर्ज करने का काम किया है, जिसमें कालिदास एक ग्रामीण कवि से राजकवि और राजकवि से संपूर्ण आर्यावर्त के महाकवि के तौर पर स्वयं को प्रतिष्ठित करते हैं। इसकी एक झाँकी मोहन राकेश के नाटक, 'आषाढ़ का एक दिन' में देखने को मिली थी, लेकिन सुरेंद्र वर्मा ने इसे व्यापक फलक पर रखा है, जिसके कारण उपन्यास भी महाकाव्य (530) पृष्ठ हो गया है।'[1]

इस उपन्यास में लेखक ने जिस लेखन-कौशल को दिखाया है, वह प्रशंसनीय है। इस उपन्यास का नायक 'कालिदास' तथा नायिका 'मुग्धा' है। कालिदास के ग्रामीण से राजकवि तक के सफर को बड़े संघर्ष पूर्ण रूप से चित्रित किया गया है।

नायिका 'मुग्धा' कालिदास को बहुत चाहती है और विवाह करने की इच्छुक है। कालिदास के मातुल, कालिदास की कविता लेखन से चिढ़ते हैं, वह चाहते हैं कि कालिदास अपने पैतृक व्यवसाय पशु वैद्यक का ज्ञाता बने और पशु चिकित्सा में लगकर पशुसेवा करे। अनभिज्ञ मातुल यह नहीं जानते थे कि कालिदास इस देश का बहुत बड़ा कवि बनने वाला है। कालिदास अपनी सर्जना 'ऋतुसंहार' को लेकर उज्जयिनी की ओर प्रस्थान करता है। इनके साथ में स्थानीय आचार्य विद्याभास्कर भी पांडुलिपि को पढ़ते हुए चलते हैं। कालिदास की ऐसी अद्‌भुत लेखनी को देखकर प्रशंसा करते हैं और कहते हैं–

'यह गद्य प्रकृति को प्रणामांजलि है, मनुष्य के साथ सात्त्विक, विशिष्ट और सतत संबंध

के लिए गद्‌गद् कृतज्ञता। मैंने अब तक नहीं देखा प्रकृति का ऐसा गहन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण, मुनष्य और प्रकृति के संतुलन पर ऐसा तरल, विभोर और गीतात्मक आनंदोच्छ्वास, जीवन के प्रति ऐसा मोहक और निर्दोष लगाव, जो जीवन से प्रेम करता है, यह कृति गले से लगा लेगा।'[2]

कालिदास उज्जयिनी पहुँचता है और केंद्र द्वारा संचालित प्राथमिक परीक्षा उत्तीर्ण करता है और अपनी पहचान बनाने में सफल होता है। आचार्य आलोकवर्धन कालिदास से प्रभावित होते हैं। 'ऋतुसंहार' का पाठ करने हेतु कालिदास खड़ा होता है, सबको नमन कर प्रारंभ करता है। सभा में बैठे नवोदित कवि 'सव्यसाची' बड़ी वितृष्णा से बोलते हैं–

'तुम्हारी रचना विश्रृंखल और अराजक है।'

'तुमने किया क्या है? हर ऋतु के चित्र बना दिए हैं। उन्हे संघटित करनेवाला अंत:सूत्र तो है ही नहीं,'

कालिदास जवाब देते हुए कहते हैं–'दैनंदिन की सामान्य, एकरस जीवनशैली से सुंदरता का संधान, यह है उन्हें संघटित करनेवाला अंत:सूत्र'। कालिदास ने उत्तर दिया, 'हर पल में जीवन की कविता है, यदि किसी के पास उसे पहचानने की सूक्ष्म दृष्टि हो तो।[3]

'उज्जयिनी जाने से पूर्व मातुल कालिदास को निर्णय लेने के लिए कहते हैं कि मुग्धा से विवाह करो किंतु कालिदास का उत्तर जैसे ही परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाएँगी, मैं विवाह कर लूँगा। मुग्धा का प्रेम कालिदास के प्रति दैवीय रूप लिए हुए था। वह सच्चे मन से कालिदास को प्रेम करती है। वह कालिदास के मार्ग की बाधा नहीं बनना चाहती अपितु प्रेरक बनना चाहती है।

कालिदास मुग्धा को आश्वासन देकर उज्जयिनी प्रस्थान करता है और कहता है–'सच्चा संबंध प्रतिकूलताओं और आपत्तियों के बीच ही मँजता और सँवरता है, चिंता और पीड़ा उसे शक्ति देती है।[4]

कालिदास को उज्जयिनी में ललितेश्वर मिलता है, जो राष्ट्रीय नाट्य केंद्र में नियुक्त है। इसके माध्यम से कालिदास के नाटक 'छद्मवेषी राजकन्या' का मंचन किया जाता है जिसे देखने के लिए राजकन्या 'प्रियंगुमंजरी' आती है और प्रभावित होती है। वह कालिदास से मिलकर बधाई देना चाहती है और कहती है 'कि उज्जयिनी में कोई है जो मेरी पीड़ा समझता है और उसके शमन की चिंता भी करता है।[5]

कालिदास प्रियंगुमंजरी के राजप्रासाद में पहुँचता है। दोनों आपस में बातचीत करते हैं। कालिदास की लेखन-यात्रा के विषय में प्रियंगु पूँछती है, कालिदास अपनी वृत्तांत सुना देता है। कुछ पलों की वार्ता में दोनों एक-दूसरे को प्रिय लगने लगते हैं। प्रियंगुमंजरी कालिदास के प्रति आकर्षित होने लगती है। अंतरंगता के नए गहनतर अध्याय का प्रारंभ हो चुका था। उधर मुग्धा कालिदास को अपना सब-कुछ मानकर जीवन जी रही है। प्रियंगु और मुग्धा के मध्य कालिदास अपने आपको सघन अंधकार में पाता है। उसके मन का अंतर्द्वंद्व आखिर वह किधर जाए, अपनी इन्हीं भावनाओं में उलझा हुआ है।

'ऐसा लगता है कि दोनों आत्मा-सखियाँ हैं', आलोकित, सूने उज्जयिनी की आत्मा उद्यान में कालिदास का पीड़ाभरा स्वर गूँज-सा गया, 'मेरे प्राप्य के लिए एक ने जो यातना झेली

 ISSN 0975-735X

है, दूसरी वही सुलभ करवा रही है, उसने करुण स्मित दी। अवस्था इतनी दारुण हो चुकी है कि मैं एक के बिना दूसरी की कल्पना नहीं कर पाता', दोनों के साथ विश्वास-वंचना कर रहा हूँ।'[6]

कालिदास की प्रतिष्ठा दिन-ब-दिन उज्जयिनी में बढ़ती जाती है। तक्षशिला विश्वविद्यालय में 'ऋतुसंहार' को शामिल कर लिया जाता है। राजदरबार की ओर से कालिदास को विदेश यात्रा में भेजा जाता है, जिसकी अवधि पाँच साल की है। विद्याभास्कर कालिदास से पूछता है कि तुम अपने नंदीग्राम नहीं जाओगे। विश्वभ्रमण की उत्कट आकांक्षा लिए कालिदास नंदीग्राम मुग्धा से भी मिलने नहीं जाना चाहता, क्योंकि उसे पता है कि जाएगा तो वापस नहीं आ पाएगा। मातुल उज्जयिनी पहुँचते हैं। कालिदास को वापस मुग्धा के पास चलने को कहते हैं, पर वह मना कर देता है और कहता है कि मैं वापस लौटूँगा।

प्रियंगु विवाह-प्रस्ताव, जो अजातशत्रु से तय हुआ, उसे अस्वीकार कर देती है। माँ के पूछे जाने पर कि तुम्हारे हृदय में किसकी आकांक्षा है, तुम मुझे केवल एक नाम बता दो। माता की इस बात को सुनकर प्रियंगु मन ही मन कालिदास का स्मरण करती है, लेकिन हृदय में उमड़ रही भावनाओं को शब्द नहीं दे पाती।

प्रियंगु का कालिदास की प्रतीक्षा करना, मुग्धा के हृदय में कालिदास के प्रति अंतर्द्वंद्व, 'मेघदूतम्' की रिकार्डतोड़ प्रतियों का बिकना कालिदास को एक नई ऊँचाई की ओर ले जा रहा था।

उधर राजदरबार में राजकवि का वर्षों से खाली पड़ा पद अब भरने की तैयारी हो रही है। सभा में बैठे नवरत्नों द्वारा निर्णय लिया जाता है–'नए राजकवि की नियुक्ति अश्वमेध समारोह की रजत जयंती पर होगी' अभी यह निर्णय गुप्त रखा जाएगा। जनमानस में कालिदास के स्थान को देखते हुए उसी मंगल अवसर पर अचानक आश्चर्योत्पादक उद्घोषणा अलंकरण और पटबंध समारोह किया जाए।'[7]

प्रियंगुमंजरी की स्वयंवर की घोषणा की जाती है, किंतु कालिदास को अपने मन में सँजोये हुए प्रियंगु, स्वयंवर के प्रति विद्रोह कर देती है। प्रियंगु की सखी चित्रागंदा उसे समझाती है कि स्वयंवर में किसी को वरमाला पहनाना ही मत, स्वयंवर अपने आप असफल हो जाएगा। विश्वभ्रमण के पश्चात् कालिदास का उज्जयिनी में आगमन होता है। कालिदास को पता चलता है कि प्रियंगु के स्वयंवर का आयोजन हो रहा है। कालिदास की भेंट नंदीग्राम के मित्र कीर्तिभट्ट से होती है, मुग्धा के विषय में पूछता है और कहता है कि उसे क्यों नहीं ले आए और बोलता है एक सप्ताह बाद जाऊँगा और जीवन-सहचरी के रूप में ले आऊँगा। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि 'वह मुग्धा ही है, जो मेरे जीवन में शक्ति-स्तंभ बन सकती है।'[8]

विवश होकर प्रियंगुमंजरी स्वयंवर में युवराज प्रचंडबल का वरण करने को सोचती है, सखी चित्रांगदा के पूछने पर कि क्या इस निर्णय से सुखी रहोगी तो प्रियंगु कहती है–'इस संसार में सुख पाने का प्रयास वैसा ही है, जैसे पद्मपंखुरी की धार से शमी का वृक्ष काटना।'[9]

प्रियंगुमंजरी के स्वयंवर में कालिदास को भी निमंत्रण मिलता है, प्रियंगु जब वरमाला लिए हुए युवराज प्रचंडबल को खोजती हुई आगे बढ़ती है, तो वहीं खड़े कालिदास पर उसकी

दृष्टि पड़ती है, जब तक वह कुछ सोचती वरमाला कालिदास के गले में पड़ चुकी थी।

कालिदास स्वयं इस घटना से अचंभित हो जाता है। नंदीग्राम में यह खबर पहुँचती है। मुग्धा को पता चलता है तो उसका हृदय टूट जाता है। अविश्वास और ठेस के भाव उसके हृदय में जागरित होते हैं। प्रियंगुमंजरी को बाद में पता चलता है कि कालिदास का गंधर्व विवाह पहले ही हो चुका है तो वह मुग्धा से मिलने नंदीग्राम आ जाती है। मुग्धा को समझाने का असफल प्रयत्न करती है। मातुल कालिदास को डाँटता है और मुग्धा से विवाह करने को कहता है। मुग्धा कालिदास को फटकार लगाती है–

'यदि मैं तुम्हे स्वीकार कर लूँ तो।' मुग्धा ने पूछा।

'तुम्हारा निर्णय मान्य होगा।' तत्काल उत्तर मिला।

'राजकन्या का क्या बनेगा?'

'किसी अगम्य स्थल पर अज्ञातवास करेंगी या छद्मवेष में दीर्घ यात्राएँ। अपने संसार में पूरी स्वयं को काट लेने के लिए विदेश में भी कहीं बस सकती है।'

'तुम्हें कैसा लगेगा?'

'अत्यंत संतप्त हो जाऊँगा।'[10]

कालिदास के हृदय में प्रियंगुमंजरी का स्नेह देखकर मुग्धा के मस्तिष्क में द्वंद्व चलता रहता है। अंततोगत्वा मुग्धा का दैवीय प्रेम त्याग की प्रतिमूर्ति बनकर सामने आता है। कालिदास को मुक्त करती है और प्रियंगु के साथ उज्जयिनी लौट जाने को कहती है। अपनी यही नियति स्वीकार करती है।

कालिदास उज्जयिनी वापस आने के बाद 'कविकुलगुरु के साथ राजकवि के पद पर भी आसीन हो गए। मुग्धा को लेकर कालिदास स्वयं को अपराध-बोध से ग्रसित पाता है, किंतु मुग्धा जब सुकांत से विवाह कर लेती है तो अपराध-बोध कम होने लगता है। 'शाकुंतलम्' की रचना कर कालिदास हिमालय में कुटीर बना के रहने लगता है। ललितेश्वर कालिदास के पास आकर सूचना देता है कि 'कालिदास नाट्य संस्कृत, नाट्य-रचना का अप्रतिम कीर्तिमान बन चुका है और शकुंतला के चरित्र पर सारा संसार मंत्रमुग्ध है।'[11]

निष्कर्षस्वरूप इस उपन्यास के विषय में कहा जा सकता है कि सुरेंद्र वर्मा ने जिस गुप्त साम्राज्य की कथावस्तु को आधुनिक संदर्भ में अपनी लेखन-शैली के माध्यम से गढ़ा है, उसे देखकर तो यही लगता है कि हमारे आस-पास की घटित घटना हो। प्राचीन कथा को आधुनिकता का जो कलेवर दिया है, वह बेजोड़ है। कालिदास एक संघर्षशील आधुनिक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। मुग्धा ऐसी स्त्री का प्रतीक बनकर उभरी है, जिसका दैवीय प्रेम अपने प्रेमी को उत्कर्ष तक पहुँचाने में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। वह अपनी ईमानदारी दिखाकर भी बेईमानी का शिकार हो जाती है। भरी सभा में सबके समक्ष एक राजकन्या साधारण व्यक्ति कालिदास को वरमाला डालकर पति के रूप में ग्रहण करती है। ऐसी स्वच्छंदता तो सुरेंद्र वर्मा के उपन्यास में ही देखी जा सकती है। इनकी लेखन-शैली की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है।

'चीजों को समग्रता में देखने का विस्तार, एक प्रत्याशित गुण है। इस प्रत्याशित महाकायता को सुरेंद्र वर्मा की अप्रत्याशित लेखनी बौना साबित करती है। इसे यों समझें कि उनकी लेखनी

के सामने इस उपन्यास की महाकायता कपूर की टिकिया सरीखी जान पड़ती है।'[12]

लेखक ने कालिदास के नंदीग्राम से लेकर उज्जयिनी तक के सफर को या यों कहें कि ग्रामीण कवि से राजकवि और राजकवि से संपूर्ण आर्यावर्त के कवि के रूप में स्थापित कर, कालिदास के जीवन-संघर्ष को बड़ी कुशलतापूर्वक चित्रित किया है।

प्रियंगुमंजरी एक आधुनिक नारी का प्रतीक है, जो अपने अधिकारों के लिए लड़ना जानती है, चाहे परिवार से हो या समाज से, विद्रोह करती दिखाई देती है। सुरेंद्र वर्मा का यह उपन्यास व्यास सम्मान से पुरस्कृत है। इस उपन्यास की कथा वृहत् है, जो पाठकों को सहसा अपनी ओर आकर्षित करती है। इनके प्रत्येक उपन्यास आधुनिकता बोध से प्रभावित है आधुनिक समस्या को अपने उपन्यास में स्थान देते हैं।

राहुलसिंह जी लिखते हैं–'कहना न होगा कि सुरेंद्र वर्मा की हार्दिकता का संस्पर्श कालिदास को प्रचुर मात्रा में मिला है और हर उस व्यक्ति को जिसने जीवन में कभी कोई सपना देखा हो, देखता हो, देख सकता हो, तो उसे यह किताब पढ़नी चाहिए।'[13]

इस उपन्यास में नाटकीयता का स्वरूप भी देखने को मिलता है, जिसके कारण कहीं-कहीं भाषा बहुत जटिल हो गई है साधारण पाठक के लिए समझना कठिन हो जाता है। पुष्पपाल सिंह जी कहते हैं कि 'वस्तुतः कवि सुरेंद्र वर्मा विरचित' यह रम्य आख्यान अद्‌भुत बन पड़ा है। किंतु अपनी समस्त विशिष्टताओं, उपलब्धियों के बावजूद यह आख्यान विशिष्ट जन का ही बना रहता है, सामान्य पाठक का नहीं, यह उपन्यास की न्यूनता नहीं, उसका आभिजात्य है। अपने इसी गुण के कारण इसका हिंदी उपन्यास-साहित्य में विशिष्ट स्थान बना रहेगा।'[14]

संदर्भ

1. उपन्यास का वर्तमान, संपादक ओमप्रकाश सिंह शीतांशु, पृ॰ 395
2. काटना शमी वृक्ष का पद्‌मपंखुरी की धार से, सुरेंद्र वर्मा, पृ॰ 31
3. वही, पृ॰ 47
4. वही, पृ॰ 116
5. वही, पृ॰ 248
6. वही, पृ॰ 349-50
7. वही, पृ॰ 442
8. वही, पृ॰ 458
9. वही, पृ॰ 469
10. वही, पृ॰ 517
11. वही, पृ॰ 529
12. उपन्यास का वर्तमान, पृ॰ 395
13. वही, पृ॰ 402
14. बीसवीं शती का उपन्यास, पुष्पपालसिंह, पृ॰ 351

mukesh.umari85@gmail.com

Mob. 6394106361

आदिवासी की अवधारणा और जातीय स्वरूप

डॉ॰ मुन्ना शाह
सहायक प्रोफेसर
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय, (एनसीवेब)
(दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली

आदिवासी की चिंता जल, जंगल, जमीन, भाषा, साहित्य और संस्कृति की है, जो आदिवासी अस्मिता के लिए आवश्यक है। आदिवासी को सहज ही असभ्य और बर्बर समझ लिया जाता है। उसकी सभ्यता और संस्कृति को न तो समझने की कोशिश की जाती है और न ही उसके साथ सहृदयता के साथ व्यवहार किया जाता है। बाहरी स्वरूप और आवरण के आधार पर परिभाषा गढ़ दी जाती है, जो यथार्थ से बिल्कुल दूर की बात होती है। 'आदिवासी देश के मूल निवासी माने जानेवाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के इतिहास का द्योतक है।'[1] आदिवासी से तात्पर्य मूलत: मूलनिवासी से है, जिसे जनजाति के रूप में विद्वानों ने व्याख्यायित किया है–फ्रेंज बोआॅस के शब्दों में कहें तो 'जनजाति का अर्थ आर्थिक दृष्टि से ऐसा स्वतंत्र समूह है, जो एक भाषा बोलता है और बाह्य आक्रमण से सुरक्षा के लिए संगठित होता है।'[2] इससे मिलती हुई बात जार्ज पीटर मर्डाक ने कही है कि 'यह एक सामाजिक समूह होता है, जिसकी एक अलग भाषा होती है तथा भिन्न संस्कृति व एक स्वतंत्र राजनीतिक संगठन होता है।'[3] इसी प्रकार अनेक विद्वानों ने कुछ अंतर के साथ अपनी अभिव्यक्ति दी है। जो प्रारंभिक दौर में यथार्थ प्रतीत होता था, किंतु वर्तमान संदर्भ काफी परिवर्तित है।' संघर्ष और संरचना की अपनी सामुदायिक अवधारणा और सोच के तहत आदिवासी समाज ने वर्षों से 'मावा नाटे मावा राज' यानी हमारे गाँव में हमारे राज के जीवंत नारों के साथ, आँखों में अतीत के पुराने सपनों की नई चमक लिए बदलाव और परिवर्तन की नई दिशा तलाशने के रास्तों में भारी तूफान खड़ा किया है।'[4] उसी का परिणाम है कि स्वतंत्र और निर्भीक जीवन व्यतीत करने के लिए आज भी आदिवासी समाज अग्रसर है।

आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही अनेक बिंब सहज ही बनने लगते हैं। प्रत्येक सदी से छला-सताया, और सोची-समझी साजिश के तहत वन-जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा मनुष्य। वह मनुष्य जो अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्र वर्षों से घने जंगलों में रहनेवाला मनुष्य है, जो एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को जान की कीमत पर सँजोए, प्रकृतिनिष्ठ, प्रकृति-निर्भर, कमर पर बित्ते भर चिंदी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, लक्ष्य की खोज में शिकारी बना, मारा-मारा भटक रहा है। कभी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव से इतराने वाला यह कर्तव्यशील मनुष्य, परंतु वर्तमान में लाचार, अन्यायग्रस्त

 ISSN 0975-735X

तथा पशुवत् जीवन-यापन करनेवाला मनुष्य वेदना से भरा हुआ है। सूर्यास्त के साथ-साथ गिरिकुहरों में उसकी हलचल बंद हो जाती है। सूर्योदय के साथ-साथ भोजन की खोज में वन की सँकरी, कँटीली पगडंडियों पर उसके नंगे पैर चलने लगते हैं। जंगल में भोजन के लिए घूम-घूमकर थके उसके पैर, चिलचिलाती धूप में तपी उसकी पीठ, यदि भोजन मिल भी जाए तो कंधे पर शिकार का बोझ यही है आधुनिक भारत में आदिवासी का करुणापूर्ण दृश्य! दिनभर भटकने के बाद आई थकान को दूर करने के लिए थोड़ी-सी रोशनी में मस्त महफिल लगाई जाती है। उस संगीत-महफिल में आदिवासी स्त्री-पुरुष, बच्चे, युवक-युवतियाँ तथा बड़े-बूढ़े सामूहिक रूप से नृत्य करते हैं, गाते हैं और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को सँजोये रखते हैं। ये मूल्य ही उनके सामूहिक जीवन की विशेषताएँ हैं। उनकी सांस्कृतिक समूह-चेतना ही, उनके समूह-जीवन की आधारशिला है।[5] इस विकासमान मानव के प्रति लोगों में विभिन्न धारणाएँ बनी हुई हैं–'अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार कि लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना समीचीन समझते हैं। आजकल 'आदिपुत्र' जैसे नामों का प्रयोग भी उनके लिए किया जा रहा है। जंगल के 'अनाभिषिक्त राजा' के रूप में भी उनका उल्लेख किया जाता है।'[6] युगों से आदिवासी समाज को किसी पराए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक नियमों के तहत बँधने का कोई भी प्रयास पसंद नहीं था। आदिवासी समाज को जो कुछ भी प्राप्त था, वह सब-कुछ प्रकृति द्वारा प्रदत्त था। इसी प्राकृतिक विचारधारा से ओतप्रोत वह भूमि, खेत-खलिहान, जल, जंगल, नदी, पहाड़, जीवन जीने की स्वतंत्रता आदि को प्रकृति का दिया हुआ मानता रहा है और कोई राजा, साम्राज्य अथवा किसी शासकीय सत्ता को कभी भी इसका मालिक नहीं माना। आज 'आदिवासी लोग ऐतिहासिक रूप से विकसित और जैविक रूप से स्वत: आगे बढ़ने वाली इकाइयाँ हैं, जो कुछ खास सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा लक्षित होती हैं और जो मुख्यधारा के समाज और उसकी संस्थाओं द्वारा कई तरह से दबाई जाती हैं, और जो लंबे समय से अपनी विशिष्टताओं और अस्तित्व के लिए बुनियादी सीमाई संसाधनों के संरक्षण व उनकी बढ़ोतरी के संघर्ष में लगे रहे हैं। इस मायने में वे कारगरता और चरित्र, दोनों ही अर्थों में देशज लोगों के समान हैं। इसलिए अगर हम आज देशज और आदिवासी पदों का पर्याय के रूप में प्रयोग करें तो कोई खास मुश्किल नजर नहीं आती। हाँ, दोनों पदों के इस्तेमाल का ऐतिहासिक संदर्भ हमेशा याद रखना होगा। हमें याद रखना होगा कि 'आदिवासी' भारतीय भूमि पर निवास कर रहे देश के मूल निवासियों या आदि निवासियों के वंशजों के रूप में मान्य तमाम लोगों/समुदायों के लिए इस्तेमाल होने वाला एक व्यापक पद है।'[7] आदिवासी का अर्थ समाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूह है, जिसकी स्वायत्तशासी व्यवस्था होती है। स्वतंत्र एवं सौहार्द्रपूर्ण जीवन व्यतीत करने की चेतना प्रकृति-प्रदत्त शाद्वल कुंजों से प्राप्त करनेवाला तथा विभिन्न जीवों के साथ आत्मीयता और संसर्ग स्थापित करने वाला विकासमान मानव है।

जातीय स्वरूप

भारत जैसे बड़े देश में अनेक आदिवासी जातियाँ निवास करती हैं, लेकिन सबकी पहचान एक जैसी नहीं है। भौगोलिक भिन्नता के कारण आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक

तथा भाषाई विशिष्टताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारतीय आदिवासी जातियों को कई भागों में विभाजित किया गया है। भौगोलिक वितरण को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम बी॰एस॰ गुहा (1951) ने आदिवासियों को तीन जनजातीय क्षेत्रों में विभक्त किया है–

1. **उत्तर एवं उत्तर पश्चिम क्षेत्र :** इस क्षेत्र के पश्चिम की ओर शिमला व लेह हैं, पूर्व की ओर लुशाई पर्वत और मिश्मी मार्ग है। इस क्षेत्र में जनजाति समुदाय पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश, असम तथा सिक्किम में पाए जाते हैं। इस क्षेत्र की मुख्य जनजातियाँ राँभा, खासी, अका, डफला, मिरी, अपातानी, नागा, कुकी, लुसाई, लेपचा, गारो, गैलोंग, जौनसारी, लरवरी, कर्णफूली, थारु, व लांबा हैं।

2. **मध्यवर्ती क्षेत्र :** इस क्षेत्र के अंतर्गत बिहार, बंगाल, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, उत्तरी महाराष्ट्र एवं उड़ीसा आते हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ–संथाल, उराँव, हो, गोंड, खोंड, थारू, लोहार, बेड़िया, खैरवार, गोराइत, चेरो, कोरा, कोरवा, मुंडा, भूमिज, लाधा, कोरा, बैगा, भील, मीना, दामर आदि हैं।

3. **दक्षिणी क्षेत्र :** इस क्षेत्र के मुख्य जनजातीय प्रदेश हैदराबाद, मैसूर, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और कोचीन है। अनेक जनजातियाँ अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह में निवास करती हैं। इन क्षेत्रों की प्रमुख जनजातियाँ चेंचू, इरुला, बनियन, कादर, टोडा, कोटा तथा पुलयन आदि हैं।[8]

डी॰एन॰ मजूमदार ने भौगोलिक आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण बी॰एस॰ गुहा के ही वितरण आधार को स्वीकार करते हुए आदिवासी जातियों को तीन भागों में विभाजित किया है। श्यामाचरण दुबे (1960) ने आदिवासी प्रधान क्षेत्रों को चार भागों में बाँटा है–

1. **उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र :** उत्तर में शिमला, लेह, लुशाई की पहाड़ियाँ तथा पिरमी का प्रदेश आता है। कश्मीर का पूर्वी भाग, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, असम तथा सिक्किम भी इसी भाग में आते हैं। इस प्रदेश की उल्लेखनीय जनजातियाँ लेपचा, डफला, पिरमी, गारो, खासी, नागा, कुकी, अबोर, चकमा, गुरुंग आदि हैं। ये जनजातियाँ सीमांत प्रदेश में बसी होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। लेपचा जनजाति सिक्किम और सीमावर्ती भारतीय क्षेत्रों में पाई जाती है। इस क्षेत्र की अनेक जनजातियाँ अपनी विशेषता बनाए हुए हैं। जैसे भोटिया आदिवासी प्रसिद्ध व्यापारी होने के साथ-साथ हस्तकला में भी अत्यंत निपुण हैं। थारू जनजाति में स्त्रियों में जादू की कुशलता सर्वविदित है। नागा जनजाति ने भारतीय राजनीति में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। ये अपनी वीरता तथा युद्ध-कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। मणिपुर, त्रिपुरा और चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश से लेकर बर्मा की अराकान पहाड़ियों तक कुकी, लुशाई, लाखेर और विन आदि जनजातियाँ रहती हैं। ये जनजातीय समूह तिब्बती तथा चीनी भाषा बोलते हैं। कुछ प्राचीन जनजातियाँ सिक्किम और दार्जिलिंग के उत्तरी भागों में रहती हैं, जिनमें लेपचा तथा गलौंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में निवास करनेवाली गारो तथा खासी जनजातियों में मातृसत्तात्मक परिवारों का प्रचलन है। देश के इस भू-भाग में रहने वाले समूह सीढ़ीनुमा खेतों पर कृषि-कार्य करते हैं। कुछ समूह छोटे करघों पर बुनाई-कला में भी निपुण होते हैं।

2. **पश्चिमी तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र :** इस क्षेत्र में पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा गुजरात की जनजातियाँ आती हैं। राजस्थान की जनजातियों में भील, गरासिया, मीना तथा बंजारे

 ISSN 0975-735X

प्रमुख हैं तथा गुजरात में महादेव कोली, कटकरी, वर्ली तथा डबला प्रमुख जनजातियाँ हैं।

3. **मध्यवर्ती क्षेत्र :** इस क्षेत्र में देश की सर्वाधिक जनजातीय संख्या निवास करती है। इसमें बिहार के संथाल, मुंडा, उराँव, बिरहोर, गोंड, उड़ीसा के बोंदो, खोंड, सोरा तथा ज्वांग, मध्यप्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, भूमिया आदि आते हैं। मध्यप्रदेश के गोंड सागर तथा बस्तर जिले के अधिकांश भाग में निवास करते हैं। छत्तीसगढ़ के कमार, रीवा के बैगा, मंडला के भूमिया और महादेव पहाड़ी के कोरकू भी इसी क्षेत्र में पाए जाते हैं।

4. **दक्षिणी क्षेत्र :** इस क्षेत्र में मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा केरल की जनजातियाँ सम्मिलित की जाती हैं। इस प्रदेश में पाए जानेवाले जनजातीय समूहों में नीलगिरी के टोडा, वायनाड के बनियन तथा कादर, हैदराबाद के चेंचू एवं कुरोवन हैं। इसके अतिरिक्त चेट्टी, इरुला, कुरिचमा, कुरुंबा तथा केनी जनजातियाँ भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[9]

अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूहों में अनेक जनजातीय समूह पाए जाते हैं। उनमें अंडमानी, ओंग, जारवा, सेंटेनेली अंडमान द्वीप-समूह में पाए जाते हैं। 'अंडमानी' मुख्य रूप से स्टेट आइलैंड में, 'ओंग' ड्यूगोंग क्रीक तथा छोटे अंडमान की दक्षिणी खाड़ी के द्वीपों में, 'जारवा' दक्षिण एवं मध्य अंडमान के पश्चिमी तटीय भाग में तथा 'सेंटेनेली' आदिवासी उत्तरी सेंटेनेल द्वीप में पाए जाते हैं। ये सभी चारों जनजातियाँ निग्रिटा प्रजाति की हैं। निकोबार द्वीप समूह की दोनों जनजातियाँ अर्थात् शोमपेन एवं निकोबारी 'मंगोल' प्रजाति की हैं। इनमें से 'शोमपेन' बड़े निकोबार द्वीप में और 'निकोबारी' निकोबार-द्वीप समूह के शेष द्वीपों में बिखरे हुए हैं। सभ्य दुनिया के प्रतिमानों की दृष्टि से 'निकोबारी' जनजाति सर्वाधिक विकसित है, जो स्थायी बाशिंदों के रूप में रह रही है, जबकि शेष पाँचों जनजातियाँ अभी भी आखेटावस्था में समूहों में घुमक्कड़ी जीवन-शैली अपनाए हुए हैं।[10] इस प्रकार संपूर्ण भारत में फैली जनजातियों के विश्लेषण का एक आधार भौगोलिक भी माना जाता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ अपनी विशिष्ट जलवायु तथा प्राकृतिक स्रोतों के परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में रहनेवाले जनजातीय समुदायों की संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा तथा आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करती हैं।

बहुत-सी आदिवासी जातियाँ हैं, जो खानाबदोशी जीवन व्यतीत कर रही हैं। ये भोजन की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर निरंतर घुमंतू का स्वरूप धारण की हुई नजर आती हैं। घुमंतू जातियों में 'बावड़िया' अथवा 'बौड़ी', जो विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा राजस्थान में हैं। ये लोग पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा आंध्रप्रदेश में भी पाए जाते हैं। 'अहेरिया', जो राजस्थान तथा दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में निवास करते हैं। ये चटाइयाँ बनाने का काम करते हैं। 'बहेलिया' आदिवासी प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं। बिहार में इन्हें 'मूला' जनजाति के नाम से जाना जाता है। पक्षी पकड़ना तथा उन्हें बेचना इनका प्रमुख व्यवसाय है। 'सहरिया' बुंदेलखंड तथा उसके आसपास के क्षेत्रों की जनजाति है। 'लोढा' और 'तुरी' पश्चिम बंगाल तथा बिहार में पाई जानेवाली जनजातियाँ हैं।[11] 'रजवार' तथा 'मुसहर' बिहार में कृषि-कार्य में श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं। 'भार' पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में रहते हैं तथा ये हिंदूकृत हो चुके हैं। 'बगदी' और 'बेदिया' मध्यप्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की घुमंतू

जनजाति है। 'परधी' आदिवासी लोग महाराष्ट्र के खानदेश क्षेत्र में निवास करते हैं। मध्यप्रदेश में भी हैं और कई जातियों में विभक्त हैं–'टकिया परधी', 'लंगोली परधी' तथा 'शिकारी परधी' आदि।[12] 'माँग गरुड़ी' दक्षिण भारत के कर्नाटक में रहते हैं। 'केकड़ी' दक्षिण भारत की घुमंतू जनजाति है।

कुछ पेशेवर घुमंतू जनजातियाँ हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में विशेष रूप से रहती हैं–'भगत' कश्मीर, 'बहुरूपिया' पंजाब[13], 'गोंडहाली' महाराष्ट्र, 'बंजारा' तथा 'ढोली' राजस्थान, 'तुरहिया' उत्तर प्रदेश, 'नट' तथा 'बाजीगर' पंजाब, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश व बिहार, 'सांसी' बंगाल, 'मिरासी' पंजाब, 'कंजर' राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश, 'थोड़ी' गुजरात, 'बरगुडा' मध्य भारत की जनजाति है।[14]

अनेक घुमंतू जनजातियों का जीवन बहुत ही निम्नस्तर का है। विमुक्त घुमंतू और अर्ध घुमंतू जनजातियों के मामले में कई तरह की बाधाएँ हैं। उनकी जनसंख्या कितनी है, इसके प्रामाणिक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। खानाबदोशी जिंदगी बिताने के कारण साक्षरता के मामले में ये बेहद पिछड़े हुए हैं। इनकी सामाजिक व आर्थिक दशा पर व्यापक अध्ययन की जरूरत है। विभिन्न दृष्टियों से आदिवासी जातियों का अध्ययन किया गया है। डी॰एन॰ मजूमदार, बी॰एस॰ गुहा तथा श्यामाचण दुबे के द्वारा किए गए भौगोलिक दृष्टि के अंतर्गत विभाजित जातियों में 'कँवर' तथा 'पांडो' आदिवासी का नाम नहीं आता है। ये दोनों आदिवासी जातियाँ ऐतिहासिक संदर्भ प्रकट करती हैं। 'कंवर' आदिवासी 'महानदी के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करनेवाली यह जनजाति अपनी उत्पत्ति महाभारत के कौरव वंश से मानती है।'[15] 'कंवर' जनजाति के लोग मुख्यत: छत्तीसगढ़ी सोनघाटी और उसके पड़ोस (उत्तरी बिलासपुर जिले का पठारी भाग) तथा सरगुजा जिले की सोनघाटी तथा उसके पड़ोस में बसे हैं, इसलिए इस क्षेत्र को कभी-कभी कंवरान भी कहा जाता है। कँवरान के अनेक पहाड़ी राज्यों के जमींदार इस जनजाति के रहे हैं। बिलासपुर की अनेक जमींदारियाँ इनके अधीन रही है, जिनमें छुरी, भूतीडीह और गुंडरदेही की जमींदारी उल्लेखनीय है।[16]

'पांडो' आदिवासी की जनसंख्या का अधिकतम भाग मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में रहता है।[17] ये जनजाति महाभारत के पांडव राजाओं का वंशज होने का दावा करती है। पांडो जनजाति पांडव राजाओं के जीवन के उस भाग को ही महत्त्व देती है, जो उन्होंने चौदह वर्ष वनवास में बिताया। ये पांडवों को जंगली एवं पहाड़ी जाति के रूप में अपना पूर्वज मानते हैं। इनका कहना है कि ये लोग भी महाभारत के पांडवों की परंपराओं का ही अनुसरण कर जीविका अर्जन करते हैं।[18]

आदिवासी बहुल क्षेत्र झारखंड में आदिवासियों को जनजाति और आदिम जनजाति दो खेमों में बाँटा गया है। झारखंड में 'असुर', 'बिरहोर', 'बिरिजिया', 'कोरबा', 'माल पहाड़िया', 'सौरिया पहाड़िया' और 'सावर' को आदिम जनजातियों की श्रेणी में रखा गया है। आदिम जनजातियाँ पूरी तरह कृषि और जंगल पर निर्भर रही हैं, परंतु आज कारखानों व खनन के लिए जंगल काटे जा रहे हैं। परिणामत: आदिम जनजातियाँ जंगल से बाहर हो रही हैं तथा मुख्यधारा के समाज से तालमेल नहीं बिठा पा रही हैं।[19] आदिवासी आदिम जातियों की अस्मिता खतरे में

 ISSN 0975-735X

है, क्योंकि संथाल परगना कमिशनरी में छह जिले हैं। इस जिले से अबतक तीन मुख्यमंत्री बन चुके हैं–शिबू सोरेन, बाबूलाल मरांडी और हेमंत सोरे। इसके बावजूद इन जिलों में आदिम जनजातियाँ हाशिये पर हैं। सरकारी विकास और योजनाओं का लाभ मुख्यधारा से जुड़ चुकी कुछ जनजातियाँ मसलन 'मुंडा', 'उराँव' और 'होरो' वगैरह ही उठा पाती हैं।[20]

पूर्वोत्तर राज्यों की यदि बात करें तो कई जनजातियाँ ऐसी हैं, जिन्हें सरकार की ओर से अनुसूचित जनजातियों में नहीं रखा गया है, इनमें 'मोरान', 'मटक', 'ताई', 'अहोम', 'चाय जनजाति' आदि आती हैं। त्रिपुरा की बड़ी जनजातियों में त्रिपुरी, जयंतिया, रियांग, नाअतिया, कोलोई, मुरासिंह, चकमा, हलाम, गारो, कूकी, मिजो, मोघ, मुंडा, ओरांग, संथाल, और उचोई प्रमुख हैं। अरुणाचल प्रदेश में मोंपा, खाम्ती, आदी, अका, आपातानी, निशि, मिसमी, मिजी, नोक्टे जनजातियाँ निवास करती हैं। नागालैंड की प्रमुख जनजातियाँ–अंगामी, आओ, चाखेसांग, चांग, डिमासा, कछारी, खियामनीउंगम, कोन्याक, लौथा, फोम, पोचुरी, रेंग्मा, सांग्तम, सूमी, कूकी और जिलियांग बड़ी जनजातियाँ हैं। मणिपुर की लुसाई-कूकी, खामती, आका, नागा, मिजो, मणिपुरी, बोडो, कार्बी, मिसिंग, खासी, अहोम, बोडो कछारी, मिरी और देउरी प्रमुख जनजातियाँ हैं। गारो, खासी, जयंतिया मेघालय की प्रमुख जनजातियाँ हैं। मिजोरम में मिजो, लुसेई, गान्ते, पावी, लाखेर, मारा, रियांग और चकमा आदि जनजातियाँ निवास करती हैं तथा सिक्किम में लेपचा, लिंबू।[21]

पूर्वोत्तर क्षेत्र के आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या उसकी भौगोलिक स्थिति तथा शिक्षा के नाम पर बड़े शहरों में पलायन है। ये जनजातियाँ अपने पारंपरिक मूल्यों को प्रवास के दौरान भी सँजोने की पुरजोर कोशिश करती हैं तथा अपनी भाषा को किसी कीमत पर खोने नहीं देतीं। इन्हें सभ्य समाज उपेक्षित दृष्टि से देखता है, फिर भी ये अपनी अस्मिता के लिए छोटे से लेकर बड़े शहरों में संघर्षरत डटे हुए हैं।

भारत की सर्वाधिक जनसंख्या वाली जनजाति गोंड है। मध्यप्रदेश में ये स्थानीय छत्तीसगढ़ी बोली और गोंडी भाषा बोलते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में खड़ीबोली व भोजपुरी बोलते हैं। जबकि दक्षिण में तेलुगु बोलते हैं, जिन्हें कोया नाम से जाना जाता है। भवानीप्रसाद मिश्र अपनी कविता–'सतपुड़ा के जंगल' में गोंड आदिवासियों के संदर्भ में कहते हैं, 'इन वनों के खूब भीतर/चार मुर्गे, चार तीतर/पालकर निश्चिंत बैठे/विजन पन के बीच पैठे/झोंपड़ी पर फूस डाले/गोंड तगड़े और काले/जबकि होली पास आती/सरसराती घास गाती और महुए से लपकती/मत करती बास जाती/गूँज उठते ढोल इनके/गीत इनके गोल इनके/सतपुड़ा के घने जंगल/ऊँघते अनमने जंगल।'[22] मिश्र ने इन पंक्तियों में गोंड जनजाति के सामाजिक, सांस्कृतिक दृश्य का चित्रण कर उनके जातीय स्वरूप का जीवंत रूप प्रकट किया है। स्टीफन फ्यूच, वैरियर एल्विन, हट्टन तथा ग्रियर्सन आदि लेखकों ने गोंडों के बारे में पर्याप्त लिखा है, लेकिन इनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति में पहले की तुलना में ह्रास ही हुआ है। इस व्यापक आदिवासी समुदाय की अस्मिता की रक्षा उनकी प्राकृतिक संपदा तथा हरे-भरे वातावरण से पृथक् करके नहीं बल्कि उन्हें सपुर्द करके किया जा सकता है।

राजस्थान की प्रमुख जनजातियाँ बंजारा, गरासिया, दामोर, सहरिया, भील और मीणा हैं।

इनमें मीणा जनजाति की संख्या 'राज्य की कुल आदिवासी जनसंख्या का लगभग आधा है। इन्हें मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है–1. प्रथम क्षेत्र में वे लोग आते हैं जो कि दक्षिण-पूर्वी हिस्से में रहते हैं, जिसमें चित्तौड़गढ़, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा व उदयपुर आते हैं। 2. दूसरे क्षेत्र में वे लोग आते हैं जो भरतपुर, जयपुर तथा सवाईमाधोपुर जिलों में निवास करते हैं। आर्थिक दृष्टि से ये लोग अन्य जनजातियों कि अपेक्षा ऊँची स्थिति में हैं। ये लोग सभ्य जातियों के सर्वाधिक निकट संपर्क में आ गए हैं। इन्होंने हिंदुओं के रीति-रिवाज, प्रथा आदि को अपना लिया है।'[23] मुख्यधारा से जुड़े होने के नाते मीणा जनजाति आदिवासी अस्मिता के लिए कृतसंकल्प दिखाई देती है। यदि भारतीय संदर्भ में आदिवासी जातियों को देखें तो पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण सीमा तक आदिवासी समुदाय अनेक जातियों में बँटा हुआ है लेकिन आदिवासी का जातीय स्वरूप व्यापक होते हुए भी इनका केंद्रीय भाव प्राकृतिक उद्यमों से जुड़ा है।

आदिवासी अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी की अवधारणा पर हमें कायदे से आलोचनात्मक ढंग से विचार करना चाहिए। एक विकासमान मानव को जंगली, वनवासी, असभ्य, बर्बर, गिरिजन, लंगोटिया आदि नामों से संबोधित कर उन्हें समझ लेना कितना सार्थक है, इस बात की भी पुष्टि होनी चाहिए। इल्विन महोदय ने आदिवासी को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'आदिवासी वह है, जो सबसे शुद्ध हो। वह ऐसा ग्रुप है, जो मैदानी इलाकों में रहनेवालों के संपर्क में हो और आदिवासी जीवनशैली में रहता हो।'[24] विभिन्न विद्वानों ने आदिवासी के संदर्भ में अलग-अलग मत प्रकट किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि आदिवासी भारतवर्ष के मूल निवासी हैं, इसलिए किसी अन्य शब्दों के बजाय इनके लिए 'आदिवासी' उपयुक्त शब्द है। हर आदिवासी समुदाय की अपनी भाषा, संस्कृति तथा स्वतंत्र सुरक्षात्मक संगठन होता है। बहुतायत संख्या में आदिवासी जातियाँ हैं, लेकिन अधिकांशत: आधुनिक विकास, शिक्षा, संस्थान, नौकरी और सरकारी लाभ से वंचित हैं। कुछ जातियों को आदिवासी की सूची में भी नहीं रखा गया है। कुछ आदिवासी जातियाँ हिंदू समाज के संपर्क में आने के कारण हिंदूधर्म, संस्कृति को अपना चुके हैं। गैर आदिवासी समाज का शोषणात्मक प्रभाव आदिवासियों की निजता और विशिष्टता को तेजी से खत्म कर रहा है। अत: आदिवासी अस्मिता और उसके विकास के लिए आवश्यक है कि वैचारिक शिक्षा की रौशनी प्रत्येक आदिवासी समुदाय तक पहुँचे।

संदर्भ

1. आदिवासी साहित्य विमर्श, सं॰ गंगासहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा॰) लिमिटेड, संस्करण 2014, पृ॰ 19
2. भारत की जनजातीय संस्कृति, विजयशंकर उपाध्याय, विजयप्रकाश शर्मा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, रवींद्रनाथ ठाकुर मार्ग, बाणगंगा, संस्करण 2009, पृ॰ 2
3. वही, पृ॰ 2
4. परिषद् साक्ष्य, धरती का ताप, राघव आलोक, जनवरी-मार्च 2006
5. आदिवासी कौन, संपादक रमणिका गुप्ता, पृ॰ 26
6. वही, पृ॰ 27
7. आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक गंगासहाय मीणा, पृ॰ 25

8. भारत की जनजातीय संस्कृति, विजयशंकर उपाध्याय, विजयप्रकाश शर्मा/गया पाडेय, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 2009, पृ॰ 5-6
9. भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, डॉ॰ हरिश्चंद्र उप्रेती, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण 2007, पृ॰ 13
10. आदिवासी अस्मिता के पड़ताल करते साक्षात्कार, संपादक: रमणिका गुप्ता, स्वराज प्रकाशन, संस्करण 2012, पृ॰ 16
11. भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, डॉ॰ हरिश्चंद्र उप्रेती, पृ॰ 80
12. वही, पृ॰ 81
13. वही, पृ॰ 82
14. वही, पृ॰ 83
15. कँवर जनजाति संस्कृति और संगठन, डॉ॰ मुकुल रंजन गोयल, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 2004, पृ॰ 2
16. वही, पृ॰ 4
17. पांडो जनजाति, डॉ॰ आर॰के॰ सिन्हा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रथ अकादमी, भोपाल, संस्करण 1983, पृ॰ 3
18. वही, पृ॰ 10
19. योजना, प्रधान संपादक राजेशकुमार झा, सं॰ कार्यालय, 538, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली 110001, वर्ष 58, अंक 1, जनवरी 2014, पृ॰ 49
20. वही, पृ॰ 50
21. वही, पृ॰ 52
22. दूसरा सप्तक, संकलनकर्त्ता एवं संपादक अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1970, पृ॰ 8-9
23. भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, डॉ॰ हरिश्चंद्र उप्रेती, पृ॰ 428
24. नया जमाना, आदिवासी अवधारणा की तलाश में, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ॰ 2

मो॰ 8882511167

हिंदू-विवाह के नियम एवं निषेध : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ॰ नीना रंजन

विवाह मानव-समाज की आधारभूत और सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है। विवाह एक संस्था है, जो स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश की अनुमति प्रदान करती है। यह एक स्थायी संबंध है, जो एक स्त्री और पुरुष को सामाजिक तौर पर बच्चों को जन्म देने और अनेक संबंधों को बनाने की अनुमति देता है।

विवाह वह महत्त्वपूर्ण संस्था है, जो न केवल परिवार जैसी व्यवस्था का आधार है, बल्कि संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को एक विशेष रूप देने में भी इसकी भूमिका होती है। विवाह एक सर्वव्यापी संस्था है, पर विभिन्न समाजों में इसका अलग-अलग रूप है। कारण है कि विवाह एक संस्था ही नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक संस्था है। कुछ समाजों में विवाह का स्वरूप धार्मिक होता है, कुछ में विवाह समझौता माना जाता है और अनेक आदिम समूहों में विवाह को एक आर्थिक संस्था के रूप में माना जाता है।

हिंदूधर्म में विवाह सोलह संस्कारों में से एक प्रमुख धार्मिक संस्कार है। हिंदू सामाजिक धार्मिक व्यवस्था में विवाह के तीन उद्देश्य हैं: धर्म, प्रजा तथा रति। यानि विवाह का सबसे प्रथम उद्देश्य धर्म का पालन, दूसरा उद्देश्य प्रजा अर्थात् संतान की प्राप्ति है और तीसरे दर्जे का उद्देश्य विषयभोग है।

हिंदू-विवाह एक अनिवार्य सामाजिक और धार्मिक कार्य है। इसके बिना उन दायित्वों को पूरा नहीं किया जा सकता है, जिन्हें भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग माना जाता है। यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक हिंदू का जीवन अनेक ऋणों से युक्त है। इनमें से देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण प्रमुख हैं। व्यक्ति मोक्ष तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह विभिन्न आश्रमों के दायित्वों को निष्ठा से पूरा करे। इन आश्रमों में गृहस्थ आश्रम का महत्त्व सबसे अधिक है, जिसमें रहकर ही व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना कर सकता है। इस प्रकार हिंदू विवाह का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसे अवसर और अधिकार प्रदान करना है, जिनसे वह विभिन्न ऋणों से उऋण हो सके या भोग के माध्यम से त्याग के लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

वैदिकयुग से ही हिंदू सामाजिक जीवन में यज्ञ का महत्त्व सबसे अधिक रहा है। इस समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए यज्ञ में भाग लेना अनिवार्य था, पर साथ ही यज्ञ का फल तब तक प्राप्त नहीं हो सकता था, जब तक वह कार्य पत्नी के साथ न करे। इस प्रकार विवाह का प्रथम उद्देश्य व्यक्ति को यज्ञ जैसे धार्मिक कार्यों को पूरा करने का अवसर प्रदान करना है। मौलिक रूप से हिंदूधर्म का अभिप्राय जीवन के विभिन्न कर्तव्यों की पूर्ति से ही था। इन कर्त्तव्यों को यज्ञ कहा जाता था।

 ISSN 0975-735X

विवाह का दूसरा उद्देश्य यशस्वी और दीर्घायु पुत्र को जन्म देना है। ऐसा इसलिए कि हिंदू जीवन में पितृव्यों को पिंडदान और मृत्यु के उपरांत किए जानेवाले संस्कारों को पूरा करना केवल पुत्र का ही कार्य है। शास्त्रकारों ने संभवत: समाज की निरंतरता और वंश के अस्तित्व की आवश्यकता को देखते हुए ही पुत्रप्राप्ति को धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया होगा। इसके अलावा कोई व्यक्ति पितृऋण से भी तब तब उऋण नहीं हो सकता, जब तक कि वह स्वयं भी एक पुत्र को जन्म न दे। यही कारण है कि विवाह की प्रक्रिया में सप्तपदी के समय पहला कदम बढ़ाते ही वर-वधू के द्वारा यह कामना की जाती है कि हम दोनों मिलकर बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें, जो वृद्धावस्था तक जीवित रहनेवाले हों। महाभारत में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो पुरुष संतान (पुत्र) को जन्म नहीं देता, वह अधार्मिक होता है।

तीसरा उद्देश्य रति है। रति का अर्थ समाज द्वारा मान्यताप्राप्त तरीके से काम की पूर्ति करना और मानसिक जीवन को संतुलित बनाना है। हिंदू विवाह में रति की पूर्ति निश्चय ही एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार की जाती है, पर इसका संबंध वासना या व्यभिचार से न होकर कर्त्तव्य-भावना से है। कापड़िया का कहना है कि यद्यपि काम या यौन-संबंध विवाह का एक उद्देश्य अवश्य है, पर इसे तीसरा स्थान दिया गया है। इससे भी यह स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यंत कम वांछनीय उद्देश्य है। विवाह में यौन-संबंध की निम्नतम भूमिका पर बल देने के लिए ही यह भी कहा गया है कि केवल यौन-संबंधों को पूरा करने के लिए ही शूद्र विवाह करते हैं।[2]

हिंदू विवाह अनेक धार्मिक आदेशों और निषेधों से संबद्ध एक जटिल संस्था है। यह विश्वास किया जाता है कि वैदिककाल में विवाह से संबंधित ये मान्यताएँ या तो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थीं या इनके प्रति व्यक्तियों का दृष्टिकोण अत्यधिक उदार था, पर बाद में विवाह से संबंधित प्रत्येक स्थिति में ये व्यवहार का अनिवार्य अंग बन गए। हिंदू विवाह की इन मान्यताओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) अंतर्विवाह (2) बहिर्विवाह (3) अनुलोम तथा प्रतिलोम।

अंतर्विवाह : इस सामाजिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करने की अनुमति होती है। इस प्रकार एक ब्राह्मण युवक को न केवल ब्राह्मण कन्या से विवाह करना होता है बल्कि कान्यकुब्ज को कान्यकुब्ज से, सरयूपारीण युवक को सरयूपारीण कन्या से और गौड़ युवक को गौड़ कन्या से ही विवाह करना होता है। कायस्थ जाति कई उपजातियों में विभक्त है, जैसे माथुर, सक्सेना, श्रीवास्तव, भटनागर, निगम आदि। कायस्थ जाति के युवक का विवाह अंतर्विवाही नियमों के अनुसार उसी जाति में ही नहीं बल्कि उसी उपजाति में ही होता है।

प्रारंभिक समाज में जाति अंतर्विवाह प्रकार्यात्मक था, क्योंकि (1) यह वैवाहिक समायोजन सरल बना देता था (2) यह जाति के व्यावसायिक रहस्यों को सुरक्षित रखता था (3) यह जाति की एकता बनाए रखता था (4) यह जाति के सदस्यों या शक्ति को कम करने से रोकता था। वर्तमान समाज में इसके नकारात्मक प्रभाव यह हैं कि (1) यह अंतर्जातीय तनावों को जन्म देता है, जो देश की राजनीतिक एकता पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। (2) यह

वैवाहिक समायोजन की समस्या उत्पन्न करता है, क्योंकि चुनाव का क्षेत्र सीमित ही रह जाता (3) बालविवाह, दहेज व अन्य समस्याओं को जन्म देता है।

बहिर्विवाह : बहिर्विवाह वह नियम है जो जीवनसाथी के चुनाव को कुछ समूहों में निषिद्ध या अनुचित मानता है। हिंदुओं में दो प्रकार का बहिर्विवाह मिलता है–गोत्र बहिर्विवाह और सपिंड बहिर्विवाह। इन दो के अलावा कुछ मामलों में गाँव को भी एक बहिर्विवाही समूह माना गया है। राजबली पांडेय[3] ने बहिर्विवाह की उत्पत्ति पर प्रतिपादित विविध विद्वानों के सिद्धांतों का संदर्भ दिया है। मैक्लेनन[4] ने कहा है कि बहिर्विवाह का रिवाज प्रारंभिक काल में स्त्रियों की कमी के कारण प्रचलन में आया जबकि मॉर्गन[5] ने कहा कि बहिर्विवाह कुल या गोत्र के भीतर यौन अनैतिकता को रोकने के उद्देश्य से किया गया।

बल्वल्कर[6] के अनुसार बहिर्विवाह निषेध माता-पिता संतान तथा भाई बहनों के बीच विवाह तथा मुक्त विवाह संबंधों को प्रतिबंधित करने के लिए बनाए गए थे। काने[7] के अनुसार बहिर्विवाह निषेध दो कारणों से थे–एक तो यदि निकट संबंधी विवाह करते हैं, तो उनकी कमियाँ भी उनकी संतानों को बिगाड़ देंगी और दूसरा गुप्त प्रेम और परिणामस्वरूप नैतिक पतन के डर से।

गोत्र बहिर्विवाह : गोत्र का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है, जो एक ही कल्पित या ऋषि से अपनी उत्पति मानते हैं। प्रारंभ में मात्र आठ ही गोत्र थे, पर धीरे-धीरे इसकी संख्या बढ़ती चली गई। गोत्र बहिर्विवाह एक ही गोत्र के सदस्यों के बीच विवाह को निषिद्ध करता है। अल्टेकर[8] के अनुसार 600 बी॰सी॰ तक गोत्र विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं था। कापड़िया ने भी वैदिककाल में गोत्र निषेध न होने का संदर्भ दिया है। उनके अनुसार: आर्यों में न केवल स्वयंवर बल्कि गंधर्व विवाह का प्रचलन था। मनु ने सगोत्र विवाह पर प्रतिबंध लगाए थे। 1946 में हिंदू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम में गोत्र विवाह के प्रतिबंध हटा दिए गए। आजकल लोग इस प्रकार के प्रतिबंध को कोई महत्त्व नहीं देते।

यहाँ इस बात की चर्चा आवश्यक है कि अनेक समाजशात्रियों और मानव-शास्त्रियों ने कुल (वंश) उप-जाति, वंश-समूह और गोत्र का प्रयोग लगभग एक ही अर्थ में किया है। वंश उपजाति से भिन्न है, क्योंकि उपजाति अंतर्विवाही है और वंश बहिर्विवाही है। वंश गोत्र से इतर इस अर्थ में है कि एक ही वंश के व्यक्तियों को एक ही पूर्वज की संतान मानते हैं, लेकिन एक ही गोत्र के व्यक्ति अपनी उत्पति एक ही पूर्वज से नहीं खोज पाते हैं, क्योंकि विभिन्न जातियों, उपजातियों और वंशों का एक ही गोत्र होता है जैसे–कश्यप गोत्र ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार और अन्य हिंदू जातियों और उपजातियों जैसे मैथिल ब्राह्मण, कान्यकुब्ज, श्रीवास्तव, अम्बष्ठ और राढ़ी कायस्थ।[9]

प्रवर बहिर्विवाह : कपाड़िया का मत है कि प्रवर कुछ संस्कारों और ज्ञान से संबंधित एक संप्रदाय की ओर संकेत करता है, जिससे कि एक व्यक्ति संबद्ध होता है।[10] वैदिक इंडेक्स के अनुसार 'प्रवर का अर्थ' 'आवाहन करना' है।[11] इससे स्पष्ट है कि प्रवर का संबंध किसी प्रकार के रक्त-संबंधी से न होकर एक आध्यात्मिक संबंध से है।

सपिंड बहिर्विवाह : पिंड शब्द की व्याख्या मिताक्षरा और दायभाग के नियमों के अनुसार

 ISSN 0975-735X

अलग-अलग रूप से की जाती है। मिताक्षरा के प्रवर्तक विज्ञानेश्वर के अनुसार पिंड का अर्थ समान रक्त कणों से है अर्थात् जिन व्यक्तियों में एक ही पूर्वज का रक्त विद्यमान होने की संभावना की जाती है वे सपिंड हैं। इस दृष्टिकोण से एक ही पिंड के स्त्री-पुरुष आपस में विवाह-संबंध नहीं रख सकते। दायभाग के प्रवर्तक जीमूतवाहन के अनुसार पिंड का अर्थ उन चावल के गोलों से है, जो श्राद्ध के समय पितृव्यों को अर्पित किए जाते हैं। इस प्रकार जितने भी व्यक्ति एक ही पूर्वज को चावल का यह गोला अर्पित करते हैं, वे सपिंड हैं, इसीलिए उनकी संतानों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं हो सकते। मिताक्षरा की धारणा से यह भी स्पष्ट होता है कि केवल पितापक्ष के सदस्य ही सपिंड नहीं होते बल्कि मातृपक्ष के संबंधी भी सपिंड होते हैं, क्योंकि बच्चों में माता-पिता दोनों का रक्त विद्यमान होता है। इस प्रकार सपिंड बहिर्विवाह के नियम के अनुसार पितृपक्ष की ओर सात पीढ़ी तथा मातृपक्ष की ओर पाँच पीढ़ियों तक के सदस्यों के बीच विवाह संबंध होना वर्जित है। कपाड़िया ने कहा है कि सपिंड बहिर्विवाह का नियम एक पवित्र सिफारिश थी, जो आठवीं सदी तक प्रचलन में रही। आजकल यद्यपि यह नियम अधिकतर सभी हिंदू अपनाते हैं।

सहोदरज विवाह : यह चार प्रकार का होता है–चचेरा (पिता के भाई का पुत्र/पुत्री) (2) ममेरा (माँ के भाई का पुत्र/ पुत्री) (3) फुफेरा (पिता के बहन का पुत्र/ पुत्री) (4) मौसेरा (मौसी का पुत्र/ पुत्री)। इसमें से चचेरा और मौसेरा (समांतर सहोदरज) कहलाते हैं तथा ममेरा एवं फुफेरा विलिंग सहोदरज कहलाते हैं। विलिंग सहोदरज संततिविवाह प्राचीन हिंदू समाज में प्रचलित था। कपाड़िया का विचार है कि वैदिक आर्य लोग समानांतर सहोदरज विवाह नहीं मानते थे। मनु ने कहा है कि वह जो अपनी बुआ, मौसी या मामा की पुत्री से विवाह करते हैं, उन्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा, वे पतित होंगे। कपाड़िया ने माना है कि यह स्पष्ट है कि धर्मसूत्र में विलिंग सहोदरज का विवाह जो ब्राह्मणकाल में अनुमान्य था, केवल उन्हीं भागों में चलता रहा जिन भागों में सामाजिक दशाओं के कारण जरूरी था, शेष भागों में यह प्रचलन से बाहर हो गया।

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह : हिंदू विवाह की मान्यताओं में अनुलोम तथा प्रतिलोम का नियम बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनुलोम वह नियम है, जिसके द्वारा एक पुरुष को अपनी सामाजिक स्थिति के बराबर या उससे निम्न स्थिति की स्त्री से विवाह करने की अनुमति प्राप्त होती है। इसके विपरीत निम्नजाति का पुरुष उच्चजाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता है, जिसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता है। वैदिककाल के बहुत समय बाद तक भी यह प्रथा प्रचलित रही। इस समय समाज में वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन होने के कारण अनुलोम का अर्थ पुरुष का विवाह अपने या अपने से निम्नवर्ण की कन्या के साथ करना समझा जाता था। स्वयं मनुस्मृति में यह लिखा है कि ब्राह्मण अपने तथा अपने से निम्न तीनों वर्णों, क्षत्रिय अपने से निम्न दोनों वर्णों और वैश्य अपने से निम्न शूद्र कन्या से विवाह कर सकता था। मनुस्मृति में यह भी कहा गया कि जो सवर्ण स्त्री के स्थान पर अपने से निम्नवर्ण की स्त्री से विवाह करता है। वह संतान और वंश सहित शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

वास्तविकता यह है कि अनुलोम का नियम पहले काफी उदार था। रक्त की शुद्धता और

धार्मिक पवित्रता के आधार पर इन सभी जातियों को भी एक-दूसरे की तुलना में उच्च और निम्न समझा जाने लगा। इस आधार पर अनुलोम का नियम विभिन्न वर्णों से संबंधित न होकर सभी जातियों और उपजातियों की उच्चता और निम्नता की धारणा से संबद्ध हो गया। यहीं से अनुलोम विवाह का नियम कुलीन विवाह की मान्यता में बदल गया।

हिंदू विवाह के ये तीनों स्थापित मान्यताओं (अंतर्विवाह, बहिर्विवाह तथा अनुलोम/प्रतिलोम) का पालन राजपूत जाति में भी होता आया है। राजपूत जाति चार अंतर्विवाही उपजाति में विभक्त है—सूर्यवंश, चंद्रवंश, अग्निवंश तथा नागवंश। ये चारों वंश भी कई अंतर्विवाही तथा बहिर्विवाही समूह में बँटे हुए हैं।

सूर्यवंशी की गहलौत, कछवाहा तथा राठौर उपजातियाँ हैं। कछवाहा पुनः तीन बहिर्विवाही समूहों में विभक्त हैं—नाथावत, राजावत और शेखावत। गहलौत भी तीन बहिर्विवाही उपसमूहों में विभक्त हैं—सिसौदिया, रानावत और शक्तावत और फिर राठौर पुनः तीन बहिर्विवाही उपसमूहों में विभक्त हैं—जोधा, बीका और विंदावत।

चंद्रवंशी : यह तीन अंतर्विवाही उपजातियों में विभक्त हैं यदु, तन्वर और गौड़।

नागवंशी में केवल एक ही उपजाति पायी जाती है और उसका नाम है परिहार।

अग्निवंशी : यह भी कई उपजातियों में विभक्त है—सोलंकी, पंवार, चौहान। अंतर्विवाह के नियमों के अनुसार एक राजपूत लड़के को न केवल राजपूत कन्या से ही विवाह करना होता है, बल्कि अपने ही अंतर्विवाही उपजाति या उनके समूह में जो इस नियम का पालन नहीं करते थे, उन्हें सजा प्राप्त होती थी। पर बाद में हिंदू लॉ के अनुसार जाति से बाहर विवाह करना वैध और विधिसम्मत माना गया (विशेष विवाह अधिनियम 1872, विशेष विवाह अधिनियम, 1923 और हिंदू विवाह वैधता अधिनियम 1949 के अनुसार)।

जहाँ तक बहिर्विवाह के नियमों का सवाल है तो राजपूतों में अन्य सभी निषेधों का पालन तो होता ही है, पर गोत्र बहिर्विवाह के संदर्भ में वंश बहिर्विवाह का पालन किया जाता रहा है। राजपूत जाति अनेक गोत्रों में वंश-समूह में बँटा हुआ है, जो गोत्र बहिर्विवाह के नियम को मानते हैं। जैसे एक राठौर लड़का (गोत्र) राठौर गोत्र की लड़की से विवाह नहीं कर सकता, एक चौहान गोत्रवाला लड़का चौहान लड़की से विवाह नहीं कर सकता है। इसलिए हर राजपूत दूसरे वंश की लड़की पर निर्भर करता है। जैसे—जादन वंश या गोत्र का लड़का कछवाहा, किनवार, भदौरिया, चौहान आदि में विवाह कर सकता है, पर जादन गोत्र या वंश में नहीं।

अन्य हिंदुओं की तरह राजपूतों में अनेक गोत्र हैं। राजपूतों में सगोत्र विवाह पर पूर्ण प्रतिबंध नहीं है, वे अपने गोत्र में विवाह कर सकते हैं, जैसे किनवार, कछवाहा और राठौर का गोत्र कश्यप है मगर वे सभी एक-दूसरे में विवाह करते हैं। वास्तव में राजपूत में गोत्र की जगह वंश को माना गया है, इसलिए गोत्र पर प्रतिबंध नहीं है। रिजले के अनुसार बिहार के राजपूतों में गोत्र की जगह वंश को बहिर्विवाही अंग के रूप में माना गया है।

राजपूतों में अनुलोम/प्रतिलोम विवाह नियम भी सर्वाधिक प्रचलित रहा है। राजपूत जाति, जो विभिन्न वंशों में बँटा हुआ है, में गोत्र का निर्धारण उच्चता के आधार पर किया गया है। कहा गया कि राजपूत अपनी कन्या का विवाह अपनी ही जाति या अपने से उच्चजाति के

 ISSN 0975-735X

लड़के से कर सकते है और लड़कों को यह स्वतंत्रता थी कि वह किसी भी जाति की कन्या से विवाह कर सकता था। राजपूत जाति में कुलीन विवाह का कोई सार्वभौमिक नियम नहीं है, क्योंकि जगह–जगह पर इनकी स्थिति में अंतर होता है। जैसे परमार या उज्जैन को उत्तर पूर्वी क्षेत्र में निम्न माना जाता है, इसको चौहान और राठौर जाति के लोग अपनी कन्या नहीं देते हैं। पर इन्हें उत्तर पश्चिम और पश्चिमी बिहार में उच्च वंश का माना जाता है और इन्हें चौहान और राठौर की कन्या प्राप्त होती है। कार्वे का कहना है कि एक प्रसिद्ध सिद्धांत के अनुसार सूरजभान के द्वारा सूरजभान को ही लड़की दी जाती है, जबकि वे दूसरी उपजाति से भी लड़की प्राप्त करते हैं। चंद्रवंशी अपनी लड़की सूर्यवंशी को देते हैं और अग्निवंश और नागवंश से लड़की प्राप्त करते हैं, जबकि अग्निवंशी किसी को भी अपनी कन्या देते हैं। लेकिन अगर वास्तव में कुलीन विवाही प्रथा की जाँच की जाय तो यह कहा जा सकता है कि राजपूतों में कछवाहा, राठौर, गहलौत और अन्य जो सूर्यवंशी हैं, वे अपनी कन्या का विवाह चद्रवंशी, जादन और तोमर में करते हैं, अग्निवंशी चौहान एवं भदौरिया को भी प्रदान करते हैं लेकिन सूर्यवंशी चंद्रवंशी और अग्निवंशी से कन्या प्राप्त करते हैं। जैसे पूर्व में चंद्रवंशी जादन और तोमर अपनी कन्या का विवाह राठौर, गहलोत और सूर्यवंश के अन्य उपजातियों के साथ नहीं करते थे, बल्कि वे अपनी कन्या का विवाह कछवाहा गोत्र वंश में करते थे।

राजपूतों के गोत्रों की स्थिति और उसके परंपरागत नियमों को देखने के बाद यह पता चलता है कि सूर्यवंश, चंद्रवंश और अग्निवंश के जादन, कछवाहा, चौहान, तोमर, सिसोदिया राठौर और भदौरिया को सर्वोच्च माना जाता है और अन्य इससे निम्न। ये सात उपजातियाँ अपने से बाहर अपनी पुत्री का विवाह इन्हीं में करते हैं। जबकि वे अन्य से पुत्री को बहू के रूप में स्वीकार करते है। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर और परंपरागत कुलीन विवाह की प्रथाओं को देखते हुए। उत्तर, पूर्व, तथा दक्षिण बिहार के राजपूतों के बीच कुलीन विवाह के प्रचलन को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

ग्रुप ए–जादन, कछवाहा और सिसोदिया

ग्रुप बी–भदौरिया, तोमर, चौहान, और राठौर

ग्रुप सी–परमार या उज्जैनी गणवरिया, चौवरिया, चंदेल, किनवार, सोमवंशी, तथा अन्य।

ग्रुप डी–बनौत, बुंदेला, ठेकाहा, अमेठिया, आदि।

बिहार में ग्रुप ए और बी अन्य दूसरे समूह सी और डी की लड़की को स्वीकार नहीं करते। राजपूतों में क्षेत्रीय कुलीन विवाह का नियम भी है, जिसमें कहा जाता है कि पूरब की बेटी और पश्चिम का बेटा। यह माना जाता है कि बिहार का राजपूत बंगाल और उड़ीसा के राजपूत से उच्च हैं। वहाँ की लड़कियों को ये स्वीकार करते हैं, पर अपनी लड़की का विवाह उन राज्यों के राजपूत लड़कों से नहीं करते हैं।

संदर्भ

1. कपाड़िया, के॰एम॰, मैरेज एंड फैमिली इन इंडिया ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बंबई, 1966
2. वही
3. राजबली पांडेय, हिंदु संस्कार, विक्रम प्रकाशन बनारस 1949

4. मैक्लेनन स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री
5. एल॰ एच॰ मॉर्गन, एन्सिऐंट सोसाइटी
6. जार्ज बल्बलकर, दी लॉज ऑफ मनु, क्लेरिनडन प्रेस ऑक्सफोर्ड
7. पी॰वी॰ काने, स्टडी ऑफ धर्मशास्त्र 1930
8. ए॰एस॰ अल्टेकर, पीजिसन ऑफ वुमेन इन सोसाइटी सिस्टम ऑफ राजपूत।
9. के॰बी॰के॰ सिंह, मैरेज एंड फैमिली ए स्टडी ऑफ ट्रेडिसन एंड चेंज विसम पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली
10. के॰एम॰ कपाड़िया, पूर्व उद्धृत।
11. वैदिक इंडेक्स

nranjanbgp@gmail.com
मो॰ 9934702588

 ISSN 0975-735X

लोहा एवं इस्पात उद्योग का प्रादुर्भाव, विकास तथा समस्याएँ

डॉ॰ लवली गुप्ता
अर्थशास्त्र प्रवक्ता
पृथ्वीराज चौहान इंस्टी॰ ऑफ एजूकेशन एंड टैक्नोलॉजी
चकराजमल, धामपुर (बिजनौर) उ॰प्र॰

भारत में में वृहत् पैमाने के उद्योगों की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी लेकिन उनका वास्तविक विकास तो बीसवीं शताब्दी में हुआ है। भारत के आधुनिक उद्योग मुख्यत: खनिज उत्पादों पर आधारित है। दिल्ली का लौहस्तंभ भारतीय लोहा व इस्पात उद्योग का जीता-जागता प्रमाण है। श्री रानाडे ने कहा था, 'लोहे के कारखानों ने न केवल स्थानीय संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति की, वरन् विदेशों को निर्यात करने योग्य अवसर भी भारत को प्रदान किए।' शाही कृषि आयोग ने अपने प्रतिवेदन में लिखा था, 'जिस समय आधुनिक उद्योगों की जन्मभूमि पश्चिमी यूरोप में असभ्य जातियाँ निवास करती थीं, उस समय भारत अपने शासकों की संपत्ति एवं शिल्पियों की उच्च कला के लिए प्रसिद्ध था।' इनमें लोहा एवं इस्पात उद्योग सबसे प्रमुख हैं क्योंकि यह अन्य सभी उद्योगों की आधारशिला है। तत्पश्चात् इंजीनियरिंग उद्योग, रसायन उद्योग, सीमेंट उद्योग आदि खनिजीय उत्पादों पर आधारित उद्योग आते हैं।

लोहा एवं इस्पात उद्योग भारत का एक महत्त्वपूर्ण आधारभूत उद्योग है। यह उद्योग किसी देश की औद्योगिक व्यवस्था में रीढ़ की हड्डी का कार्य करता है। आधुनिक समय में लोहा एवं इस्पात का उपयोग सामान्यत: सभी निर्माण कार्यों में किया जाता है। प्रत्येक देश के औद्योगिक विकास में लोहा एवं इस्पात उद्योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्व॰ पं॰ जहाहरलाल नेहरू के अनुसार, 'लोहा व इस्पात उद्योग आधुनिक सभ्यता का आधार है। कींस व मेगरर्स मार्क के अनुसार, 'मानवजाति की प्रगति तथा विकास में खनिज पदार्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वास्तव में यदि लोहे व इस्पात का उपयोग बंद कर दिया जाए तो हमारी कृषि, वन, खनिज, यातायात व उद्योग सभी एक प्रकार से पंगु हो जाएँ।'

भारत में लोहा एवं इस्पात आधुनिक पद्धति पर बनाने का सर्वप्रथम कारखाना सन् 1830 में तमिलनाडु के एक अँग्रेज अधिकारी जे॰ एम॰ डीथ ने दक्षिण अकार्ट के 'पोटोंनोवो' नामक स्थान पर शुरू किया था, किंतु यह कारखाना उत्पादन में सफलता प्राप्त नहीं कर सका। तत्पश्चात् सन् 1874 में झरिया के निकट बाराकर नदी के तट पर स्थित कुल्टी नामक स्थान पर एक ब्रिटिश संस्था द्वारा एक और लोहा एवं इस्पात कारखाने की स्थापना का प्रयास किया गया।

किंतु यह कारखाना भी इस्पात का उत्पादन करने में असफल रहा और केवल ढलवां लोहे का ही उत्पादन करता रहा। इस कारखाने का नाम 'बारह कर आयरन वर्क्स' था, जिसे बाद में बदलकर 'बंगाल आयरन कंपनी' कर दिया गया। सन् 1936 में इस कंपनी का विलय 'इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी' में कर दिया गया।

भारत में लोहा एवं इस्पात उद्योग के वास्तविक प्रारंभ का श्रेय जमशेदजी नौशेखान टाटा को जाता है। उन्होंने सन् 1970 में बिहार के सिंहभूमि जिले में स्थित साक्ची नामक स्थान पर 'टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी' के नाम से एक कारखाना स्थापित किया, जो आज भी कार्य कर रहा है। यह कारखाना भारत का सबसे बड़ा इस्पात कारखाना है। इस कारखाने में कच्चे लोहे का उत्पादन सन् 1911 में शुरू हुआ और सन् 1913 में पहली बार इस्पात का उत्पादन किया गया।

लौह एवं इस्पात उद्योग के प्रमुख कारखाने

राउरकेला स्टील प्लांट–इस कारखाने की स्थापना जर्मनी की क्रुप डीमाग कंपनी की सहायता से सन् 1955 में उड़ीसा के राउरकेला स्थान पर की गई थी। यह कारखाना 117 करोड़ रुपए की लागत से स्थापित हुआ था।

दुर्गापुर स्टील प्लांट–यह कारखाना ब्रिटेन के सहयोग से सन् 1955 में पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर नामक स्थान पर स्थापित किया गया था। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता 16 लाख टन है।

भिलाई स्टील प्लांट–इस कारखाने की स्थापना सन् 1955 में रूस की सहायता से मध्य प्रदेश के भिलाई नामक स्थान पर की गई। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता 10 लाख टन थी जिसे बढ़ाकर 40 लाख टन कर दिया गया है। सभी इस्पात कारखानों में इस कारखाने ने ही सबसे अधिकांश विकास किया है।

बोकारो स्टील प्लांट–यह कारखाना 100 करोड़ रुपए की अधिकृत पूँजी लगाकर बिहार के बोकारो नामक स्थान पर रूस की सहायता से स्थापित किया गया। इसकी क्षमता 40 लाख टन है।

नवीन इस्पात कारखाने

सेलन स्टाल लिमिटेड–इस कारखाने को 25 अक्टूबर, 1972 को 100 करोड़ रुपए की अधिकृत पूँजी से शुरू किया गया है। यह तेल की एक सहायक कंपनी है। इसकी क्षमता 2 लाख 20 हजार टन इस्पात तैयार करने की है। जिससे 70,000 टन स्टेनलैस स्टील, 75,000 टन इलैक्ट्रिकल स्टील तथा 75000 टन स्पेशल स्टील तैयार किया जाएगा। मार्च 1982 से इस कारखाने ने व्यापारिक उत्पादन प्रारंभ कर दिया है। औद्योगिक क्षेत्र में काम आनेवाले आधुनिकतम स्टेनलैस स्टील चादरों व तारों के उत्पादन में भी यह सक्षम है।

विशाखापट्नम स्टील प्लांट–आंध्र प्रदेश में विशाखापट्नम के समीप इसकी स्थापना की जा रही है इसकी क्षमता 30 लाख टन की होगी।

विजय नगरम् स्टील प्लांट–इस संयंत्र की स्थापना कर्नाटक में विजयनगर के समीप की

 ISSN 0975-735X

जा रही है। इस संयंत्र की क्षमता 30 लाख टन होगी और इसमें स्टील स्ट्रिप तथा स्टील बिलेटस का उत्पादन किया जाएगा।

बैलाडिला तथा सूरजगढ़ स्टील परियोजनाएँ–बैलाडिला (मध्य प्रदेश) तथा सूरजगढ़ (महाराष्ट्र) में एकीकृत स्टील संयंत्र स्थापित करने की योजना तैयार की जा चुकी है।

स्टील अर्थोरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड[1]–स्टील अर्थोटी ऑफ इंडिया लि॰, जिसे संक्षेप में सेल कहा जाता है देश का सबसे बड़ा औद्योगिक प्रतिष्ठान है। 24 जनवरी, 1973 को इसकी स्थापना एक सूत्रधारी कंपनी के रूप में हुई थी और मई, 1978 में इसे एक एकीकृत कंपनी के रूप में पुनर्संगठित किया गया है। 'सेल' के संबंध में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि विश्व लौह एवं इस्पात उत्पादक संगठनों में इसका 14वाँ स्थान है।

पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास

देश की औद्योगिक नीति की घोषणा सन् 1948 में की गई थी। स्वतंत्रता के बाद इस्पात उद्योग के विकास के संबंध में पहली पंचवर्षीय योजना से ही विचार प्रारंभ किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों में अर्थात् वर्ष 1996-97 तक 162 लाख टन ढलवाँ लोहे, 158 लाख टन इस्पात की सिल्लियों व 214 लाख टन तैयार इस्पात का उत्पादन किया जा चुका था।[2] जबकि आठवीं पंचवर्षीय योजना के स्वीकृत प्रारूप में इस्पात सिल्लियों का उत्पादन लक्ष्य 182 लाख टन, तैयार इस्पात का उत्पादन लक्ष्य 232 लाख टन निर्धारित किया गया था।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश की पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इसका विवरण निम्नांकित तालिका के अनुसार है–

लोहा एवं इस्पात उत्पादन [4]

(लाख टन में)

वर्ष	ढलवाँ लोहा	इस्पात की सिल्लियाँ	तैयार इस्पात
1950-51	17	15	10
1960-61	43	35	24
1970-71	70	61	48
1980-81	96	103	68
1990-91	122	137	135
1994-95	171	147	178
1995-96	162	158	214

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि संपूर्ण योजनाकाल में गत 45 वर्षों में लोहा एवं इस्पात के उत्पादन में कई गुना वृद्धि हुई।

नौवीं पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात की माँग में बराबर वृद्धि हो रही है और भविष्य में ऐसा ही कुछ दशकों तक होने का अनुमान है। सरकार के अनुसार, 'तैयार इस्पात' की माँग नौवीं योजना के अंत में 327 लाख टन होगी।

दसवीं पंचवर्षीय योजना में भी लोहा एवं इस्पात की माँग में बराबर वृद्धि हो रही है। सरकार के अनुसार, 'तैयार इस्पात' की माँग दसवीं योजना के अन्त में 488 लाख टन हो जाएगी जिसके लिए उद्योग में करोड़ों रुपए के विनियोग की आवश्यकता होगी।

लोहा एवं इस्पात उद्योग की समस्याएँ

देश की आजादी के बाद देश में उद्योगों के विकास व विस्तार कार्यक्रम में लोहा एवं इस्पात का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। अत: यह आवश्यक है कि देश का लोहा एवं इस्पात उद्योग अन्य उद्योगों की लोहा एवं इस्पात संबंधी आवश्यकताएँ पूर्ण करने में सक्षम है। देश की आजादी के बाद इस उद्योग के विकास पर बहुत अधिक जोर दिया गया है और उसी के परिणामस्वरूप इस उद्योग ने उल्लेखनीय प्रगति की है। यदि देश का लोहा एवं इस्पात उद्योग किसी कारणवश अपने उत्पादन लक्ष्यों से नीचे उतरता है तो इसका विपरीत प्रभाव अन्य उद्योगों के विकास पर भी पड़ना स्वाभाविक है। अत: आज इस बात की आवश्यकता है कि देश के लोहा एवं इस्पात उद्योग के सम्मुख जो कुछ समस्याएँ हैं उनका त्वरित समाधान किया जाए। देश के लोहा एवं इस्पात उद्योग के सम्मुख निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं–

1. पूँजी के अभाव की समस्या
2. क्षमता का पूर्ण उपयोग करने में अक्षम
3. उन्नत प्रविधियों का अभाव
4. अच्छे कोयले का अभाव
5. परिवहन की समस्या
6. श्रमिक समस्या
7. मूल्य की समस्या
8. बिजली का अभाव
9. सार्वजनिक कारखानों की समस्याएँ
10. प्रति व्यक्ति कम उपभोग
11. निर्यात एवं आयात व्यापार

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोहा एवं इस्पात उद्योग ने जहाँ अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में विकास को बल प्रदान किया है वहीं उपर्युक्त समस्याओं का निदान करके इस क्षेत्र में उन्नति के सोपानों तक पहुँचा जा सकता है। इस क्षेत्र में उन्नति की अपार संभावनाएँ हैं।

संदर्भ

1. औद्योगिक अर्थशास्त्र, ए॰ के॰ सक्सैना, पृ॰ 415
2. Economic Survey, 1996-97, P. 34
3. Eight Five Year Plan, Part-II, P. 127 (English Edition)
4. Economic Survey, 1996-97, P. 345

सुपुत्री श्री राजेंद्रप्रसाद गुप्ता
म॰नं॰-क-38, **एम॰डी॰ए॰ कालोनी**
मुरादाबाद (उ॰प्र॰)

ISSN 0975-735X

अंगप्रदेश तथा अंगिका पर सिद्धसाहित्य का प्रभाव

सुजाताकुमारी, शोधार्थी
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी भागलपुर वि॰वि॰, भागलपुर (बिहार)

विक्रमशिला बौद्ध विहार, बौद्धधर्म की शिक्षा और प्रचार के लिए विश्वविख्यात था। इस शिक्षा केंद्र में ऐसे ऐसे विद्वान हुए, जिसकी विद्वत्ता से भारतवर्ष आलोकित हो रहा था। इन विद्वानों में भुसुकपा, सरहपा, शबरपा, शांतिपा, विनयश्री, लुचिकपा, जयानन्तपा, निर्गुणपा, पुतुलिपा, चेलुकपा, चम्पकपा, नारोपा, लुईपा, डोम्मिपा, वीणापा, दीपंकर श्रीज्ञान, चर्पटीपा, धंमपा, मैकोपा अतिप्रसिद्ध हैं। ये सभी सिद्ध, अपनी जन्मभूमि के नाते भी अंगप्रदेश से जुड़े हुए थे। लेकिन यहाँ भी राजनीति शुरू हो गई। मंत्रयान, तंत्रयान और वज्रयान की शाखाओं में विभाजन हो गया। विक्रमशिला बौद्ध विहार का महायान स्वयं अनेक कुरीतियों का शिकार हो गया। मैथुन, मदिरा, मांस भक्षण आदि ने विक्रमशिला जैसे विद्याकेंद्र को जर्जर करके रख दिया। मदिरा और मैथुन के आम होने की बात तो अनेक इतिहासों में उल्लिखित है।

बौद्धधर्म के प्रवर्तक बुद्धदेव के निर्वाण (483 ई॰पू॰) के कुछ काल पश्चात्, महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार, उस धर्म के महायान संप्रदाय में प्रथमतः मंत्रयान (400–700 ई॰) और द्वितीयतः बज्रयान (800–1200 ई॰) का विकास हुआ, जिन दोनों के केंद्र स्थान वर्तमान आंध्र प्रदेश के गंटूर जिला स्थित श्रीपर्वत और श्रीधान्य कटक नामक स्थान माने गए है।[1] राहुल जी ने मंत्रयान को नरम और वज्रयान को गरम संप्रदाय माना है और कहा है कि मंत्रयान का प्रथम रूप सातवीं शती में समाप्त होता है, जिसके बाद वह वज्रयान का घोर रूप धारण करता है। उनके मतानुसार मंत्र, मद्य, मैथुन और हठयोग महायान से साधारण मंत्रयान होकर वज्रयान में प्रविष्ट कर गए। इस प्रकार लोकजीवन में तंत्र–मंत्र का प्रभाव बहुत अधिक देखा जाने लगा, जिसके फलस्वरूप अनेक लोग स्वांतःसुखाय या परहिताय मंत्र–तंत्र की साधना की ओर आकृष्ट हुए। उस साधना–पद्धति में जाति–पाति की कोई वर्जना नहीं थी। कोई भी व्यक्ति अपने गुरु के निर्देशन में साधक हो सकते थे। इसलिए मंत्र–तंत्र साधकों का पथ प्रशस्त होता गया और जो व्यक्ति अपनी साधना के बल पर कुछ अलौकिक सिद्धियों या चमत्कारिक उपलब्धियों के लिए जाने जाने लगे, वे सामान्यतः 'सिद्ध' कहलाने लगे। तदनुसार, 800–1200 ई॰ के कालखंड में लुइपा, लीलापा, विरूपा, डोंबिपा, शबरपा, शरहपा, कण्हपा, कंकलिपा, मीनपा, प्रभृति कुल '84' सिद्ध हो गए। उन चौरासी सिद्धों में 22–23 लोग अच्छे कवि भी थे, जिन्होंने अपनी गुह्य साधना की बातें तत्कालीन लोकभाषाओं में निबद्ध की हैं, जो उनके सांप्रदायिक प्रतीकों, वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों और पारिभाषिक शब्दावली में कहीं–कहीं ऐसी निगूढ़ हो गई हैं कि उनका मर्म सहज संप्रेष्य या बोधगम्य होने के बजाय

व्यक्ति-सापेक्ष्य या संप्रदाय-सापेक्ष्य हो गया है। फिर भी, जहाँ तक भाषा की बात है, उन सिद्धकवियों की रचनाओं का विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है। हमें यहाँ उनकी रचनाओं के भाषापक्ष पर ही संक्षेपत: विचार करना है।

चौरासी सिद्धों में कम-से-कम चौबीस को राहुल जी ने मगध (अंग जनपद साहित बिहार) के विभिन्न स्थानों का तथा अन्यान्यों को कामरूप, पूर्वदेश, काँची, उड़ीसा, श्रावस्ती (उत्तर प्रदेश) कौशंबी, पश्चिमी भारत आदि का निवासी (जन्मना) बताया है और कहा है कि 'ये चौरासी सिद्ध नालंदा और विक्रमशिला से संबंध रखते थे।'[2] उन सिद्धों का समय उन्होंने 800-117 ई॰ मानना ठीक समझा है।[3] नालंदा और विक्रमशिला दोनों क्रमश: मगध (वर्तमान नालंदा जिले, बिहार) और अंग (वर्तमान भागलपुर जिले, बिहार) में अवस्थित महाविहार विश्वविद्यालय थे। विक्रमशिला के पुरावशेष भागलपुर जिले के अनतीचक गाँव में किए गए उत्खनन के फलस्वरूप उपलब्ध हुए हैं, जबकि नालंदा के पुरावशेष बहुत पहले से ही प्रकाश में आ चुके हैं। भागलपुर से लगभग 50 किलो मी॰ पूर्व की ओर अवस्थित पत्थर घाटा पहाड़ी के उत्तरी भाग में चौरासी सिद्धों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।[4] उन मूर्तियाँ के चित्र 'आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' के अभिलेखों में उपलब्ध हैं।

राहुल जी ने अपने तिब्बत प्रवास के दौरान भोटिया ग्रंथ संग्रह 'तज्जूर' में उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा है कि उन चौरासी सिद्धों में लगभग प्रत्येक ने अपने सांप्रदायिक सिद्धांतों, साधना-पद्धतियों और वैयक्तिक उपलब्धियों के बारे में विभिन्न छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने उन सिद्धों के ग्रंथों की नामावली के साथ-साथ उन कवियों द्वारा विरचित कविताओं के नमूने भी 'हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ', शीर्षक अपने शोध-निबंध में दिए हैं।[5] जबकि उनमें से अनेक कवियों की रचनाएँ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित और 1916 ई॰ में प्रकाशित 'होजार बछरेर पुराणों बांग्ला भाषाय, बौद्ध गान ओ दोहा' नामक ग्रंथ में तीन अन्यान्य कृतियों के साथ संकलित हैं, जिनकी (रचनाओं की) संख्या 47 है।[6] शास्त्री महोदय को वे रचनाएँ 1906 ई॰ में नेपाल के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त हुई थीं। सिद्धकवियों की वे रचनाएँ 'चर्यापद', 'चर्यागीति' या 'चरियावर्णनि' के नाम से जानी जाती हैं, जिनमें सरहपा और कण्हपा के दोहाकोश भी सम्मिलित हैं। राहुलजी के लेखानुसार उन चर्यापदों में जिन सिद्धकवियों की रचनाएँ संकलित हैं, वे हैं-सरहपा, सबरपा, कर्णरिया या आर्यदेव, लुईपा, भुसुकपा, वीणापा, वीरूपा, दारिकपा, डुंबिपा, कबलपा, जालंधरपा, कुक्कुरिपा, गुंडरिपा, मीनापा, काण्हपा, शांतिपा, महीपा, भादेपा, कंकणपा, जयानंत (जयनंदी) तीलोपा, नारोपा और शांतिपा। उधर, आचार्य परशुरम चतुर्वेदी के 'बौद्ध सिद्धों के चर्यापद' शीर्षक पुस्तक में उपर्युक्त कवियों के अलावा पाटिल, धामपा, ढेंढणपा और ताड़कपा के नाम भी हैं तथा कृष्णपा, कृष्णवज्रपा या कृष्णाचार्यपा से, संभवत: पुर्वोक्त, काण्हपा ही अभिप्रेत हैं।[7] डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी ने उक्त शास्त्री महोदय के आधार पर, मात्र 22 सिद्ध कवियों की रचनाओं का उल्लेख किया है।[8] उन्होंने कहा है कि कुल रचनाएँ 50 थीं, परंतु उनमें से 24, 25 संख्यक रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।[9] डॉ॰ चटर्जी के मतानुसार चर्यापदों का रचनाकाल अनुमानत: 240-1200 ई॰ है।[10]

जो हो यह तो निर्विवाद ही है कि विक्रमशिला महाविहार (विश्वविद्यालय) अंग जनपद में अवस्थित था, जिसकी प्राचीनता और ऐतिहासिकता सर्वविदित है। अथर्ववेद, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण आदि प्राचीन ग्रंथों से लेकर रामायण और महाभारत में अंग राज्य के उल्लेख अनेक रूपों में मिलते हैं। बौद्धग्रंथ अंगुत्तर निकाय और महावस्तु तथा जैनग्रंथ भगवती सूत्र में भी अंग जनपद की चर्चाएँ हैं। भारत के सोलह महाजनपदों में अंग एक (महाजनपद) है, जिसके अंतर्गत तत्कालीन बंगाल के मुर्शिदाबाद, वीरभूम और वर्तमान पुरुलिया तथा बिहार के मुंगेर, भागलपुर, बाँका, झारखंड के संथालपरगना, धनबाद, हजारीबाग (गिरीडीह) सहित आदि जिले आते थे। अंग राज्य की राजधानी चंपा नगरी थी, जिसकी नींव राजा चंप ने डाली थी। उन्हीं के वंशज राजा अधिरथ ने गंगा में प्रवाहित कुंतीपुत्र कर्ण को गंगा की जलधारा से छानकर उनका लालन-पालन करवाया था, जिन्हें कुरुराज दुर्योधन ने अंगराज बना दिया था। अंगराज कर्ण की राजधानी वर्तमान भागलपुर के समीपस्थ चंपा नगर में थी, जिसका अवशेष 'कर्णगाढ़' के नाम से अब भी यहाँ विद्यमान है। महाभारत के एक आख्यान के अनुसार ऋषि दीर्घतमा द्वारा दस्युराज बलि की रानी सुदेशना से प्रसूत अंग, बंग, कलिंग पुंड्र और सुम्य नामक पाँच छेत्रज पुत्रों के नामों पर अंग, बंग, कलिंग पौंड्रवर्द्धन (उत्तरी मध्य बंगाल) और सुहा (हुगली नदी से पश्चिम की ओर) नामक पाँच राज्य बने थे।[11] डॉ॰ चटर्जी के मतानुसार उन पाँचों राज्य क्षेत्रों के लोग मूलत: एक ही प्रजाति के थे। महाभारत के अनुसार अंग-बंग एक ही राज्य था, जिसका विस्तार मगध के लगभग समानांतर उत्तर से दक्षिण तक था।

शक्ति संगम तंत्र (सत्तम पटल) में अंग जनपद की सीमा एक शिव मंदिर से अपर शिव मंदिर तक बतलाई गई है, जो संभवत: वर्तमान वैद्यनाथ शिव-मंदिर से छोटा नागपुर पठार (बिहार) के किसी अन्य शिव मंदिर तक के क्षेत्र को निर्दिष्ट करती है। बुद्धदेव के समय (ई॰पू॰ छठी-सातवीं शती) चंपा भारतवर्ष के राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशांबी और वाराणसी जैसे छ: प्रसिद्ध नगरों में एक था। प्रौड़मौर्य बिहार के अंतर्गत अंग जनपद का विस्तार भागलपुर नगर से लेकर बंगाल के वीरभूम, बाकुड़ा और पुरुलिया तक था। राहुल जी के लेखानुसार भोटिया ग्रंथों में सहोर भंगल या भगल तथा ग्यंकपुरी या विक्रमशिला नामक स्थानों के उल्लेख हैं, जिनकी परिणति अंगजनपद के क्रमश: सबौर भागलपुर और विक्रमशिला (महाविहार) से हो चुकी है। मगध के पालवंशी राजाओं के शासनकाल (740-1150 ई॰) में विक्रमशिला महाविहार अपने चरम उत्कर्ष पर था। धर्म अध्यात्म, पंथ और बौद्ध-दर्शन का वह सुप्रसिद्ध विद्याकेंद्र था। राहुल जी के लेखानुसार उक्त महाविहार के मुख्याचार्य (1034-38 ई॰) आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतिश थे, जिनका जन्म 982 ई॰ में सहोर वर्तमान सबौर के राजा कल्याश्री की रानी प्रभावती देवी की कोख से हुआ बताया जाता है।[12] उनके पद्यगर्भ, चंद्रगर्भ और श्रीगर्भ नामक तीन पुत्रों में द्वितीय अर्थात् चंद्रगर्भ बाद में दीपंकर श्रीज्ञान के नाम से विख्यात हुए थे, जिन्होंने तिब्बत के राजवंशीय चेतगुरु योगीप्रभ के आमंत्रण पर 1038 ई॰ में तिब्बत प्रस्थान किया था। उस समय उनकी आयु 58 वर्ष की थी। उन्होंने लगभग 13 वर्षों तक वहाँ रहकर ज्ञान-प्रचार करते हुए वहीं अपनी इहलीला समाप्त की थी। उनकी समाधि तिब्बत के ड-यंग नामक स्थान में अब भी विद्यमान है। तिब्बतियों में वे अतिश के नाम से परिचित और पूजित रहे

हैं।[13] राहुल जी के मतानुसार एक दूसरे प्रसिद्ध विद्वान शांतरक्षित का जन्म भी 740 ई॰ के आसपास विक्रमशिला के निकटस्थ सहोर (सबौर) के राजवंश में हुआ था जो आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान से पहले ही तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार कर चुके थे।[14] इस प्रकार स्पष्ट है कि अंग जनपद का अतीत अत्यंत उज्ज्वल रहा है, जिसका विस्तार प्राचीन बंगाल के गौढ़ पोण्ड्रवर्द्धन आदि वर्तमान पश्चिमी बंगाल के अनेक क्षेत्रों तक रहता आया है। संप्रति बिहार के मुंगेर, भागलपुर, बाँका, जमुई, बेगुसराय, सहरसा, कटिहार, पूर्णिया, अररिया, किसनगंज, गोड्डा, साहेबगंज, पाकुड़, दुमका, देवघर आदि जिले अंगजनपद के अंतर्गत पड़ते हैं, जिन सबका केंद्रस्थल भागलपुर है।

अंगिका भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा प्राकृत के अंतर्गत परिगणित 'प्राच्या' की संतति है। उक्त प्राच्या का उल्लेख आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र (18/25/36) में तत्कालीन आर्यभाषाओं के अंतर्गत माना है, जबकि उक्त नाट्यशास्त्र की 'काशिकावृत्ति' नामक टीका में वामन जयादित्य द्वारा प्राचार्या के अंतर्गत पंचाली, वैदर्भी, आंगी, वांगी और मागधी नाम से प्राकृत भाषाओं के नाम गिनाए गए हैं। फिर, भट्टोजी दीक्षित ने 17वीं शती में रचित 'सिद्धांत कौमुदी' में 'न प्राच्यभर्गायौधेयादिभ्य'[15] मत की व्याख्या के प्रसंग में पांचाली, वैदर्भी, आंगी, वांगी, मागधी एते प्राच्या', कहा है (सूत्र 2 पृ॰ 113, चौखंबा सिरीज 1988, ई॰)। कालांतर में, पता नहीं किन कारणों से, आंगी का नाम उक्त भाषा-प्रकरण से विलुप्त हो गया। संभव है आंगी को मागधी में अंतर्भुक्त कर लिया गया हो क्योंकि सा मागधी मूल भाषा, नरायानादि कोशिका ब्राह्मणी चरुता लापा संबद्धा नापि भागीरे के रूप में मागधी ने श्रेयस्कर स्थिति प्राप्त कर ली थी, जिसका एक मुख्य कारण बौद्धधर्म को लेकर था। 'आंगी' अभिधा की विलुप्ति एक अन्य उपपत्ति (मागधी) के समानांतर अर्धमागधी नाम्नी प्राकृत/अपभ्रंश भाषाई अभिधा का प्रचलन भी हो सकता है। अर्द्धमागधी की ख्याति मुख्यत: महावीर स्वामी के धर्मोपदेशों को लेकर हुई है, जिसे जैनियों ने विशेष रूप से अपनाया है। उनके बारे में जर्मन विद्वान डॉ॰ रिचर्ड पिशल (1849-1909 ई॰) ने लिखा है कि, 'भारतीय भाषा (ओं) का इतिहास बताता है कि भारत के पूर्वी प्रदेश में अर्द्धमागधी बहुत व्यापक रूप से फैली थी।[16] कतिपय विद्वानों का मानना है कि 'अर्द्धमागधी' मूलत: मागधी और शौरसेनी प्राकृत/अपभ्रंश के बीच की भाषा रही है; किंतु 'अर्द्धमागधी' शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि 'अर्द्धमागधी' का संबंध मागधी से निकटतर रहा है, शौरसेनी से नहीं। यहाँ मागधी और अर्द्धमागधी के भेदाभेद के विस्तार में नहीं जाकर दोनों की समानताओं के संबंध में, 'डॉ॰ पिशल' का कहना है कि 'दोनों के कर्त्तावाचक एकवचन (शब्द) के अंत में 'ए' तो होता ही है, दोनों में 'ए' में समाप्त होनेवाले धातु के 'त' के स्थान में 'ड' हो जाता है, दोनों में 'ग' का प्राबल्य है, दोनों में 'क' का 'ग' हो जाता है, दोनों में संबोधन के एकवचन में 'अ' में समाप्त होनेवाले शब्दों में बहुधा प्लुति आती है, इत्यादि।[17] स्वभावत:, 'मागधी' के परिप्रेक्ष्य में 'अर्द्धमागधी' की आख्या अधिक प्रत्यायक युक्तियुक्त है। डॉ॰ चटर्जी का मत है 'अर्द्धमागधी (भाषा) मागधी की निकटस्थ पड़ोसी है।'[18] इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'अर्द्धमागधी' अभिधा ने 'आंगी' आख्या को अंतर्भुक्त कर लिया है और वही 'आंगी' की आख्या की विलुप्ति का कारण बना है। दूसरे शब्दों में 'अर्द्धमागधी' को

 ISSN 0975-735X

'आंगी' का पर्याय कहा जा सकता है।

'आंगी' आख्या की विलुप्ति का कारण जो भी रहा हो, उसका आधुनिक नाम 'अंगिका' महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा वर्तमान शती के चतुर्थ दशक के अंतिम दिनों में दिया गया है, जो अब सर्वत: प्रचलन में है। वैसे तो बीच में डॉ॰ जी॰ए॰ ग्रियर्सन ने और उन्हीं के अनुसरण पर डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने-अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' (1906) और 'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लेंग्वेज' (1926) में 'छिका-छिकी' के नाम से मैथिली भाषा से अंगिका की भिन्नता प्रतिपादित की है, परंतु यह 'छिका-छिकी' नाम बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि मैथिली में 'छि-छी', बंगला में 'आछी-माछी' और भोजपुरी में 'ताड़े-बाड़' कहा जाय, जिनमें से कोई भी साधू नाम नहीं है। बात यह है कि मिथिला क्षेत्र में लोकप्रचलित भाषा को जिसे महाकवि विद्यापति ने 'देसिल बअना' कहा था, सर्वप्रथम मैथिली की संज्ञा से अभिहित करने का श्रेय कोलब्रुक महोदय को है,[19] जिसे बाद में डॉ॰ ग्रियर्सन ने भी अपनाया है। डॉ॰ उदयनारायण तिवारी के मतानुसार, 'कोलब्रुक' ने अपने निबंध में मैथिली का संबंध बंग्ला (भाषा) से बतलाया है और लिखा है कि इस भाषा का प्रयोग साहित्य में नहीं होता, अतैव इसके संबंध में विशेष रूप से (कुछ) लिखना अनावश्यक है।[20] इस प्रकार स्पष्ट है कि 13वीं शती के आरंभ तक आधुनिक मैथिली की कोई विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि नहीं थी, यद्यपि महाकवि विद्यापति की पदावली चौदहवीं शती में विरचित हो चुकी थी, जिसकी भाषा आधुनिक मैथिली से किंचित भिन्न रही है। हाँ, मैथिली की तरह की अंगिका में भी परंपरागत लोकसाहित्य का विपुल भंडार तो विद्यमान रहा ही है, विभिन्न विधाओं के तथाकथित शिष्ट साहित्य का प्रणयन भी प्रचुर मात्रा में होता रहा है। हिंदी के परिप्रेक्ष्य में अंगिका भी वैसी ही एक स्वतंत्र भाषा है, जैसी मैथिली, परंतु राजनीतिक वर्चस्व या अनभिज्ञता के कारण अंगिका को मैथिली की उपभाषा मानते हुए अंगिका भाषा-साहित्य का जो अहित किया जाता रहा है, वह कल्पनातीत है। यद्यपि अब उस स्थिति में न्यायोचित परिवर्तन हुआ है और अभी हाल ही में स्नातकोत्तर स्तर पर अंगिका भाषा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के आधिकारिक स्वीकृत्यादेश से समस्त अंगवासियों और लगभग दो करोड़ अंगिकाभाषियों के विपुल जनमत का समादर हुआ है। अंगिका भाषा की जीवंतता स्वत: सिद्ध है, ऐतिहासिकता की बात ऊपर कही जा चुकी है। इसे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) द्वारा बिहार की प्रमुख 'लोकभाषा' के रूप में मान्यता तो बहुत पहले से प्राप्त है ही, आकाशवाणी के भागलपुर केंद्र से अंगिका रचनाओं और वार्ताओं का प्रसारण अंगभाषा की महत्ता और लोकप्रियता को प्रतिपादित करता रहा है।

उपर्युक्त संदर्भ में पूर्वोक्त सिद्धसाहित्य का विशिष्ट महत्त्व है, जिसका अत्यंत घनिष्ठ संबंध अंगिका भाषा से रहता आया है, परंतु इससे पूर्व कि उस संबंध पर अपेक्षित विचार किया जाए, यह अच्छा होगा कि उसकी पृष्ठभूमि पर किंचित दृष्टिपात कर लिया जाय।

भारतीय आर्यभाषाओं में व्याकरणबद्ध 'संस्कृत' के समानांतर जो 'प्राकृत' भाषाएँ इस देश में प्रचलित थीं, उनमें मागधी, अर्द्धमागधी, आवंती, शौरसेनी, वाह्णीक, प्राच्या और दाक्षिणात्या का उल्लेख आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' (प्रथम ई॰ शती) में किया है।[21]

उसी प्रकार मार्कंडेय (17वीं शती) के 'प्राकृत सर्वस्व' में भी अन्यान्य प्राकृत भाषाओं के साथ-साथ 'प्राच्या' और 'गौढ़' (गौड़ीय) भाषाओं के नाम आए हैं।[22] 'गौड़' अंग जनपद में अंतर्भुक्त या निकटतम प्रतिवेशी क्षेत्र रहा है। इसी प्रकार आंगी अर्थात् (अंगिका) का अंतर्भाव मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में 'प्राच्या' के अंतर्गत होता रहा है, जिसका एक प्रभेद गौढ़ (गौड़ीय) रहा है। डॉ॰ चटर्जी के मतानुसार ई॰ पूर्व 600-200 के कालखंड में जो भाषिक (प्राकृत) बोलियाँ पश्चिम में गांधार से पूरब में बंगाल तक प्रचलित थीं, उनकी पूर्वीय वर्ग में (क) 'प्राचीन अर्द्धमागधी' और (ख) 'मागधी गांगेय' उपत्यका में प्रचलित थीं तथा ब्राह्मण-विरोधी विचारों के नेताओं (बुद्ध और महावीर) और पूर्वीय क्षेत्रों के शक्तिशाली साम्राज्यों या गणतंत्रों (मगध और बज्जी संघ) की शासकीय भाषा (ओं) के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।[23] कालांतर में (600-1000 ई॰ के बीच) अन्यान्य प्राकृत भाषाओं की तरह मागधी और अर्द्धमागधी का विकास भी तत्तद्नाम्नी अपभ्रंश भाषाओं के रूप में हुआ। 'आर्यभाषा (मागधी/अर्द्धमागधी प्राकृत/अपभ्रंश) अंग (जनपद) से 'पश्चिम बांगल' (राढ़) में प्रविष्ट हुई जान पड़ती है जो गंगा के उस पार पौंड्रवर्द्धन या वारेंद्र तक फैल गई...। गंगा के समानांतर वह भाषा अंग जनपद से पौंड्रवर्द्धन और राढ़ होते हुए बंग (मध्यबंगाल) तक फैलती चली गई।[24] इस प्रकार डॉ॰ चटर्जी के मतानुसार, मागधी (और अर्द्धमागधी) अपभ्रंश भाषा (एँ) अंग-जनपद से क्रमशः उत्तरी बंगाल, कामरूप, उड़ीसा, झारखंड, (छोटा नागपुर) और दक्षिण कौशल (पूर्वी मध्यप्रदेश) तक जा पहुँचीं।[25] यहाँ स्मरणीय है कि गौढ़, वारेंद्र, पौंड्रवर्द्धन आदि प्राचीन बंगाल के क्षेत्र अंग-जनपाद के सीमावर्त्ती रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि चीनी यात्री हेनच्वांग ने 630 से 644ई॰ तक भारत-भ्रमण किया था, जिसने अंग/कजंगल (वर्तमान भागलपुर जिले के कहलगाँव या संताल परगना संभाग के काँकजोल राजमहल) के पास गंगा पार करके पौंड्रवर्द्धन (उत्तरी मध्यबंगाल), कामरूप (पश्चिमी आसाम), पूर्वी उत्तर बंगाल आदि स्थानों का दौरा किया था।[26] डॉ॰ चटर्जी मानते हैं कि मागधी अपभ्रंश की आधुनिक प्रतिनिधि भाषाएँ बंग्ला, असमिया, उड़िया, मगही, मैथिली और भोजपुरी हैं। सातवीं शती के मध्यकाल में, जैसा कि हेनच्वांग के साक्ष्य से जान पड़ता है, बिहार, बंगाल और पश्चिमी आसाम में एक ही (प्रकार की) भाषा बोली जाती थी, सिर्फ आसाम में संभवतः मात्र ध्वनितत्त्व में, थोड़ा अंतर था। बंगाल और आसाम (राढ़ और उड़ीसा) में लाई गई प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ बहुलांशतः बंगाल से सटे हुए क्षेत्र अंग और मिथिला की थीं।[27]

सिद्धसाहित्य का प्रणयन उपर्युक्त भाषायी पृष्ठभूमि में ही आठवीं से बारहवीं शती के काल खंड में हुआ था और जबकि सातवीं शती के मध्यकाल में बिहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा तक में एक ही प्रकार की भाषा प्रचलित थी, आधुनिक बंग्ला, असमिया, उड़िया, मगही, मैथिली, अंगिका और भोजपुरी भाषाओं/उपभाषाओं के उद्गम की खोज सिद्धसाहित्य में किया जाना स्वभाविक ही है। यहाँ वफेडिनर की बात सहज ही याद पड़ जाती है, जिसमें भोज्य सामग्री किसी एक ही जगह एकत्र रहती है और भोजन करनेवाले लोग अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार उनमें से अपेक्षित वस्तु ले-लेकर 'पाया' करते हैं। तदनुसार

 ISSN 0975-735X

ही, जहाँ राहुल जी जैसे महापंडित सिद्धकवियों को हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी रचनाओं को आदि-हिंदी (मुख्यत: मगही) की कविताओं मानते हैं, वहाँ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री और डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ॰ कुंजबिहारी त्रिपाठी, डॉ॰ काफती प्रभृति विद्वान क्रमश: बंग्ला, उड़िया और असमिया भाषाओं का उद्‌भव उन्हीं सिद्धकवियों की रचनाओं से मानते हैं। चटर्जी महोदय का कहना है कि सिद्धकवियों के चर्यापदों की भाषा न तो प्राकृत या अपभ्रंश है और न मागधी (मगही) ही, अपितु वह पश्चिमी बंगाल की बोली पर आधृत जान पड़ती है।[28] उधर, डॉ॰ उमेश मिश्र के मतानुसार, उक्त चर्यापदों की भाषा मिथिला के पूर्वीय भाग की बोली का प्राचीन रूप है।[29] यही नहीं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राकृत भाषाओं के सुप्रसिद्ध जर्मन अध्येता डॉ॰ पिशल का कहना है कि भारत के पूर्वी प्रदेश में अर्द्धमागधी बहुत व्यापक रूप में फैली थी।[30] सारांशत: यह सभी तथ्य संकेतित करते हैं कि सिद्धसाहित्य अर्थात् चर्यापदों की भाषा मूलत: प्राचीन अंगभाषा (आंगी) रही है, जिसका आधुनिक नाम अंगिका है। ज्ञातव्य है कि 1912 ई॰ से पहले तक बंगाल, बिहार और उड़ीसा एक ही में, सामान्यत: बंगाल के नाम से अभिहित थे। वैसी स्थिति में सिद्धकवियों और उनकी रचनाओं का संबंध बात-बात में बंगाल और बंग्ला भाषा से बतलाया जाना स्वाभाविक ही लगता है, इसलिए भी कि उन कवियों और उनकी रचनाओं के अनुसंधान और अध्ययन में पहले-पहले बंगाल के विद्वान ही अग्रगण्य थे। डॉ॰ चटर्जी ने बंग्ला भाषा का प्रारंभिक उद्‌भवकाल 300 या 450 से 1200 ई॰ तक माना है। [31] तात्पर्य यह है कि लगभग 1200 ई॰ तक प्राचीन बंग्ला और अंगभाषा में जिसका कोई साधु नाम तक नहीं पड़ा था, घनिष्ठ साम्य विद्यमान था, जिसके प्रमाण किंचित परिवर्तित रूपों में अब भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए संज्ञा, अस् के लट् लकार अस्ती से व्युतपन्न प्राकृत अच्छइ से बंग्ला के आछे (है) और अंगिका के छै (है) रूप बने हैं, जिस दोनों का साम्य स्पष्ट ही है। इसी प्रकार ध्वनितत्व में प्रसृत ए-कार और प्रसृत अ-कार बंग्ला और अंगिका दोनों में एक ही समान हैं; उदाहरणस्वरूप, बंग्ला के एक, देख और अंगिका के लें, दें, आदि शब्दों में प्रसृत ए-कार तथा बंग्ला के भालों, गेलो और अंगिका में आबो, बैठो आदि शब्दों में प्रसृत अ-कार ध्वनियों में अद्‌भुत साम्य है।

डॉ॰ चटर्जी का अभिमत है कि 9वीं से 12वीं शती के कालखंड में उत्तर भारतीय क्षत्रीय राजपरिवारों के प्रभावस्वरूप पश्चिमी अर्थात शौरसेनी अपभ्रंश भाषा गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक एक प्रकार से समान्य लोकभाषा हो गई थी और अपने माधुर्य के फलस्वरूप मुख्य साहित्यिक भाषा बनी हुई थी, फिर भी विभिन्न स्थानीय बोलियों के पुट उसमें विद्यमान रहा करते थे।[32] तदानुसार सिद्धकवियों के चर्यापदों में प्राचीन अंगभाषा (अंगिका) के पुट भी विद्यमान रहे हैं, जिनके आधार पर बंग्ला, उड़िया, असमिया, मगही, मैथिली और भोजपुरी की तरह अंगिका के प्राचीन स्वरूप का उद्‌घाटन, प्रतिपादन भी उन चर्यापदों की भाषा से होता है जो, संक्षेप्त: इस प्रकार है–

संज्ञापद : चर्यापद 'घरहि' पैइठी दीवा जाली' और 'मटिट् पाणि कुस लई पठंत', घरहिं बैसी अग्गि हुणंत (सरहपा), 'जिम लोण विलज्जइ पाणिएहि' (काण्हपा), वेड्‌गस साप बड़हिल जाअ, दुहिल दुधु की वेण्टे समाअ ? वलद विआअल गविया बांझे, पिटा दुहिअइ ए

तिणा सांझे' (ढेढणपा) 'अदअ दिढ टांड्गी निवाणे कोहि (चाटिल), 'खुण्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि' (कंबलपा) इत्यादि में आये हुए संज्ञा पद दीवा, मट्टि, अग्गि, लोण, बेड्ग, वेडट (वेण्टे) वलद, गविया, टांड्गी खुंटि, और काच्छि आधुनिक अंगिका में क्रमशः डीवा, माटी, आगिन, नोन, बेड़ (बंग) बांट (मादा पशुओं के थनों के अग्रभाग), बरह/बरोंद, गदया/गैया, टांगी (कुल्हाड़ी), खूँटी और कच्छी (लंगोटी) के रूप में प्रचलित हैं, जबकि उपर्युक्त चर्यापदों के अन्यान्य शब्द अन्यान्य प्रकार से विवेच्य हैं। मागधी अपभ्रंश में 'र' का 'ल' हो जाया करता है जबकि अर्द्धमागधी में 'र' भी रहा करता है। तदनुसार, चर्यापद का वलद (संज्ञा वलि वर्द/बलीवर्द) अंगिका में वरद/वरोद (बैल) है। अपभ्रंश में गाय का एकरूप गाभी भी है, जिसका निश्चयात्मक रूप गभिया है और जो अंगिका में 'गइया' या 'गैया' के रूप में है। चर्यापद का वैण्ठ-(सप्तमी विभक्ति युक्त वेंट) अंगिका के बाँट या 'भेंटवा' या 'चुच्चुक' (गाय भैंस के थनों के अग्रभाग) का पूर्व रूप है। कथन में जोर देने के अर्थ में 'बाँझ' की जगह 'बाँझे' शब्द का प्रयोग अंगिका में होता है; 'बाँझे छै' (बाँझ ही है), जो चर्यापद में प्रयुक्त 'बाँझे' जैसा ही है। इसी प्रकार, अन्यान्य अनेक अंगिका संज्ञा पदों के पूर्वरूप चर्यापदों में विद्यमान हैं।

सर्वनामः चर्यापद 'अम्हे ण जाणहु अचिंत जोइ' (सरहपा), भणइ गुंडरी अम्हे कुंदुरे वीरा' (गुण्डरीपा), 'भणइ लुइ आम्हे झाणे दिठा' (लुईपा), हांउ कपाली (काण्हपा), 'जइ तुम्हे लोअ हे होइव पारगामी' (चाटील), 'जइ तुम्हे भूसुकु अहेरि जाइबे' (भूसुकुपा), 'णुउ त वाइहि गुरु कहिई' (सरहपा), जोइनि तंइ बिनु खणहि न जीवमि'/तो गुह चुंबी कमलरस पीयमिं (गुंडरीपा), जइ तो मुढा अच्छसि' (भुसुकुपा), 'ए वन च्छाडी होहु भान्तो'/'ए तिलोए' (भूसुकुपा),'ए भव गिरा' (कुक्कुरिपा), एकेली राबरी ते ए यण हिंडइ (शबरपा), 'काला मुसा उह ण वाण' (भूसुकुपा), 'जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिस' (लुईपा), 'खण आणव भेउ जो जाणइ, सो इह जम्महि ओ भणिज्जइ' (तिलोपा), इत्यादि में आए हुए 'अम्हे, आम्हे, होउ', 'तुम्हे, तं/तंह, तो', 'ए, इह', 'उह', 'जे-जे, ते-ते, जो....सो' और 'इथु' सर्वनाम अंगिका में हम्में, (मैं), तों, तोंय, तोहें, तोहों, (तु, तुम, आप,) 'ई' (यह), 'ऊ' (वह), 'जे', 'जे-जे', 'से', 'से-से', 'एथि' आदि के रूप में प्रचलित हैं। अंगिका के तों (तु) का रूप चर्यापद सुण हरिणा तो (भूसुकुपा) में तो है, जबकि प्रश्नवाचक, 'के'? अंगिका और चर्यापद कुड़आल नाहिके कि बाहव के पारअ (कम्बलपा) में एक ही है कि या की (क्या?), की स्थिति भी वही है। मध्यम पुरुष सर्वनाम के तिर्यक् रूप चर्यापदों में तोहोर तोहोरि आदि हैं–'तोहोर अंतरे' (तुम्हारे लिए), 'तोहोरि कुड़िआ' (तुम्हारी कुटिया) इत्यादि, जो आधुनिक अंगिका के तोरों/तोहरों के पूर्व रूप हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम (एकवचन) के तिर्यक् रूप चर्यापदों में 'मोर' और 'मोहोर' हैं–'टालत मोर घर' (ढेण्ढपा), 'मोहोर बिगोआ' (कुक्कुरिपा), जो अंगिका में 'मोर' (मेरा-मुख्यतः पद में) के रूप में हैं।

कारकः (अ) मागधी और अर्द्धमागधी अपभ्रंश भाषाओं में कर्त्ता-वाचक अ-कारांत शब्द बहुधा ए-कारांत या ए-कारांत हो जाया करते हैं, जैसा कि सिद्धकवियों के चर्यापदों में भी हैं–सरहे कहिअ उवेश (सरहपा), 'भादे भणइ' (भादेपा), 'कुंभीरे खाअ' (कुक्कुरीपा),

 ISSN 0975-735X

'कुक्कुरीपाएँ गाइल' (कुक्कुरीपा), 'आज देवें राअल विआरउ' (आर्यदेव), आदि में आए हुए 'सरहे', भादें, कुंभीरे, 'कुक्किरीपाएँ' और 'आज देवें' शब्द इस संदर्भ में उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं अंगिका में भी, उसी प्रकार सकर्मक क्रियाओं के अ-कारांत कर्त्तापद समान्यत: एँ-कारांत होते हैं तथा अ-कार से भिन्न स्वरांत कर्त्तापदों में प्राय: अनुस्वार (ं) लग जाया करता है, 'लोगें कहै छै' (लोग कहते हैं), 'रामधनें पढ़लके' (रागधान ने पढा) तथा कमलां जानै छै (कमला जानती है), मुनकां सुनतै (मुनका सुनेगी) इत्यादि। स्पष्ट है कि इस मामले में सिद्ध-कवियों की भाषा के साथ अंगिका का विंदुश: साम्य है।

अपभ्रंश भाषा के संबंध परसर्ग 'केरा'/ 'करेओ' का विकास अंगिका में 'के' 'केरो' और 'रों' के रूप में हुआ है, जगकि बहुत कुछ वैसे ही प्रयोग सिद्ध-कवियों के चर्यापदों में भी मिलते हैं, 'रूखेर तेन्तलि' (कुक्कुरीपा), 'हरिणार खुर'/ 'हरिणीर निलय' (भूसुकुपा), 'डोंबीयेर संगे' (कृष्णपा), आदि में 'रूखेर' (पेड़ की), 'हरिणारे'(हरिण का), 'हरिणीर' (हरिणी का), 'डोम्बीएर' (डोमनी के) जैसे पद उस संदर्भ में ध्यातव्य हैं। ध्यान में रखने की बात यह भी कि कि उपर्युक्त रूखेर, डोंबीयेर, हरिणार, और हरिणीर पदों में जो संबंध-विभक्तियाँ-एर और 'र' हैं वे हलंत नहीं अजंत रही होंगी, अर्थात् 'एर' का उच्चारण लगभग 'एरअ' की तरह और 'र' का 'रअ' की तरह, दूसरे रूपों में क्रमश: 'ऐरो, और 'रो' की तरह रहा होगा जैसा कि आधुनिक अंगिका के 'हमरों, (मेरा), 'तोरों, (तुम्हारा), 'ओकरों' उसका आदि सार्वनामिक पदों में तथा गामों के लोग (गाँव के लोग), 'कहाँ केरों बात ?' (कहाँ की बात?) 'गाछों रों ठार' (पेड़ की डाल), इत्यादि संज्ञापदों में प्रयुक्त उपर्युक्त विभक्तियों/परसर्गों से स्पष्ट है। उपर्युक्त-'एर' और 'र' बंग्ला भाषा में हलंत के रूप में (एर और र), हैं, अजंत (ऐरों और रो), के रूप में नहीं। अंगिका के साथ इन संबंध विभक्तियों या परसर्गों का साम्य इस तथ्य से भी प्रतिपादित होता है कि संबंधी स्त्रीलिंग रहने पर अंगिका की तरह की चर्यापदों में भी ये विभक्तियाँ स्त्रीलिंग रूपांत हो जाती हैं, जबकि बंग्ला में ऐसा नहीं होता है; उदाहरणार्थ, 'तोहारि कुड़िआ' (तुम्हारी कुटिया), 'हाड़िरि मालि' (हड्डियों की माला) इत्यादि।

चर्यापदों में आये हुए 'डरे भाअ' (कुक्कुरीपा), 'अपणे बहिआ' (वीरूपा), 'वेगेंवाही' (चाटिल), 'अपणा मांसे' (भूसुकुपा)जैसे पदों में प्रयुक्त तृतिया (करण कारकीय), तथा 'चंचल चीए' (लुइपा), 'एकु माझे' (कुक्कुरीपा), 'सासु घरे घालि' (गुण्डरीपा), 'कुले-कुले' (शांपिता), जैसे पदों में प्रयुक्त सप्तमी (आधिकरण कारकीय) विभक्तियाँ अंगिका की उन-उन कारकीय विभक्तियों से बहुत कुछ मेल खाती हैं-'लोभें करै छै,' (लोभवश करता है), 'डरे भागी गेलै' (डर से भाग गया), तथा 'नीचें छै', (नीचे है), 'माँझे छेलै' (बीच में था), इत्यादि।

क्रियापद: (क) सत्तासूचक प्राकृत/अपभ्रंश क्रिया मूल 'अच्छ' (संज्ञा अस्) का वर्तमानकालिक रूप है-'अच्छइ' (है), जिससे व्युत्पन्न अंगिका का वर्तमानकालिक रूप 'छै' और भूतकालिक रूप 'छेलै' (अन्य पुरुष) बहुप्रचलित है। जबकि चर्यापदों में इस 'अच्छ' क्रिया मूल से प्रसूत विभिन्न क्रियारूप अनेकश: प्रयोग में आए हैं यथा हंउ अच्छिल स्वमो है' (भादेपा), 'जइ तो मूढ़ा अच्छसि' (भूसुकुपा),'अमिआ अच्छणो विस गिलेसि' (सरहपा),

'मूढ़ा अच्छंते लोअण पेखइ' (काण्हपा), 'आच्छहुं चउखन संबोहि (कंकणपा) इत्यादि में आए हुए 'हंउ अच्छिल', 'तो... 'अच्छसि', 'अचछंत' और 'अच्छहु' पद अंगिका में क्रमशः 'हम्में छेला', (मैं था), 'तो छौं' (तुम हो) 'छैते', (रहते हुए, रहने पर भी), और 'छी' (हूँ), के रूप में हैं। स्पष्ट है कि चर्यापदों में आए हुए सत्तामूलक 'अच्छ' क्रिया मूल (धातु) से निष्पन्न विभिन्न क्रियारूप अंगिका में किंचित परिवर्तित रूपों में विद्यमान हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि चर्यापद का 'अच्छसि' पद संस्कृत के मध्यम पुरुष एकवचन की वर्तमानकालिक (लट् लकार) तिग्ड़ विभक्ति 'सिप' से प्रभावित है और ऐसा प्रभाव चर्यापदों में अन्यत्र भी विद्यमान है।

'अच्छइ' की तरह ही सिद्ध-कवियों के चर्यापदों में 'हैविचुअल' अर्थात् नित्यप्रवृत वर्तमानकालिक क्रिया पदों के प्रयोग बहुलशः हुए हैं–भणइ, गढ़इ, बहइ, बाजह, बुड़इ, बुझइ, दीसइ, पइसइ, हिण्डइ, होइ, गाइ, इत्यादि। ऐसे क्रियापद अंगिका में, बहुधा सहायिका क्रिया 'छै' (भूतकालिक छेलै), के साथ अथवा उसके बिना भी, बहुलशतः प्रयोग में आते हैं; यथा-बोलै (छै), बूझे (छै), कहै, (छै), बहै (छेलै) इत्यादि। यहाँ ध्यातव्य है कि चर्यापदों में प्रयुक्त गढ़इ, बहइ, बुझइ आदि और अंगिका के गढ़ै, बहै, बूझे, आदि में वर्तनी भेद भले ही हो, उनमें कोई उच्चारण भेद (ध्वनि-भेद) नहीं है इस प्रकार, सिद्धकवियों की रचनाओं में अंगिका के स्वरूप साम्य के बारे में हाथ कंगन को आरसी क्या?

चर्यापदों में कतिपय वर्त्तमानकालिक क्रियापद अ अंतक भी हैं–पड़अ, बोलअ चाहअ पारअ विलाराअ इत्यादि, जिनके अंतिम 'अ' का उच्चारण लगभग 'य' की तरह है (य-श्रुति) और जिन्हें आधुनिक अंगिका में क्रमशः 'पढ़ै', 'बोलै', 'चाहै', 'पारै', 'बिलसै' आदि के रूप में लिखा पड़ा जाता है। यहाँ मामलों में भी चर्यापदों की भाषा में अंगिका का स्वरूप सुस्पष्ट है।

चर्यापदों में प्रयुक्त 'पइसी', 'बइसी', 'करि', 'देखि', 'उठि' आदि पूर्वकालिक (असमापक) क्रियापद अंगिका में भी, बहुधा के परसर्ग के साथ अथवा उसके बिना भी, प्रयोग में आया करते हैं, भले ही उनमें किंचित वर्तनी-भेद रहे; (के), पैठी (के) पैठकर बैठी (के), बैठकर, 'करी (कें), करके, देखी (कें), देखकर, इतयादि। अतः, ये भी चर्यापदों में अंगिका के पूर्व रूपों के स्पष्ट निदर्शक हैं।

चर्यापदों में प्रयुक्त–'इल', 'अल', या 'एल' प्रत्यांत भूतकालिक क्रियापद, जो भूतकालिक कृदंत विशेषण हुआ करते हैं, किंचित वर्तनी भेद के साथ अंगिका में बहुलशः विद्यमान हैं, यथा–'दुहिल' 'दुधु,' 'बलद बिआजल' 'बड़्हल जाअ' आदि चर्यापदों के पद अंगिका में क्रमशः 'दुहलों दूध' (दुहा हुआ दूध), 'बेरोंद बियैलै' (बैल ब्याया) या बियैलों बरोंद (ब्याया हुआ बैल) और बढ़लों जाय (बढ़ता जाता है) इत्यादि। देखा जाता है कि चर्यापदों में 'य' श्रुति की जगह बहुधा 'अ' का प्रयोग हुआ है। यथा–जाअ, जाय, बिआअल, बिआयल इत्यादि। यदि वैसा न रहे तो चर्यापदों के साथ अंगिका का साम्य और अधिक स्पष्ट हो जाय।

चर्यापदों में प्रयुक्त 'पुच्दह'/'पुच्छिह', 'छाड़अ', 'करअ'/'करह', बिंदह आदि विधि क्रियाएँ अंगिका के क्रमशः पूछों, छोड़ों, करों, विंधो, आदि के रूप में व्यवहत होती हैं, जिनमें

 ISSN 0975-735X

चर्यापदों में प्रयुक्त अनुज्ञार्थक प्रत्यय 'अ', या 'ह' का विकास अंगिका में ओ (ओ) के रूप में हुआ है अन्यथा दोनों का साम्य अभिन्न है। चर्यापदों में 'अच्द' धातु का वर्त्तमानकालिक रूप मध्यम पुरुष में 'आछ' है 'जैइसनें अछिलेसि तैइसने आछ' (चर्या-30), जो अंगिका में 'छो' (हो) से साम्य रखता है।

चर्यापदों में 'निद गेल' (नींद गई,) 'चोरे निल' (चोर ने ले लिया) 'पइठेल गराहक' (ग्राहक पैठा), 'जे-जे आइला से-से गेला' (जो-जो आये सो-सो गए), 'कानु विमन भइला' (कान्हू विमन हुआ) आदि में प्रयुक्त भूतकालिक क्रियापद, भूतकालिक प्रत्यय: 'इल', 'अल' या 'एल' के मामले में अंगिका के क्रियापदों से मेल खाते हैं; 'ऐलै' (आया), 'गेलै' (गया) इत्यादि। ध्यातव्य हैं कि 'आइला' (चर्यापद) और 'ऐलै' (अंगिका), 'गेला' (चर्यापद) और 'गेलै (अंगिका) आदि में वर्त्तनीगत विभेद रहने पर भी उनमें स्वरूपगत विभेद नहीं है।

चर्यापदों में प्रयुक्त संभाव्य क्रियार्थक पद (लोट् लकार), 'राति भइले' (कुक्कुरीपा), 'साउनत चढ़िले' (चाटिल), 'मांडत चड़हिले' (कंबलपा) आदि के रूप अंगिका में क्रमश: 'भेलै', 'चढ़लैं,' (होने पर, चढ़ने पर), आदि होते हैं, जिससे चर्यापदों में अंगिका या व्याकरणिक साम्य प्रतिपादित होता है।

क्रियाविशेषण: चर्यापदों में विभिन्न क्रियाविशेषणों के रूप में 'मज्झे'/ 'माझे,' 'काहे' 'कइसे', 'जबे'/ 'जबे', 'तबे'/ 'तबें' 'अबे'/ 'अबे', 'एत', 'जत', 'तेत' आदि शब्द प्रयोग में आए हैं, जिनसे मिलते-जुलते क्रमश: 'माँझे', (बीच में), 'काहे', (क्यों ?), 'कैसे' (कैसे), 'जबें' (जब), 'तबें (तब), 'आबें (अब), 'एत्ते' '(इतना), जत्तें, (जितना), तत्ते (तितना), जैसे शब्द अंगिका में आम तौर पर प्रचलित हैं, जो चर्यापदों में अंगिका के पूर्व स्वरूपों का निखारते हैं। सरहपा के ण्अि मण साच्चें सोहिअ जब्बें गुरु गुण हिअ हिमपइगइ तब्बें यहाँ 'जब्बे, और 'तब्बे' में जो अंगिका के 'जब्बे (जब), और 'तब्बे' (तब), अनुनासिकता के अलावा जस के तस विद्यमान है।

अन्यान्य: सिद्ध सरहपा के 'गमणागणम ण एक्कु विखंडअ', तउ णि लज्ज भणइ हउँ पंडिइअ और काण्हपा के 'एक्कु ण कि जइ मंत ण तंत' तथा सरहपा के 'रवि ससि णाइ पवेश' में आये हुए 'एक्कु' 'तअ' और 'णाइ, के प्रतिरूप अंगिका में क्रमश: एक्कों (एक भी) 'तय्यों' (तो भी), और 'ने'/ ने (नहीं) हैं। ये रूप चर्यापदों में अंगिका के पूर्व-स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं। हिंदी के निपात 'भी' के अर्थ में अंगिका में जो 'ओ' पदांत में आता है वह अंगिका के 'एक्को' और तैय्यो में तथा चर्यापद के 'एक्कु' और 'तउ' में मौजूद है।

काण्हपा के 'आ लो डोंबी' और 'तु लो डोंबी' में आया हुआ 'लो' शब्द अंगिका के संदर्भ में विशेष रूप से विवेच्य है। यह शब्द सामान्य या निम्न कोटि की स्त्रियों के लिए बहुधा संबोधन के रूप में अंगिका (और बंग्ला) में प्रचलित है। स्पष्टत: यह 'लो' शब्द सिद्ध-कवियों की रचनाओं में (जहाँ वह डोम्नी के लिए प्रयुक्त हुआ है), अंगिका के भाषाई साम्य को विशेष रूप से उजागर करता है। इसी प्रकार 'तरसंते' (भूसुकुपा), 'बुलथेउ' (शांतिपा), 'हिण्डइ' (शबरपा), 'अचछंते' (शबरपा, काण्हपा), 'छेवह' (काण्हपा) 'दाढ़ा,' (यनंदी), 'कादइ (शबरपा) आदि शब्द अंगिका के क्रमश: तरों सें, (नीचें से) 'बुलैछै, (चलता है), 'हिंड़ै

छै' (गड़ मड करती है, छान मारती है), 'छैतैं' (रहते हुए, रहने पर भी) 'छेवों' (काट डालो), 'डढ़ै छै' (झुलसाता है) 'कादै छै'(रोता है) के पूर्व रूप हैं। सरहपा के 'घरवइ खज्जइ सहजें रज्जइ...' में आया हुआ 'घरवइ' शब्द अंगिका में आमतौर पर 'घरवै (घरवाली पत्नी) के रूप में प्रचलित है। ज्ञातव्य है कि सरहपा का संबंध विशेष रूप से अंग जनपद और यहाँ के विक्रमशिला महाविहार से रहा हुआ बताया जाता है, जिससे उनकी भाषा में अंगिका के पूर्व स्वरूप का होना स्वभाविक ही है।

सारांशत: अंग-जनपद की ऐहिासिक प्रसिद्धि प्राचीनकाल से ही रहती आई है। सिद्धकवियों का संबंध बहुधा विक्रमशिला महाविहार विश्वविद्यालय से रहा है।[33] तथा अंगिका भाषा का यह नाम आधुनिक रहने पर भी इसका संबंध सिद्धकवियों की रचनाओं चर्यापदों से सुस्पष्ट है। यह बात दूसरी है कि इन रचनाओं में संस्कृत शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश भाषा, बंगला, उड़िया, असमिया, मगही, मैथिली और भोजपुरी के पुट भी यत्र-तत्र विद्यमान हैं, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उन रचनाओं की भाषा मूलत: प्राचीन अंगिका पर आधृत है, जिसे डॉ॰ चटर्जी ने पश्चिमी बंगाल की बोली पर आधृत बतलाया है।[34] जबकि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उसे आदि हिंदी मुख्यत: मागधी माना है।[35] खेद की बात है अंगिका जैसी साधु आत्या पहले से नहीं रहने के फलस्वरूप छिकाछिकी के नाम पर, इस अंगिका भाषा की उपेक्षा सदियों से होती रही, जबकि अब विश्वविद्यालय स्तर पर इसका प्रदेय हो जाने से इसका समादर हुआ है—देर आयद दुरुस्त आयद।

संदर्भ

1. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबनावली (इलाहाबाद), 1998, पृ॰ 108-114
2. वही, पृ॰ 118-128
3. वही, पृ॰ 129
4. श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ट, बिहार दर्पण 1980, पृ॰ 139।
5. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली पृ॰ 439।
6. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, 1826/1830, सू॰ 30, पृ॰ 110
7. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, बौद्ध सिद्धों के चर्यापद 1933, पृ॰ 13 और 14
8. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, सू॰ 30 पृ॰ 110
9. वही (पाद-टिप्पणी)।
10. वहीं, सू॰ 13, पृ॰ 112-113
11. वही, सू॰ 83, पृ॰ 32
12. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ॰ 221-225।
13. राहुल जी, आजकल बौद्धधर्म के 2500 वर्ष (विशेषांक), दिसंबर 1935, पृ॰ 138-145 पुरातत्त्व निबंधावली (1968) पृ॰ 113-123 तथा डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैग्वेज आश्विन मागशीर्ष 1918, सू॰ 13, पृ॰ 120
14. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ॰ 124
15. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाङ्मय विमर्श द्वि सं॰ 2004 वि॰ पृ॰ 134

16. डॉ॰ रिचर्ड पिशल, अनु डॉ॰ हेमचंद्र जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण 1935, सृ॰ 12, पृ॰ 32-33
17. वही, सं॰ 18 पृ॰ 24
18. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैग्वेज, सृ॰ 22 पृ॰ 29
19. डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त, हिंद साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास 1926, पृ॰ 230
20. डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य 1936, पृ॰ 203
21. डॉ॰ रिचर्ड पिशल, अनुवादक डॉ॰ जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सृ॰ 3, पृ॰ 3, 13, 30
22. वही।
23. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज सं॰ 32, पृ॰ 55 (पाद-टिप्पणी)
24. वही, सं॰ 89 पृ॰ 32।
25. वही
26. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, सं॰ 89, पृ॰ 88, 42 39
27. वही
28. वही, सं॰ 32, पृ॰ 112-114
29. डॉ॰ उमेश मिश्र, मैथिली भाषा और साहित्य (निबंध) पंचदश लोकभाषा निबंधावली 1930, पृ॰ 5
30. डॉ॰ रिचर्ड पिशल, अनु॰ डॉ॰ जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सं॰ 12, पृ॰ 32
31. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, सृ॰ 32, पृ॰ 113
32. वही, सं॰ 11, पृ॰ 116
33. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ॰ 134
34. डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज सं॰ 32, पृ॰ 112
35. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबंधावली, पृ॰ 135

साहित्यिक कृतियों में मानवमूल्यों की भूमिका
डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र के निबंधों के संदर्भ में

डॉ॰ सुमन शर्मा

मनुष्य का प्रत्येक क्षण समाज के मध्य बीतता है। उसका जीवन परिवेश क्या है? उसका जीवन परिवेश कैसे बना है? उसका परिवेश किस प्रकार विकसित होकर उसके जीवन को प्रभावित करता रहा है? आदि बातों पर विचार करते समय प्रबुद्ध समाज ने स्वीकार किया कि मानव जीवन विकास और उसके समरसत्व के लिए कुछ बातें, कुछ सिद्धांत, कुछ मर्यादाएँ ऐसी बनती जाती हैं, जिनका पालन समाज को एक नियमित, व्यावहारिक, सुखमय, सरस एवं संतुलित जीवन बिताने में सहायक सिद्ध होता है। यही सिद्धांत मानवमूल्य कहे जाते हैं। समाज का स्वरूप और उसका संबंध बहुआयामी होता है अत: मूल्यों को भी बहुआयामी दृष्टि से परखा जाता हैं। आर्थिक मूल्य, नैतिकमूल्य, सौंदर्यात्मक मूल्य, धार्मिक मूल्य, साहित्यिक मूल्य और समग्र रूप से सांस्कृतिक मूल्य इसी बात की ओर संकेत हैं।

किसी साहित्यकार का साहित्य समाज की धरोहर होता है, क्योंकि वह उसके समय के समाज की परिस्थितियों के प्रभाव से प्रभावित वैचारिक चिंतन का मानसिक प्रतिबिंबन करता है। यही कारण है कि अनादिकाल से साहित्य को मानवमूल्यों के संदर्भ में प्राथमिकता दी जाती रही है। हिंदी साहित्य की निबंध-विधा में डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र का विशिष्ट स्थान है। यहाँ उनके निबंध संकलन 'वाद्य-वृंद' के आधार पर कुछ प्रमुख मानवमूल्यों का उल्लेख करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

विद्यानिवास मिश्र वर्तमान समय के सर्वमान्य निबंधकार हैं। उनके निबंधों में भावों और विचारों की वह धारा है, जो पाठक के हृदय को स्पर्श करती हुई आज के उथल-पुथल भरे वातावरण में सोचने को विवश करती है कि आज का मनुष्य एकागी एवं आत्मकेंद्रित होकर स्वयं को व्यक्ति मानते हुए, अपने ही व्यक्तित्व तक सीमित होकर, समाज में रहते हुए अपने समाज और अपनी सामाजिकता का आलाप अलापता है। वह आधुनिकता के चकाचौंध भरे वातावरण में अपनी चुँधिआई आँखों से नहीं देख पा रहा है कि उससे पहले की भी एक शृंखला है, जिससे वह जुड़ा हुआ है। उसके जननी-जनक की शृंखला जिसने उसका पालन-पोषण किया है, जिसने उसे सुख-सुविधाएँ दी हैं, जिसने उसे पढ़ाया-लिखाया है, जिसने उसे वह संबल दिया है, जिसके बल पर वह आज खड़ा है और आज भी उसकी जड़ें उससे खाद-पानी लेते हुए जमी हैं और वह फल और फूल रहा है। यही शृंखला है, उसकी पोषक सांस्कृतिक शृंखला, जिसके विभिन्न आयाम ही कहलाते हैं सांस्कृतिक मूल्य। ऐसे सांस्कृतिक मूल्यों के पोषक हैं विद्यानिवास मिश्र जो रोक नहीं पाते हैं अपने भावों को बहाने लगते हैं, हिलौरे लेती

 ISSN 0975-735X

हुई एक सरिता में, जो बहती है अपने कूलों में समेटती हुई विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों की स्मृतियों को 'मैं उन स्रोतों का भी प्रणतिभाव से स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने मुझे पोसा, खड़ा किया, चलना सिखाया, बोलना सिखाया। मेरे बाबा ने महाभारत, रामायण और भागवत की पूरी कथा सोते समय सुनाई वह आज भी पोथी के ज्ञान से अधिक गहराई में अंकित है। मेरी माँ, मेरी दादी, मेरी नानी लोकशास्त्र को प्रमाण मानती थीं। माँ का कंठ बहुत ही मधुर था और गाने का उत्साह अंतिम समय तक बावजूद दमा के बना रहा। मेरी दादी ने आग्रहपूर्वक मेरी बेटी के विवाह के अवसर पर साँस उखड़-उखड़ जा रही थी, पर अकेले जाने कितने संस्कार गीत गाए। मेरी माँ ने मेरे दौहित्र का मुँह देखे बिना इस लोक को नहीं छोड़ने का संकल्प लिया था। और उसे देखा, उसके तीन दिनों बाद उन्होंने शरीर छोड़ा और उसे देखते ही दमा की परवाह न करके ललित स्वर में सोहर (जन्म मंगलगीत) गाए। उनकी गद्दी मेरी पत्नी सँभालती है, उनसे भी मैंने बहुत से अज्ञात रहस्यों का अर्थ पाया, जो लोक के गर्त में ही छिपे हुए हैं। मेरा किताबी ज्ञान उस अपरिमित वाचिक स्रोत के किनारे बराबर अपने को छोटा पाता रहा है।'[1]

ये हैं सांस्कृतिक मूल्य, जो बीज बोते हैं अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं के, अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान, आस्था और विश्वास के। आज का हमारा युवक भटक रहा है एकाकी जीवन के दर्शन में। हम दो और हमारा एक की मान्यता में नौकरी और धन कमाने की दौड़ में क्रैच में पलते बालक के पटपटे संस्कारों में आज दादा-दादी की खाँसी भी बच्चों की पढ़ाई में खलल पैदा करती है और वृद्ध माता-पिता पड़े हैं बेसहारा एकाकी अपने-अपने भाग्य को कोसते हुए।

पंडित विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में भारतीय संस्कृति के स्थायी एवं आदर्श मूल्यों के क्षरण के प्रति अद्‌भुत क्षोभ एवं विक्षोभ का भाव प्रकट होता है। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आधुनिकता के नाम ओढ़ी गई पश्चिमी सभ्यता के बीच एक संतुलन चाहते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के भाव का ह्रास उन्हें उद्वेलित कर देता है और उनका आक्रोश फूट पड़ता है।

'कथावाचकों, पुजारियों, मठाधीशों, संन्यासियों—सबको देखता हूँ सब माँग रहे हैं—कोई धार्मिक अनुष्ठान हो, पैसे माँगता है, कोई मंदिर हो, चढ़ावा माँगता है, तभी दर्शन अधिक सुगमता से होंगे। आप कभी तल्लीनता से गंगास्नान करना चाहें, पैसों के लिए डुबकी लगाने वाले छोकरों से टकराकर अचकचा ही जाएँगे, यहाँ तक कि श्मशान पैसे माँगता है। कभी-कभी सोचता हूँ आहुति, त्याग, यज्ञ की बात करने वाले धर्म में इतना लोभ कहाँ से आ गया है। आदमी सोचेगा कि जैसे भी हो, मुझे स्नान करने को मिल जाए दर्शन करने को मिल जाए भले ही मेरे धक्के से दूसरे दर्शनार्थी गिर जाएँ, पिस जाएँ। मैं ऐसे आत्मलोभी धर्म से घबराता हूँ।'[2]

धर्मप्राण भारत में धर्म की दुहाई देनेवाले धर्माचार्यों ने धार्मिक मूल्यों की चूल को हिला दिया है। उन्होंने अनेक मुखौटे पहन लिए हैं—'काशी जैसी धर्मप्राण नगरी में बरसों से रह रहा हूँ, संस्कृत के बड़े आस्थावान पंडितों के बीच रह रहा हूँ, पर जब देखता हूँ कि यहाँ ऐसे सनातनी हैं जो पश्चिमी सभ्यता को कोसने से दिन का श्रीगणेश करते हैं और पश्चिमी सभ्यता के सबसे निकृष्ट और घिनौने रूप की आराधना से रात को जो शास्त्र की रक्षा के लिए प्राण देने की बात करते हैं और अर्थशास्त्र से एक दिन में दो विरोधी वचन निकालकर दो पक्षों से गहरी रकम लेकर दो विरोधी व्यवस्थाएँ दे देते हैं, पंडित हैं, जो स्वयं पूजा-पाठ करने में कोई संकोच

भी नहीं करते, ऐसे धर्मधुरीण हैं, जो समस्त विश्व की राजनीति का, वर्णाश्रम का धार्मिक आधार देंगे, पर स्वयं भीख माँगने वाली अपनी पत्नी को कर्तव्य की दृष्टि से कौन कहे, दया की दृष्टि से भी वंचित रखेंगे, तो मन विषाद से भर जाता है।'[3]

मिश्रजी के अनुसार सांस्कृतिक मूल्य कभी घिसते नहीं हैं। वे प्रचलन से कभी बाहर नहीं होते हैं, अपितु उनका तो निरंतर प्रवाह बना रहता है। उनका निरंतर नवीन अवहरण होता रहता है नया-नया जन्म होता रहता है। सांस्कृतिक मूल्य नदी, नारी और संस्कृति की भाँति एक-दूसरे से ओतप्रोत हैं। आज पारिवारिक विघटन का प्रदूषण उदार वैचारिक चिंतन का ह्रास है। 'पुरुष के पुरुषार्थ की कसौटी है गृहस्थाश्रम और उस गृहस्थाश्रम में केंद्रीभूत गृहिणी। स्त्री को आप आधी दुनिया क्यों मानते हैं? स्त्री तो पूर्ति है, वह आधेपन को भरती है, वही आधा है, वह द्वितीया कहाँ है? नदी को आप उपयोग्य क्यों मानते हैं? क्यों नदी अपने आपमें जीवन का सहज स्वभाव नहीं। नदी से जुड़ना उस स्वभाव से जुड़कर नए सिरे से सहज होना नहीं। संस्कृति को शोभा के रूप में क्यों देखते हैं, धड़कन के रूप में क्यों नहीं अनुभव करते।'[4]

समाज घर-परिवार से मिलकर बनता है, लेकिन आज हर ओर से यही सुनाई पड़ता है कि हमारा घर उजड़ गया, मेरा घर उजड़ दिया, हमारा घर बरबाद हो गया, मैं बेघर हो गया आदि-आदि। इसका कारण है सहनशीलता में मूल्य का अवमूल्यन। मिश्रजी ने निबंध 'घर से, घर से घर...' में घर का अर्थ स्पष्ट करते हुए ऐसी अनेक बातें कही हैं, जिनमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के निहितार्थ है। मेरा यह कथन कुछ उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो जाएगा। यथा–घर माने उलझन। घर को अगर आलंकारिक अर्थ में लें तो घर माने घरनी और घरनी नाम का पदार्थ उलझन और सुलझाव का ऐसा ताना-बाना है कि आप एक को दूसरे से अलग करना चाहें तो अलग कर नहीं सकते और उसके बिना रह भी नहीं सकते।

'रहने के लिए घर चाहिए, सहने के लिए घरनी चाहिए। सहमति के लिए घर चाहिए, असहमति के लिए घर चाहिए। घर माने जनतंत्र। अपने जनतंत्र में, मैं विपक्ष का नेता हूँ। मैं केवल या तो चुप रहूँ या फिर अपनी विमति टिप्पणी को बार-बार अंकित करूँ। चुप ही रहना ज्यादा श्रेयस्कर समझता हूँ।'[6]

आदमी है तो घर है, बाल-बच्चे घर के आँगन में खेलते हैं तो घर है। गाने-बजाने के बहाने लोगों का आना-जाना होता रहता है तो घर है, नहीं तो घर भी जंगल है।'[7]

'घर का अर्थ है अपनापन।'[8]

'घर माने आश्वासन। यही घर-बाहर में अंतर है। बाहर आदमी क्लेश में रहता है। घबराहट में घर पहुँचता है। घर में पहुँचते ही आधा क्लेश कम हो जाता है, क्योंकि क्लेश तब उसका क्लेश नहीं रह जाता, जाने कितने परिजनों का क्लेश बन जाता है।[9]

'घर माने ममता। ममता का अर्थ स्वामित्य ही नहीं, कुछ और भी है। ममता का अर्थ असंख्य से जुड़ा है। मैं घरु आदमी हूँ, इसलिए मेरे जुड़ाव बहुतों से हैं। बहुतों ने भुला दिया, कुछ ने याद रखा। जितना याद रह जाता है उतने ही घर हैं। घर स्मृति का खंडहर नहीं, स्मृति का आलोक है। एक तरफ से घर स्मृति है और स्मृति घर है।'[10]

'घर अपने में अपनों की बीच वापिसी है।'[11]

 ISSN 0975-735X

'पति-पत्नी के बीच अक्सर कहा-सुनी होती रहती है। आजकल यह व्यंग्य में बदल जाती है और व्यंग्य अब असह्य हो जाता है तो बात बिगड़ भी जाती है। देखने में आ रहा है कि साल दो साल क्या महीने-दो महीने और कुछ मामलों में तो शादी के बाद प्रथम मिलन के दिन से ही तकरार तलाक में बदल जाती है। इसके मूल में है असहनशीलता। सहनशीलता गृहस्थ जीवन का प्राण है। मिश्रजी ने अपनी पत्नी के लिए गए एक इंटरव्यू का उदाहरण देते हुए सहनशीलता के मूल्य के महत्त्व को स्थापित किया है। उन्हीं के शब्दों में 'मेरी पत्नी का साक्षात्कार लेने किसी चैनल की एक लड़की आई।' उसने पूछा 'आप साठ वर्ष से विवाहित हैं। आप लोगों में कभी मतभेद होता है? मेरी पत्नी बोली, रोज होता है, रोज होता रहेगा। मतभेद तो इसलिए होता है कि हम लोग मत रखते हैं और मतभेद को भेद नहीं मानते। भेद का स्वांग मानते हैं। यह न हो तो साथ रहना रसहीन होता है सो मैं रस संचित करती हूँ।'[12]

सरलता, सरसता, सहृदयता और समरसता व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से समाज में विकसित होती है। समाज एक सर्वोपरि सत्ता है, वही मनुष्य की मर्यादा है। साहित्य का काव्यसमस्त भाव समाज में मर्यादाओं का जागरण करता हुआ अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। कबीर, सूर, तुलसी की साहित्यिक प्रेरणा अपनत्व को भुलाकर समाज की धारा में बहकर चलने का संदेश है। साहित्य सुरसरि की भाँति सबका हितकारी है। साहित्य की प्रत्येक विधा का साहित्यकार चाहे वह कवि हो या कथाकार, नाटककार हो अथवा यथावर अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जीवनमूल्यों का प्रतिपादन करता है, जो पाठक के जीवन को समझने और जीवन-प्रवाह में मार्गदर्शन करता है। पंडित विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रसंग व उदाहरण हैं, जो जीवन के शाश्वत सत्यों को व्यक्त करते हैं और उनके निबंधों को मानवीय मूल्यों के संवाहक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तथा उनकी प्रासंगिकता का उद्घोष करते हैं। मिश्रजी लोकजीवन के साथ इतने घुले-मिले हैं कि वे लोकसांस्कृतिक चेतना के सच्चे आराधक कहे जा सकते हैं। मिश्रजी के निबंध साहित्य से ऐसे स्थलों को उजागर करने की आवश्यकता है, जिससे वर्तमान पीढ़ी सार्थक दिशा प्राप्त कर सके।

श्रेष्ठ साहित्य किसी एक ही युग का, किसी एक ही समाज का, किसी एक ही जाति का अथवा धर्म का नहीं होता। वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक होता है। यही कारण है कि साहित्य के संदर्भ में बार-बार प्रश्न उठाए जाते हैं कि अमुक साहित्य की आज क्या उपयोगिता है, वर्तमान संदर्भों में अमुक साहित्य की क्या प्रासांगिकता है। उत्तर है कि साहित्य के केंद्र में मानव होता है। साहित्य में मानवीय भावनाएँ निहित होती हैं। साहित्य मानवमूल्यों का पोषक होता है। इस दृष्टि से मैं उद्घोष करती हूँ कि पंडित विद्यानिवास मिश्र का निबंध साहित्य मानवमूल्यों के माध्यम से मनुष्य के लिए दिशाबोध कराता है।

संदर्भ

1. विद्यानिवास मिश्र, वाद्यवृंद, भूमिका, पृ॰ 09
2. विद्यानिवास मिश्र, वाद्यवृंद, कँटीले तारों के आर-पार, पृ॰ 170
3. वही, पृ॰ 170
4. विद्यानिवास मिश्र, वाद्यवृंद, नदी, नारी, और संस्कृति, पृ॰ 157

5. विद्यानिवास मिश्र, वाद्यवृंद, घर से घर से घर, पृ॰ 205
6. वही, पृ॰ 205
7. वही, पृ॰ 206
8. विद्यानिवास मिश्र, वाद्य वृंद, वही, पृ॰ 207
9. वही, पृ॰ 207
10. वही, पृ॰ 207
11. वही, पृ॰ 208
12. वही, पृ॰ 206

डी॰ई॰आई॰, आगरा
34, **बिभव वाटिका**
सिकंदरपुर रोड, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)

 ISSN 0975-735X

डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा के व्यंग्यात्मक गद्य का अभिव्यंजना कौशल

डॉ॰ विनीता शर्मा

साहित्य की किसी भी विधा का महत्त्व उसकी भाषा की प्रबलता पर टिका है–'लेखक जो भी कहना चाहता है, भाषा के अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा साधन नहीं। वह मात्र शब्द-प्रयोग नहीं करता, शब्दों द्वारा एक वस्तु-संसार भी निर्मित करता है।'[1] वर्तमान समय जटिलताओं, अंतर्द्वंद्वों और संघर्ष का समय है। इन सबकी अभिव्यक्ति के लिए कविता की भाषा से ज्यादा गद्य की भाषा अधिक उपयुक्त होगी। शिवकुमार मिश्र ने कहा है–गद्य की भाषा ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जो युग की तथा मानवीय संबंधों की इस जटिलता को प्रमाणिक अभिव्यक्ति दे सकती है।'[2] रचनाकार शब्दों को अपने भावों और विचारों के अनुकूल पाता है तभी उनको रचना में जगह देता है। इसी कारण 'सही भाषा की तलाश के लिए रचनाकार को अपने चारों ओर की दुनिया और अपने भीतर की दुनिया को बहुत सचेत होकर सूक्ष्म दृष्टि से देखना होगा और उस जिंदगी का सीधा साक्षात्कार करना होगा, जिसका चित्रण वह करना चाहता है।'[3] किसी भी लेखक में सृजनशीलता की अभिव्यक्ति चाह और इच्छाशक्ति का प्राबल्य होना अनिवार्य होता है, क्योंकि उसके विचार और दृष्टिकोण उसके व्यक्तिगत संस्कारों, परंपराओं और वातावरण द्वारा प्राप्त ज्ञान के माध्यम से संचालित होते हैं, जिसके लिए सही समर्थ भाषा की तलाश की साहित्यकार का प्रमुख उद्देश्य होता है।

किसी भी निबंधकार को पहचानने के दो आधार हैं। एक तो उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता दूसरा विषय-प्रतिपादन और उसकी शैली, जिससे निबंधकार का आत्मिक संपर्क होता है। निबंध एक ऐसा सर्जनात्मक 'शिल्प' है, जिसमें निबंध और निबंधकार दोनों जीते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भाषा में भावों के महत्त्व के बारे में कहा है–'भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप-रंग बनाकर नाचती दिखाई पड़ती है।'[4] क्योंकि भाषा रचनाकार के अभिव्यंजित विचारों की कारीगरी है। एक रचनाकार अपनी रचना के द्वारा समाज पर गहरा असर डाल सकता है और भाषा द्वारा उस असर को सुखद सौंदर्य प्रदान करता है। 'शिल्पकार, कलाकार के मन में सौंदर्य की भावनाएँ जिन रूपरेखाओं या आकारों के वह बेल-बूटों और नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है, वे बेल बूटे कल्पना की स्वतंत्र सृष्टि होते हैं।'[5]

नवें दशक के साहित्य में चाहे वह कविता हो या कोई अन्य विधा, उसमें अभिव्यंजना पर अधिक बल दिया गया। यहाँ व्यंजना का सहारा अधिक लिया गया। इस दशक का साहित्य अनुभव और अभिव्यक्ति की व्यंग्यमुखी अभिव्यंजना से विमुख नहीं हो सकता, इसका सबसे बड़ा कारण है निरंतर उभरती सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विसंगतियों और

गिरते मानव मूल्यों ने रचनाकारों को व्यंग्य की ओर उन्मुख किया, जो कविता में विचार और निबंधों में एक अस्त्र की भाँति प्रयोग में लिया गया। इस दशक का साहित्य जमीन से जुड़ी वास्तविकताओं के अधिक निकट प्रतीत हुआ। शंकर पुणतांबेकर ने कहा है–'व्यंग्य में व्यंजना का अधिक प्रयोग होता है। व्यंजना बिंब, प्रतीक से लेकर लोककथा, पुराणकथा, इतिहास कथा सभी को वैदग्ध की दृष्टि से अपनाती है। विदग्धता अभिव्यक्ति पर विशेष प्रभाव डालती है।'[6] आज व्यंग्य में काव्यशास्त्र के सभी तत्त्व रस, ध्वनि, वस्तु भाषा और शिल्प स्तरों पर रोज नए आयामों और सिद्धांतों को उद्घाटित किया गया है। बालेंदुशेखर तिवारी ने कहा है कि–'व्यंग्य लिखे जाने के लिए नहीं लिखा जाता अपितु व्यंग्य करने के लिए लिखा जाता है। इसलिए व्यंग्य-लेखन की अभिव्यंजनात्मक सक्रियता इतर लेखन से अलग और विशिष्ट होती है।'[7]

व्यंग्य भाषा के शैलीय उपकरणों का अध्ययन अपने आपमें एक चुनौती है, क्योंकि व्यंग्य का शैलीविज्ञान भाषा की आंतरिक बुनावट तथा उसमें निहित सूक्ष्म अति सूक्ष्म अर्थ और नुकीले तीखे प्रस्तरों की अंतरंग व्याख्या प्रस्तुत करता है। हिंदी साहित्य में व्यंग्य भारतेंदुजी के समय में साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति में शामिल था, क्योंकि भारतेंदुयुग विसंगतियों से घिरा हुआ था और व्यंग्य ऐसे ही धरातल पर जन्म लेता है। इस युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं॰ बालकृष्ण भट्ट, पं॰ प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी अदि ने अपने समय की विसंगतियों और यथार्थता को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। इसके बाद 'द्विवेदी और शुक्लयुग' में भी व्यंग्य साहित्य की अनेक विधाओं के साथ जुड़ा रहा।

भारतीय स्वतंत्रता के बाद जो स्थिति थी, उसने व्यंग्य के लिए एक बड़ी भूमि तैयार कर दी, क्योंकि आजादी के बाद की वास्तविकता यह थी कि देश के लोगों की स्वार्थपरता ने इसे पूरी तरह निगल लिया था जो वर्तमान समय में और भी भयावह रूप धारण कर चुका है जिसे दुष्यंत ने अपनी गजलों में तीखे स्वरों में कहा है। इसके साथ ही व्यंग्यकारों के एक बड़े वर्ग ने देश की वास्तविक स्थिति को लोगों के सामने रखा। इसी कड़ी में एक नाम और सामने आता है डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा का, जिन्होंने विसंगतियों को उजागर करने के लिए हास्य-व्यंग्य का सहारा लिया, जो ऊपर से हल्का जरूर लगता है, परंतु भीतर-भीतर वह टूटे काँच की किरचों के समान चुभन पैदा करता है। इसी दृष्टि से डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा का व्यंग्य-साहित्य अभिव्यंजना की कसौटी पर कितना खरा उतरता है, इसकी परख अभिव्यंजना-कौशल के विभिन्न अवयवों को ध्यान में रखना करते हैं।

व्यंग्य-कथन की विविध भंगिमाएँ

अन्य विधाओं की तरह व्यंग्य की अभिव्यक्ति भी अनेक प्रकार से होती है। आनंद गौतम ने अपने एक लेख 'व्यंग्य का साहित्यशास्त्र : प्रतिमानों की खोज' में कहा है–'व्यंग्य की अपनी भाषा और भंगिमा है, अपने मुहावरे हैं। व्यंग्य में कम-से-कम शब्दों में काम लिया जाता है।.... व्यंग्य की भाषाशक्ति वस्तुस्थिति को कुरेदने का काम अधिक करती है। व्यंग्यकार विसंगतियों को पकड़ता है और अपनी भाषाशक्ति से यथार्थ के ऊपर पड़े हुए पर्दों को एक-एक कर हटाकर वास्तविक स्थिति की पहचान कराता है। विसंगतियों के विश्लेषण में व्यंग्य की भाषा पाठक को सीधे पहुँचाने का काम करती है। इसलिए वह सीधे-सादे सपाट शब्दों में अधिक गहरी चोट करता

है।'[8]

स्पष्ट है कि व्यंग्य कभी हथौड़े की तरह अपने आलंबन पर टूटता है, तो कभी आलपिन की चुभन की तरह व्यक्त होता है, सेफ्टी रेजर के स्पर्श की तरह हल्का व्यंग्य भी होता है और व्यंग्य कभी उग्र आक्रामक तथा अतिरंजित शैली में लिपिबद्ध होता है। व्यंग्यकार वर्णनात्मकता से लेकर विश्लेषण, शब्द-क्रीड़ा, मिथक, पुराख्यान, कथात्मकता आदि अनेक पद्धतियों का यथा-स्थान प्रयोग करता है।

1. **वर्णनात्मकता**

वर्ण्यविषय का उसकी सीमाओं के अनुसार ही उद्‌घाटन या वर्णन करते हुए अंतिम निर्णय के साथ स्वयं की मान्यताओं को स्थापित करना ही वर्णनात्मकता है। विस्तृत क्षेत्र, छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग, भाषा में सहजता और स्वाभाविकता के कारण पाठक से अधिक निकटता स्थापित करनेवाला गुण इसमें निहित रहता है। डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा के व्यंग्य-साहित्य में वर्णनात्मकता के दर्शन प्रचुर मात्रा में होते हैं। यथा–

'अब हम महोत्सवों का भी आयात-निर्यात करने लगे हैं और नामा गवाँकर भी नाम कमाने में जुटे पड़े हैं। अपनी शक्ति और अपने प्रति जनता की भक्ति जताने के लिए हम थैलियाँ लुटाकर रैलियाँ आयोजित करते हैं। धन हमारे हाथ का मैल है, इसलिए सूखे और अकाल के साल में भी हम इक्कीसवीं सदी में पहुँचने के लिए कीमती ट्रैक-सूट पहनकर सड़कों पर 'आजादी की दौड़' लगाते हैं, फटे हाल लोगों को मुँह चिढ़ाते हैं। गरीबी की हँसी उड़ाते हैं।'[9]

'कालिदास अनपढ़ थे, पर उनकी विदुषी पत्नी के ताने ने उनमें पढ़ने और योग्य बनाने की चाह जगा दी। वे संस्कृत के महान कवि बने।'[10] (सफलता के सोपान) ऐसे अवतरण उनके साहित्य में जगह-जगह देखने को मिलते हैं, जहाँ समाज में फैली विसंगतियों के तार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक कप चाय, जीना सीखें, जूता चल रहा है, सॉरी प्लीज, वर-कथा अनंता जैसी अनेक रचनाओं में अंतर्वस्तु की सूक्ष्मता और गंभीर अर्थवत्ता संवेदना, नैतिकता और समाजवादी सोच की अभिव्यक्ति हुई है।

2. **विश्लेषणात्मकता**

स्थायी प्रभाव के लिए व्यंग्य की अभिव्यक्ति, विश्लेषण पर निर्भर होती है। जिन प्रवृत्तियों-स्थितियों पर व्यंग्य किया जाता है, उनका गंभीर विश्लेषण व्यंग्यकार की सर्जनात्मकता और कथन-कौशल को दर्शाता है। यथा–

'थैली शाह और दूसरे बाहुबली। लोकतंत्र को ये ही दोनों रास्ता दिखाते हैं, उसे अपने ढंग से चलाते हैं।'[10] (काश हम बागी होते)

'सच तो यह है कि कानून शिव-धनुष की भाँति तोड़े जाने के लिए ही बनते हैं।'[11] (सोने की नसैनी)

'कुर्सी पर बैठकर भूख इतनी बढ़ जाती है कि लोग पशुओं का चारा तक चट कर जाते हैं।'[12] (कुर्सी पर एक निबंध)

इन उदाहरणों से यह साफ है कि व्यंग्यकार की रचनाओं में अंतर्वस्तु बहुत व्यापक है। हमारी दागदार जीवन-व्यवस्था में निहित मूल्य-संक्रमण के विविध संदर्भों में रचनाकार कितनी गहरी पैठ रखता है।

3. शब्द-क्रीड़ा

व्यंग्य को लोकप्रिय और संप्रेषणीय बनाने के लिए आपकी रचनाओं में शब्दों को अनेक जगह नए-नए अर्थों में प्रयुक्त कर नए संदर्भों के साथ जोड़ा गया है, क्योंकि 'सामाजिक परिस्थितियों का जैसा प्रभाव भावों और विचारों पर पड़ता है, वैसा ही उनको व्यक्त करने वाली शैली, व्यंजना के ढंग, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि पर पड़ता है। कवि की शिक्षा-दीक्षा के अनुसार उसका शब्द-भंडार संकुचित अथवा विस्तृत होता है, उसी में से चुन-चुनकर वह अपने भावों के लिए लिए शब्द-संकेतों को इकट्टा करता है।'[13]

डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा ने समाजव्यापी अवमूल्यन की अभिव्यक्ति के लिए एक नवीन और अभिनव प्रयोग किया है। जैसे–

1. अदालत- अ=आओ, द = दावा करो, ल=लड़ो, लात खाओ, त=तबाही में पड़ो
2. इजलास - इज = है, लॉस - नुकसान
3. इलैक्शन - इल=बुरा, एक्शन - कार्य अर्थात बुरा काम।
4. औलाद - और, लाद
5. काँग्रेस - काग - रेस

इसी तरह कचहरी, क्लर्क, ऑनरेरी, अप्सरा, अग्निहोत्री, होटल, वकील, मजदूर आदि बहुत से शब्द हैं, जिनकी नई व्याख्या करके नवीन अर्थों में प्रयोग करना व्यंग्यकार की अपनी मौलिकता है जो उन्हें एक अलग पहचान देती है।

मिथक-पुराख्यान का प्रयोग

साधारणत: हम मिथक को पौराणिक कथाओं से जोड़कर देखते हैं, किंतु 'मिथक' सिर्फ कथाएँ नहीं होते, इनमें मानव-मन की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक गूढ़ार्थ छिपे रहते हैं। 'काल-प्रवाह में जब मूर्त घटना अमूर्त प्रतीक बन जाती है, तो उसे मिथक कहा जाता है।'[14] 'मिथक' हमारी संस्कृति और परंपरा के साथ जुड़े हैं, जो हमारे वास्तविक होने का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। अत: जब रचनाकार कोई रचना का सृजन करता है तो परिस्थितिवश या उससे प्रभावित होकर कोई मिथक अनायास ही उसके मस्तिष्क में कौंध जाता है, जो उसकी रचना में प्रतीक रूप में जीवन को नया आकार प्रदान करता है, जिससे रचनाकार की कृति की संप्रेषणीयता दुगुनी हो जाती है। डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा की रचनाओं में कथ्य को अधिक प्रभावी और ग्राह्य बनाने के लिए मिथकों का प्रयोग देखने को मिलता है–

1. 'अँगूठे के महत्त्व को गुरु द्रोणाचार्य भली-भाँति जानते थे। वे नए जमाने के गुरु लोगों से कम न थे।'[15]
2. 'कुर्सी के कारण राम कैकेयी की आँखों का काँटा बन गए। सुग्रीव ने कुर्सी की खातिर अपने भाई बाली को तथा विभीषण ने रावण को मरवा दिया।'[16]

 ISSN 0975-735X

3. 'तब मैं दशानन था। मेरे केवल दस मुख थे, अब मेरे अनगिनत मुख हैं और उस पर तरह-तरह के मुखौटे लगे हैं।'[17]

इस तरह उनके काव्य में मिथकों का प्रयोग वर्तमान में परिवेशगत यथार्थ की बहुत सटीक अभिव्यक्ति है।

पंचाली और सीता के माध्यम से नारी-शोषण की बात कही है–

पंचाली पुलिस द्वारा लुट रही है।[18]
असहाय द्रौपदी हँसकर नंगी कर देगा दु:शासन
धर-घर लंका बन जाएगी दानवता की जय बोलेगी।[19]
आखिर विजय राम की होगी, रावण कब तक लड़ सकता है
समता सीमा रह न सकेगी, सोने की लंका में घिरकर।[20]

'जयचंद' 'मीरजाफर' जैसे मिथक देशद्रोही की ओर संकेत हैं, तो चक्रव्यूह में घिरे 'अभिमन्यु' जैसे लोगों का जिक्र करना नहीं भूलते।

मिथक के महत्त्व के बारे में कहा गया है कि 'इसमें कतई संदेह नहीं है कि मिथ अपनी विरासत में सांस्कृतिक घटनाओं को समझने-बूझने और जाँचने में काफी सहायक सिद्ध होता है, लेकिन जब तक उसकी यथार्थ संगति अर्थात् परिवेशगत आवश्यकता नहीं जान ली जाती तब तक रचना का बाहरी तत्त्व ही रह जाता है, उसमें घुल मिल नहीं सकता। शायद इसीलिए कार्लमार्क्स ने मिथ को प्रकृति अवचेतन कलात्मक पुनरोत्पत्ति कहकर यह टिप्पणी दी है कि समूची मिथोलॉजी कल्पना में और कल्पना की सहजता से प्राकृतिक प्रक्रियाओं को जोड़ती है, अधीनस्थ करती है और संगठित करती है। इस दृष्टि से मिथ का महत्त्व असंदिग्ध है।'[21]

पैरोडी/फैंटेसी आदि

व्यंग्य-लेखन के प्रारंभिक दौर में विशेषत: व्यंग्य-कविताओं में पैरोडी लिखने का प्रचलन रहा है। पैरोडी दोहरा काम करती है, एक तो प्रचलित कथनों, कविताओं, मुहावरों आदि में थोड़ा-सा परिवर्तन करके विनोद की सृष्टि करती है, दूसरे किसी विसंगित पर प्रहार करने का कार्य भी करती है। 'पैरोडी एक ऐसी अनुकृति है, जो विरूपीकरण और अतिशयोक्ति के माध्यम से मनोरंजन, उपहास और कभी-कभी घोर तिरस्कार की भावना उत्पन्न करती है।'[22] डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा ने केशव, बिहारी, रहीम, रसखान आदि कवियों की लोकप्रिय पंक्तियों का किंचित विरूप करके विनोद उत्पन्न किया है। जैसे–

केसव केसन अस करी, जस अरिहु न कराहि।
चंद्रबदनि मृगलोचनी, बॉ बॉ करि-करि जाहि।[23]
रहिमन पानी छाँड़िए बिन पानी ही मौज।[24]
बड़े हूजिये गुनन बिनु, विरुद बड़ाई पाय।
नकली गहनौं बिनु कनक गढ़यौ आजकल जाय।[25]

इस तरह 'पैराडी' प्रयोग डॉ॰ शर्माजी की रचनाओं में कहीं विचारों के लेकर तो कहीं हास्यरूप में हुआ है।

फैंटेसी : कतिपय व्यंग्यकारों ने स्वप्न-दृश्यों और पशु प्रतीकों के माध्यम से अपनी रचनाओं में 'फैंटेसी' का समावेश किया। वे उनके माध्यम से नए-नए अर्थों की व्यंजना करते हैं। डॉ॰ शर्मा के साहित्य में वास्तविकताएँ सीधे रूप में आईं हैं। फैंटेसी का प्रयोग वहाँ विरल है।

बिंब-विधान

बिंब-विधान कला का क्रियापक्ष है, जो कल्पना से उत्पन्न होता है। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है तो बिंब बनते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार–'प्रस्तुत और आलंकारिक वस्तु में बिंब-प्रतिबिंब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत-वस्तु, प्रस्तुत-वस्तु से रूप-रंग में मिलती-जुलती हो'[26] डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा की रचनाओं में अप्रस्तुतों के माध्यम से बिंब-ग्रहण कराने में अभिव्यंजना-सौंदर्य और प्रभविष्णुता उत्पन्न करने वाले प्रसाधन सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में उभरकर सामने आए हैं, जो रचनाकार के कथ्य-प्रस्तुति में प्रभाव, अमूर्त का मूर्तिकरण तथा अभिव्यंजना में शक्ति एवं रमणीयता का संवर्द्धन करते हैं। जैसे–

'मदारी की तरह सरकार की जादुई पिटारी से नई-नई योजनाएँ निकल पड़ती हैं।'[27] (जाँचा जाना उत्तर पुस्तिका का) 'वर्षों से कुंभकरण की तरह सोये वेतन आयोग को उठाकर बैठा दिया।'[28] (चुनावी मौसम) सड़कें विधवा की माँग की तरह सूनी।'[29] (करफ्यू मुबारक), 'कॉलेज का मैनेजमेंट भानुमती का कुनबा होता है।'[30] (संपादक होना पत्रिका का) 'इंद्रियाँ पुरानी घड़ी का पैंडुलम बन जाती हैं।'[31] (खाओ पीओ, मौज करो)

ऐसे बहुत से बिंबों के आने से डॉ॰ शर्मा की रचनाओं में सौंदर्य और गतिशीलता आई है। आपने बिंब दैनिक जीवन से चुनकर पाठकों की ग्राह्य बुद्धि के अनुरूप ही प्रयुक्त किए हैं।

इसके साथ ही रचनाओं में कथात्मक भाव को भी स्थान दिया है, साथ ही कल्पित घटनाओं को कथात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। विकृतियों पर प्रहार का कौशल डॉ॰ शर्मा की हर रचना में देखने को मिलता है। व्यंग्य विधा की पूरी शक्ति उसके प्रहार और आधार पर निर्भर होती है। डॉ॰ बापूराव देसाई के अनुसार 'मूर्त-अमूर्त स्वरूप में मीठा प्रहार का काम व्यंग्य करता है।' डॉ॰ शर्मा के व्यंग्यों के प्रहार शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भ्रष्टाचार आदि सभी व्यवस्थाओं पर देखने को मिलते हैं। यथा–'यह कुर्सी भी बड़ी अजीब चीज है। इस पर बैठकर गधा भी हाथी बन जाता है, जिनके घर भुँजी भाँग भी नहीं होती, उनके यहाँ से हलवे की सुगंध आने लगती हे। टूटे छप्पर की जगह हवेली भन्नाने लगती है। सींकिया देहों पर बादी की मोटी परतें चढ़ जाती हैं। स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं।'[33]

निष्कर्षत: डॉ॰ शर्मा का व्यंग्य-लेखन अधिक से अधिक पाठकों तक संप्रेषित होने में सफल है। 'एक कप चाय', 'सफलता के सोपान', सॉरी प्लीज', 'मेरा भारत महान', 'चुनाव का मौसम', 'आरक्षण लो वोट दो', 'कुर्सी पर निबंध', कवि होना पाप हुआ', 'साठा सो पाठा', 'करफ्यू मुबारक', 'अथ परीक्षा कथा', 'हम चौपाये बनें', आदि ऐसी बहुत सी गद्य और पद्य रचनाएँ हैं, जिसमें 'अभिव्यंजना' पक्ष के हर कोने से विसंगतियों पर प्रहार कर उन्हें उजागर करने में सफलता पाई है।

 ISSN 0975-735X

संदर्भ

1. नए साहित्य का तर्कशास्त्र, डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ॰ 151
2. यथार्थवाद, शिवकुमार मिश्र, पृ॰177
3. नए साहित्य का तर्कशास्त्र, डॉ॰ विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ॰ 155
4. चिंतामणि, भाग-2, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ॰ 160
5. चिंतामणि, भाग-2, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ॰ 168-169
6. व्यंग्य विधा और विविधा, (सं॰) डॉ॰ मधुसूदन पाटिल, पृ॰ 163
7. व्यंग्य विधा और विविधा, (सं॰) डॉ॰ मधुसूदन पाटिल, पृ॰ 185
8. व्यंग्य विधा और विविधा, (सं॰) डॉ॰ मधुसूदन पाटिल, पृ॰ 19-20
9. वर-कथा अनंता, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 64
10. जीना सीखें, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 58
11. एक कप चाय, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 82-83
12. पोथी पढ़ि-पढ़ि जग जिया, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 42
13. जूता चल रहा है, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 23
14. भाषा, युगबोध और कविता, डॉ॰ रामविलास शर्मा, पृ॰ 96
15. हिंदी गजल का सौंदर्यशास्त्र, डॉ॰ रामप्रकाश 'पथिक', पृ॰ 187
16. जूता चल रहा है, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 37
17. वही, पृ॰ 25
18. वही, पृ॰ 25
19. समर्पित है मन, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 67
20. कूल से बँधा है जल, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 29
21. जिंदगी के चाँद-सूरज, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 25
22. मोहन राकेश के नाटकों में मिथक और यथार्थ, डॉ॰ अनुपमा शर्मा, पृ॰ 26
23. हरिशंकर परसाई, व्यंग्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, प्रो॰ राधेमोहन शर्मा, पृ॰ 33
24. सॉरी प्लीज, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 103
25. रहिमन पानी छौंड़िए, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 23
26. रहिमन पानी छौंड़िए, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 78
27. रसमीमांसा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ॰ 362
28. सॉरी प्लीज, डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा, पृ॰ 87, 90
29. एक कप चाय, पृ॰ 58
30. पोथी पढ़ि-पढ़ि जग जिया, पृ॰ 52
31. वर-कथा अनंता, पृ॰ 60
32. व्यंग्य विधा और विविधा (डॉ॰ मधुसूदन पाटिल (सं॰), पृ॰ 40
33. जूता चल रहा है (डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा), पृ॰ 24

जी-18, **मानसरोवर कालोनी,**
रामघाट रोड़, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
मो॰ 9411802181, 9412370555
shwetang333@gmail.com

रंगान्वेषी नाटककार डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल 'चंद्र'

डॉ॰ नानासाहेब गोरे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जे॰ई॰एस॰ महाविद्यालय, जालना (महा॰)

हिंदी नाटकों पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वे रंगमंच के अनुरूप नहीं हैं। कुछ नाट्य समीक्षकों का तो यहाँ तक मानना है कि जब तक कोई नाटक सफलता के साथ रंगमंच पर खेला नहीं जाता, तब वह नाटक की कसौटी पर खरा उतरता ही नहीं या उसे नाटक की संज्ञा से पहचानना उचित भी नहीं है। हिंदी नाटक जगत् पर लगे दाग को धोने का प्रयास स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने पूरी निष्ठा एवं प्रामाणिकता के साथ किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, दयाप्रकाश सिन्हा, शंकर शेष, सुरेंद्र वर्मा, मृणाल पांडे, डॉ सुरेशचंद्र शुक्ल 'चंद्र' आदि प्रयोगशील नाटककारों ने हिंदी नाटकों को रंगमंचानुकूल बनाने का प्रयास करते हुए अधिक से अधिक अभिनेय बनाने का प्रयास किया। स्वातंत्र्योत्तरकालीन परिस्थितियाँ भी इसके लिए काफी सहायक सिद्ध हुईं। स्वतंत्रता के बाद देश में एक ओर नवचेतना का विकास हुआ तो दूसरी ओर आम जनों ने मोहभंग के गहरे अंधकार का अनुभव किया। स्वतंत्रता के पूर्व सँजोए हुए सपनों को चकनाचूर होते हुए देख यहाँ का आम जन पग-पग पर मोहभंग का अनुभव करने लगा। आस्तित्वविहीनता का साँप पूरी निर्दयता एवं अमानवीयता के साथ डसता हुआ नजर आने लगा। चारों ओर बढ़ते छल, कपट, भ्रष्टाचार, अवसरवादिता के कारण युवामानस भ्रमित बनकर बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण तनाव संघर्ष या आपराधिक प्रवृत्तियों की ओर झुकता रहा। महानगरीय जीवन की यांत्रिकता और औद्योगीकरण के कारण जीवन में कई समस्याओं का विकास हुआ। मोहभंग की इन स्थितियों को नाटकों के पुराने ढाँचे में प्रस्तुत करना पूरी तरह असंभव था। अत: समर्पित नाटककार नए प्रतिमान, प्रतीक, शैली, नए शिल्पान्वेषण की प्रक्रिया में संलग्न हुए। शिल्पान्वेषण की इसी प्रक्रिया ने हिंदी साहित्य जगत में प्रयोगधर्मी नाटककारों को जन्म दिया। डॉ॰ चंद्र इसी शृंखला के नाटककार हैं।

डॉ॰ चंद्र का साहित्य-जगत् में आविर्भाव एक कवि के रूप में हुआ। आरंभ के पूरे एक दशक में वे कविताएँ लिखते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबंध तथा आलोचना के क्षेत्र में अपनी कलम चलाई। लगभग सातवें दशक के आरंभ में उन्होंने नाट्यालेखन आरंभ किया। अब तक इनके लगभग 20 नाटक, 30 कहानियाँ, एक उपन्यास, दो कविता-संग्रह, चार समीक्षा ग्रंथ और आत्मकथा प्रकाशित हो चुकी है। 1960 तक वे सभी विधाओं में लिखते रहे। इसके बाद उन्होंने विशेष रूप से नाटक में स्वयं को केंद्रित किया। नाटक के क्षेत्र में उनका

 ISSN 0975-735X

अवतरण ऐसे समय में हुआ, जब प्रयोगधर्मिता की स्थापनाएँ पूरी तरह स्थापित हो चुकी थीं। मोहन राकेश, जगदीशचंद्र माथुर जैसे महान नाटककारों द्वारा शुरू किया हुआ स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंग आंदोलन पूरी तरह जोर पकड़ चुका था। इसी रंगधारा में डॉ॰ 'चंद्र' ने एक रंगान्वेषी रंगशिल्पी के रूप में विशेष पहचान बनाई। उनके समसामयिक नाटककारों में और उनमें फर्क यही था कि उन्होंने हमेशा ही स्थापित विचारधाराओं से अपने आपको अलग रखा। उनकी सभी नाट्यरचनाएँ जीवन की वास्तविकता से पूर्ण, प्रयोगवादी एवं मनोवैज्ञानिक हैं। उनके नाटकों के पात्र मानवीय असहायता एवं विवशता का प्रदर्शन तो करते ही हैं, साथ ही वे सामाजिक समसामयिक युगबोध एवं जीवन के यथार्थ को गहराई से प्रभावित करते हैं। डॉ॰ 'चंद्र' के नाटक मूलत: कर्म से जुड़ने और लोकजीवन तक पहुँचने की इच्छा तथा यथार्थ से उत्पन्न अंतर्वेदना के आवाहन से सृजित हैं। अपने नाटकों की प्रयोगशीलता के संदर्भ में डॉ॰ 'चंद्र' लिखते हैं कि 'मैंने अपने ढंग से अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं को शब्दबद्ध किया। हर व्यक्ति अपने ढंग से अपनी प्रतिक्रिया और विचार व्यक्त करता है। मेरे प्रयोग अभिव्यक्ति को सहज व्यापक और प्रभावी बनाने के लिए हैं। रचना को बौद्धिक गरिमा से मंडित करने अथवा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं।' (छायानट 135 पृ॰ 37)

हिंदी नाट्य जगत् में डॉ॰ चंद्र अपनी प्रयोगशीलता के कारण ही स्थापित हुए। लकीर के फकीर बनने के बजाय उन्होंने समसामयिक विषयों के साथ-साथ ऐतिहासिक संदर्भ वाले कथानक में भी प्रयोग किए, जिससे एक ओर हिंदी नाट्य जगत् समृद्ध हुआ तो दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठापना भी महत्त्वपूर्ण नाटककारों की शृंखला में हुई। उन्होंने जहाँ एक ओर समसामयिक जीवन के प्रेरक प्रसंगों और जीवंत समस्याओं को हकीकत के रूप में संप्रेषित किया है, वहीं दूसरी ओर इतिहास के पन्नों में दबे शाश्वत सत्यों, जीवन, समाज, व्यवस्था और राजनीति को रूपायित किया है। आधुनिकता के अंधानुकरण से नैतिकताशून्य भोगवादी संस्कृति से उत्पन्न तनावग्रस्त, पीड़ित मानवता के दयनीय पक्षों को सधी हुई भाषा तथा संवेदना, अनुकूल वस्तु, संवादों, प्रसंगों, अवसादों से अपने संपूर्ण नाटक कौशल का परिचय देते हुए उन्होंने प्रस्तुत किया है। उनके 'आकाश झुक गया' और 'भस्मासुर अभी जिंदा है' नाटकों में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयोग हुए। कुत्ते तथा लड़ाई जारी है नाटक वस्तु, भाषा और संरचना में महत्त्वपूर्ण होने के कारण प्रयोगधर्मिता की कसौटी पर खरे उतरे हैं। अक्षयवट, बात एक हर्ष की, अर्धनारीश्वर, बदलते रूप, समवेत आदि ऐतिहासिक नाटकों में तथ्यनिरूपणता के साथ-साथ उनकी ऐतिहासिक दृष्टि, चरित्रसृष्टि, नाट्यानुभूति तथा प्रस्तुति कौशल विलक्षण प्रतिभासंपन्न होने से वे अपनी स्वतंत्र स्थापनाएँ स्थापित कर सके। वैचारिक स्वयंपूर्णता तथा प्रस्तुति की कलात्मकता उनकी प्रयोगधर्मिता को प्रौढ़ से प्रौढ़तर बनाती रही है। उनका मानना है कि सभी पुरानी परंपराएँ हेय और त्याज्य नहीं होतीं। अगर उनमें ठोस जीवन-दर्शन हो, संघर्ष करने की क्षमता हो तथा जीवित रहने की ललक हो तो नए मूल्यों के समानांतर वह भी चलती रहती है। डॉ॰ चंद्र इस अर्थ में भी निराले, नवीन प्रयोगशील हैं। उन्होंने परंपरागत ठोस जीवनमूल्यों के साथ नए मूल्यों को जोड़ते हुए एक नई जीवनदृष्टि तथा चिंतन प्रस्तुत किया। 'समवेत', 'प्रेरणा' दोनों नाटक मराठा इतिहास पर आधारित हैं। इनकी नाट्यानुभूति की मूल प्रेरणा राष्ट्रप्रेम,

राष्ट्रभक्ति और एकता की भावना है। इसमें माधवराव पेशवा और मराठा शक्ति की एकता और देश की स्वतंत्रता के लिए किए गए महान कार्यों को दिखाया गया है। प्रेरणा में न पुरुष प्रधान है न स्त्री। इसके केंद्र में है सच्चा प्रणय, जो हर किसी को नसीब नहीं होता।

प्रयोगशील नाटकों में कई पशु प्रतीकात्मक नाटक लिखकर जंगली अवस्था से सभ्य मानव बने मनुष्य में छिपे जंगलीपन को उजागर करनेवाले तत्त्वों को लेकर कई पशुप्रतीकात्मक नाटकों की रचना की गई। बदलते जीवनमूल्य और मनुष्य के अंदर पुनः उभरते पशु मूल्यों को रेखांकित करने हेतु इन नए प्रतीकों का प्रयोग किया जाने लगा। पशु में जंगली संस्कार होते हैं और आदमी में भी आदिम संस्कारों के रूप में थोड़ा-बहुत जंगलीपन होता है। डॉ॰ नरनारायण राय इस संदर्भ में लिखते हैं कि 'इस युग में आदमी ज्यादा से ज्यादा बर्बर, स्वार्थी, नीच, दुष्ट, क्रूर और हिंसक बना है। यही बात कहने-दिखाने के लिए इस युग के नाटककारों ने विभिन्न पशु प्रतीकों का प्रयोग किया है, जिससे आदमी के भीतर पनप रहे पशुत्व को उभारा जा सके। इसी प्रतीक परंपरा के नाटकों में डॉ॰ चंद्र का 'कुत्ते' नाटक सामने आया।' (छायानट अंक 135 पृ॰ 35) इस नाटक में भद्र घरों की शिक्षित युवतियों को कार्यालयों में नौकरी करने के मार्ग में आनेवाली मुसीबतों, बाधाओं को बड़ी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें पुरुषों की लंपटता के बीच जीनेवाली उन स्त्रियों की वेदना का चित्रण है, जो अपने चारों ओर नोचने-खसोटनेवाले और काट खानेवाले कुत्तों के बीच घिरी हुई हैं। सड़क, बाजार, चौराहा, बस, ट्रेन चाहे जहाँ कहीं की भी बात ली जाए, पुरुषों की निगल लेने वाली आँखों से, उनके छिछोरेपन से खुद को बचाए रखने में उन्हें काफी परेशानी झेलनी पड़ती है। पुरुषों की गिरती नैतिकता स्त्रियों के प्रति सम्मान की भावना का ह्रास, कामुकतापूर्ण क्षणों की बढ़ती महत्ता और व्यावहारिक जीवन में कामुक प्रदर्शन हमारी संस्कृति के परिचायक बनते जा रहे हैं। नाटककार ने जीवन की गंभीर समस्या को उठाया है। आज घर से बाहर काम के लिए निकलनेवाली महिलाएँ खुद को असुरक्षित पा रही हैं। स्त्री की इस विकराल बनती जा रही संवेदना को नाटककार ने बड़ी ही कुशलता से कुत्ते के प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। डॉ॰ गजानंद शर्मा लिखते हैं, 'नाटक में समसामयिक परिवेश को भी बखूबी उभारा है। इस कृति में प्रस्तुत युगीन समस्याएँ निश्चित रूप से गंभीर हैं और उन्हें नाटककार की रचनात्मक शक्ति ने नाटकीय कौशल से प्रस्तुत किया है। (समकालीन हिंदी नाटय परिदृश्य, परवीन अख्तर, पृ॰ 58)

डॉ॰ चंद्र ने विषयवस्तु के रूप में चाहे किसी भी समाज, घटना, प्रसंग, व्यक्ति को चुना हो, वह प्रयोगशील बनकर ही नाट्यजगत में अद्वितीय स्थान पाता रहा है। इसका एक ही कारण है उनकी सशक्त, परिपूर्ण सर्वसमावेशी वैचारिक दृष्टि। अनुभवसंपन्न ज्ञान से आप्लावित उनके वैचारिक चिंतन ने हिंदी रंगमंच को एक सार्थक, सशक्त स्तर प्रदान किया है। उनका वैचारिक पक्ष कभी भी एकांगी, पूर्वाग्रही, सीमित क्षेत्रीय, व्यक्तिनिष्ठ या स्वार्थ तथा दबाव से प्रभावित नहीं रहा। व्यापक सार्वभौमिक सहयोगी एवं सर्वांगीण वैचारिक प्रभा से प्रकाशित नाटक सार्वदेशिक तथा सर्वकालिक बने रहे। आज के वैज्ञानिक तकनीकी विकास के युग में मानव मूल्यरहित वैभव, भोगवृत्ति तथा अय्याशी प्रवृत्ति के कारण सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक अधःपतन से चिंतित है। इसी चिंता, राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार,

 ISSN 0975-735X

शोषण, भोग-विलास की बढ़ती प्रवृत्ति को लेकर डॉ॰ चंद्र ने काफी चिंतित होने के कारण ही इस प्रकार की सशक्त रचनाओं के द्वारा समसामयिक समस्याओं को उद्धृत किया है।

संदर्भ

1. आज के हिंदी रंगनाटक, परिवेश और परिदृश्य, जयदेव तनेजा
2. आधुनिक हिंदी मराठी नाटक, डॉ॰ माधव सोनटक्के
3. समकालीन हिंदी नाटककार, गिरीश रस्तोगी
4. समकालीन हिंदी नाट्य परिदृश्य, परवीन अख्तर
5. आधुनिक हिंदी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम, डॉ॰ लक्ष्मीराय
6. नई रंगचेतना और हिंदी नाटककार, जयदेव तनेजा

मो॰ 9422219183

सामाजिक हिंदी उपन्यासों में पुरुष-पात्र

डॉ॰ चिलुका पुष्पलता

विश्व में आज जितनी भी साहित्यिक विधाएँ प्रचलित हैं, उनमें से उपन्यास लोकप्रियता के धरातल पर प्रथम श्रेणी की विधा के रूप में सर्वमान्य है। आधुनिक युग में जीवन की जटिल परिस्थितियों, सामाजिक रिश्तों, मानसिक अंतर्द्वंद्वों एवं व्यक्तिगत तीनों का सही प्रतिबिंबन उपन्यास के रूप में पाठकों का कंठहार है। साहित्यकार मानवीय परिवेशगत मूल्यों के उद्‌घाटन का प्रयत्न करता है और उसका यही प्रयत्न साहित्य-सृजन करता है।

आज का उपन्यास कुंठा एवं अंतर्विरोधों का शिकार हो गया है। जीवन तथा समाज के कठिनता यथार्थ को अपनी आँखों से देखने-भोगने के बाद वह 'आदर्श' व्यक्ति स्वतंत्र 'मानवता' एवं 'श्रद्धा' के परंपरागत पुराने मूल्यों को स्वीकार कर प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यासों में जितने भी पुरुष-पात्र हैं, उनमें कुछ मिसफिट, संपत्ति नष्ट करनेवाले, किसी की परवाह न करनेवाले, अपराधी, आत्महत्या की ओर अग्रसर नपुंसक और आधे-अधूरे रूप में चित्रित किए गए हैं। कथा-संचालन में इनका स्थान प्रायः वह नहीं है, जो परंपरागत रूप में मान्य था।

उपन्यास आज सर्वाधिक और व्यापक साहित्य विधा है। जीवन की गहराई में भी इसके समान अन्य किसी साहित्य-विधा की क्षमता नहीं है। उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है। अतः उसमें मानव के स्वभाव, गुण, रुचियों, अरुचियों एवं कार्य-व्यापारों का उसके अंतर्मन के तलस्पर्शी अध्ययन-विश्लेषण से संपुष्ट चित्रण अपेक्षित है। उसमें मानव व्यक्तित्व की विशालता, दुरूहता एवं गंभीरता का प्रकटन होता है। अतः उपन्यास मूलतः मानव-चरित्र से उद्‌भूत है। हेनरी जेम्स ने लिखा है, यदि कथाकार पात्रों की सृष्टि मात्र कल्पना के आधार पर करेगा तो वे 'सर्वथा निर्जीव होंगे और पाठक पर किसी भी प्रकार प्रभाव डालने की श्रमता उनमें नहीं होगी।' रॉबिन्सन के शब्दों में पात्रों को पर्याप्त मूर्तिमत्ता एवं स्वाभाविकता से चित्रित करना होता है। 'वे छाया मात्र न होकर व्यक्तित्व संपन्न होकर पुस्तकों के पृष्ठों से उभरने चाहिए।'

उपन्यास में पात्रों का वही स्थान है, जो शरीर में आत्मा का। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार पात्रों के बिना उपन्यास भी प्राणहीन हो जाता है। पात्र ही वह आधार है, जिस पर उपन्यास रूपी भवन खड़ा होता है। पात्रों के बिना उपन्यास के अन्य तत्त्व बेकार हो जाते हैं। उपन्यास चाहे घटना-प्रधान हो या चरित्र -प्रधान या मनोविश्लेषणात्मक या ऐतिहासिक उसमें एकाधिक पात्र का होना आवश्यक है।

उपन्यासों में जितना महत्त्व कथानक का होता है, उतना ही पात्रों का संयोजन होता है तथा उनकी आकृति, अनुकृति, विचार, मनोभाव, कार्यकलाप आदि का चित्रण होता है। इस तरह उपन्यासकार कथानक को सजीव एवं रोचक बनाता है। पात्रों को सजीव एवं क्रियाशील

 ISSN 0975-735X

बनाने के लिए उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिए—मौलिकता, अनुकूलता, सप्राणता, सहृदयता तथा स्वाभाविकता। पात्रों के क्रियाकलाप ही घटनाओं के कारण बनते हैं और घटनाओं का शृंखलाबद्ध संयोजन कथावस्तु का रूप ग्रहण करता है। पात्रों के बिना कथा का अस्तित्व नहीं हो सकता। पात्रों के चरित्र ही घटनाओं तथा उससे संबंधित अन्य पात्रों के संबंधसूत्रों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार उपन्यास में आनेवाले हर पात्र की अपनी चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं।

चरित्र-चित्रण की परिभाषा देते हुए मेरेडिथ ने कहा है कि चरित्र-चित्रण कथा के पात्रों की व्यक्तिगत तथा न्यारी विशेषताओं अथवा उनके स्वभाव को प्रकाश में लाकर उन्हें एक-दूसरे से भिन्न दिखाने की एक विधि है।

चरित्र-चित्रण की विधियाँ

उपन्यास में चरित्र-चित्रण की प्रायः बहिरंग चित्रण, अंतरंग चित्रण एवं नाटकीय चित्रण तीन विधियाँ अपनायी जाती हैं। बहिरंग प्रणाली में आकार वेशभूषा आदि का चित्रण होता है। अंतरंग में मानसिक वृत्तियों का और नाटकीय में कथानक आदि के आधार पर चरित्र-चित्रण होता है।

पात्रों का वर्गीकरण

1. कथानक का दृष्टि से, 2. चरित्र-विकास की दृष्टि से, 3. कार्यक्षेत्र की दृष्टि से। पात्रों का अपना निजी सौंदर्य होता है, किंतु शिल्प के अभाव में प्रभावशील पात्र भी प्रभावहीन तथा नीरस हो जाते हैं। पात्र को सजीव बनाने के लिए उपन्यासकार निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग करते हैं।

वर्णनात्मक—डायरी, लेखक द्वारा, पत्र द्वारा

विश्लेषणात्मक—लेखक द्वारा, पात्र द्वारा

अभिनयात्मक—क्रियाकलाप द्वारा, संभाषण द्वारा

कार्यक्षेत्र की दृष्टि से सामाजिक पात्र। जिन उपन्यासों के पात्रों में समाज का स्वरप्रधान होता है, उन्हें सामाजिक पात्र के अंतर्गत रखा जाता है।

डॉ॰ सुषमा धवन के शब्दों में सामाजिक उपन्यास कला की आधारभूत विचारधारा व्यक्ति-चिंतन से संबद्ध होकर समाज-मंगल की भावना से अनुप्रेरित होती है। आधुनिककाल में इस कोटि के प्रमुख उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद, प्रसाद, विश्वंभरनाथ कौशिक, अमृतलाल नगर तथा फणीश्वरनाथ रेणु हैं।

सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे गए उपन्यासों की हिंदी में एक सशक्त परंपरा है। जिस प्रकार का चरित्र-चित्रण हमें भारतेंदु और प्रेमचंद कालीन उपन्यासों में मिलता है, वह बाद वाले सामाजिक उपन्यासों के चरित्र-चित्रण से थोड़ा भिन्न है। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करता है। सामाजिक उपन्यासों में सातत्य का बोध होता है। सामाजिक उपन्यास में जिस समय के सामाजिक जीवन का चित्रण किया जाता है, उसका भी अधिक निश्चित स्वरूप बताया जा सकता है। उपन्यास को स्थान और समय के आयामों में बद्ध होना पड़ता है। सामाजिक उपन्यास जितना अपनी सामाजिक परिस्थितियों से

जकड़ा हुआ होता है उतना अन्य काव्यरूप नहीं।

सामाजिक उपन्यासों में समाज के वर्गों का तथा उनकी समस्याओं का चित्रण किया जाता है, सामाजिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करते समय उत्तरदायी कलाकार चेतना को उद्‌बुद्ध करना तथा उसको संस्कृत करना अपना कर्त्तव्य समझता है। सामाजिक जीवन में समाज की आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ भी समाविष्ट हैं। सामाजिक जीवन का विश्लेषण करते समय जब कोई उपन्यासकार मार्क्स के दृष्टिकोण और उसके आदर्श को अपनाना है, तब वह समाजवादी उपन्यासकार कहलाता है। सामाजिक उपन्यासकार विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश या अंचल या प्राकृतिक सौंदर्य समाज की संस्कृति, रीति-रिवाज, रूढ़ियों, परंपराओं, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों तथा लोकसाहित्य इत्यादि विषयों से आत्मीयता अनुभव करता हुआ उस प्रदेश को सम्यक् रूप में चित्रित करने का प्रयत्न करता है। इन उपन्यासों में अंचल-विशेष को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

'चलते-चलते' उपन्यास भगवतीप्रसाद वाजपेयी का है। इस उपन्यास में लेखक ने एक आधुनिक चिंतनशील युवक (राजेंद्र) की यात्रा का विवरण दिया है, जो अपने मनोभावों का विश्लेषण करने में निरत रहता है। वह जीवनपथ पर चलते-चलते अनेक नारियों के संपर्क में आता है जो या तो विवाहित हैं या विधवाएँ हैं। उसके आगे परंपरागत संस्कारों के बंधन एक-एक कर छिन्न-भिन्न होते चले जाते हैं। स्त्री और पुरुष में जो एक नैसर्गिक आकर्षण है, उसकी यथार्थता उपन्यास के नायक राजेंद्र के लिए विशेष महत्त्व रखती है। वह यथार्थता की कसौटी पर सामाजिक अनुशासन तथा नैतिक मान्यताओं को जाँचता है।

उसका वैयक्तिक दृष्टिकोण पुराने नैतिक बंधनों को अस्वीकार करता है। वह स्वयं को सौंदर्य का पुजारी समझता है और जीवनपथ पर चलते-चलते उसकी आँखें रूप तथा लावण्य पर ही पड़ती हैं। राजेंद्र इन नारियों से कोमल तथा बहुविध अनुभूतियों से संपन्न बनता है। उसके चरित्र में दृढ़ता का अभाव तथा गरिमा की कमी है। केवल नारी जगत में उसका गौरव लक्षित होता है। उपन्यास में नायक के जीवन का लक्ष्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। वह सोचता बहुत है, परंतु उसके सोचने में अहंभाव ही पुष्ट होता है। उपन्यास में व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं, असाधारण परिस्थितियों, ऐकांतिक मनोविज्ञान और सामाजिक तथा उद्‌देश्यहीनता की ही निरूपना है।

उखड़े हुए लोग

उखड़े हुए लोग उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र देशबंधु है। इस पात्र को राजेंद्र यादव ने सारे उपन्यास में नेता भैया के नाम से उल्लिखित किया है। स्वभाव से वह अत्यंत उदार है। उन्हें जीवन का कटु अनुभव है। वे अपने परिवार से दूर एक महल में रहते हैं। सभी लोग उनके निवास-स्थान को स्वदेश महल की संज्ञा दे चुके हैं। वे अपने महल में मायादेवी नामक स्त्री के संग रहते हैं। इकलौती पुत्री पद्मा पर देशबंधु की स्त्रीसुलभ दुर्बलता उन्हें पद्मा को कलुषित करने के लिए प्रेरित करती है। पद्मा उनको फटकारती है तो देशबंधु उसकी माँ को महल से निकाल देते हैं।

देशबंधु के चरित्र में अनीति, छल, कपट तथा मौनकुंठा की प्रबलता के कारण उनका प्रतिष्ठित नाम धूल में मिल जाता है। वे समाज के धनी व्यक्ति होने के कारण अनेक अबोध

 ISSN 0975-735X

बालिकाओं को नष्ट करते हैं।

राजेंद्र यादव ने अपने उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' में शरद को प्रमुख पात्र के रूप में चित्रित क्या है। यह युवक मध्यवर्गीय परिवार का व्यक्ति है। इसके जीवन में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उसका व्यक्तित्व जीवन के आघातों को सहते दृढ़ बन जाता है। शरद के विचार में विवाह एक समझौता मात्र है। उसके विचार से विवाह का रूढ़िग्रस्त रूप आधुनिक जीवन के अनुरूप नहीं है। वह जया नामक युवती से विवाह करता है, विवाहोपरांत उसके जीवन में परिवर्तन आता है। इसका मुख्य कारण जीवन की आर्थिक समस्या है। वह वकालत छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए देशबंधु एम॰पी॰ की शरण लेता है। उनके यहाँ वह लेख एवं भाषण लिखने का कार्य करता है। वह उस पूँजीवादी नेता देशबंधु की जीवनी को लिपिबद्ध करता है। इस कार्य से उसकी आत्मा का हनन होता है। विषम परिस्थितियों में घिरा हुआ यह युवक शांतभाव से देशबंधु के सारे कुकर्मों को देखता रहता है। इस प्रकार शरद के चरित्र में दृढ़ता के भाव दिखाई देते हैं। वह हमेशा प्रभावशील पथ के अन्वेषण में प्रयत्नशील रहता है। आज मध्यवर्गीय युवक आर्थिक विषमताओं से प्रभावित होकर ऐसे अनैतिक लोगों के संसर्ग में रहने के लिए विवश हो जाते हैं।

जिंदगी की राह

बालशौरि रेड्डी कृत 'जिंदगी की राह' उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र सुरेश रामप्रसाद का इकलौता पुत्र है। वह मेडिकल कालेज का विद्यार्थी है। सुरेश अपने स्वभाव, व्यवहार एवं व्यक्तित्व के प्रभाव से सरला नामक युवती को अपनी और आकर्षित करता है। वह सुरेश के प्रेम में पड़ जाती है, परिणामत: वह सरला को अपनी वासना का शिकार बनाता है। सरला अपनी इस स्थिति से भयभीत होती है और आत्महत्या कर लेती है। सुरेश के चरित्र में आत्मविश्वास का अभाव है।

डॉक्टर राजू–उपन्यास के इस पात्र को लेखक ने डॉक्टर के रूप में चित्रित किया है। इनमें सफल का वे नि:शुल्क इलाज करते हैं। अस्पताल के सारे मरीजों के वे लोकप्रिय डॉक्टर हैं। यह युवक कर्तव्य का पुजारी है। कर्तव्य को संकटकालीन अवस्था में पूरी तरह से निभाता है। वह सच्चा प्रेमी है। वह सुहासिनी नामक युवती से निस्वार्थ प्रेम करता है, लेकिन उसकी माता के कारण वह विवाह नहीं कर पाता और आजीवन कुँआरा ही रह जाता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. अभिनय नाट्यशास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी
2. आधुनिक हिंदी कथासाहित्य और चरित्र, डॉ॰ बेचैन
3. आधुनिक हिंदी उपन्यास सृजन और आलोचना, चंद्रकांत बंदिबडेकर
4. हिंदी उपन्यासों में नायक, डॉ॰ कुसुम वार्ष्णेय

MOUNT CARMEL COLLEGE AUTONOMOUS
58, PALACE ROAD, BANGALORE 560052
Mob. 9900524414
chilukapuspa@yahoo.co.in

रामविलास शर्मा की अलोचना-दृष्टि

रघुवीरकुमार, शोधार्थी
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर

रामविलास शर्मा प्रतिबद्ध आलोचना के सर्वाधिक क्षमतावान् आलोचक माने गए। हिंदी के मार्क्सवादी आलोचना में उनका स्थान वही माना जाता है, जो भारतीय ज्ञान की चिंतन परंपरा में प्राचीन ऋषि-मुनियों का। जिसप्रकार, भारतीय मनीषा की उत्कट उपलब्धि भारतीय वाङ्मय है, उसीप्रकार उनकी बौद्धिक चेतना की चरम उपलब्धि मार्क्सवादी आलोचना है। यद्यपि रामविलास शर्मा की आलोचना का उपजीव्य मार्क्सवाद है, लेकिन उनकी आलोचना में मार्क्सवाद उन्हीं अर्थों में नहीं दिखाई देता, जिन अर्थों में मार्क्सवाद की मौलिक संकल्पना पाश्चात्य जगत् में देखने को मिलती है; बल्कि उनकी आलोचना भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधारा का भारतीय संस्करण है।

रामविलास शर्मा ने लगभग शताधिक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उनकी मूल चेतना भारतीय चिंतन के मार्क्सवादी व्याख्याता के रूप में व्यक्त हुई है। एक ओर उन्होंने मार्क्सवाद को अपने लेखन का आधार बनाया, वहीं दूसरी ओर वेदाध्ययन में भी रुचि दिखाई। इस कारण उनके मार्क्सवदी होने पर बहुत से साहित्यकारों ने आपत्ति भी जताई थी तथा उनके कृतकार्यों की अवहेलना करते हुए उन्हें प्रतिगामी कहा गया था। लेकिन, उनका मानना था कि मार्क्सवादी होना सिर्फ वेदादि पर उवकाई निकालना ही नहीं, बल्कि उसकी अच्छाई-बुराई पर एक साहित्यकार की हैसियत से उसका सम्यक् परीक्षण भी आवश्यक है। इसी ख्याल से उन्होंने वेदाध्ययनोपरांत उस ओर अपनी लेखनी चलाई थी। उनका मत था कि प्रतिबद्ध आलोचना को भारतीय परिप्रेक्ष्य में आगे ले जाने के लिए अतीत में घुसकर कुछ प्रक्षेपक वस्तु मिल जाए तो अवश्य जाना चाहिए। उन्होंने ऋग्वेद का अध्ययन धार्मिक दृष्टि से न करके, मार्क्सवादी दृष्टि से उसकी भौतिक छवि की तलाश की थी।

असल में यूरोपीय साहित्य-अध्ययन के क्रम में उन्हें पता चला कि यूनानी विद्वान व दार्शनिक उपनिषद् से परिचित थे। 'देमोक्रेतर्स' ने भारतीय दर्शन का अध्ययन किया था। उपनिषद् को समझने के लिए ऋग्वेद का अध्ययन आवश्यक था। इसी कारण उन्होंने अपना रुख वेदादि की ओर किया था। उनकी धारणा थी कि ऋग्वेद का चिंतन द्वंद्ववादी है और वह भारतीय दर्शन का संस्थापक है। ऋग्वेद में दर्शन तथा विज्ञान की उर्वर भूमि मिलती है। इसलिए रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण को 'ऋग्वैदिक नवजागरण' मानते हैं। वे ऋग्वेद की दो धाराएँ देखते हैं-मुख्य तथा गौण। ऋग्वेद में दान-दक्षिणा देनेवाले मुख्य हैं, जो उनके मतानुसार उत्तरवैदिककाल की रचना है। इस काल में संपत्ति का केंद्रीयकरण होने लगा था। साथ ही

 ISSN 0975-735X

कर्मकांड देवता के पृथक् अस्तित्व से जुड़ा। इसमें बहुदेवोपासना का खंडन किया गया है। इस संबंध में वे लिखते हैं–'जो भौतिकवाद अलग-अलग वस्तुओं में प्रत्यक्षबोध तक सीमित रहता है, वह ऋग्वेद में नहीं है, जो भौतिकवाद मंत्रों को परमसत्ता मानता है, उपक्रम कर्मकांड के साथ मंत्रपाठ की सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, वह भी ऋग्वेद में नहीं है। प्रत्यक्ष जगत से विमुख, आँखें बंद करके जान लेना, ज्ञान की यह पद्धति भी ऋग्वेद में नहीं है।'[1]

'रामविलास शर्मा ने भारतीय चिंतन-परंपरा को भलीभाँति समझने के लिए ऋग्वेद का अध्ययन किया था। भारतीय दर्शन की अनेक धाराएँ-उपधाराएँ ऋग्वेद से ही निकली हैं। उनके पूर्व गंभीर रूप से विविध विषयों पर विद्वानों ने कार्य किया था, पर अनेक ज्ञानानुसंधानों को एक-दूसरे से जोड़ते हुए, विविध दृष्टिकोणों को साथ लेकर समग्रता में सुव्यवस्थित चिंतन कम हुआ था। जिस समय भारत में मार्क्सवाद के गंभीर और शास्त्रीय अध्ययन की कमी थी, उस समय रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद का अध्ययन भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में किया।'[2]

रामविलास शर्मा 1934 में 'चाँद' पत्रिका में निराला की कविता पर आलोचना लिखकर आलोचना के क्षेत्र प्रवृत्त हुए। वे अपने लेखन के प्रारंभिक दिनों में कविता लिखा करते थे। कभी-कभी कोई आलेख भी किसी पत्रिका में शोधकार्य के दरम्यान लिख भेजते थे। लेकिन, एक आलोचक के रुप में उन्हें ख्याति तब मिली, जब निराला पर चौतरफा वार हो रहा था। रामविलास शर्मा ने स्वयं कहा है कि 'कवि निराला पर प्रहार नहीं किए गए होते तो मैं आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश ही करता।'[3] निराला के विचारों ने उन्हें बहुत हद तक प्रभावित किया और रही-सही कसर मार्क्सवाद ने पूरी कर दी। रामविलास शर्मा के लेखन के आरंभ के समय तक मार्क्सवाद अपने पाँव भारतीय साहित्य में पसार चुका था। मार्क्स के विचारों को वाद के रूप में पाश्चात्य जगत् में 19वीं शताब्दी में स्वीकृति मिली, लेकिन भरत में इसका आविर्भाव 20वीं शताब्दी के प्रथम चरण, अर्थात् रूसी क्रांति के साथ ही हुआ। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ मार्क्सवादी आलोचना को एक मुकम्मल आधार मिला।

रामविलास शर्मा की आलोचना का फलक विस्तृत और व्यापक है। उनकी चिंतन-दृष्टि प्राचीन वाङ्मय, अर्थात् महाकाव्य-युग से लेकर आधुनिकयुग की परिधि में व्याप्त है। मानव-जाति की आदिम अवस्था से लेकर संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तथा हिंदी-जाति की अर्वाचीन अवस्था उनके चिंतन का मूलाधार है। वे वाल्मीकि से लेकर कालिदास, मार्क्स, ऐंगेल्स, हीगेल, निराला, मुक्तिबोध प्रभृति जैसे प्रगतिशील आलोचाकों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज तथा साहित्य की मूल्यचेतना को जाँचते-परखते हैं। उनके लेखन में मार्क्सवाद उनकी दृष्टि और पक्षधरता के स्तर पर है, न कि जड़वादी स्तर पर। इसमें संदेह नहीं है कि वे लक्ष्यभेदी आलोचक हैं, इसलिए वे विश्लेषण के किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, बल्कि निष्कर्ष को केंद्र में रखकर विश्लेषण करते हैं।

हिंदी आलोचना में यथार्थवाद की स्थापना में रामविलास शर्मा की भूमिका विशिष्ट है। सिद्धांतत: यथार्थवाद का वैचारिक आधार मार्क्सवाद है। किंतु, एक संप्रत्यय के रूप में स्थापित होने के पूर्व यथार्थवादी लेखन और आलोचना की परंपरा भारतीय साहित्य में विद्यमान थी। चूँकि, उनकी आलोचना-दृष्टि मार्क्सवादी चिंतन-परंपरा से भिन्न भारतीय जनवादी चिंतन-परंपरा

से अनुप्राणित है, एतदर्थ इस सत्य की खोज में वे अपनी मौलिक दृष्टि का प्रमाण देकर हिंदी आलोचना में एक नया अध्याय जोड़ते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं–'बिना संबद्धता का विचार किए जो साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक क्रियाओं का या व्यक्तियों से असंबद्ध चित्रण करता है, उसका चित्रण ऊपर से सच्चा लगते हुए भी अवास्तविक लगता है। इससे कला में अराजकता उत्पन्न होती है। पश्चिम के कुछ कवियों ने इस तरह के प्रयोग किए हैं और कुछ लोग समझते हैं कि उनकी अराजकता का कारण कला का बाह्य रूपों में उसकी आसक्ति है, टेकनीक पर जरूरत से ज्यादा जोर देकर उन्होंने ऐसा प्रयोग कर डाले, जिनमें विषय गौण हो गया और कला का बाह्य रूप भी दुरूह हो गया है। उनकी कला में अराजकता इसलिए पैदा नहीं हुई कि वे कला के बाह्य रूप पर जोर देते हैं, वरन् इसलिए कि उनमें एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है।'[4] इसप्रकार, रामविलास शर्मा ने व्यावहारिक आलोचना की एक ऐसी जमीन तैयार की, जहाँ सामान्य पाठक और साहित्यिक दोनों के लिए समान अवसर है।

'सृजनात्मक साहित्य में भाव एवं ऐंद्रिय बोध का जो महत्त्व है, आलोचना में वही महत्त्व आलोचक के जीवन-दर्शन या विश्वदृष्टि का है। इस विश्वदृष्टि को सिद्धांत-दर्शन भी कहा जाता है। इसी विश्वदृष्टि के आधार पर आलोचक अपनी सैद्धांतिक आलोचना का विकास करता है। इस दृष्टि से 'यथार्थ जगत् और साहित्य' तथा 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' ये दोनों निबंध रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि का आधार तैयार करते हैं।'[5] उनके ये दोनों सैद्धांतिक निबंध 'आस्था और सौंदर्य' नामक पुस्तक में संकलित हैं, जो भाववादी चिंतन-परंपरा से इतर भौतिकवादी चिंतन के अनुरूप साहित्य और सौंदर्य को विश्लेषित और विवेचित करते हैं। इससे पहले भी उनकी कई आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, लेकिन इस पुस्तक में संकलित ये दोनों निबंध उनके परवर्ती आलोचना की सीढ़ी माने जाते हैं। इसलिए इनका विश्लेषण आवश्यक है।

रामविलास शर्मा ने 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबंध में कला और साहित्य के सौंदर्य पर विशद् विवेचन किया है। साहित्यिकों ने कला तथा साहित्य के सौंदर्य-विवेचन में सौंदर्य किसे कहते हैं तथा सौंदर्य क्या है? पर भाववादी व्याख्याकारों में कई युगों तक विचार किया और सौंदर्य का मानक तय किया। परंतु, रामविलास शर्मा ने उनकी परिभाषा तथा शास्त्रीय अवधारणा से भिन्न 'प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनंदायक गुण का नाम सौंदर्य है' लिखकर सौंदर्य की वस्तुवादी व्याख्या की थी। वे सौंदर्य तथा सौंदर्यशास्त्र के लिए भौतिकवादी नजरिया अपनाते हैं। सौंदर्य-विवेचन के क्रम में सवाल उठाते हैं कि 'सौंदर्य कहाँ है? सौंदर्य किसे कहते हैं? तथा सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत किसका अध्ययन किया जाना चाहिए? इस संबंध में उनकी भिड़ंत ऐसे शास्त्रज्ञों से होती है, जो ज्ञान को कर्म से पृथक् करके देखते हैं, अर्थात् मानव-ज्ञान का संबंध उनके कर्मों से जोड़कर नहीं देखते। इस संबंध में उनका तर्क है–'कला में कुरूप और असुंदर को भी स्थान मिलता है; दु:खांत नाटक देखकर हमें वास्तव में दुख होता है; साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है; उसे सुंदर कैसे कहा जा सकता है? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों

 ISSN 0975-735X

के समान हैं, जो राग के रूप को निखारते हैं। वीभत्व का चित्रण देखकर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते; हम उस कला से प्रेम करते हैं, जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुंदर कार्य है या असुंदर? जिसे हम कुरूप, असुंदर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौंदर्य में होती है। दुखांत नाटकों में हम दूसरों का दुख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक अथवा परिवार और मित्रों तक सीमित न रहकर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुंदर कहेंगे या असुंदर? सहानुभूति की इस व्यापकता से हमें प्रसन्न होना चाहिए या अप्रसन्न? दु:खांत नाटकों अथवा करुणरस के साहित्य से हमें दु:ख की अनुभूति होती है, किंतु दु:ख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दु:ख में वह आनंद निहित होता है, जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है।'[6] इसप्रकार वे सौंदर्य का वस्तुगत अध्ययन कर अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय देते हैं।

समग्रत:, रामविलास शर्मा की मौलिक दृष्टि का ही परिणाम है कि आज हिंदी के पास प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य, दर्शन, इतिहास तथा संस्कृतियों भरा-पूरा मार्क्सवादी मूल्यांकन मौजूद है। उनकी दृष्टि मार्क्सवादी है, लेकिन मार्क्सवाद की मूल संकल्पना से थोड़े भिन्न, भारतीय आर्ष-दर्शन से भी प्रभावित है।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ॰ 355
2. सं॰ विजय गुप्त, साम्य, अंक : 26, पृ॰ 5 (संपादकीय से)
3. रामविलास शर्मा, अपनी धरती अपने लोग : 2, (देर-सबेर), नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 55
4. रामविलास शर्मा, संस्कृति और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ॰ 208-209
5. निर्मला जैन, रामविलास शर्मा : निबंधों की दुनिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 8
6. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ॰ 27

स्वतंत्रतापूर्व हिंदी-कविता में किसान जीवन संघर्ष

डॉ॰ गोरख प्रभाकर काकडे
हिंदी विभाग
सरस्वती भुवन कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
औरंगाबाद (महा॰)

यह सर्वमान्य है कि आज 'किसान' और 'किसानी' दोनों खतरे में हैं। आए-दिन किसान आत्महत्या कर रहे हैं, जिनकी संख्या लाखों का आँकड़ा पार कर चुकी है। आज किसान को दरिद्रता ने घेर लिया है, उसे अर्थाभाव और दुर्दशा के कारण बेटियों का अनमेल विवाह करना पड़ रहा है, उसकी संतानों की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं है, वह गाँव छोड़कर रोजी-रोटी की तलाश में दर-दर भटक रहा है, वह सूदखोर साहूकार, महाजन, पूँजीपति, बैंक, शासन, बिचौलिए, व्यापारी सभी की चपेट में आ गया है। ऊपर से प्राकृतिक असंतुलन, आपदाएँ, बाढ़, अतिवृष्टि, सूखा, अनावृष्टि आदि का उसे सामना करना पड़ रहा है। नई-नई योजनाओं के नाम पर उसे छला और सताया जा रहा है, उसकी जमीन हड़पी जा रही है, उसकी उपज के साथ कहीं पर न्याय नहीं हो रहा, कम दामों में वह खरीदी जा रही है तो दूसरी और महँगाई आसमान छू रही है। 'खाद्यान्न सुरक्षा' ने उसे और भी असुरक्षित बना दिया है। (फिर चाहे वह सवर्ण हो या अवर्ण) ऐसी हालत में देश उनकी ओर असंवेदनशीलता दर्शाता है तो यह मानवीय भविष्य के लिए निश्चित ही सबसे बड़ा खतरा होगा। इस खतरे को अगर हमें टालना है और जग के अन्नदाता के जीवन को 'गुड़-गोबर' होने से बचाना है तो हर एक को संवेदनशील होकर उसके प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाना होगा। इसी उत्तरदायित्व का एक अंग है, आज की यह चर्चा। आज यहाँ केवल चर्चा या बहस करने से किसान जीवन का संघर्ष समाप्त होनेवाला नहीं है, यह भी हम जानते हैं। लेकिन दुष्यंत कुमार के 'हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए' को अगर सही मानते हैं तो यहीं से उस आग को लोगों तक पहुँचाते हैं।

जब संवेदनशीलता, मानवीयता एवं संघर्ष की बात आती है तो हमारा ध्यान जाता है साहित्य की ओर, क्योंकि साहित्य और साहित्यकार समाज से प्रतिबद्ध होने की हमारी प्रमुख धारणा है। विकट समय में साहित्य का दायित्व और भी बढ़ जाता है। हम देखेंगे कि क्या किसानों को लेकर हिंदी कवियों ने अपनी प्रतिबद्धता निभाई है? वर्तमान समस्या का हल ढूँढने के लिए हमेशा अतीत में झाँकना होता है। यह प्रयास भी होगा कि क्या अतीत में किसान जीवन में संघर्ष थे? अगर थे तो उसका सामना उन्होंने कैसे किया? क्या इन समस्याओं के हल तत्कालीन साहित्यकारों ने कुछ दिए थे? या वे भी चुप्पी साधे हुए थे?

आज भारत की पहचान दो रूपों में हम देखते हैं, वह है स्वतंत्रतापूर्व भारत और स्वातंत्र्योत्तर भारत। हिंदी कविता का आरंभ सामान्यतः सन् 1000 से अगर हम मानते हैं और

 ISSN 0975-735X

देखते हैं कि तब से लेकर 15 अगस्त, 1947 तक लिखी गई कविताओं में किसान जीवन का संघर्ष किस रूप में आया है, तो सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है आदिकालीन हिंदी कविता पर। आदिकालीन हिंदी कविता में किसान जीवन-संघर्ष के चित्र तो प्रस्तुत नहीं होते, किंतु यत्र-तत्र किसान, कृषि, भरनी, धान आदि के चित्र बड़ी मुश्किल से देखे जाते हैं। एकाध अमीर खुसरो जैसा कवि कहता है, 'शाही मुकुट का हर मोती गरीब किसान की आँसू भरी आँखों से टपकनेवाले खून की बूँद है।'[1] अन्य मात्र अपने आश्रयदाताओं की वीरता का बखान करने में और शृंगारिक प्रेमकथाएँ कहने में अपनी काव्य-प्रतिभा को खर्च करते हैं।

मध्यकाल या भक्तिकाल, रीतिकाल की कविताओं में किसान जीवन संघर्ष के चित्र कुछ समाधानकारक नहीं हैं। उसमें भी खासकर रीतिकाल में। भक्तिकाल के कवियों में कबीर के दोहों में किसान जीवन की समस्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वे अपने दोहों में खेती, बीज, गाड़ी, बैल, धान, बिगारी, किसान, अतिवृष्टि, अकाल आदि को व्यक्त करते हैं। कबीर ने हमेशा दुखियों, ऊँच-नीच, शोषित, पीड़ित, लोगों का पक्ष लिया है। कबीर ने आध्यात्मिक उदाहरण देने के लिए भी कुछ जगह किसान और किसानी के प्रतीकों का प्रयोग किया है। वे कहते हैं, 'नाऊँ मेरी खेती नाऊँ मेरी बारी'। इसके अलावा कबीर के दोहों में किसान जीवन की समस्याएँ अभिव्यक्त हुई हैं। वे कहते हैं–

पकी हुई खेती देखि के, गरब किया किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान।[2]

प्रस्तुत दोहे का अंश 'अजहूँ झोला बहुत है' स्पष्ट करता है कि उस समय अनाज घर आने तक किसान का नहीं होता था। वह लगान के नाम पर या ऐसे ही लूटा जाने का डर था, प्राकृतिक आपदाओं की चपेट में आने का डर था। कबीर द्वारा कही हुई बात आज भी लागू होती है, अंतर केवल इतना है कि उस समय खुल्लमखुल्ला होता था, आज छुपे तरीकों से होता है। कबीर ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'खेत धनि का मैं रखवाला' याने उस समय की खेती पर राजा का अधिकार था। राजकीय अधिकार की यह परंपरा भारत में सन 1820 तक चली। इस साल टॉमस रो ने जमीन को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बदल दिया और तबसे जमीन पर किसानों का व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में अधिकार प्राप्त हुआ।

कबीर के अलावा तुलसीदास की 'कवितावली' के उत्तरकांड में किसान जीवन की त्रासदी, भूख, दुर्दशा, दारिद्र्य आदि के चित्र केवल 'कलिकाल' वर्णन के संदर्भ के रूप में आए हैं। तुलसीदास कहते हैं–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।[3]

सूरदास का कार्यक्षेत्र ब्रज, कृषक भूमि होने से उनकी कविता में किसानी से संदर्भित अनेक तत्कालीन तथ्यों का जिक्र हुआ है। लेकिन वह किसान जीवन संघर्ष से ज्यादा राजकीय संघर्ष और आध्यात्मिक संदेश लगते हैं। जायसी ने विरह-वर्णन, प्रकृति-चित्रण के रूप में खेती, खेतिहर के चित्र प्रस्तुत किए हैं।

आधुनिककाल में सही रूप में कविता में किसान जीवन संघर्ष प्रवेश कर पाया, परंतु

एक खेद यहाँ पर भी व्यक्त करना जरूरी लगता है कि मराठी के समाजसुधारक महात्मा फुले के 'शेतक-याचा आसुड' (किसान का कोड़ा) जैसा कोई कोड़ा हिंदी कविता को न मिल सका। आधुनिक युग में हम पाश्चात्य 'रेनेसाँ' (नवजागरण) के संपर्क में आ गए और हमने भारत में भी नवजागरण का बिगुल फूँक दिया। परिणामस्वरुप हिंदी कविता 'दरबार' से निकलकर 'घरबार' की बन गई। किसान जीवन संघर्ष और आधुनिक हिंदी कविता पर जब हम विचार करते हैं तो हमारा ध्यान उस समय में चलाए गए किसान आंदोलन की ओर अपने आप चला जाता है, जो किसानों के वाजिब हक को लेकर लड़े जा रहे थे। ये किसान आंदोलन अँग्रेज सरकार, जमीदार, साहूकार, सामंत, व्यापारी, बिचौलिए, महाजन, कारिंदों के विरोध में लड़े जा रहे थे, जो किसानों का शोषण करते थे, उन्हें अमानवीय जीवन जीने के लिए मजबूर करते थे, उनके परिवार की महिलाओं पर अत्याचार करते थे, गुलामों के रूप में उन्हें बेचते थे। इन आंदोलनों में प्रमुख रूप से हम (1) नील विद्रोह (1859-60) बंगाल में ब्रिटिशों के विरोध में लड़ा गया था। 'ददनी प्रथा' का इसमें कड़ा विरोध किया था। (2) पाबना विद्रोह (1873-76) बंगाल के काश्तकारों ने पाबना जिले में यह आंदोलन किया था। (3) दक्कन विद्रोह (1875) महाराष्ट्र के पूना एवं अहमदनगर जिले में गुजराती एवं मारवाड़ी साहूकारों के विरोध में यह आंदोलन हुआ था। (4) बिजोलिया किसान आंदोलन (1847-1900) इस आंदोलन का नेतृत्व विजयसिंह पथिक ने किया था। यह आंदोलन नौकरशाही एवं स्वेच्छाचारी सामंतों के विरोध में लड़ा गया था। (5) ताना भगत आंदोलन (1914) यह आंदोलन ताना भगत और जतरा भगत द्वारा ऊँचे लगान के विरोध में लड़ा गया आंदोलन था। (6) चंपारण सत्याग्रह (1917-18) इस आंदोलन में महात्मा गांधी जी का समावेश था। यह जबरदस्ती नील की खेती करवाने के विरोध में हुआ था। (7) रामोसी किसानों का विद्रोह। इसका नेतृत्व वासुदेव बलवंत फड़के ने किया था। यह मुख्यत: महाराष्ट्र में किया गया आंदोलन था। (8) बारदोली सत्याग्रह (1920) सूरत के बारदोली तहसील में यह आंदोलन छेड़ा गया था। इसमें राष्ट्रीय नेताओं की सहभागिता थी। सरदार पटेल और मेड़ता बंधुओं ने इसका नेतृत्व किया था। (9) उत्तर प्रदेश में किसान आंदोलन (1918) होमरूल लीग के कार्यकर्ताओं के प्रयासों से तथा गौरीशंकर मिश्र, मदनमोहन मालवीय, इंद्रनारायण द्विवेदी के मार्गदर्शन में फरवरी, 1918 में उत्तर प्रदेश में 'किसान सभा' का गठन किया गया और 1920 में 'अवध किसान सभा' का। इन दोनों ने बड़े पैमाने पर उत्तर प्रदेश में किसान आंदोलन को सशक्त बनाया। (10) अखिल भारतीय किसान सभा (1936) इस किसान सभा में अनेक छोटी-मोटी किसान सभाओं को समाविष्ट करके एक बड़ी सभा का निर्माण किया गया। इसमें 'बिहार किसान सभा' (1923) जिसका नेतृत्व स्वामी सहजानंद सरस्वती ने किया था। 'आंध्र प्रांतीय सभा' (1928) जिसका नेतृत्व एन॰जी॰ रंगा ने किया था। 'उत्कल प्रांतीय किसान सभा' (उड़ीसा), जिसका नेतृत्व मालती चौधरी ने किया था। 'कृषक प्रजा पार्टी' (1929) बंगाल में कार्यरत थी और अकरम खाँ ने इसका नेतृत्व किया था। इन चारों को मिलाकर निर्माण हुआ था 'अखिल भारतीय किसान सभा का'।

इसके अलावा अनेक किसान आंदोलन 19 वीं और 20 वीं शती में भारत में किसानों के हक के लिए लड़े गए थे। यहाँ केवल उन कुछ प्रमुख आंदोलनों का जिक्र किया है, जिन्होंने

 ISSN 0975-735X

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारी स्वतंत्रतापूर्व की आधुनिक हिंदी कविता को प्रभावित किया है। इन आंदोलनों और सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण परतंत्रता में भी यहाँ की अँग्रेज सत्ता और प्रस्थापित वर्ग के विरोध में हिंदी कवियों ने कविता लिखने का साहस किया, किसान समस्याओं और संघर्ष को लेकर। कुछ कवि तो स्वयं किसान आंदोलनों में सहभागी भी थे। कवि नागार्जुन के संदर्भ में लिखा है, 'उनकी (नागार्जुन की) मैथिली कविताओं में किसान के जीवन संघर्ष, दुख और करुणा की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं।'[4] नागार्जुन स्वयं सहजानंद सरस्वती द्वारा चलाए गए किसान आंदोलन में राहुल सांकृत्यायन के साथ सम्मिलित थे। इनके अलावा राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के साथ-साथ किसान आंदोलनों में भी हिंदी के कवियों ने सहभागिता निभाई थी। इस संदर्भ में लल्लनराय लिखते हैं, 'हिंदुस्तान के बहुसंख्यक शोषित-पीड़ित जीवन में कृषि क्रांति की आवश्यकता से प्रेरित 'किसान सभा' का प्रभाव सन 1930 से विशेष रूप से 1936 से 1953 तक काफी गहरा था। फलस्वरूप प्रगतिशील कविता का कृषि क्रांतिमूलक स्वर सबसे तीव्र और व्यापक रहा है। इस कालखंड के आरंभिक दौर में किसान और गाँव के जीवन को लेकर अनेक कविताएँ लिखी गईं।'[5]

स्वतंत्रतापूर्व आधुनिक हिंदी कविता में 'भारतेंदुयुग' (नवजागरण), 'द्विवेदी युग' (सुधार काल), 'छायावाद', 'प्रगतिवाद', और 'प्रयोगवाद' के कुछ हिस्से को हम सम्मिलित कर सकते हैं। कविता का यह समय अँग्रेजीराज का समय है, परतंत्रता का समय है। यदि हम इस जमाने की बात सोचें और इतिहास को देखें तो स्पष्ट ही होता है–'अँग्रेज यहाँ आए तो इसलिए कि यहाँ के किसानों से कच्चा माल सस्ते से सस्ते दामों में लेकर अधिक से अधिक लाभ उठाना... उस पर कारखाने चलाना और पक्का माल लाकर ऊँचे दामों पर बेचना यही अँग्रेजों की नीति रही।'[6] परतंत्रता के समय में कुछ कवियों ने किसान जीवन संघर्ष के कुछ पहलुओं को अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी है।

भारतेंदुयुगीन हिंदी कवियों ने राजभक्ति निभाते-निभाते किसान जीवन पर जो थोड़ा बहुत विचार किया है, वह उस समय की किसान त्रासदी और दुर्दशा को समझने में हमारी मदद करता है। भारतेंदु ने उस समय की शोषण व्यवस्था को 'राक्षस' के रूप में चित्रित किया है। वे लिखते हैं–

मरी बुलाउँ देस उजाड़ूँ महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन मुझको धन्न।
मुझे तुम सहज न जानोजी, मुझे इक राक्षस मानोजी।[7]

भारतेंदु ने 'नीलदेवी' में भी किसान जीवन के चित्र प्रस्तुत किए हैं। भारतेंदु मंडल के अन्य कवियों ने भी अपनी लेखनी की कुछ स्याही किसान के ऊपरी जीवन को अर्पित कर दी है। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'जीर्ण-जनपद' काव्य संग्रह में जनपद के साथ किसान जीवन की जीर्णता को व्यक्त करते हुए लिखा है–

दीन कृषक जन औरहु दया योग दरसावही।
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र कहुँ दिखियत नाहीं।
मिहनत कर अधिक पर अन्न बहुत कम पावत।

जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जियावत।[8]

कवि ने जीर्णता के साथ आशाओं, उमंगों को भी रेखांकित किया है। 'प्रेमघन' का किसान बारिश आदि की कमी से परेशान है, उसके सपने में जो संपत्ति है वह सपना ही रहने वाला है, यह वह जानता है। अब पहले जैसे खेत नहीं लहराते, पहले जैसे वनों में भी शोभा नहीं बची और न ही जन-मन में हास्य-विनोद बचा। इतना होने पर भी कवि का किसान बड़ी उमंग के साथ ऋतु बदलते ही हास्य-परिहास के साथ भरनी करता है–

लै किसान हल जोतहिं खेतहिं, लेव लग्यो गुनि।
बोवत कोउ हिंगावत बाँधन मेड़ कोउ पुनि।[9]

कवि ने किसान जीवन के प्रकृति के साथ चल रहे संघर्ष को भी अभिव्यक्ति दी है। कवि बालमुकुंद गुप्त 'लगान' के नाम पर कैसे उपज से अधिक रुपए लिए जा रहे हैं, तत्कालीन वास्तव को स्पष्ट करके किसान जीवन संघर्ष को कविता में उतारते हैं। सबका पेट भरनेवाला अन्नदाता, उसके बच्चे भूख से बेहाल होने का चित्र बड़ा हृदयद्रावक है। वह कहते हैं–

हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लावें।
हाय जो सबको गेहूँ देते वह ज्वार बाजरा खाते हैं,
वह भी जब नहिं मिलता तब वृक्षों की छाल चबाते हैं।[10]

प्रस्तुत कविता में कृषकों के श्रम पर मजे मारते 'लाट साहबों' और अँग्रेजों के कारिंदों (जम के दूतों) द्वारा खेत से ही अनाज उठाने की वास्तविकता को कवि व्यक्त करता है। कवि का किसान अँग्रेज, जमींदार, नौकरशाही, अमीरों आदि के शोषण का शिकार है, वह बेचारा है। उसके श्रम का फल खा खाकर सभी लोग सुख पाते हैं।

स्वतंत्रतापूर्व हिंदी कवियों में किसानों के प्रति प्रतिबद्धता वाले कवियों में मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे ऊपर और सबसे पहले लिया जा सकता है। गुप्तजी किसान पर सशक्त प्रबंधकाव्य लिखनेवाले प्रथम कवि हैं। गुप्तजी ने 'किसान' (1915) प्रबंधकाव्य और 'किसान' कविता (1914) लिखी। साथ ही 'साकेत' के अष्टम एवं नवम सर्ग और 'भारत भारती' में भी किसान जीवन का अंश व्यक्त किया है। गुप्तजी का किसान अनेक स्तरों पर संघर्ष करके जीवित रहता है। आत्मघात का विचार क्षण-भर के लिए कविता में व्यक्त होता है, लेकिन तुरंत उसकी अर्धांगिनी 'कुलवंती' उसे ढाढस देकर जीवन समस्याओं से लड़ने की प्रेरणा देती है, उसका साथ देती है। 'किसान' प्रबंधकाव्य में किसान के लगान के नाम पर हो रहे शोषण, जमींदारों, साहूकारों, सामंतों, दरोगा और बिचौलियों द्वारा हो रहे शोषण को व्यक्त किया है। साथ ही किसानों के साथ गुलामों जैसे हो रहे व्यवहार को भी वे स्पष्ट करते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि 'फिजी' जैसे देश में गन्ने की खेती करने के लिए किसान को गुलाम के रूप में गुलामी करनी पड़ती है। किसान संघर्ष और जीवन की दुर्दशा को व्यक्त करते हुए वह कहते हैं–

कृषक-वंश को छोड़ न था क्या और ठिकाना?
नरक-योग्य भी नाथ! न तुमने हमको माना!
पाते हैं पशु-पक्षि आदि भी चारा-दाना,

 ISSN 0975-735X

और अधिक क्या कहें, तुम्हारा है सब जाना।
कृषि ही थी तो विभो! बैल ही हमको करते,
करके दिन भर काम शाम को चारा चरते!
कुत्ते भी हैं किसी भाँति दग्धोदर भरते,
करके अन्नोत्पन्न हमी हैं भूखों मरते।[11]

कवि 'भारत भारती' के 'वर्तमान खंड' में कहते हैं–

पानी बनाकर रक्त का, कृषि करते हैं यहाँ
फिर भी अभागे भूख से, दिन-रात मरते हैं यहाँ।[12]

गुप्तजी ने किसान के भूख, दारिद्रय, अभाव, गुलामी, बेगारी, शोषण आदि का चित्रण किया है। गुप्तजी के किसान के मन में व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव तो निर्माण होता है, लेकिन वह पानी पर उठे बुलबुले की भाँति हवा हो जाता है।

गुप्तजी के बाद किसान को नायक बनाकर प्रबंधकाव्य लिखने वाले गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' एक हैं। उन्होंने 'कृषक-क्रंदन' (1916 प्रबंधकाव्य), 'किसान', 'आर्त कृषक' (सरस्वती 1914) 'दुखिया किसान' (सरस्वती 1912), 'भारतीय कृषक' (सरस्वती 1916) आदि कविताओं के माध्यम से किसान के दुख-दर्द को व्यक्त किया है। वे अपनी 'किसान' कविता में कहते हैं–

मानापमान का नहीं ध्यान, बकते हैं उनको बदजुबान,
कारिंदे कलि के कूचवान, दौड़ाते, देते दुख महान,
चुप रहते, सहते हैं किसान।
नजराने देते पेट काट, कारिंदे लेते लहू चाट,
कितने ही बेढब सूदखोर, लेते हैं हड्डी तक चिंचोर।[13]

इस कविता में किसान आक्रोश कर रहा है। इस आक्रोश को प्रतिरोध में बदलने का भाव कवि व्यक्त करता है और योग्य नेता न होने का अफसोस भी जताता है।

मुकुटधर पांडे ने अपनी 'किसान' (विशाल भारत 1925) कविता में किसान को विश्व का कल्याण करनेवाले के रूप में चित्रित किया है। सन् 1930 में चकोर नाम के कवि ने 'किसान' नाम की गजल में लिखी है, जिसमें किसान को बेमौत मरनेवाला और निर्धन कहा है। गजल का मतला ही है–

दुखिया किसान हम हैं, भारत के रहनेवाले,
बेदम हुए, न दम है, बे-मौत मरनेवाले।
अफसोस हाय! हैरत, किस पाप का नतीजा,
सबसे हमी हैं निर्धन, धन के उगलनेवाले।[14]

सन 1936 के बाद हिंदी कविता का स्वरूप बदलने लगा था। प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) काव्य आंदोलन के कारण कविता का केंद्र मजदूर, सर्वहारा बन गया था। प्रगतिवादी काव्य आंदोलन का शोषक और शोषित के द्वंद्व को व्यक्त करना प्रमुख उद्देश्य था। किसान इसका केंद्र

नहीं था, परंतु किसान जीवन से संदर्भित कविताएँ भी देखा-देखी प्रतिरोध का भाव व्यक्त करने लगीं। केदारनाथ अग्रवाल का किसान, किसान कम और कॉमरेड ज्यादा लगता है। रामविलास शर्मा और प्रभाकर माचवे का किसान भी कुछ इसी प्रकार का लगता है। सन् 1943 में अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक' में रामविलास शर्मा की 'किसान कवि और उसका पुत्र' कविता में 'लाल निशान' मुक्ति का संकेत लगता है। वह कहते हैं–

वह सूने वन में आशा का फूल खिला था,
सूने वन को उस तरु का वरदान मिला था![15]

प्रभाकर माचवे की कविता 'गेहूँ की सोच' और 'बसंतागमन' किसान संघर्ष को व्यक्त करती हैं। गेहूँ की बालियाँ यह सोचती हैं कि किसी खुदगर्ज लाभकर्मी बनिए के यहाँ जाने से अच्छा है होली में जल जाना, 'प्रगतिवादी कविता में देश-विदेश के जनांदोलनों की धडकनों की अनुगूँजें भी सुनाई पड़ती हैं। मजदूरों की हड़ताल, किसान आंदोलन, बंगाल का अकाल, नौसैनिक विद्रोह, तेलंगाना किसान-संग्राम आदि भारतीय इतिहास की ज्वलंत राजनीति की घटनाओं ने प्रगतिवादी कविता पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है।'[16] साथ ही उस समय सशक्त रूप में किसान आंदोलन भी चल रहे थे, उसका भी परिणाम यह हुआ कि अब कविता में किसान शोषण व्यवस्था के प्रति आक्रोश की जगह प्रतिरोध की भाषा बोलने लगा। निराला घोषणा करते हैं कि 'आज अमीरों की हवेली किसानों की होगी पाठशाला।' निराला ने किसानों के जीवन-संघर्ष को 'याचक', 'दीन', 'बादल राग' आदि कविताओं में व्यक्त किया है। किसान-शोषण का, दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत करते हुए बादल से बरसने की वे विनती करते हैं–

जीर्णबाहु, हैं शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विपलव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार![17]

'याचक' कविता में वे कहते हैं, 'माल हाट में है और भाव नहीं/जैसे लड़ने खड़े हैं दाव नहीं।' निराला के समान ही पंत ने भी अपनी कविता में स्वतंत्रतापूर्व किसान जीवन संघर्ष को वाणी दी है। उनके 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में और अन्य संग्रहों में किसान जीवन आया है। 'युगवाणी' की 'कृषक' और 'ग्राम्या' की 'कवि किसान' पंत की किसान जीवन दृष्टि को स्पष्ट करती हैं। पंत का 'कवि किसान' कहता है–

बोओ, फिर जन-मन में बोओ,
तुम ज्योति पंख नव बीज अमर।[18]

तो 'कृषक' कविता में वे किसान की दुरवस्था और दुख के कारणों की खोज करते हुए उसे 'सामूहिक की खेती' का सुझाव देते हैं', जो रूस में विफल हो चुका है। वे लिखते हैं–

कर जर्जर, ऋणग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण;

 ISSN 0975-735X

कर्षक का उद्धार पुन्य इच्छा है कल्पित,
सामूहिक कृषि काया-कल्प, अन्यथा कृषक मृत।[19]

स्वतंत्रतापूर्व आधुनिक हिंदी कविता में किसान जीवन संघर्ष को व्यक्त करने में उपर्युक्त कवियों के अलावा माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', नरेंद्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, नागार्जुन आदि कवियों का भी कुछ न कुछ योगदान है। इसके अतिरिक्त लल्लनराय ने अपनी किताब में कुछ कवि और उनकी कविताओं के नाम दिए हैं, जिसमें से अधिकांश कविताएँ स्वतंत्रतापूर्व के किसान जीवन को व्यक्त करती हैं। वह इसप्रकार हैं–शील की 'बैल', 'अँगड़ाई', 'किसान', 'मजदूर की झोपड़ी'; रामविलास शर्मा की 'कुहरे के बादल', 'तूफान के समय', 'बुधई के गाँव में लाल झंडा'; भवानीप्रसाद मिश्र की 'गाय'; रामेश्वर 'करुण' की 'यह दो विपरीत कथाएँ'; आरसीप्रसाद सिंह की 'बैलगाड़ी'; शंकर शैलेंद्र की 'तू जिंदा है', 'उठे कदम'; बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'झूठे पत्ते', 'नरक विधान'; जगन्नाथप्रसाद मिलिंद की 'किसान का जन्मदिन', 'किसान की चुनौती'; सोहनलाल द्विवेदी की 'किसान', 'गाँवों में' आदि कविताएँ उस समय की किसान चेतना के नए उभार को स्पष्ट रूप से रेखांकित करती हैं।'[20]

उपर्युक्त कविताओं के परिचय के बाद स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रतापूर्व हिंदी कविता में जो किसान जीवन संघर्ष आया है, वह अत्यंत ही अमानवीय है। उस समय के किसान जीवन में दुख, शोषण, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, गुलामी, अभाव, दारिद्र्य आदि की कोई कमी नहीं है। उस समय के किसान आज के जैसे लोकतांत्रिक वातावरण में नहीं थे। वे अँग्रेजों की हुकूमत के गुलाम थे। उन्हें स्वतंत्रता का, समता का अधिकार नहीं था। उनका शोषण अँग्रेज सरकार, सामंत, महाजन, जमींदार, साहूकार, कारिंदों द्वारा किया जाता था। वे ऋण में डूबे हुए थे, उन्हें भारी लगान भरना पड़ता था, नजराने देने पड़ते थे, खुद नंगा भूखा रहकर दूसरों के ऐशो-आराम का जिम्मा इन पर था। ऊपर से प्राकृतिक आपदाओं अकाल, बाढ़, बीमारियाँ, हैजा, प्लेग आदि का सामना करना पड़ता था। इन सारी परेशानियों, त्रासदियों और समस्याओं के चित्र फुटकल रूप में हिंदी कविता में दिखाई देते हैं। खेद की बात यह है कि जितनी शक्ति से और प्रमुख रूप से कविता में उन्हें न्याय देना चाहिए था उतना नहीं मिला। इन सारी परेशानियों के बावजूद उस समय का किसान आत्महत्या नहीं करता था, वह सामर्थ के साथ इन परेशानियों का सामना करता था, कभी-कभी अपने आपको बेचकर भी। आज के किसानों को यह धैर्य देनेवाली बातें हो सकती हैं।

स्वतंत्रतापूर्व हिंदी कविता में किसान के समग्र जीवन के चित्र प्रस्तुत नहीं होते, केवल फुटकल रूप में ऊपरी जीवन ही देखने के लिए मिलता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रतापूर्व हिंदी कविता में किसान जीवन उपेक्षित ही रहा है। जो कुछ कविताएँ मिलती हैं दो-तीन प्रबंधकाव्य को छोड़कर फुटकल रूप में ही हैं। ज्यादातर कविताएँ केवल समस्या व्यक्त करती हैं, स्पष्ट रूप से उसका हल नहीं देतीं। ये कविताएँ सामाजिक जीवन में संवेदनाएँ जगानेवाली हैं, किंतु तत्कालीन राजनीतिक सत्ता और शोषण व्यवस्था को चेतावनी या आवाहन देने वाली नहीं हैं।

संदर्भ

1. उद्धृत, राजकिशोर, कबीर की खोज, पृ॰ 56
2. कबीर, कबीर के दोहे, इंटरनेट
3. तुलसीदास, कवितावली, उत्तरकांड
4. नया पथ, जनवरी-जून, 2011
5. लल्लनराय, हिंदी की प्रगतिशील कविता, पृ॰ 118
6. शरद जोशी, किसान संगठन विचार और कार्य-पद्धति, पृ॰ 36
7. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारत दुर्दशा, पृ॰ 39
8. बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जीर्ण-जनपद, www.kavitakosh.org
9. वही
10. बालमुकुंद गुप्त, सर सय्यद अहमद खाँ का बुढ़ापा, sanjhivirasatblogspot.com
11. मैथिलीशरण गुप्त, किसान (प्रबंधकाव्य), पृ॰ 6
12. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ॰ 99
13. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', किसान, www.kavitakosh.org
14. चकोर, किसान, (गजल), www.kavitakosh.org
15. रामविलास शर्मा, तारसप्तक, पृ॰ 258
16. डॉ नरेंद्रसिंह, आधुनिक साहित्य चिंतन और कुछ विशिष्ट साहित्यकार, पृ॰ 34
17. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, बादल राग, www.kavitakosh.org
18. सुमित्रानंदन पंत, ग्राम्या, पृ॰ 102
19. सुमित्रानंदन पंत, युगवाणी, पृ॰ 51
20. लल्लनराय, हिंदी की प्रगतिशील कविता, पृ॰ 118

मो॰ 09011436144, 07588934474

dr.gorakhkakade@gmail.com

ISSN 0975-735X

कविकल्पतरु भगवंतराय खींची

डॉ॰ रामानंद शर्मा

यों तो शताधिक नरेशों ने रीतिकाव्य के प्रणयन, संरक्षण और आस्वादन में सक्रिय सहयोग किया, लेकिन साहित्येतिहास में जिन सत्कवि और उदार संरक्षण प्रदान करनेवाले राजाओं को 'रीतिकवि-कल्पतरु' की महिमामयी उपाधि से मण्डित किया जाता है, वे हैं—पन्नानरेश महाराज छत्रसाल बुंदेला, असोथरनरेश भगवंतराय खींची और अमेठीनरेश गुरुदत्तसिंह 'भूपति'। इनमें बुंदेलानरेश तो स्थिर राज्यलक्ष्मी वाले थे, लेकिन अपने अल्पकालिक शासनकाल में भगवंतराय ने कवियों की जो भक्ति और अनुरक्ति प्राप्त की, वह उदार और उदात्त राजाश्रय का उज्ज्वल निदर्शन है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि :

खींची, चौहान क्षत्रियों के प्रतिष्ठित चौबीस कुलों में परिगणित एक महत्त्वपूर्ण कुल है। पुरातन धारणा है कि चौहानों की उत्पत्ति आबू पर्वत के यज्ञकुण्ड से हुई, लेकिन नवीन शोध इन्हें 'अहिच्छत्र' (जनपद बरेली) से निकसित मानते हैं। चौहानों के आदिपुरुष का नाम मान चाहमान दिया जाता है, जिसकी पाँचवीं पीढ़ी में वासुदेव हुए, जिनके पिता का नाम था श्रीवत्स और पितामह का वत्स। कदाचित् इसी कारण से चौहानों को वत्सगोत्रीय माना जाता है। वासुदेव ने श्रीस्थल पर राज्य स्थापित किया जो कदाचित् साँभर के निकट का भूभाग रहा हो। शिलालेखों में वासुदेव को अहिच्छत्रपुर का विप्र कहा गया है। हर्ष के शिलालेख में इन्हें अनन्त प्रदेश का शासक कहा गया है। वासुदेव का पुत्र सामन्त या साँवरत था, जो अनन्त देश का शासक रहा। बीजोलिया शिलालेख में इसे भी 'अहिच्छत्रपुर का वत्सगोत्रीय ब्राह्मण' कहा गया है। इनका समय विक्रम की सातवी शताब्दी का द्वितीय पाद माना जाता है। इसी वंश के एक राजा अजयपाल ने अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। अजमेर से संवत 1048 के लगभग राजा रायसिंह के शासन काल में, लक्ष्मणसिंह के नेतृत्व में एक शाखा ने, नाडोल में गद्दी स्थापित की। इस शाखा के चौहान स्वातन्त्र्य, स्वाभिमान और सम्मान को अधिक मीत्त्व देते थे। लक्ष्मणसिंह की छठी पीढ़ी में अश्वराज या अजयराज हुए, जिन्हें इनके पिता माणिकराय ने 'खींची' कहकर संबोधित किया और तभी से इनके वंशज खींची कहलाये। इन्हीं के वंशजों ने संवत् 1250 के लगभग डोढ़ राजपूतों से डोढ़गढ़ छीनकर उसका नाम गागरोण रखा। इसी वंश के राजपुरुष पीपा राजपाट त्यागकर और स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेकर साधु बन गए थे। गागरोणदुर्ग में संवत् 1480 (सन् 1423 ई.) में अचलदास खींची के वीरगति प्राप्त करने पर उनके तीन पुत्रों ने अपने भविष्यनिर्माण के लिए इधर-उधर पलायन किया। बड़े पुत्र ने गुजरात के चांपानेर दुर्ग पर ध्वज फहराया, मँझले ने चित्तौड़ (मेवाड़) की शरण ली और तीसरे पुत्र गजसिंह ने यमुना पार कर असोथर वंश की स्थापना की।

असोथर वंश के मूल पुरुष गजसिंह माने जाते हैं। एक बार वे गंगास्नान के लिए प्रयागराज गए जहाँ उनकी भेंट गौतम राजा से हुई जो इस क्षेत्र के मुस्लिम आतंक से त्रस्त थे। दोनों में वार्ता हुई और दोनों ने मिलकर इस क्षेत्र को मुस्लिम आतंक से मुक्ति दिलाई। गौतम राजा ने अपनी पुत्री का विवाह गजसिंह से कर दिया और अइझी दुर्ग भेंट में दिया। खींची वंश की पहली गद्दी अइझी में ही स्थापित हुई। गजसिंह के पुत्र जयसिंह अत्यंत वीर, निर्भीक और उदार थे, उनकी दानशीलता और गुणग्राहकता प्रसिद्ध थी। उनके पुत्र पाल्हनदेव ने भी गौतमों के साथ सद्भावपूर्ण संबंध रखे, लेकिन उनके पुत्र साहबदेव इन संबंधों का निर्वाह नहीं कर सके और राजकाज से संबंधित मतभेद उभरने पर संवत् 1555 में उसका गौतमों से युद्ध हो गया जिसमें गौतम पराजित हुए और अइझीगढ़ की समस्त सीमा पर साहबदेव का अधिकार हो गया। साहबदेव के वंशक्रम में क्रमशः कर्मदेव, डोमनदेव, जाजदेव, प्रतापसिंह और परशुराम सिंह हुए। परशुराम के पुत्र का नाम था हरिकेश जो भगवंतराय के पिता थे। हरिकेश के दो नाम मिलते हैं–हरिकेश सिंह और अडारूसिंह। मराठा और फारसी इतिहासकारों के अतिरिक्त मुहम्मद कवि ने भी अडारूसिंह नाम का उल्लेख किया है। 'अडार' शब्द खेत में झोंपड़ी या डेरा को कहते हैं और ऐसा करने के कारण वे भाई-बंधुओं द्वारा अडारू कहलाए।[1] 'अडारू' का देशज अर्थ राशि या ढेर भी है।[2] फलतः यह भी संभव है कि खेत में गुप्त निधि मिलने से वे इस नाम से ख्यात हुए हों। हरिकेशसिंह के छः पुत्र हुए, जिनमें अरिमर्दन, भगवंतराय और समरसिंह, विशेष प्रतिभावान थे, लेकिन धैर्यादि गुणों में द्वितीय पुत्र भगवंतराय अनुपम थे। भगवंतराय के जन्म के समय उनके पिता का स्वर्णमुद्राओं का गुप्तकोश प्राप्त हुआ जिससे उन्होंने न केवल अपनी संतति को सम्यक् शिक्षा प्रदान की, बल्कि तीन परगने भी ख़रीद लिए।

जीवनसंघर्ष :

भगवंतराय के प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक तथ्य उपलब्ध नहीं होते। साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उनका जन्म सन् 1680 (संवत् 1737) के लगभग भाद्रपद मास में हुआ होगा। उनकी शिक्षा-दीक्षा के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, लेकिन उनके शारीरिक और मानसिक मनोबल, अश्वारोहण, शस्त्रसंचालन, रणनीतिक कौशल आदि से उनकी सम्यक् शिक्षा का बोध निश्चय ही हो जाता है। भगवंतराय की पहली सफलता असोथर से 14 किलोमीटर दूर भसरोल गाँव के दुर्ग पर अधिकतर को माना जाता है जो उन्होंने वहीं के असंतुष्ट सैनिकों को विद्रोही बनाकर प्राप्त की और जिससे उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। नवंबर, सन् 1712 ई॰ में जहाँदारशाह और फ़रुख़सियर के मध्य लड़े जानेवाले युद्ध में उन्हें कड़ा मानिकपुर और कोड़ा के फ़ौजदारों के साथ फ़रुख़सियर के पक्ष में लड़ना पड़ा, जिसमें फ़रुख़सियर विजयी रहे। इस युद्ध से न केवल भगवंतराय का शौर्य और रणकौशल प्रमाणित हो गया बल्कि विजेता के पक्षधर होने से उन्हें अनेक लाभ भी प्राप्त हुए जिनमें प्रमुख था उनके विजित प्रदेशों को मान्यता मिलना। साथ ही वे मुगलों की युद्धशैली, उसकी सबलताओं और दुर्बलताओं से भी परिचित हो गए। इसी समय के लगभग उन्होंने गाजीपुर जनपद के पैनागढ़ का दुर्ग भी अधिकृत कर लिया और वे असोथर छोड़कर वहीं रहने लगे। खजुवा युद्ध के बाद वे मुगलविरोधी हो गए और सन् 1720 तक उनकी मुगलविरोधी ख्याति न केवल संपूर्ण अंतर्वेद में फैल गई, बल्कि मुगलविरोधी

 ISSN 0975-735X

शक्तियाँ और छोटे-मोटे जमींदार उनके चारों ओर एकत्र भी हो गए। वस्तुतः इस समय से काफ़ी पूर्व औरंगजेब की हिंदूविरोधी नीतियों के कारण हिंदूनरेश संगठित होने लगे थे। जयसिंह ने शिवाजी से मिलकर शाइस्ता ख़ाँ की दुर्गति करा दी थी, छत्रसाल ने बंगश नवाब के समक्ष समर्पण न कर बाजीराव पेशवा को एक तिहाई राज्य दे दिया था, दुर्गादास, अजीतसिंह, गुरुगोविंद सिंह आदि अनेक क्षत्रप खुलकर मुगलों को चुनौती दे रहे थे। भगवंत राय के बूँदीनरेश राव बुधसिंह, छत्रसाल बुंदेला आदि से मैत्रीपूर्ण संबंध थे और डोंडिया खेड़ा के रावमर्दनसिंह तो इनके जीजा ही थे। फलतः इनमें मुगलविरोधी उबाल आना स्वाभाविक ही था। सन् 1720 में इलाहाबाद के नगर सूबेदार के विद्रोह के समय इन्होंने भी केंद्रीय सत्ता का विरोध किया था। मार्च-जून सन् 1778 ई॰ नवाब बंगश के आक्रमण के समय भगवंतराय का सहायतार्थ न पहुँचना विस्मयोत्पादक है, लेकिन उनके राज्य की दो सीमाएँ सआदत ख़ाँ ने दबा रखी थीं और मुहम्मद शाह के आदेश के पश्चात् भी कोड़ा आदि की सेना बुंदेलखंड न पहुँच सकीं–इसमें भगवंतराय ही कारण थे। ये इन शाही सेना को वहीं अटकाए रहे। तरहुँवा (चित्रकूट) के सोलंकियों का क्षेत्र इनके निकट था जहाँ से ये छत्रसाल से जुड़े रहते थे।

भगवंतराय के जीवन के अंतिम 4-5 वर्षों का संघर्ष न केवल स्वर्णिम है, बल्कि पूर्णतः उपलब्ध भी है। भगवंतराय की शक्ति और रणकौशल की ख्याति इतनी फैल गई थी कि सूबेदारों का इनसे संघर्ष करने का साहस नहीं होता था। प्रधानमंत्री कमरुद्दीन खाँ ने कोड़ा के सूबेदार जानिसार खाँ को, जो उनका साला था, आदेश दिया कि भगवंतराय पर आक्रमण करे, लेकिन इस प्रयास में उसे प्राण गँवाने पड़े। जानिसार के मदांध कर्मों का ध्यान रखकर भगवंतराय ने उसके हरम की बेगमों की शादी अपने मित्रों से करा दी तथा उसकी पुत्री अनीस की शादी अपने बड़े बेटे रूपराय से करा दी। इस धर्मांतरण से मुहम्मद शाह का भड़कना स्वाभाविक ही था। उसने अपने पुत्र को कमरुद्दीन ख़ाँ के साथ विशाल सेना के साथ सिरोज के रास्ते उत्तर की ओर मोड़ दिया। दतिया और ओड़छा के बुंदेला राजा भी उनके साथ थे। उन्होंने यमुना पारकर भगवंतराय को गाजीपुर दुर्ग में घेर लिया। एक प्रहर दिन से रात ढले तक दुर्ग पर गोलीबारी होती रही, लेकिन भगवंतराय रात को बच निकले तथा यमुना पारकर बुंदेलखंड पहुँच गए। दूसरे दिन दुर्ग शाही सेना द्वारा जीत लिया गया और दतिया के राजा रामचंद्र बुंदेला को सौंप दिया गया जिसने उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया। कोड़ा की फौजदारी ख्वाजा मीर को मिल गई। कमरुद्दीन ख़ाँ इतने से ही शांत होने वाला नहीं था, वह भगवंतराय का पीछाकर उसे बुंदेलखंड में ही सदैव के लिए सुला देना चाहता था, लेकिन यमुना की बाढ़ ने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होने दी और वह मथुरा के मंदिरों में उत्पात मचाकर दिल्ली लौट गया। कमरुद्दीन के लौटने पर भगवंतराय पुनः अपने प्रदेश में आ गए और सेना संगठित कर रामचंद्र बुंदेला और ख्वाजा मीर के समक्ष युद्धार्थ प्रस्तुत हो गए। यमुना तट पर भीषण संग्राम हुआ। भगवंतराय ने अनुपम शौर्य का प्रदर्शन किया और रणभूमि में ख़्वाजा मीर, रामचंद्र बुंदेला और सामंत साहबराय को धराशायी करते हुए अपने प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया।

अब मुहम्मदशाह की दृष्टि अवधनवाब सआदत ख़ाँ पर गई, जो महत्त्वाकांक्षी और स्वाभिमानी ही नहीं, रणकुशल योद्धा और सफल सेनापति भी था। उसने पहले अपने एक

नायक मीरखाँ को गंगा पार उतारकर रसूलाबाद से कर वसूलने हेतु भेजा। भगवंतराय इस प्रदेश को अधिकृत किए हुए थे। उन्होंने मीरख़ाँ को धूल चटा दी। कुपित नवाब बिठूर के पास गंगा पारकर गाजीपुर की ओर बढ़ा और मार्ग में अनेक हिंदू सामंत भी उससे मिलते गए। नवाब की सेना गाजीपुर की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर पहुँच गई। नवाब ने दूत भेजकर संधि प्रस्ताव रखा, जिसे भगवंतराय ने अमर्षपूर्वक ठुकरा दिया और सेनापतियों के साथ वार्ता करके युद्ध की तैयारी प्रारंभ की। सआदत की चालीस हजार सेना के समक्ष भगवंतराय दस हजार सेना लेकर अत्यंत विश्वास के साथ दुर्ग से युद्ध के लिए निकले। नवाब की विशाल वाहिनी भगवंतराय की सुदृढ़ और सुनियन्त्रित सेना देखकर आतंकित हो गयी। भगवंतराय ने प्रतिज्ञापूर्वक अपनी सेना को प्रतिपक्षी सेना में घुसकर आक्रमण करने का आदेश दिया। आक्रमण की तीव्रता के कारण तोपें निष्फल हो गयीं और भगवंतराय चारों ओर से प्रहारों का सामना करते हुए नवाब से जा भिड़े। स्थिति की विषमता देखकर नवाब को पीछे हटना पड़ा और उसके बालसखा और विश्वासपात्र अब्दुल तुराब ख़ाँ को सामना करना पड़ा, जिसे भगवंतराय ने बर्छी से बींधकर हौदे पर लटका दिया। नवाब की सेना आतंकित होकर भयभीत हो उठी। नवाब ने भागती सेना को पुनः रणभूमि में खड़ा किया। भगवंतराय और उनका भतीजा भवानीसिंह क्रुद्ध सर्प के समान हुंकार रहे थे और चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। अंततः नवाब को सन्धि प्रस्ताव रखना पड़ा, जिसे रक्तपात से बचने और सेना सीमित होने के कारण भगवंतराय ने स्वीकार कर लिया। सन्धि होने पर भगवंतराय के मित्र क्षत्रिय दल पुनः सहायता का आश्वासन देकर लौट गए।

नवाब का सन्धिप्रस्ताव घातक षड्यन्त्र का अंग था। उसने कोड़ा के जगनवंशी चौधरी दुर्जन सिंह को छलपूर्वक भगवंतराय को निपटाने का काम सौंपा। एक मास पश्चात् दुर्जनसिंह ने सैनिक वेशभूषा में दुर्गपर आक्रमण किया। प्रभात के समय भगवंतराय पूजा पर थे। वे तलवार लेकर निकले, लेकिन दुर्जनसिंह ने उन्हें बर्छे से बींध डाला। भवानी सिंह को भी वीरगति प्राप्त हुई। मुगल इतिहासकार बताते हैं कि यह दुर्घटना युद्ध के एक मास पश्चात् घटी, अन्यथा दुर्जनसिंह को यह सूचना दिल्ली भिजवाने में एक सवा महीना क्यों लगता?

व्यक्तित्व : गुण और स्वभाव :

भगवंतराय साधारण में असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे सहज, सरल और मिलनसार थे, प्रत्येक स्थिति के मूल्यांकन में निपुण थे और तदनुसार निर्णय लेने में भी। वे दूसरों को मान-सम्मान देकर आत्मीय भाव में आबद्ध करने वाले थे। मर्यादा और सदाचार उनके व्यक्तित्व के प्रमुख तत्त्व थे और न्यायशीलता शासन का मूलमन्त्र था।

भगवंतराय मूलतः राम के उपासक थे। वे शील और शक्ति से समन्वित मर्यादावादी राम, जिन्होंने क्षेत्रीय लोगों को सैन्य प्रशिक्षण देकर चतुर्दिक विजयी रावण को पराजित किया, से विशेष प्रभावित थे। राम उनके लिए अवतार ही नहीं, आदर्श पुरुष थे।[3] वे हनुमान की भक्ति भी अंगरूप में ही करते थे। देवी शक्ति की अधिष्ठात्रा हैं और भैरव युद्ध के देवता हैं, फलतः वे उनकी उपासना करते थे। भौतिक आनंद के लिए विष्णु और कृष्ण की स्तुति करते थे। सारतः वे राम के उपासक थे, लेकिन भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अन्य देवी-देवताओं की स्तुति करते थे। भक्ति और मुक्ति के लिए राम की ही उपासना करते थे।

 ISSN 0975-735X

भगवंतराय समाजसुधारक भी थे और सामाजिक व्यवस्था का सम्मान भी करते थे। उन्होंने समीपवर्ती लोध आदि जातियों का उन्नयन कर उन्हें क्षत्रिय पद प्रदान किया था। वे ब्राह्मणों का सम्मान करते थे और अपने राज्य में बुलाकर यज्ञादि कराते थे, लेकिन रूढ़िबद्धता को अस्वीकार कर देते थे। असनी के ब्राह्मणों पर अत्याचार देखकर ही उन्होंने धर्मांध जानिसार खाँ को युद्ध के लिए ललकारा था और उसे पराजित कर उसकी बेगमों का विवाह अपने मित्रों से करा दिया था तथा उसकी शहजादी अनीस का विवाह अपने ज्येष्ठ पुत्र रूपराय के साथ की। वस्तुतः यह धर्मान्धता की प्रतिक्रिया मात्र थी।[4]

गुणग्राहकता भगवंतराय के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण गुण था। वे व्यक्ति की प्रतिभा को पहचानकर, उसे उपयुक्त स्थान देने तथा प्रतिभा को विकसित करने के लिए प्रेरित करते थे। साहित्य, संगीत और सैन्यकला का उनके शासनकाल में विशेष विकास हुआ और असोथर एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित हो गया था। वे सत्कवियों को प्रश्रय देते थे और अपने आश्रित कवियों की सारस्वत प्रतिभा को निखारने का काम करते थे। संगीत से उन्हें अपार प्रेम था और ग्यारह संगीतज्ञों की मंडली उनके आश्रय में रहती थी। महाकवि देव और सुखदेव मिश्र के नाम भी उनकी संगीत-मण्डली में सम्मिलित थे। सैन्यकला की सम्यक् शिक्षा और शस्त्रास्त्रों के निर्माण का भी असोथर गढ़ बन गया था। युद्धों के लिए सैनिक और अस्त्रशस्त्र के विकास के लिए भी भगवंतराय बाहरी शक्तियों पर निर्भर नहीं करते थे, बल्कि क्षेत्रीय संसाधनों के सम्यक् दोहन में ही विश्वास करते थे, भले ही इसके लिए बाहरी शक्तियों की सहायता ही क्यों न लेनी पड़े।

काव्यरचना :

भगवंतराय एक श्रेष्ठ राजा, समाजसुधारक, दुर्धर्ष योद्धा और सफल रणनीतिकार ही नहीं, सत्कवि भी थे। विभिन्न रीतिकाव्य संग्रहों में उनके छन्दों का चयन उनके श्रेष्ठ कवित्व को प्रमाणित करता है। उनकी दिवंगति के कुछ ही समय पश्चात् सुदूर उदयपुरनेरश जगत सिंह के आश्रित कवि दलपतिराय और वंशीधर रचित 'अलंकार रत्नाकर' (संवत् 1798) में उनके दो छन्दों की उद्धृति इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

भगवंतराय के कवित्व को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- भक्तिपरक और शृंगारिक। यों उन्होंने कुछ नीतिपरक छन्द भी लिखे हैं जो स्वल्प ही हैं। भक्तिपरक रचनाओं में विष्णु और कृष्ण की स्तुतियाँ भी हैं और गुणगान भी, लेकिन अधिक संख्या हनुमानपरक छन्दों की ही है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर तो सम्पूर्ण रामायण ही कवित्तों में रचे जाने की बात कहते हैं, लेकिन उन दिनों सुन्दरकाण्ड का विशेष प्रचलन था जो हनुमान जी की गौरवगाथा कहता है। भगवंतराय के छन्द भी इसी से सम्बद्ध हैं। इनमें हनुमानजी के शौर्य समन्वित वज्राांग शरीर का रम्य वर्णन है, उनकी कृपादृष्टि की कामना की गयी है। यही नहीं, इन छन्दों में भक्त की तन्मयता और सत्कवि का सुष्ठुता दोनों के रम्य दर्शन होते हैं। यहाँ हनुमत्भक्ति के दो कवित्त प्रस्तुत हैं-

1. बिदित बिसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।

जाही सों चपेटिके गिराये गिरि गढ़, जासों–
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सो मार की।
भनै 'भगवंत' जासो लागि–लागि भेटें प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़े ब्रह्मअस्त की अवाती महाताती, बदौं–
युद्ध–मत–माती छाती पवनकुमार की।

२. सुख भरिपूरि करै, दुखन कों दूरि करै,
जीवन समूरि सो सजीवन सुधार की।
चिंता हरिबे को चिंतामनि–सी विराजै,
कामना को कामधेनु सुधा संजुत सुमार की।
भनै 'भगवंत' सूधी होत जेहि ओर देत,
साहिबी–समृद्धि देखि परत उतार की।
जन–मन–रंजनी है, गंजनी बिथा की, भय–
भंजनी नजरि अंजनी के ऐंडदार की।

भगवंतराय के शृंगारिक कवित्त यद्यपि संख्या में स्वल्प ही हैं, लेकिन शास्त्रीय मर्यादा का पालन करने के कारण अत्यंत उत्कृष्ट हैं और यही कारण है कि रीतिग्रंथों में उनकी अनेक स्थलों पर उद्धृति हुई है। यहाँ स्थूल शृंगार का चित्रण नहीं, बल्कि शृंगार की शालीन अभिव्यक्ति ही हुई है। यहाँ उनके दो रम्य कवित्त प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

1. रैनि की उनीदी राधे सोवत सकारे भये,
झीनी पट तानि परी पायन तें, मुख तें।
सीस तें उलटि बेनी, कंठ ह्वैके, उर ह्वैके,
जानु ह्वै छवान ह्वैके, लागी सूधे रुख तें।
सुरत समय रति जोबन के महा जोर,
जीति 'भगवंत' अरसाय राखी सुख तें।
हर को हराय मानो माल मधुकरन की,
राखी है उतार मैन, चंपा के धनुख तें।

1. बदरा न हो होहिँ, दल आए मैन–भूपति के,
बुँदियाँ न होहिँ, पंचबान झरि लाई है।
दादुर न होहिँ, सेत धुजा 'भगवंत' जू की,
मुरवा न होहिँ, हाँक सूरनिलगाई है।
बगुला न होहिँ, सेत धुजा 'भगवंत' जू की
चपला न होहिँ, चंद्रहास चमकाई है।
बालम बिदेस यातें, बिरहिनि मारिबे कों,
जुगनू न होहिँ, काम जामगी जगाई है।

 ISSN 0975-735X

प्रथम कवित्त में रचयिता ने उन्मत्तयौवना के रति-समर में विजय प्राप्त कर सुप्तावस्था का चित्र अंकित किया है, लेकिन उसने उत्तुंग उरोजों, विगलित शृंगार या चंद्रोपम मुख का चित्रण न कर, सांकेतिक भाषा का प्रयोग कर स्थूलता से मुक्ति पा ली है और शालीनतापूर्वक मुख से पैरों तक झीने आवरण से ढक दिया है। द्वितीय कवित्त में युद्ध के उपकरणों का वियोगपक्ष में सफल चित्रण किया है जो प्रतिभाशाली कवि ही कर सकता है। वे कवित्त मात्र शृंगारिकता के कारण नहीं, शास्त्रीय मर्यादा के कारण महत्त्वपूर्ण बन पड़े है और रचनाकर्म की प्रवीणता के परिचायक हैं।

उदार संरक्षण :

जसवन्त सिंह की दिवंगति के पश्चात् औरंगजेब की हिंदू विरोधी नीतियाँ बढ़ने पर क्षत्रियनरेशों में उसकी प्रतिक्रिया होना सहज ही था और धीरे-धीरे वे संगठित होने लगे, परस्पर सहयोग करने लगे। उस समय क्षत्रियनरेशों के दो वर्ग थे–मित्रवर्ग और अमित्र वर्ग। मित्रवर्ग के नरेश शाही सेना का सहयोग करते थे और अमित्र वर्ग पर आक्रमण किये जाते थे। यह वर्गभेद गहन से गहनतर होता गया और धीरे-धीरे कविवर्ग भी विभाजित होने लगा। डा. ओमप्रकाश अवस्थी ने सत्य को अभिव्यक्त किया है- 'असनी गंगा तट से जुड़ा हुआ है और असोथर जमुना का निकटवर्ती। असनी ने मुगल साम्राज्य की परिधियों में राज्याश्रय ढूँढा और पाया, असोथर में मुगल साम्राज्य के विरोधी तत्त्व एकत्रित हुए।'[5] वस्तुतः यह प्रतिबद्धता केवल असनी और असोथर तक ही सीमित नहीं थी। कालिदास त्रिवेदी, जम्मूनरेश वृतिसिंह के युवराज जोगाजीत सिंह रघुवंशी के आश्रय के पश्चात् अमेठी नरेश महाराज हिम्मतसिंह का आश्रय ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् बान्धवगढ़ नरेश अवधूत सिंह बघेला का। उनके पुत्र उदयनाथ 'कवींद्र' अमेठीनरेश गुरुदत्तसिंह 'भूपति' (हिम्मतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र) के पश्चात् भगवंतराय खीची और तत्पश्चात् बूँदीनरेश राव बुधासिंह का आश्रय ग्रहण करते हैं। सुखदेव मिश्र भगवंतराय के पश्चात् डौंडियाखेड़ा (उन्नाव) के रावमर्दन सिंह, राजगढ़ (अजमेर) के राजसिंह गौड़, मरारिमऊ (रायबरेली)के देवीबख्श के आश्रय में रहे। रावमर्दन सिंह और हिम्मतसिंह का आश्रय भी ग्रहण किया। सभी रीतिकवि इस स्वाभिमान का निर्वहन नहीं कर सके। लेकिन प्रयास अवश्य रहा। देव, सुखदेव मिश्र आदि को क्षत्रियनरेशों से इतर भी आश्रय ग्रहणकर रचनाकर्म करना पड़ा।

भगवंतराय के आश्रय में जिन कवियों के रहने के साक्ष्य मिलते हैं, उनमें देव, सुखदेव मिश्र, शम्भुनाथ मिश्र, सदानन्द, गोपाल, मुहम्मद, नेवाज, भूधर, चतुरेश, मल्ल और सारंग के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। देव ने संवत् 1779 में भगवंतराय के कनिष्ठ पुत्र जयसिंह के नाम पर 'जयसिंह विनोद' की रचना की जो सात विनोदों में विभक्त और 287 छंदों में रचितशृंगाररस एवं नायिकाभेद का ग्रन्थ है। सुखदेव मिश्र वाराणसी से शिक्षा प्राप्त कर कुछ समय भगवंतराय के आश्रय में रहे। सुखदेव साहित्य, साहित्यशास्त्र और संगीत के गहन अध्येता थे। यहीं उन्होंने शंभुनाथ मिश्र को काव्यशिक्षा प्रदान की। शंभुनाथ ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में अपने साहित्यगुरु का गर्वपूर्वक उल्लेख किया है और 'रसतरंगिणी' में प्रारंभ और अंत दोनों स्थलों पर उन्हें नमन किया है-

१. श्री गुरु कवि सुखदेव को, पाय पाय-परसाद।
बनरत संभूनाथ रस, जिनमें सकल सवाद।

छंद 2

२. श्री कवि गुरु सुखदेव के, चरन चारु फलदानि।
मेरे हिय बिहरत रहत, करत रहत कवितानि।

छंद 456

शिष्यों के गर्वपूर्वक उल्लेख से इनके व्यक्तित्व और आचार्यत्व की महत्ता स्वत: स्पष्ट हो जाती है। भाषापरिष्कार इनके काव्य की निजी विशेषता मानी जाती है। शम्भुनाथ मिश्र ने भगवंतराय के आश्रय में रहकर न केवल सुखदेव मिश्र से काव्यशिक्षा प्राप्त की, बल्कि शिव कवि आदि को शिक्षा दी भी। 'रसकल्लोल', 'रसतरंगिणी' और 'अलंकारदीपक' इनके ग्रन्थ हैं। इन्होंने 'भगवंतराय का यशवर्णन भी लिखा जो बैसखाड़ा के राजा रणजीत सिंह के आश्रय में पूर्ण किया गया। सदानन्द ने भगवंतराय के आश्रय में रहकर 'रासा भगवंतसिंह' की रचना की जिसे बाबू ब्रजरत्नदास ने संपादित कर 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित भी कराया था। एकड़ला के अग्निहोत्री ब्राह्मण गोपाल ने 'भगवंतविरुदावली' की रचना की। गंगातट के मलौदी ग्रामवासी मुहम्मद कवि ने भगवंतराय के आश्रय में रहकर 'भगवंतराय खीची का जंगनामा' की रचना की। नेवाज कुछ समय महाराज छत्रसाल के आश्रय में भी रहे थे। इन्होंने कुछ प्रशस्तिपरक कवित्तों की रचना की, वैसे ये अपने शृंगारिक सवैयों के लिए विशेष विख्यात रहे हैं। कहा जाता है कि भगवंतराय की दिवंगति के पश्चात् ये विरक्त होकर संन्यासी हो गए थे। चतुरेश असोथर के ही निवासी थे और जाति से भाट थे। मल्ल, सारंग हेमकंठ आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता, केवल उनके प्रशस्तिपरक कुछ छंद ही उपलब्ध होते हैं।

भगवंतराय को नायक बनाकर आश्रित कवियों ने जो काव्यरचना की, वह मूलत: दो प्रकार की है प्रबंध और मुक्तक। इनमें प्रबन्ध तो प्राय: अप्रकाशित ही हैं, एक-दो संपादित होकर पत्र- पत्रिकाओं में एक स्थान अवश्य पा सके हैं, लेकिन मुक्तक छन्द काफी लोकप्रिय हुए हैं और विभिन्न इतिहासग्रंथों एवं शोधग्रंथों में उद्धृत-संकलित हुए हैं। यहाँ कुछ छंद बानगी के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. सुनि दल बल मुगलन के दलन को,
हर्षि उठि दौर्‌यो वीर हरिकेस-नंद है।
माते-माते हाथिन के हौदा खंड-खंड कीन्हे,
मारे बरछीन सों, बिचारे बैरी-वृंद हैं।
भगवंत-नाहर के पंजा तें निकसि 'संभु'
सहमे सआदत, चलै न छल-छंद है।
बोलत न डोलत, न खोलत पलक, जैसे-
सिंह के समेटे, दबि रहत गयंद है।

2. वार न रहत, वार-पार ही बहति, जाकी-

 ISSN 0975-735X

धार ही में मीचु, अरि-बर की बसति है।
बार-बार बैरिन को बारति बिदारति औ',
बादर-बली में बीजुरी-सी बिलसति है।
'संभु' कहै काटि-कूटि कौचक की गिरह
जिरह ज्यों तिधारा गंगधार में धँसति है।
भगवंत रैयाराव म्यान तें तिहारी तेग,
अरिन के प्रानन समेत निकरति है।

3. दिल्ली के अमीर दिल्लीपति सों कहत, बीर-
दक्खिन सों दंड लैके सिंहल दबाइहैं।
जगती जलेसर की जोर लै सुमेरुहू लौं,
संपति कुबेर के घराने की कढ़ाइहैं।
कहै कवि 'नाथ' लंकापतिहू के भौंन जाय,
जमहू सों जंग जुरैं, लौह को बचाइहैं।
आगि में जरेंगे, कूदि कूप में परैंगे, एक-
भूप भगवंत की मुहिम को न जाइहैं।

4. राजकुल-मंडन, अदंड-अरि दंडन,
अखिल खल-खंडन, अखंड बलवंतु है।
साधनि को साधकु, असाधनि को बाधकु,
समाधकु सकल सुख-संपति समंतु है।
दार गुन-आगर, उजागर सुजस, दया-
सागर गहीर, रस-नागर महंतु है।
'देव' रघुवीर बलवीर की कृपा तें, पर-
वीर प्रहरत, नरवीर भगवंतु है।

5. पारथ समान कीन्हों भारत मही में आनि,
बान सिर बाना ठान्यो समर सपूती को।
कोरि-कोरि कटि गयो, हटिके न पग दीन्हो,
लीन्हो रणजीति किरपान करतूती को।
भनत 'नेवाज' दिल्लीपति सो सआदत खाँ,
करत बखान ऐसी मान मजबूती को।
कतल मरद्द नद्द सोणित सों भरि गयो,
करि गयो हद्द भगवंत रजपूती को।

6. बेगम बिहाल भईं ज्यासार नवाब जू की
सोई हाल कीनो रामचंद्र की बुंदेली को।
मारि मुगलन को, मिटायो मद-गंध फैल्यो,

चहुँधा सुगंध जाकी जीति की चमेली को।
ह्वै गयो फकीर, कमरुद्दीखान को उजीर,
गरे डारि डोरा, अपकीरति की सेल्ही को।
थाह लै के थकिगो मलाह लौं दिल्ली को कंत,
पावत न अंत, भगवंत की दलेली को।

7. आजु महादीनन को सूखिगो दया को सिंधु,
आज ही गरीबन को सब गथ लूटिगो।
आज द्विजराजन को सकल अकाज भयो,
आज महाराजन को धीरज सो छूटिगो।
'मल्ल' कहै आज सब मंगन अनाथ भये,
आज ही अनाथन को करम सो फूटिगो।
भूप भगवंत सुरलोक को पयान कियो,
आज कवितान को कलपरु टूटिगो।

8. धरम को धरम, करम षटकरम को,
मरम मही को, वेद-विधिन को बंधु गो।
मोद सज्जनन को, बिनोद बुधजनन को,
कोंद चहुँ 'संभु' कवि कुमुद को छंदु गो।
गुनिन की तौल, गुनगनन को मोल, निज-
बोल को अड़ोल, जग-कँउल को मकरंदु गो।
मारतंड-मंडलहि भेदि भगवंत गयो,
सुकृत को कंद, द्विजवृंद को अनंदु गो।

प्रशस्तिपरक रचनाएँ तो प्रत्येक आश्रित कवि ने की हैं, लेकिन इन कवियों की विशेषता यह है कि इन्होंने आश्रयदाता की काल्पनिक प्रशस्ति नहीं गाई है। वस्तुतः भगवंतराय के दो अंतिम युद्ध ही विशेष प्रसिद्ध रहे—जाँनिसार ख़ाँ के साथ और सआदत ख़ाँ के साथ। इनमें भगवंतराय ने अनुपम शौर्य दिखाया। ये सभी कवि न केवल इन युद्धों के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे, बल्कि गुणग्राहक भगवंत के साथ तन-मन से समन्वित भी थे। यही कारण है कि उनकी दिवंगति से कवियों में जो निराशा, हताशा और दुराशा फैली और उनके हृदय से जो मर्मस्पर्शी उद्‌गार निकले, वे हिंदी के प्रशस्तिपरक काव्य की अमूल्य निधि हैं।

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि भगवंतराय ने अपने सीमित साधनों का भरपूर उपयोग करते हुए न केवल अपने व्यक्तित्व का परिष्कार किया, बल्कि सुदृढ़ सैन्यशक्ति का संगठनकर शाही सेना को अनुपम टक्कर भी दी। वे न केवल सत्कवि और संगीतज्ञ थे, बल्कि गुणों का भरपूर सम्मान करते थे। एक ओर ग्यारह संगीतज्ञों की मंडली को प्रश्रय दिया तो दूसरी ओर देव, सुखदेव मिश्र, शंभुनाथ मिश्र, नेवाज आदि सत्कवियों को भी। संस्कृति और सैन्यविकास की दृष्टि से भी असोथर महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया था। असि और मसि के प्रयोग में दक्ष, गुणियों

 ISSN 0975-735X

के आश्रयदाता, समाज के समन्वयक और राष्ट्रविरोधी शक्तियों के विध्वंसक भगवंतराय खीची को स्वयं कवियों ने ही कविकल्पतरु नाम दिया था और उनकी दिवंगति पर सत्कवियों में जो निराशा, असहयता और श्रद्धा दिखाई दी, वह भारतवर्ष के इतिहास में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।

संदर्भ

1. महेंद्रप्रताप सिंह, भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि, पृ॰ 51
2. डॉ॰ किशोरीलाल, रीतिकाव्य शब्दकोश, पृ॰ 24
3. दिल सो भगति रामचंद्र की करत, अरु-
   तेग सों भगति करी राव रामचंद्र की।
   –डॉ॰ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत, पृ॰ 465
4. 'अकबर ने 16वीं शताब्दी में धार्मिक सहिष्णुता की जिस नीति को अपनाया था, औरंगजेब ने 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका पूर्णत: त्याग कर दिया। धार्मिक असहिष्णुता की नीति उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के दिल्ली दरबार में तब तक जारी रही, जब तक वे अपने मंत्रियों के हाथ की कठपुतली नहीं बन गए।'
5. डॉ॰ ओमप्रकाश अवस्थी, अनुवाक (द्वितीय खंड), पृ॰ 112

'साहित्यपीठ'
ई-89, वेवग्रीन कालोनी
काँठ रोड, मुरादाबाद 244001
मो. 94125-06917, 96347-52154

अंतर्राष्ट्रीय हिंदी के प्रथम डी॰लिट्॰ एवं पांडुलिपियों के संकलन एवं संरक्षणकर्ता उत्तराखंड गौरव डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

डॉ॰ पुष्पा खंडूरी
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी
डी॰ए॰वी॰ स्नातकोत्तर महाविद्यालय
देहरादून (उत्तराखंड)

स्वनामधन्य हिंदी साहित्य के पुरोधा डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल उत्तराखंड की देवभूमि में जन्मे, पले, बड़े हुए हैं। डॉ॰ बड़थ्वाल का जन्म गढ़वाल के लैंसडाउन से करीब 3 किलोमीटर दूर हिमालय की उपत्यका में कौड़िया पट्टी के 'पाली' नामक ग्राम में 13 दिसंबर 1901 को हुआ था। आपके पिता पं॰ गौरीदत्त बड़थ्वाल कर्मकांडी पंडित तथा ज्योतिष के विद्वान थे और माता श्रीमती रुक्मिणी देवी थी। शुद्ध धार्मिक एवं पौराणिक परिवेश में आपका लालन-पालन हुआ था। कर्मकांड और पुरोहित्य उनके परिवार के प्रमुख आधार थे।

कहते हैं 'पूत के पाँव पालने में नजर आ जाते हैं।' ये कहावत उन पर शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है। उपनयन संस्कार हो जाने पर बाल्यपन में ही आपने अमरकोश, लघुसिद्धांत कौमुदी और होड़ाचक्र जैसे दुर्बोध ग्रंथों का पारायण कर लिया था। आपकी रुचि गीता, उपनिषद्, रामायण और श्रीमद्भागवत आदि में भी थी। आपकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा आपके पैतृक ग्राम पाली में ही हुई तथा घर के पास पाठशाला में ही अध्ययन करके संस्कृत और हिंदी का ज्ञान प्राप्त किया। तदुपरांत उन्होंने श्रीनगर के शासकीय हाईस्कूल में प्रवेश लिया। उन दिनों श्रीनगर (गढ़वाल) ही शिक्षा का केंद्र माना जाता था। कुछ दिनों बाद वे लखनऊ चले गए और वहाँ के कालीचरण हाईस्कूल में प्रवेश लिया। वहाँ उस समय उनके स्कूल के हेडमास्टर हिंदी की दिग्गज विद्वान बाबू श्यामसुंदरदास थे। सन् 1920 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा वहाँ से सम्मानपूर्वक पास की। 1922 में डी॰ए॰वी॰ इंटर कॉलेज कानपुर से एफ॰ए॰ (इंटरमीडिएट को इन दिनों एफ॰ए॰ की परीक्षा कहा जाता था) की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास की। कानपुर में अध्ययन करते हुए आपने हिलमैन नामक अँग्रेजी पत्रिका का भी संपादन किया। इसके पश्चात् आपने बनारस विश्वविद्यालय में नाम लिखवाया, किंतु इस बीच उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और वे दो वर्ष तक गाँव में रहे। यहाँ प्राकृतिक चिकित्सा प्राणायाम और ध्यान आदि से आत्म-चिकित्सा कर स्वास्थ्य लाभ किया तथा पूर्णतः स्वस्थ होकर 2-3 वर्षों पश्चात् पुनः विश्वविद्यालय लौटकर सन् 1928 में आपने प्रथम श्रेणी से एम॰ए॰ हिंदी की परीक्षा उत्तीर्ण की।

इस परीक्षा के लिए उन्होंने 'छायावाद' विषय पर एक विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा, जिसकी बाबू श्यामसुंदरदास ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। वे उसे विश्वविद्यालय की ओर से छपवाना भी चाहते थे, किंतु इस तरह का कोई नियम न होने की वैधानिकता के कारण वह छप न सका। उसी समय 1930 में उन्हें हिंदी विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति दे दी गई। उनकी अध्यापन-शैली भी विद्वत्तापूर्ण, प्रभावशाली एवं मनोमुग्धकारी थी। उनके भाषण और व्याख्यानों पर कई विद्यार्थियों द्वारा शोधकार्य किया गया। उनकी बहुमुखी प्रतिभा एवं अन्वेषी

 ISSN 0975-735X

प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ही काशीनागरी प्रचारिणी सभा द्वारा उन्हें खोज-विभाग में संचालक के पद पर नियुक्त किया गया। वहाँ शोध विभाग में कार्य करते हुए उनके द्वारा हिंदी की हजारों पांडुलिपियों की खोज की गई तथा उनके तत्त्वावधान में ही प्रचारिणी सभा द्वारा पांडुलिपियों के संकलन और संग्रह के महत्त्वपूर्ण कार्यों को अंजाम दिया गया, उनकी परिचय-तालिकाएँ तैयार की गईं, जो आज भी सभा के संग्रहालयों में वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षित हैं। सन् 1933 में उन्हें उनके शोधग्रंथ 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' पर डी॰लिट्॰ की उपाधि मिली, जो हिंदी जगत् में पहली डी॰लिट्॰ थी। उनकी शोध हिंदी के आलोचना साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध हुई। बाद में इसका 'हिंदीकाव्य में निर्गुण धारा' के नाम से अनुवाद भी आया है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो॰ रानाडे ने लिखा था कि श्री बड़थ्वाल का निबंध, जहाँ तक मैं जानता हूँ हिंदी रहस्यवाद के प्रतिपादन का सर्वप्रथम गंभीर प्रयत्न है। श्री बड़थ्वाल ने मनस्तात्त्विक पद्धति का अवलंबन लिया है, और खूब सफलता पाई है। केवल हिंदी साहित्य की विवेचना के लिए ही नहीं अपितु रहस्यवाद के सार्वजनीन दर्शनशास्त्र के लिए भी श्री बड़थ्वाल की रचना एक वास्तविक देन है।

बनारस में कार्य करते हुए जब उन्हें वेतन की उपयुक्त बढ़ोत्तरी की कोई आशा नहीं रही और हिंदी विषय के प्राध्यापकों को अन्य विषयों के प्राध्यापकों के समान वेतन देने से इंकार कर दिया गया तो उन्हें बेहद खेद हुआ तथा उन्होंने 6 मार्च 1938 के एक अभ्यावेदन में तत्कालीन वाइस-चांसलर से अपनी वेदना इस प्रकार व्यक्त की कि 'आज मुझे अन्य विषयों के डी॰लिट्॰ के समकक्ष वेतन न दिए जाने का एक ही कारण समझ में आता है और वह है मेरा हिंदी में स्नातक होना।' इस घटना ने उन्हें इतना क्षुब्ध किया कि वे बनारस की नौकरी छोड़कर लखनऊ आ गए और यहाँ भी हिंदी विषय में अध्यापन कार्य शुरू किया। किंतु कारण चाहे जो भी रहा हो, किंतु लखनऊ का वातावरण भी उन्हें बहुत अधिक दिनों तक रास नहीं आया और वे शारीरिक और मानसिक रूप से इतने अस्वस्थ रहने लगे कि उन्हें काम करना असंभव हो गया तथा वे अपने पैतृक गाँव पाली लौट आए जहाँ 24 जुलाई 1944 को इनका देहावसान हो गया।

साहित्यिक अवदान

हिंदी साहित्य-जगत् के स्रष्टा साहित्यकार डॉ॰ श्यामसुंदरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र सदृश दिग्गजों के शिष्य डॉ॰ बड़थ्वाल ने हिंदी साहित्य और निर्गुण कविता को एक नया आयाम और नई व्याख्या दी। उनके निबंधों की उपमा और साम्यता इंग्लैंड के विख्यात निबंधकार लार्ड बेकन से की जाती है। वे साहित्य के गूढ़ समीक्षक थे। उनकी समीक्षा-पद्धति में भाषागत अर्थवत्ता का गांभीर्य दिखाई देता है। हिंदी अँग्रेजी और संस्कृत के वे असाधारण विद्वान थे। उन्होंने निर्गुण संप्रदाय को पूर्ववर्ती सिद्धों और नाथों की परंपरा से जोड़कर हिंदी साहित्य के इतिहास की अंतर्वर्ती धारा को एक अजस्र प्रवाह देने का दुर्लभ कार्य किया है। गोरखवाणी, योगप्रवाह, पांडुलिपियों की खोज एवं उनको तालिकाबद्ध करने जैसे दुर्लभ कार्य किए। उन्होंने संतकाव्य ही नहीं, 'संत' शब्द को भी नए आयाम दिए।

डॉ॰ विष्णुदत्त राकेश ने उनके साहित्यिक अवदान के विषय में उचित ही लिखा है– 'आज हम यदि डॉ॰ बड़थ्वाल के साहित्यिक अवदान से नई पीढ़ी को परिचित कराने का उपक्रम करते हैं तो इसे राष्ट्रभारती के मंदिर में किए जाने वाले दीपदान का महत्त्व मिलना ही चाहिए। पराधीन भारत में अकादमिक दृष्टि से डॉ॰ बड़थ्वाल का शोधकार्य एवं पांडुलिपियों का संरक्षण संवर्धन एवं संकलन हिंदी का जयघोष ही था।'[1]

डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल जिस समय हिंदी में शोध करने में संलग्न थे, इतिहास की गर्द छानकर हिंदी साहित्य रूपी मुक्ता चुन रहे थे, उस समय हिंदी के लिए माहौल अनुकूल नहीं था। सर्वत्र अँग्रेजों और अँग्रेजी का वर्चस्व था। हिंदी बोलने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता था, यहाँ तक कि समान उपाधि प्राप्त हिंदी के शिक्षकों को भी अन्य विषयों के समकक्ष वेतनमान तक नहीं दिया जाता था। ऐसी विडंबनापूर्ण स्थिति में मानसिक एवं शारीरिक क्लेशों से जूझते हुए भी डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की हिंदी साहित्य को देन निश्चित की अमूल्य योगदान कहा जाएगा।

डॉ॰ गोविंद चातक लिखते हैं कि हिंदी-शोध और आलोचना को एक परिपक्व धरातल पर स्थापित करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुंदर दास को है। इन्होंने स्वयं कार्य ही नहीं किया वरन् अपनी शिष्य-परंपरा में शोधकर्त्ताओं और आलोचकों का एक दल भी खड़ा किया, जिसने अपूर्व निष्ठा अध्यवसाय और सेवाभाव से हिंदी के रिक्त भंडार को भरने का अथक प्रयास किया। हिंदी के इन्हीं सुपुत्रों में डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल भी एक थे। हस्तलिखित ग्रंथों की खोज और उनकी पांडुलिपियों को मकड़ी के जालों से सुसज्जित गर्भगृहों से ढूँढकर निकाल लाने जैसी जोखिम भरी चुनौतियों को स्वीकार करनेवाले बड़थ्वालजी ही थे।

प्रश्न उनकी खोज, संपादन और मूल्यांकन का था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुंदर दास उन लोगों में अग्रणी थे, जिन्होंने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की निष्ठा को देखकर उन्होंने उन्हें हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों एवं पांडुलिपियों की खोज-संबंधी नागरी प्रचारिणी सभा की योजना से संबद्ध किया। 1930 में जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर आसीन हुए तो उनके लिए शोध के नए मार्ग खुले। डॉ॰ बड़थ्वाल ने पहली बार कबीर आदि के निर्गुण भक्तिकाव्य को योग-परंपरा से ही नहीं जोड़ा, बल्कि उसके स्वाभाविक विकास को भी रेखांकित किया। संतमत का अध्ययन करते हुए वे उसे नाथों और सिद्धों तक ले गए।[2]

डॉ॰ बड़थ्वाल पर्वत पुत्र हैं और कुछ अच्छा करने और सीखने की साध लेकर ही पैदा हुए थे, अतएव उन पर उत्तराखंड की देवभूमि में पैदा हुए पर्वत-पुत्रों का भी प्रभाव पड़ा जिनमें श्री भक्तदर्शन, बैरिस्टर मुकुंदीलाल, श्री चंद्रमोहन रतूड़ी, श्री गिरिजादत्त नैथाणी और रायबहादुर तारादत्त गैरोला आदि प्रमुख रहे हैं। रायबहादुर तारादत्त गैरोला 1914 से 1920 तक प्रांतीय कौंसिल के लिए कुमाऊँ मंडल से मनोनीत माननीय सदस्य तथा उच्चकोटि के साहित्यकार भी रहे। गढ़वाल में लिखी उनकी रचना 'सदेई' नामक गाथा एवं अँग्रेजी भाषा में लिखी इनकी दूसरी पुस्तक हिमालयन फोकलोर आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से चंद्रमोहन रतूड़ी को तो गढ़वाली कविता के लिए प्रसिद्ध माना जाता। भक्तदर्शन प्रसिद्ध राजनेता, कानपुर विश्वविद्यालय के

वाइस चांसलर और 'कर्मभूमि' लैंसडाउन के संपादक आदि कई उच्च एवं मीत्त्वपूर्ण पदों पर रहे साहित्यकार और शिक्षाविद थे।

डॉ॰ विष्णुदत्त ने लिखा है कि 'तारादत्त गैरोला ने जहाँ बड़थ्वालजी को संतसाहित्य और तथा ललित कलाओं से परिचित कराया, वहीं रतूड़ी जी तथा नैथाणीजी ने उन्हें राष्ट्रभाषा हिंदी में लिखने की प्रेरणा दी। गैरोलाजी दादू वाणी साहित्य के विद्वान थे। अँग्रेजी में उन्होंने दादू की रचनाओं का अनुवाद वैसे ही किया है, जैसे गुरुदेव ने कबीर के पदों का किया था। सन्त साहित्य के शोध एवं अध्ययन की साध यहीं से बड़थ्वालजी के हृदय में उत्पन्न हुई होगी। राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान के रूप में ही उन्होंने हिंदी में शोध किया। वह अँग्रेजी के भी मर्मज्ञ थे। वे चाहते तो अँग्रेजी साहित्य में शोधोपाधि प्राप्त कर सकते थे। ऐसा करने पर उन्हें नौकरी भी अच्छी मिलती पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

शोधार्थी के रूप में डॉ॰ बड़थ्वाल

शोध के क्षेत्र में डॉ॰ बड़थ्वाल का योगदान मील पत्थर के समान है। वे हिंदी साहित्य जगत् में हिंदीशोध की नींव रखनेवाले प्रथम अन्वेषी साहित्यकार थे। डॉ॰ बड़थ्वाल जब शोध कर रहे थे तब कई विद्वानों ने उनका उपहास किया कि क्या हिंदी में भी कोई शोध हो सकती है। वे हिंदी के प्रथम डी॰लिट्॰ थे। सन् 1933 में उन्हें 'द निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' नामक शोधप्रबंध पर डी॰लिट्॰ की उपाधि प्राप्त हुई थी। डॉ॰ बड़थ्वाल ने शोध में 'संतसाहित्य' और 'संत' शब्द को नए आयाम दिए। उससे पूर्व 'संत' शब्द को धर्म और अध्यात्म से ही जोड़कर देखा जाता था, किंतु उन्होंने संत शब्द की नई व्याख्या की संतकवियों के उपदेशों को लोकहित से जोड़ते हुए उनके दर्शन और नैतिक विचारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक पहलू स्पष्ट किया। उनके तत्त्वज्ञान के सूक्ष्म और व्यावहारिक पहलू पर भी प्रकाश डाला। इसी कारण डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा ने कहा कि हिंदीशोध की आधारशिला रखनेवालों में आपका नाम प्रमुख है।[3] डॉ॰ श्यामसुंदर ने उनके शोधप्रबंध की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि प्रस्तुत रचना हिंदी अध्ययन के क्षेत्र में एक भारी आवश्यकता को पूर्ण करती है। इसका विषय हिंदी के उन रहस्यवादी कवियों में एक निर्दिष्ट शाखा है, जिन्हें साधारण प्रकार से हम निर्गुण कवि कहा करते हैं अभी तक इन कवियों का अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाता था। अभी तक साधारणत: यही विश्वास किया जाता रहा है कि उनका कोई अपना दार्शनिक सिद्धांत नहीं है और भिन्न आध्यात्मिक विषयों से संबंध रखनेवाली इनकी धारणाएँ अस्पष्ट और क्रम रहित है। डॉ॰ बड़थ्वाल ने इस शाखा के साहित्य का विस्तृत रूप से गंभीर अनुशीलन किया है और अनेक मीत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों एवं पांडुलिपियों से भी सहायता ली है।'[4]

डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के शोधप्रबंध की प्रो॰ ग्राहम वेली, निर्देशक श्यामसुंदरदास, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो॰ रानाडे, महामहोपाध्याय स्व॰ डॉ॰ गंगनाथ झा आदि ने भी उच्चकोटि का शोधग्रंथ बताते हुए प्रशंसा की। उनके खोजी स्वभाव को तथा योग्यता को परखकर ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अपने खोज-विभाग का संचालक नियुक्त किया। उनके तत्वावधान में कई वर्षों तक इस विभाग द्वारा हिंदी की हजारों हस्तलिखित ग्रंथों की पांडुलिपियों को तालिकाबद्ध कर संग्रहालय में वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षित कराया गया है।

निबंधकार के रूप में डॉ॰ बड़थ्वाल

डॉ॰ बड़थ्वाल की गणना हिंदी के प्रसिद्ध निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदरदास, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यापक पूर्णसिंह, पं॰ बालकृष्ण भट्ट, सदृश दिग्गज निबंधकारों में की जाती है।

डॉ॰ बड़थ्वाल ने अनेक उच्चकोटि के निबंध लिखे, किंतु उनमें से कम ही उनके नाम से प्रकाश में आ सके हैं। 'संदेह' निबंध उनका आचार्य शुक्ल की मनोविश्लेषणात्मक शैली में लिखा गया निबंध है, 'कबीर और गांधी' उनका तुलनात्मक शैली में लिखा गया निबंध है। डॉ॰ बड़थ्वाल को निबंध साहित्य का पुरोधा साहित्यकार भी कहलाने का गौरव है। उनके पूर्व निबंधों को लेख कहा जाता था और लेख और निबंधों की शैली में कोई भेद नहीं था। 'बाबू श्यामसुंदर दास तथा रामचंद्र शुक्ल ने निबंध के क्षेत्र विस्तार, विषयगांभीर्य, विचारों की शृंखलाबद्धता तथा शैली की कसावट को ध्यान में रखकर निबंध को व्यवस्थित रूप दिया। उसमें भावात्मकता का स्पर्श आवश्यक समझा गया। इन दोनों विद्वानों ने महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद अँग्रेजी निबंध साहित्य का गहन अध्ययन किया था। बेकन तथा गोल्डस्मिथ जैसे निबंध कारों की रचनाओं ने हिंदी के इन नए विद्वानों को परोक्ष रूप से प्रभावित किया। शुक्ल जी की प्रेरणा से डॉ॰ बड़थ्वाल जी ने भी मनोविश्लेषणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक और आलोचनात्मक निबंधों की रचना की। उनके प्रमुख निबंध कबीर और गांधी, संत, सुरति-निरति, संतों का सहज ज्ञान, मीराबाई और बल्लभाचार्य, हिंदुत्व के उन्नायक नानक, उत्तराखंड में संतमत और संत साहित्य, पद्मावत की कहानी और जायसी का आध्यात्मवाद केशवदास और उनकी रामचंद्रिका, हमारी कला और संस्कृति तथा संदेह आदि प्रमुख हैं।

संपादक के रूप में

डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने सर्वप्रथम जब वे श्रीनगर में पढ़ रहे थे तब हस्तलिखित पत्रिका मनोरंजनी का संपादन किया जिसके लिए उन्होंने घर-घर जाकर सामग्री एकत्र की। डी॰ए॰वी॰ कॉलेज कानुपर में पढ़ते हुए आपने पर्वतीय क्षेत्र के छात्रों द्वारा निकाली जाने वाली 'हिलमैन' नामक अँग्रेजी पत्रिका का भी संपादन कार्य किया। 'कर्मभूमि' पत्रिका जो पर्वतीय क्षेत्र से प्रकाशित होती थी कुछ समय तक उसका भी संपादन कार्य किया।

कवि, कहानीकार के रूप में

कवि के रूप में डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने व्योमचंद्र नाम से गद्यकाव्य तथा अंबर उपनाम से पद्य भी लिखा। परिवर्तन और प्रेम प्रवाह शीर्षक गद्यकाव्यों का लेखन उन्होंने व्योमचंद के उपनाम से किया है। कहानीकार के रूप में डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की लिखी सन् 1928 की दो कहानियाँ बहुत प्रसिद्ध हुईं। 'सुशील कपट और विकट' तथा 'राजा आचार्य और उनकी गोल मेज सभा के सदस्य' ये दोनों कहानियाँ पुरुषार्थ नामक पत्रिका में छपी थीं।

समालोचक के रूप में

समालोचक के रूप में डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने अपनी प्रतिभा के झंडे गाड़ दिए थे। डॉ॰ बड़थ्वाल जैसे समालोचक ही थे, जिन्होंने 'केशवदास और उनकी रामचंद्रिका' जैसा

 ISSN 0975-735X

समालोचनापरक लंबा निबंध लिखकर यह सिद्ध किया कि कवि केशव कठिन काव्य के प्रेत नहीं।' वे 'केशवदास और उनकी रामचंद्रिका' में अंत में लिखते हैं कि 'उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हें महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नहीं मानता।'[6]

हिंदी के साहित्यप्रेमी डॉ॰ गोविंद चातक के शब्दों में 'डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल हिंदी शोध और आलोचना के अग्रदूत रहे हैं। एक समय जब उच्च कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन और अध्यापन नहीं होता था और प्राचीन हिंदी-ग्रंथों की पर्याप्त खोज नहीं हुई थी, तब डॉ॰ बड़थ्वाल ने पं॰ रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास के साथ हिंदीशोध और आलोचना की गहरी नींव डाली। रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुंदरदास आलोचना के क्षेत्र में व्यस्त रहे जबकि डॉ॰ बड़थ्वाल ने शोध का कार्य अपनाया। उन्होंने अपने शोध के लिए संतसाहित्य को चुना, जो तब अंधकार में पड़ा था और जो साहित्य रूप में विशेष चर्चा का विषय भी न था। उन्होंने पहली बार मूल स्रोत तक पहुँचने की कोशिश की और नई मान्यताएँ स्थापित कीं। कबीर संतों और गोरखनाथ, रामानंद आदि पर उन्होंने जो कार्य किया, वह आज भी नींव के पत्थर की तरह है।'

डॉ॰ बड़थ्वाल ने अनेक दुष्प्राप्य एवं दुर्लभ हस्तलिपियों का संग्रह किया था, जिनके अध्ययन के आधार पर उन्होंने नागार्जुन, चौरंगीनाथ, कणोरिपा, स्वामी राघवानंद, कबीर का जीवन वृत्त, कबीर के कुल का निर्णय आदि जटिल विषयों पर लेख लिखे।

संदर्भ

1. भारतीय साहित्य के निर्माता, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, लेखक विष्णुदत्त राकेश, पृ॰ 8
2. डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबंध, संपादक डॉ॰ गोविंदचातक, पृ॰ प्रस्तावना
3. हिंदी साहित्यकोश, भाग-2, पृ॰ 317
4. हिंदीकाव्य में निर्गुण संप्रदाय (प्राक्कथन)
7. केदारमानस (डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल विशेषांक) त्रैमासिक शोध-पत्रिका, पृ॰ 31, अंक प्रथम, दिसंबर 2011
8. डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबंध, डॉ॰ गोविंद चातक, पृ॰ 134

41 **डंगवाल रोड**
नेशविला रोड के पास
देहरादून 248001
मो॰ 9412157817

अर्थ : अर्थ और परिभाषा

डॉ॰ हसमुख परमार
उपाचार्य, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
स॰प॰ विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)

अर्थविज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें भाषा के अर्थपक्ष का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। अँग्रेजी में अर्थविज्ञान के लिए प्रयुक्त विविध नामों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व स्वीकृत नाम Semantics है। Semantics को इस तरह परिभाषित किया गया है–The system and study of meaning in Language अर्थात् 'भाषा में अर्थ की प्रणाली का अध्ययन'।[1] अपने नाम के अनुसार भाषा का अर्थ तत्त्व अर्थविज्ञान के अध्ययन का मूल प्रतिपाद्य है। अर्थ की अवधारणा, शब्द और अर्थ का संबंध, अर्थपरिवर्तन की दिशाएँ, अर्थ परिवर्तन के कारण, अर्थबोध के साधक व बाधक तत्व, पर्यायता, विलोमता, अनेकार्थता प्रभृति विषयों की एक व्यवस्थित, विस्तृत व संतोषजनक जानकारी हमें अर्थविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त होती है। यहाँ इस बात का भी स्पष्टीकरण करना बहुत जरूरी है कि कुछ लोग अर्थ-विज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसे दर्शनशास्त्र (Philosophy) के विषय के रूप में स्वीकार करते हैं। साथ ही इस विषय की चर्चा मनोविज्ञान व तर्कशास्त्र के आधार पर भी होती है। इतना सब होते हुए भी अर्थविज्ञान भाषाविज्ञान के बाहर नहीं है और भाषाविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में इसे स्वीकृत किया गया है। 'अर्थविज्ञान को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। पुराने तथा कुछ नए विद्वान इसे भाषाविज्ञान की एक शाखा मानते है, किंतु कुछ आधुनिक विद्वान इसे भाषाविज्ञान से अलग मानते रहे हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह एक स्वतंत्र विज्ञान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्थविज्ञान, दर्शन से बहुत अंशों में संबद्ध है और उसका काफी अंश ऐसा है जो मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र की अपेक्षा रखता है, किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि अर्थ भाषा की आत्मा है और भाषाविज्ञान जब 'भाषा' का 'विज्ञान' है, तो बिना उसके अध्ययन के उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता।'[2]

अर्थविज्ञान-विषयक अध्ययन का बुनियादी प्रश्न है–अर्थ क्या है? अर्थविज्ञान के विशिष्ट अध्येताओं ने अर्थ की अवधारणा, अर्थ का लक्षण, अर्थ का स्वरूप, अर्थ की परिभाषा, अर्थ का अर्थ जैसे पर्याय मुद्दों के अंतर्गत उपर्युक्त प्रश्न पर विचार करते हुए इसका उत्तर देने का यत्न किया है।

हम इस बात से तो भलीभाँति ज्ञात है कि किसी अनेकार्थी शब्द का अर्थ शब्दप्रयोग के संदर्भानुसार स्वीकृत व ग्राह्य होता है। यहाँ 'अर्थ' शब्द भी अनेकार्थी है। हम अपने भाषा-प्रयोग में देखते है कि यह शब्द अलग-अलग विषयों व संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक होता

 ISSN 0975-735X

है। अपने विवेच्य विषय के संदर्भ में इस शब्द का अर्थ देखने से पूर्व इस शब्द-विशेष के विविध संदर्भानुसार अर्थ को देखना भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। 'अर्थ शब्द भी अनेकार्थी है। Economics अर्थशास्त्र में उसका अर्थ धन होता है, किंतु भाषाविज्ञान में उसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है। यहाँ तो वह Meaning 'माने' का ही बोधक है। वस्तु thing, धन Money और माने Meaning इन तीन अर्थों में वह तीसरे का वाचक है।'[3]

सामान्यत: यह कह सकते हैं कि शब्द से जिसकी अभिव्यक्ति एवं प्रतीति होती है, उसे अर्थ कहा जाता है। सवाल यह है कि शब्द से किसकी अभिव्यक्ति व प्रतीति होती है? तो जवाब है अर्थ की। इतने से काम नहीं चलेगा। इसे और विस्तार से देखें तो अर्थ माने शब्द से जिस वस्तु, विचार व भाव को सूचित किया जाए तथा इसकी प्रतीति की जाए, वही अर्थ है। किसी वस्तु, विचार व भाव की धारणा वक्ता और श्रोता के मन में पहले से विद्यमान होती है। जैसे–'अलमारी' एक वस्तु है, जिसकी धारणा वक्ता के मन में होने की वजह से वह 'अलमारी' शब्द द्वारा इसका अर्थ 'अलमारी' भी प्रकट करता है और श्रोता के मन में भी जब इस वस्तु विशेष की धारणा पहले से विद्यमान होगी तो इसे इस शब्द से उसी वस्तु का बोध होगा।

यास्क, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट आदि संस्कृत भाषाशास्त्रियों व वैयाकरणों तथा आधुनिक भाषाओं के अनेक भाषावैज्ञानिकों ने अर्थविज्ञान के अध्ययन के अंतर्गत अर्थ का लक्षण दिया है। पश्चिम के विद्वानों में मिशेल ब्रोआल, टकर, माइकल ब्रील, पाल॰ के॰ रीजिंग, ए॰ बेनरी, पोस्ट गेट, स्वीट आदि का अर्थविज्ञान-विषयक चिंतन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत वैयाकरण, वाक्यपदीय ग्रंथ के लेखक भर्तृहरि ने अर्थ को इस तरह परिभाषित किया है–

यस्मिस्तूच्चरिते शब्दे यथा योऽर्थ: प्रतीयते।
तमाहुरर्थ तस्यैव नान्यर्थस्य लक्षणम्।[4]

अर्थात् शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है; अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है।

भर्तृहरि की अर्थ-संबंधी परिभाषा पर विचार करते हुए आधुनिक भाषावैज्ञानिक भोलानाथ तिवारी का कहना यह है कि भाषा में अर्थ सिर्फ शब्द का ही नहीं होता, बल्कि अन्य भाषिक इकाइयों का भी होता है। इस तरह भर्तृहरि की बात पर विशेष टिप्पणी करते हुए भोलानाथ तिवारी अपनी दृष्टि से अर्थ को परिभाषित करते हैं। 'वस्तुत: भर्तृहरि की बात अपने स्थान पर ठीक होते हुए भी कुछ आलोचना की अपेक्षा रखती है। क्या अर्थ केवल शब्द का ही होता है? 'राम मारे शर्म के पानी पानी हो गया' में 'पानी पानी होना' शब्द तो नहीं है, किंतु यहाँ अर्थ की अपेक्षित प्रतीति केवल 'पानी' शब्द से नहीं हो सकती। वह 'पानी पानी होना' से ही हो सकती है। अत: कहा जा सकता है कि 'किसी भी भाषिक इकाई (वाक्य, वाक्यांश, रूप, शब्द, मुहावरा) को किसी भी इंद्रिय (प्रमुखत: कान, आँख) से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।'[5]

स्वतंत्र ध्वनियों को छोड़कर शब्द तथा अन्य भाषिक इकाइयों का संबंध जिस भाव, विचार व वस्तु-पदार्थ से होता है, वही अर्थ है। जो भाषिक इकाइयों के उच्चारण से प्रकट होता है और श्रवण से उसी का बोध होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्थ का संबंध भाषा के आंतरिक रूप से है, अत: भाषा के अर्थपक्ष की चर्चा भाषाविज्ञान के साथ-साथ मनोविज्ञान से भी जुड़ी है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्थ को परिभाषित करते हुए विद्वानों का कहना है कि 'मनोवैज्ञानिक स्तर पर अर्थ वह बिंब है, जो पाठक के मस्तिष्क में शब्द आदि पढ़कर या श्रोता के मन में शब्द सुनकर बनता है।'

डॉ॰ सीताराम झा 'श्याम' की दृष्टि से 'जिस अभिप्राय से वक्ता शब्द का प्रयोग करता है, उसकी प्रतीति ही अर्थ कहलाती है।'[6]

डॉ॰ सुरेशचंद्र त्रिवेदी अपनी 'संक्षिप्त भाषाविज्ञान' पुस्तक में अर्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–'भाषा अथवा भाषिक इकाइयों के माध्यम से किसी भी इंद्रिय द्वारा ग्राह्य वस्तुओं, पदार्थों या भावों का मानसिक प्रत्यय अर्थ है।'[7] शब्द व अन्य भाषिक इकाइयों के जरिये किसी भी इंद्रिय द्वारा ग्राह्य वस्तुओं, पदार्थों या भावों का मानसिक प्रत्यय अर्थ है। अर्थ का ज्ञान प्रत्यय या प्रतीति के रूप में होता है। जैसे विविध पदार्थों का बोध हमें विविध इंद्रियों के द्वारा होता है। हमारी बाह्य इंद्रियाँ आँख, नाक, जीभ, त्वचा और कान के द्वारा हमें रूप-रंग, गंध, रस-स्वाद, स्पर्श एवं नाद की प्रतीति होती है। इन बाह्य इंद्रियों के अतिरिक्त हमारी आंतरिक इंद्रिय मन भी है, जो हमारा अंत:करण है। शब्द जिन स्थूल पदार्थों, वस्तुओं से संबद्ध होते है उनका बोध तो हमें अपने जीवन में बाह्यसाधन–पंचेंद्रियाँ–बहि:करण से होता है, पर शब्द जिन सूक्ष्म भावों के वाचक होते है उन भावों का बोध हमें अंत:करण मन से होता है। जैसे सुख, दु:ख, हर्ष, शोक आदि का अनुभव तो व्यक्ति अपने अंत:करण मन से ही करता है।

पाश्चात्य विद्वानों में डॉ॰ शिलर और डॉ॰ रसाल के अर्थविषयक मत भी यहाँ द्रष्टव्य हैं–डॉ॰ शिलर के विचार से–'Meaning is Essentially personal... What anything Means deepends on Who means it'. अर्थात् 'अर्थ अनिवार्यत: व्यक्तिगत होता है, क्योंकि किसी वस्तु का अर्थ उस व्यक्ति पर निर्भर करता है, जो उस वस्तु का अनुभव रखता है।' डॉ॰ रसाल ने संबंध विशेष को अर्थ की संज्ञा दी है।'[8]

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखते हुए अर्थ के लक्षण व स्वरूप-संबंधी जो बातें स्पष्ट होती हैं, वह निम्नवत् हैं–

–शब्द के उच्चारण व लेखन से व्यक्त तथा शब्द के श्रवण व पठन से प्रतीत होनेवाला तत्त्व अर्थ है। अभिव्यक्ति व प्रतीति के संदर्भ में अर्थ की चर्चा।

–भाषाप्रयोक्ता जिस आशय से भाषिक इकाइयों का प्रयोग करता है, वह आशय अर्थ है।

–भाषिक इकाइयों के माध्यम से पदार्थों का ऐंद्रिक प्रत्यय अर्थ है। शब्दादि से अर्थ यानी जिन वस्तुओं, पदार्थों, भावों व विचारों का ज्ञान हमें हमारी बाह्य तथा आंतरिक इंद्रियों के माध्यम से होता है।

–अर्थ के स्वरूप-विवेचन में कुछ विद्वानों ने 'प्रतीति' को ज्यादा महत्त्व दिया तो दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान हैं, जिन्होंने प्रस्तुत विषय की चर्चा के केंद्र में 'संबंध' को रखा है। इस

 ISSN 0975-735X

दृष्टि से शब्द-विशेष का किसी अर्थ-विशेष से ही संबंध होता है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार 'तत्र योऽन्वेते यं शब्दमर्थस्तम्म भवेदसो।' अर्थात् जो अर्थ जिस शब्द के साथ संबंध रखता है वह उसका अर्थ होता है।'[9]

–मनोवैज्ञानिकों ने शब्द से उत्पन्न मानस बिंब को उसके अर्थ के रूप में स्वीकार करने की बात की।

–शब्द की सत्ता उसमें निहित अर्थ को लेकर होती है और अर्थ को प्रकट होने के लिए शब्द की आवश्यकता अनिवार्य है।

भाषा में अर्थ का महत्त्व असंदिग्ध है। भाषा का, शब्द का महत्त्व अर्थ की वजह से ही होता है। यदि शब्द किसी अर्थ को प्रकट न करे तो वह शब्द कहलाने योग्य नहीं होता। ऐसे अर्थहीन शब्द को हम निरर्थक कहते हैं, जिनका भाषा में कोई महत्त्व नहीं होता। शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित होते हैं। अर्थ भाषा का प्राणतत्त्व और शब्द भाषा का शरीर। 'इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थ के बिना शब्द का कोई मूल्य नहीं है। यदि शब्द को शरीर कहा जाए तो अर्थ उसकी आत्मा या प्राण। भर्तृहरि का तो यहाँ तक कहना है कि–

न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते।

अर्थात् संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्दज्ञान के बिना संभव हो। समस्त ज्ञान शब्द के माध्यम से ही संभव होता है। यह स्पष्ट ही है कि शब्द के महत्त्व का मूल आधार उसकी आत्मा या प्राण अर्थात् अर्थ ही है।'[10]

इस तरह अर्थ का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। प्रारंभ से ही भाषा अध्येताओं ने भाषा में अर्थ को महत्त्व देते हुए उस पर विस्तार से विचार किया। किसी भी शास्त्र व विषय को बिना अर्थ समझे पढ़ने-सुनने का कोई मतलब नहीं। भाषा में अर्थ की सत्ता सर्वोपरि कही जा सकती है। इस दृष्टि से अर्थ को भाषा का प्राणतत्त्व कहना बिलकुल उचित ही कहा जाएगा। स्वन, शब्द, रूप-पद, वाक्य, वाक्यांश जैसी भाषिक इकाइयों का संबंध भाषा के बाह्य पक्ष से है। भाषा का आंतरिक तत्त्व अर्थ है।

भाषिक इकाइयों से होनेवाले अर्थ का बोध हमें दो तरह से होता है। अर्थात् अर्थप्रतीति के दो आधार हैं। एक तो अर्थ की प्रतीति अपने स्वयं के अनुभव से होती है या फिर दूसरा, स्वयं के अनुभव से न होकर दूसरों के अनुभव से। इन्हीं दो को आत्म-अनुभव तथा पर-अनुभव कहा जाता है।

आत्म-अनुभव नामक अर्थप्रतीति के भेद के लिए और भी शब्द प्रचलित हैं। जैसै–आत्म-प्रत्यय, स्व-प्रत्यक्ष, स्वात्मानुभूति। आत्म-अनुभव से प्रतीति का मतलब है किसी वस्तु का अपने स्वयं के अनुभव से बोध होना, ज्ञान होना। शब्द जिस अर्थ (वस्तु, विचार, भाव) का बोधक होता है और उसका ज्ञान यदि हमारे स्वयं के अनुभव पर आधारित हो तो वहाँ अर्थ की प्रतीति आत्म-अनुभव से मानी जाएगी। जैसे नींबू खट्टा है। इसमें 'खट्टा' के अर्थ की प्रतीति स्वयं के अनुभव से होती है। व्यक्ति का आत्म-अनुभव उसकी आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा इन स्थूल इंद्रियों तथा मन जैसी सूक्ष्म इंद्रिय पर आधारित होता है।

पर-अनुभव से आशय है जिन वस्तुओं व विषयों को न तो हमने देखा है, न अनुभव किया है, ऐसी वस्तुओं के ज्ञान के लिए हमें दूसरों के अनुभव पर निर्भर रहना पड़ता है। वैसे भी सभी क्षेत्रों व वस्तु पदार्थों तक व्यक्ति की पहुँच होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे स्वयं के अनुभव के दायरे से बाहर के अर्थ के वाचक शब्दादि से अर्थ की प्रतीति के लिए हमें परंपरा से स्वीकृत मान्यताएँ या अन्य व्यक्तियों के अनुभवों से मदद मिलती है। आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, स्वर्ग, जहर, परमात्मा आदि ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ की प्रतीति पर अनुभव से होती है।

पर अनुभव की तुलना में आत्म-अनुभव से होनेवाली प्रतीति ज्यादा स्थायी व वास्तविक होती है। 'आत्मानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान निसंदेह स्थायी होता है, किंतु परानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान अपेक्षाकृत अपूर्ण, अपर्याप्त तथा अस्थायी होता है।'[11]

संदर्भ

1. उद्धृत : भाषाविज्ञान, डॉ॰ बलदेवराज गुप्ता, पृ॰ 103
2. भाषाविज्ञान, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, पृ॰ 220
3. संक्षिप्त भाषाविज्ञान, डॉ॰ सुरेशचंद्र त्रिवेदी, पृ॰ 163
4. उद्धृत : भाषाविज्ञान तथा हिंदीभाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण, डॉ॰ सीताराम झा 'श्याम'
5. भाषाविज्ञान, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, पृ॰ 223
6. भाषाविज्ञान तथा हिंदीभाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण, डॉ॰ सीताराम झा 'श्याम', पृ॰ 210
7. संक्षिप्त भाषाविज्ञान, डॉ॰ सुरेशचंद्र त्रिवेदी, पृ॰ 164
8. उद्धृत : हिंदीभाषा और भाषाविज्ञान, डॉ॰ अशोक के॰ शाह 'प्रतीक', पृ॰ 377
9. उद्धृत : वही, पृ॰ 377
10. भाषिक स्वरूप : संरचना और कार्य, डॉ॰ रामगोपालसिंह जादौन, पृ॰ 130-131
11. हिंदीभाषा और भाषाविज्ञान, डॉ॰ अशोक शाह 'प्रतीक', पृ॰ 378

उपाचार्य
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
स॰प॰ विश्वविद्यालय
वल्लभ विद्यानगर 388120

 ISSN 0975-735X

भाषिक संप्रेषण की सैद्धांतिकी

डॉ॰ सुनील डहाळे

संप्रेषण मनुष्य की सामजिक आवश्यकता है। यह उसके सामाजिक जीवन का आधार है। संप्रेषण के द्वारा ही मानव-समाज की संचालन-प्रक्रिया संभव बनती है। इसके आभाव में मानव-समाज की कल्पना करना संभव नहीं है। मनुष्य हो या पशु-पक्षी अपनी आवश्यकता के अनुसार संप्रेषण करते रहतें हैं। आरंभिककाल में मनुष्य इशारों और ध्वनियों के माध्यम से संप्रेषण करता था। आगे चलकर मनुष्य ने भाषा और उसे अभिव्यक्त करनेवाले संकेत चिह्नों को अपना साधन बनाया। आगे तकनीकी विकास के कारण संप्रेषण माध्यम भी आद्यातिकृत हुए और संप्रेषण की प्रक्रिया और पद्धति में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। अंतर्वैयक्तिक संप्रेषण से आरंभ हुई मनुष्य की संप्रेषण-प्रक्रिया आगे बढ़ती हुई आज प्रिंट, इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के जरिए विश्वमानव को सहज रूप से एक-दूसरे के साथ जोड़ रही है। व्यक्तिगत जरूरत से लेकर मनोरंजन तक की तमाम जरूरतें संप्रेषण के जरिए ही पूरी होती हैं। यही संप्रेषण का प्रयोजन भी है। अत: संप्रेषण एक संवाद है, संपर्क है, एक-दूसरे तक अपनी बात पहुँचाने का प्रयास है। बोलकर, सुनकर, देखकर, पढ़-लिखकर तथा कोई चित्र बनाकर हम एक-दूसरे तक अपनी बात पहुँचाते हैं और दूसरों की बात समझते हैं। मानव-जीवन का समस्त कार्यकलाप संप्रेषण के अंतर्गत ही आता है।

संप्रेषण का अर्थ एवं परिभाषाएँ

संप्रेषण से तात्पर्य है भाव, विचार, सूचना, संदेश आदि को एक इकाई से दूसरी इकाई तक पहुँचाना और प्रतिक्रिया प्राप्त करना। 'संप्रेषण' शब्द अँग्रेजी के Communication का अनुवाद है। Communication शब्द लैटिन भाषा के cammunico से बना है[1], जिसका अर्थ है 'सामान्य भागीदारीयुक्त सूचना और उसका संप्रेषण।' अर्थात् संप्रेषण एक ऐसा प्रयास है, जिसके माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विचारों, भावनाओं एवं मनोवृत्तियों में सहभागी होता है। इस प्रकार से वे समस्त विधियाँ संप्रेषण हैं, जिनके माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है।

लिगंस के अनुसार–'संप्रेषण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा दो या दो से अधिक लोग विचारों तथ्यों भावनाओं तथा प्रभावों आदि का इस प्रकार (परस्पर) विनिमय करते हैं कि सभी लोग प्राप्त संदेशों को समझ जाते हैं। संप्रेषण में संदेश देनेवाले तथा संदेश ग्रहण करने वाले के मध्य संदेशों के माध्यम से समन्वय स्थापित किया जाता है।'[2]

ऑक्स्फर्ड डिक्सनरी में संप्रेषण का अर्थ है–'विचारों, जानकारियों आदि का विनिमय, दूसरों तक पहुँचाना या बाँटना चाहे वे मौखिक, लिखित या संकेत में हों।'

'संप्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच तथ्यों, विचारों, अभिमतों या मनोभावों का विनिमय है।'[3] 'एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक प्राणी से दूसरे प्राणी या एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक सूचना का अंतरण, संप्रेषण है।'[4]

संप्रेषण की विशेषताएँ–

–संप्रेषण एक द्विमार्गी प्रक्रिया है। इसमें दो पक्ष होते हैं। एक संदेश देनेवाला तथा दूसरा संदेश ग्रहण करनेवाला।

–संप्रेषण में परस्पर विचारों एवं भावनाओं के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन दिया जाता है।

–संप्रेषण एक पारस्परिक संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया है।

–संप्रेषण प्रक्रिया एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया होती है।

–संप्रेषण में शब्द, संकेत, चित्र तथा चिह्नों का प्रयोग होता है।

–संप्रेषण की प्रक्रिया में अनुभव की साझेदारी होती है।

–संप्रेषण का आधार व्यक्तिगत समझ और मनोदशा होती है।

–संप्रेषण का उद्देश्य ग्रहीता के विचार व्यवहार में परिवर्तन करना है।

–संप्रेषण-प्रक्रिया ग्रहीता की प्रतिक्रिया के बाद ही पूर्ण होती है।

संचार और संप्रेषण–अँग्रेजी के Communication शब्द से बने संचार और संप्रेषण ये दोनों शब्द समानार्थी लगते हैं, परंतु मानविकी एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इसे अलग-अलग अर्थों एवं संदर्भों में लिया जाता है।'[5] जैसे सूचना तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में Communication के लिए 'संचार' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसमे किसी विशिष्ट माध्यम की सहायता से सूचना का संचरण किया जाता है। मानविकी के विभिन्न ज्ञानानुशासनों में Communication शब्द का अर्थ संचार न होकर 'संप्रेषण' लिया जाता है। संप्रेषण मानसिक प्रक्रिया होने के कारण इसमें भाव, विचार तथा मनोभावों का संवहन किया जाता है। संप्रेषण की प्रक्रिया संचार से पहले शुरू हो जाती है।

भाषा और संप्रेषण–भाषा मनुष्य के संप्रेषण का महत्त्वपूर्ण माध्यम और भावबोध का अन्यतम साधन है। 'अभिव्यक्ति की इच्छा ने अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने तथा दूसरों तक पहुँचाने के माध्यम के रूप में भाषा को जन्म दिया और विकसित किया।'[6] हम अपने विचारों को दूसरों तक भली-भाँति संप्रेषित करने और दूसरे के विचारों को स्वयं भली-भाँति ग्रहण करने के लिए भाषा का आश्रय लेते हैं।' भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चारण के योग्य यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।'[7] हमारे जीवन के समस्त कार्यकलापों का भाषा के साथ इतना गहरा संबंध होता है कि उसके बिना हमारा सामाजिक अस्तित्व ही संभव नहीं है। भाषा के संप्रेषण व्यवहार के माध्यम से ही हम अपने भाषायी समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ संबंध स्थापित करते हैं, उनके साथ विचार-विनिमय करते हैं और एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करते हैं। मानव-मन की सृजनात्मक शक्ति की अनुपम देन के रूप में यह भाषा ही बाह्य जगत और हमारे भाव-बोध के बीच एक सेतु का काम करती है।

 ISSN 0975-735X

संसार में विभिन्न धर्मों एवं जातियों के लोग रहते हैं, किंतु कोई भी मानव-समुदाय ऐसा नहीं होगा, जिसके पास संप्रेषण माध्यम के रूप में भाषा न हो। भाषा समाज एवं सामाजिक संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। अन्य किसी भी संप्रेषण-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सशक्त, प्रभावशाली एवं सक्षम व्यवस्था मानव भाषा ही है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचारों को एक सुव्यवस्थित ध्वनि रूप प्रदान करता है।

संप्रेषण की प्रक्रिया–संप्रेषण हमारी बातचीत करने की एक प्रक्रिया है। हम अपने रोजमर्रा के जीवन में एक-दूसरे के साथ भावों, विचारों का आदान-प्रदान करते रहते हैं, इसे ही हम संप्रेषण कहते हैं। संप्रेषक द्वारा कही हुई बात सरलतम रूप से संदेश ग्रहणकर्ता तक पहुँचने के बाद ही संप्रेषण-प्रक्रिया सफल होती है। इस प्रक्रिया में तीन तत्त्व महत्वपूर्ण हैं–संप्रेषक, संदेश और संदेश ग्रहणकर्ता। संप्रेषण अध्ययन विकसित होने के साथ संप्रेषण-प्रक्रिया के अन्य तत्त्व भी सामने आए। अब संप्रेषण-प्रक्रिया के प्रमुख सात संघटक तत्त्व माने गए हैं, जो संप्रेषण को सार्थक बनाते हैं।

1. विचार (Idea) : किसी भी संदेश को प्रेषित करने से पहले संदेशकर्ता के मस्तिष्क में उस संदेश के संबंध में विचार की उत्पत्ति होती है, जिसे वह उसके प्राप्तकर्ता को प्रेषित करना चाहता है। प्रत्येक लिखित या मौखिक संदेश विचार की उत्पत्ति से प्रारंभ होता है।

2. स्रोत (Source / Sender) : संप्रेषण करते समय व्यक्ति अपने विचारों को प्रस्तुत करता है। किसी सूचना को दूसरे तक भेजने वाला स्रोत कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा बोला जाता है या जो सूचनाएँ भेजता है, उसको स्रोत कहते हैं।

3. संदेश (Message) : संदेश सूचनाओं का संग्रहण होता है, जो संदेश वाहक भेजता है। संदेशवाहक अपने मन में आए विचारों को भेजता है। संदेश किसी संकेत, भाषा, कुछ चित्र आदि के रूप में हो सकता है।

4. एनकोडिंग (Encoding) : जब हम किसी विचार या भावना की अभिव्यक्ति के लिए संकेतों और प्रतीकों का प्रयोग करते हैं उसे एनकोडिंग कहते हैं।

5. माध्यम (Medium) : संदेश भेजने के लिए हम जिन उपकरणों का प्रयोग करते हैं उन्हें माध्यम कहते हैं। माध्यम के द्वारा हम अपना संदेश दूसरों तक पहुँचाते हैं। माध्यम बहुत प्रकार के होते हैं।

6. डिकोडिंग (Decoding) : यह वह प्रक्रिया होती है, जिसमें संदेश प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संदेश स्रोत से प्राप्त संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से संदेश ग्रहण करता है।

7. प्रतिपुष्टि या पृष्ठपोषण (Feedback) : यह प्रयुक्त होता है, जो संदेश प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संदेश प्राप्त करने के पश्चात संदेश देनेवाले के पास प्रेषित करता है।

संप्रेषण-प्रक्रिया निम्नांकित मॉडल से अधिक स्पष्ट हो जाएगी–

संप्रेषण के प्रमुख प्रकार–संप्रेषण की प्रक्रिया अनेक रूपों में हो सकती है। भाषा के संदर्भ में विचार करने पर साधारणत: इसे दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-भाषिक संप्रेषण और भाषेत्तर संप्रेषण।

भाषिक संप्रेषण–किसी भी भाषा के माध्यम से होनेवाले संप्रेषण को 'भाषिक संप्रेषण' कह सकते हैं। 'भाषा शब्द भी व्यापक है। इतिहास, भूगोल, प्रयोग, साधुता, प्रचलन और निर्माता के आधार पर भाषा के असंख्य भेद हो सकते हैं।[8] लेकिन यहाँ हमारा अभिप्रेत है भाषा का वह मूलभूत रूप, जिसका कार्य वक्ता के भाव या विचारों को श्रोता तक पहुँचाना है, जिसका प्रयोग एक समाज में होता है और जो सुनिश्चित व्यवस्था होती है।

भाषेतर संप्रेषण–इसे आंगिक संप्रेषण भी कहा जाता है क्योंकि इसमें भावमुद्राओं, संकेतों, कूटों, चेष्टाओं, व्यवहार जैसे वे सभी माध्यम आ जाते हैं, जिनका भाषा से प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। इनका अपना अलग महत्त्व होते हुए भी अधिकांशत: ये माध्यम भाषिक संप्रेषण के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।

भाषिक संप्रेषण के दो प्रकार हैं–1. मौखिक संप्रेषण, 2. लिखित संप्रेषण

मौखिक संप्रेषण–मौखिक संप्रेषण में वाणी द्वारा तथ्यों एवं सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जाता है। इस विधि में संदेश देनेवाला तथा संदेश ग्रहण करनेवाला दोनों ही आमने-सामने होते हैं। मौखिक संप्रेषण में बातचीत, वार्ता, व्याखान, साक्षात्कार, परिचर्चा, सभाएँ सामूहिक चर्चा, प्रश्नोत्तर तथा कहानीकथन आदि के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति की जाती है। मौखिक संचार द्वारा सामूहिक ज्ञान व विचार का धीरे-धीरे विकास होता है। मौखिक संचार निजी, अनौपचारिक तथा लचीला होता है; जो व्याकरणगत तथा अन्य नियमों से बँधा नहीं होता।

'मौखिक संप्रेषण को सफल एवं प्रभावी बनाने के लिए वक्ता में कथ्य, विचारों की स्पष्टता, उनके अनुरूप शब्द, आंगिक चेष्टाएँ, उच्चारण शैली, श्रोता में दोषरहित श्रवण-क्षमता और अशाब्दिक प्रतीकों की अवलोकन शक्ति एवं प्राप्त प्रतीकों को संघटित कर विचारों में रूपांतरित करने की क्षमता आवश्यक है।'[9] इन गुणों से युक्त भाषायी संप्रेषण हमें अत्यंत रोचक व प्रभावकारी लगता है।

लिखित संप्रेषण–इस प्रक्रिया में संप्रेषक अपने भाव तथा विचारों को लिखित रूप में अभिव्यक्त करता है। यह मानव-जाति द्वारा संचित अनुभव को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंतरित करने का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम सिद्ध हुआ है। प्रभावी संप्रेषण के लिए लिखित संदेश में जहाँ स्पष्टता व शुद्धता आवश्यक है, वहीं व्याकरण-संबधी नियमों का पालन भी किया जाता है। नोटिस, पत्र, स्मरण-पत्र, प्रस्ताव, शपथपत्र, शिकायत-पत्र, नियुक्ति-पत्र, पदोन्नति का पत्र, वित्तीय प्रारूप, प्रिंट मीडिया, पुस्तकें आदि लिखित संचार के उदाहरण हैं। अत: सोच-समझकर या चिंतन-मनन कर भावानुभूति व्यक्त करने की जो सुविधा लिखित संप्रेषण में है, वह मौखिक संप्रेषण में नहीं है।

भाषेतर संप्रेषण–भाषेतर संप्रेषण में भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता। वाणी, संकेत, शारीरिक मुद्रा तथा मुखमुद्राओं के प्रयोग एवं स्पर्श संपर्क के माध्यम से संप्रेषण किया जाता है। इसमें विचारों और भावनाओं को बगैर शब्दों के अभिव्यक्त किया जाता है। 'पतंजलि ने अपने महाकाव्य में यह प्रश्न उठाया था कि क्या शारीरिक चेष्टाओं को शब्द माना जा सकता है? उन्होंने इसका उत्तर नकारात्मक दिया तथा स्पष्ट विधान किया कि ये शब्द नहीं क्रियाएँ हैं।'[10]

लेकिन यह सच है कि कई स्थानों पर जब विचारों व भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं होता है, तब अशाब्दिक संप्रेषण ही सबसे प्रभावी होता है। हमारी अधिकतम अभिव्यक्ति में शब्दों से अधिक भाव-भावना तथा आंगिक मुद्राएँ प्रभावकारी संप्रेषण करती हैं।

संप्रेषण की समस्याएँ–संप्रेषण का उद्देश्य किसी विचार या संदेश को सही अर्थ में किसी व्यक्ति या समूह तक पहुँचाना होता है। परंतु कभी-कभी संप्रेषण की प्रक्रिया में आई कुछ बाधाओं के कारण संप्रेषण की प्रक्रिया पूर्णत: सफल नहीं हो पाती। इसलिए संप्रेषण को प्रभावपूर्ण बनाए रखने के उद्देश्य से आवश्यक है कि इसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं को ठीक से समझा जाए और इन्हें दूर किया जाए।

संप्रेषक-संबंधी समस्याएँ–संप्रेषक का स्वयं संदेश के प्रति स्पष्ट न होना या संदेश को अपेक्षित स्तर पर स्पष्ट न कर पाने के कारण संप्रेषण प्रभावी नहीं बन पाता। इसके अतिरिक्त संदेश में भाषागत और उच्चारणगत गलतियाँ होना, संदेश का अयोग्य संकेतीकरण करना, अनुपयुक्त माध्यम को चुनना तथा संप्रेषक को संदेश ग्रहणकर्ता की मनोदशा का पूर्वानुमान न होने के कारण भी संप्रेषक की ओर से योग्य संप्रेषण में बाधाएँ निर्माण होती हैं ।

संदेश-संबंधी समस्याएँ–संदेश अस्पष्ट, उलझनभरा हो तथा विषय के अनुकूल उसे न बनाया गया हो तो भी उचित संप्रेषण नहीं हो पाता। संदेश-निर्माण में मौखिक और लेखन-शैली तथा संदेश-ग्रहणकर्ता की मनोवृत्ति का ध्यान न रखने के कारण भी संप्रेषण में बाधा आती है। इसके अलावा संदेश को सही समय और माध्यम से क्रमानुसार संप्रेषित न करने से भी संप्रेषण में समस्याएँ पैदा होती हैं।

माध्यम-संबंधी समस्याएँ–संदेश के उद्देश्य के अनुरूप तथा उचित श्रोता के अनुरूप माध्यम का चयन न होने के कारण संप्रेषण में माध्यम-संबंधी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

संकेतीकरण-संबंधी समस्याएँ–सूचना का उचित संकेतीकरण संदेश को प्रभावी बनाता है। हमारा अधिकतर संप्रेषण शब्दों के माध्यम से होता है। वैसे तो भाषा में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इस अर्थभिन्नता के कारण भी सही संप्रेषण नहीं हो पाता। जैसे कि मरफी पैक ने अपनी पुस्तक Effective Business Cammunication में कहा है 'Run शब्द को शब्दकोष में क्रिया के रूप में 71 अर्थ दिए गए हैं, सज्ञा के रूप में 35, विशेषण के रूप में 4 अर्थ दिए गए हैं। इस प्रकार से संदेश प्राप्तकर्ता के पास शब्द के 110 अर्थ निकालने का विकल्प उपलब्ध है।'[11] इस प्रकार के भ्रम के कारण भी सही संप्रेषण में बाधाएँ आती हैं।

संदेश ग्रहणकर्ता-संबंधी समस्याएँ–यदि संदेश ग्रहणकर्ता ही संदेश के प्रति लापरवाही दर्शाता है या उसकी ओर अपेक्षित ध्यान नहीं देता है तो उचित संप्रेषण न हो पाएगा। संप्रेषक के प्रति किसी भी प्रकार का उपेक्षा-भाव रखता है या उस पर अविश्वास दिखाता है तो भी संप्रेषण में बाधा आती है। गृहीता की रुचि, समझ, ज्ञान आदि की कमी के कारण भी संप्रेषण नहीं होगा।

वैयक्तिक भिन्नता-संबंधी समस्याएँ–प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक स्तर, शिक्षा, अनुभव,

मान्यताएँ, ग्रहण-क्षमता एक-जैसी नहीं होती। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के सामाजिक अनुभव, सांस्कृतिक परंपराएँ एवं लिंगभेद उसके दृष्टिकोण को अलग करते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक अभाव और समय-संबंधी बाधाएँ भी संप्रेषण में समस्याएँ उत्पन्न करती हैं।

अत: संप्रेषण जटिल और चुनौतीपूर्ण प्रक्रिया है। संप्रेषण-प्रक्रिया के संघटन तत्त्व में किसी भी प्रकार की असावधानी से संप्रेषण में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। सफल संप्रेषण के लिए यह आवश्यक है की उपर्युक्त सभी बाधाओं और समस्याओं का निवारण करने के किए पूरी सावधानी बरती जाए।

निष्कर्षत:, संप्रेषण संप्रेषक और संदेश ग्रहणकर्ता के बीच अंत:क्रिया होती है, जिसमें प्रमुखत: शब्द, संकेत, चित्र तथा चिह्नों के माध्यम से विचार, भावना, सूचना तथा अर्थों का आदान-प्रदान होता है। संप्रेषण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होने के कारण इसका प्रमुख आधार व्यक्तिगत समझ और मनोदशा ही होती है। इसलिए मनुष्य का सोचना, संवेदना और उसका संपूर्ण व्यवहार संप्रेषण के अंतर्गत ही आता है। संप्रेषण एक सहभागी अनुभव होने के कारण हम मात्र शारीरिक रूप से एकत्रित होकर एक-दूसरे के विचार-व्यवहार में परिवर्तन नहीं ला सकते। इसके लिए आवश्यक है कि हम एकत्रित होकर संवाद, आपसी समझ और परस्पर सहयोग के माध्यम से एक-दूसरे से जुड़ें।

संदर्भ

1. डॉ॰ अनूपचंद्र पु॰ भायाणी, व्यावसायिक संप्रेषण, पृ॰ 14
2. प्रश्नपत्र 7, द्वितीय वर्ष, डिप्लोमा इन एजुकेशन, पत्राचार पाठ्यक्रम, माध्यमिक शिक्षा मंडल, भोपाल म॰प्र॰
3. विलयम न्यूमेन और चार्ल्स समर द्वारा लिखित पुस्तक The Process of Management
4. कोलियर्स इन्साक्लोपीडिया, ग्रंथ 7,1986 पृ॰ 73
5. महावीरसिंह जैन, संचार एवं संप्रेषण (आलेख) पृष्ठ 1
6. डॉ॰ अनूपचंद्र पु॰ भायाणी, व्यावसायिक संप्रेषण, पृ॰ 13
7. डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोश, प्रथम संस्करण, पृ॰ 438
8. वही, पृ॰ 457
9. डॉ॰ अनूपचंद्र पु॰ भायाणी, व्यावसायिक संप्रेषण, पृ॰ 17
10. भगवत्पतंजलि व्याकरण महाभाष्य, प्रथम नवान्हिक पृ॰ 3 अनुवादक चारुदत्त शास्त्री
11. डॉ॰ सुभाष गौड़, संप्रेषण एवं बैंकिंग व्यवस्था, पृ॰ 74

सहयोगी प्राध्यापक, हिंदी विभाग
विनायकराव पाटील महाविद्यालय, वैजापुर
जिला औरंगाबाद (महाराष्ट्र) 431 010
मो॰ 94222 38659

लोककवि नजीर अकबराबादी के काव्य में पर्वों एवं त्योहारों का चित्रण

डॉ॰ फैयाज अहमद

नजीर अकबराबादी 18वीं-19वीं शताब्दी के कवि हैं। यहाँ तक आते-आते हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो चुका था, क्योंकि शताब्दियों तक साथ रहते-रहते वह एक दूसरे की प्रकृति से पूर्णत: परिचित हो गए थे। सामंजस्य ने समन्वय का भाव स्थापित कर दिया था। फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे की सामाजिक एवं धार्मिक आस्थाओं एवं अन्य क्रियाकलापों में भाग लेकर आपसी समन्वय स्थापित कर रहे थे।

समाज पारस्परिक संबंधों का जाल होता है और नजीर युगीन समाज इन्हीं पारस्परिक संबंधों के कारण उसी प्रकार एक संकर समाज बन गया, जिस प्रकार दो विभिन्न भाषाओं के दो शब्दों को जोड़कर एक सार्थक संकर शब्द बन जाता है। इस मिश्रित समाज में दोनों धर्मावलंबी अपनी रीतियों एवं आस्थाओं के साथ जीवनयापन कर रहे थे।

समाज-दर्शन के तत्त्वों में समाज में प्रचलित विभिन्न पर्वों अथवा त्योहारों की महत्ता एवं उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। भारत में सामाजिक धरातल पर हिंदू-मुस्लिम दोनों विभिन्न त्योहारों का आयोजन करते थे। भारत पर्वों का देश है किंतु मुख्य रूप से यहाँ होली, दीवाली, रक्षा-बंधन, ईद, शबे-ए-बरात आदि दोनों धर्मावलंबी मनाते हैं। इन मुख्य त्योहारों का अलग ही आकर्षण एवं आनंद है।

प्रत्येक कलाकार अपने भावों एवं विचारों को अपनी कला के माध्यम से प्रदर्शित करता है। वह समाज का अवलोकन एवं अध्ययन करता है और तथ्य अथवा यथार्थ में अपनी कल्पनाओं का पुट देकर अपनी कला को आकर्षक बनाता है। इन समस्त कलाकारों में कवि सर्वाधिक संवेदनशील कहा जाता है। नजीर अकबराबादी एक कवि होने के साथ समाजद्रष्टा भी थे। उनकी रचनाएँ इस तथ्य का साक्ष्य हैं कि उन्होंने समाज का एक-एक कोना झाँक रखा है। समाज संबंधी उनकी काव्य रचनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि वे समाज से जुड़े और समाज में रचे-बसे एक उच्चकोटि के कवि थे। भारतीय त्योहारों का यथोचित वर्णन नजीर की रचनाओं में पूर्णत: दृष्टिगत होता है। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दोनों समाजों के प्रचलित प्रमुख त्योहारों के मनोरम चित्र अंकित किए हैं। उनके इस चित्रांकन को त्योहारगत निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

शब-ए-बराअत को मुस्लिम समाज का सामान्य वर्ग शबबरात, शबरात या शुबरात कहता है। जनसामान्य में प्रचलित इस रूप को त्योहार का नाम दिया जाता है, जबकि इस्लाम धर्म के अनुसार शब-ए-बराअत कोई त्योहार नहीं। नजीर लोककवि हैं और लोकप्रचलित मान्यताओं को

कम से कम अपने काव्य में अवश्य मान्यता प्रदान करते हैं। अरबी महीनों में आठवाँ महीना शाबान का होता है जिसे 'शाबान-उल-मुकर्रम' कहते हैं। इसके चाँद की चौदह तारीख की समाप्ति पर रात में मुसलमान नफली इबादत करते हैं। लड़के-बाले विभिन्न प्रकार की आतिशबाजी चलाते हैं। अब तो बड़े-बड़े शहरों और राजधानी दिल्ली आदि में अजब तमाशे होते हैं, जिनका इस्लाम धर्म से कोई संबंध नहीं है। अपनी एक संपादित रचना 'नजीर ग्रंथावली' में प्रो॰ नजीर मुहम्मद इस संदर्भ में लिखते हैं कि 'माह शाबान की पंद्रहवी रात इस राह में खुदा के हुक्म से फरिश्ते बंदों की उम्र का और खाने के बाँटने का हिसाब करते हैं। मुसलमान रात में जागकर खुदा की इबादत करते हैं। मीठी चीजें बनाकर अपने गुजरे हुए अजीज-रिश्तेदारों की रूहों के लिए मुल्लाओं से फातिहा दिलाते हैं। बच्चे फुलझड़ियाँ, पटाखे आदि छोड़कर खुशियाँ मनाते हैं।'[1]

नजीर अकबराबादी ने समाज में प्रचलित शब-ए-बराअत के इसी रूप का बखान किया है। शब-ए-बराअत के संदर्भ में नजीर कहते हैं कि–

क्योंकर करे न अपनी नमूदारी शब्बरात।
चलपक, चपाती, हलवे से है भारी शब्बरात।
जिंदों की है जुबाँ की मजेदारी शब्बरात।
मुर्दों की रूह की है मददगारी शब्बरात।
लगती है सब के दिल को गरज प्यारी शब्बरात।[2]

प्रचलित मान्यता के अनुसार शब-ए-बराअत पर मुर्दे आते हैं (अर्थात उनकी रूहें) और सदके-खैरात के मुंतजिर रहते हैं। नजीर ने उपर्युक्त पंक्ति के बखान के अतिरिक्त निम्न पंक्तियों में भी इस तथ्य को उजागर किया है–

वारिस हैं जिनके जीते वह मुर्दे भी आनकर।
हलवे चपाती खूब ही चखते हैं पेट भर।[3]

इस अवसर पर मौलवी-मुल्ला घर-घर जाकर खानों पर फातिहा करते हैं और विभिन्न प्रकार के पकवान यथा हलवे-पूरी आदि खूब उड़ाते हैं। यथा–

मुल्ला जो देने फातिहा घर घर में जाते हैं।
हलवा कहीं, कहीं वह चपाती उड़ाते हैं।[4]

शब-ए-बराअत पर इबादत करने, पकवान हलवे-पूरी, चपाती खाने, मुल्लाओं के घर-घर जाकर फातिहा देने आदि का चित्रण नजीर ने अपनी रचना 'शबबरात' में किया है। इसके अतिरिक्त नजीर ने शब-ए-बराअत के मुख्य दोष 'आतिशबाजी' और उसके दुष्परिणाम का बखान भी किया है। इस संदर्भ में नजीर की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

चेहरा किसी का जल गया आँखें झुलस गईं।
छाती किसी की जल गई बाहें झुलस गईं।
टाँगें बची किसी की तो रानें झुलस गईं।
मूँछें किसी की फुक गईं तो पलकें झुलस गईं।
रक्खे किसी की दाढ़ी पै चिनगारी शब्बरात।[5]

मुसलमानों के वास्तव में दो ही त्योहार माने जाते हैं, जिन्हें 'ईदुलफित्र' और 'ईदुलअजहा'

 ISSN 0975-735X

कहा जाता है। नजीर ने ईदुलफित्र की कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। रमजान के पूरे रोजे रखने के बाद यह त्योहार शव्वाल महीने की पहली तारीख को मनाया जाता है। अमीर-गरीब सभी अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार इस त्योहार को खुशी-खुशी मनाते हैं। इस त्योहार पर फितरा (एक प्रकार का दान) देने के कारण इसे 'ईदुलफित्र' कहा जाता है।

ईद का चाँद देखकर खुश होने और ईद की लोगों द्वारा खुशी-खुशी तैयारी का बखान करते हुए नजीर कहते हैं कि–

रोजे की खुश्कियों से जो हैं जर्द-जर्द गाल।
खुश हो गए वह देखते ही ईद का हिलाल।
पोशाकें तन में जर्द, सुनहरी, सफेद, लाल।
दिल क्या कि हंस रहा है पड़ा तन का बाल-बाल।
ऐसी न शब्बरात न बकरीद की खुशी।
जैसी हर एक के दिल में है इस ईद की खुशी।[6]

रोजे रखने वालों की ही वास्तव में ईद होती है। ईद अमीर-गरीब, बादशाह-वजीर सभी को खुशियाँ प्रदान करती है। नजीर के अनुसार–

रोजे की खुशकियों में न होते अगर असीर।
तो ऐसी ईद की न खुशी हो तो दिल पजीर।।
सब शाद हैं गदा से लगा शाह ता वजीर।
देखा जो हमने खुद तो यह सच है मियाँ नजीर।
ऐसी न शबबरात न बकरीद की खुशी।
जैसी हर एक दिल में है इस ईद की खुशी।[7]

प्रहलाद और होलिका से जुड़ी धार्मिक अंतर्कथा के आधार पर भारत में होली का त्योहार मनाया जाता है। इसे भारत का रंगों का त्योहार कहा जाता है। ब्रजक्षेत्र में इसकी अलग और विचित्र धूमधाम होती है। नजीर साझा संस्कृति को उकेरने में सक्षम हैं। उनका मन भारतीय साझा संस्कृति और मुख्यता ब्रजसंस्कृति में अधिक रमा है। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय त्योहार मुख्यतः होली, दीवाली, रक्षाबंधन आदि पर कविताएँ प्रस्तुत की हैं। होली पर उनकी बीस कविताएँ इस तथ्य का सक्षम उदाहरण हैं। नजीर ने इस त्योहार की विचित्रता को निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया है। यथा–

मियाँ तू हमसे न रख कुछ गुबार होली में।
कि रूठे मिलते हैं आपस में यार होली में।
मची है रंग की कैसी बहार होली में।
हुआ है जोरे चमक आशकार होली में।
अजब यह हिंद की देखी बहार में।[8]

होली के दिन रंग खेलने और एक-दूसरे पर रंग, अबीर और गुलाल डालकर खुशी मनाने का बखान करते हुए नजीर कहते हैं कि–

कहीं तो रंग छिड़कर कहें कि होली है।

कोई खुशी से ललक कर कहें कि होली है।
अबीर फेंके हैं तग तक कहें कि होली है।
गुलाब मलके लपक कर कहें कि होली है।
हरेक तरफ से है यह कुछ इत्तिसाल होली का।[9]

ब्रज में ग्वालों-गोपियों एवं राधा-कृष्ण की होली का बखान होली के संदर्भ में कविगण करते आए हैं। नजीर ने राधा-कृष्ण एवं गोपियों के होली खेलने का वर्णन अपनी होली की एक कविता में निम्न शब्दों में किया है–

जब देर तलक मनमोहन ने वाँ होरी खेली रंग भरी।
सब भीगी भीड़ जो आई थी साथ उनके ग्वालों बालों की।
तन भीगा किशन कन्हैया का यों रंगों की बौछार हुई।
और भीगी राधागोरी भी और उनकी संग सहेली भी।
दफ बाजें राग औ रंग हुए होली खेलन की झमकन में।
गुलशोर गुलाल और रंग पड़े, हुई धूम कदम की छैयन में।[10]

दीपावली खुशियों और प्रकाश का त्योहार है। भारत में यह त्योहार अत्यधिक धूमधाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर सामाजिक एवं स्वच्छता की दृष्टि से इसका विचित्र महत्त्व है। घर-घर सफाई-सुथराई, लीपापोती आदि के चलते एक प्रकार से स्वच्छता अभियान छिड़ जाता है। नजीर ने दीवाली को अति पवित्र त्योहार कहा है। यथा-

है दसहरे में भी यूँ गो फरह जीनत नजीर।
पर दीवाली भी अजब पाकीजातर त्योहार है।[11]

नजीर ने अपनी 'दीपावली' संबंधी रचनाओं में भारतीय समाज में प्रचलित क्रिया-कलाप के अति मनोहर चित्र अंकित किए हैं। स्वच्छता, प्रकाश, खील-खिलौनों आदि का बखान भी सुंदर ढंग से किया है। यथा–

अटारी, छज्जे दरो बाम पर बहाली है।
दिबाल एक नहीं लीपने से खाली है।
जिधर को देखो उधर रोशनी उजाली है।
गरज में क्या कहूं ईंट ईंट पर दीवाली है।
खिलौने नाचें हैं तस्वीरें गत बजाती हैं।
बताशे हँसते हैं और खीलें खिलखिलाती हैं।[12]

नजीर ने खीलों-बताशों, प्रकाश, आतिशबाजी, मिठाईयों आदि का ही बखान नहीं किया अपितु, उन्होंने इस त्योहार पर खेले जानेवाले जुए और उसमें सब कुछ हार जानेवाली बुराई का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का साहस भी किया है। यथा–

किसी ने घर की हवेली गिरू रखा, हारी।
जो कुछ भी जिंस मयस्सर बना बना हारी।
किसी ने चीज किसी की चुरा छुपा हारी।
किसी ने गठरी पड़ोसिन की अपनी ला हारी।

 ISSN 0975-735X

यह हार जीत का चर्चा पड़ा दिवाली का।[13]

रक्षा–बंधन का त्योहार भारतीय समाज में एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह रेशम के धागे से बंधा भाई–बहन का पवित्र एक अटूट बंधन का त्योहार है। नजीर ने सलूनों के अवसर पर इस त्योहार के लिए बनी राखियों की सुंदरता और विभिन्न आकार–प्रकार की राखियों का निम्न शब्दों में वर्णन किया है–

चली आती है अब तो हर कहीं बाजार की राखी।
सुनहरी, सब्ज, रेशम, जर्द और गुलनार की राखी।
बनी है गो कि नादिर खूब हर सरदार की राखी।
सलूनों में अजब रंगीं हैं उस दिलदार की राखी।
न पहुँचे एक गुल को यार जिस गुलजार की राखी।[14]

वस्तुतः नजीर अकबराबादी एक लोककवि हैं। वे भारतीय समाज एवं संस्कृति के ऐसे सशक्त चितेरे हैं, जिनका कोई चित्र ऐसा नहीं जो उनके पाठक को आकर्षित और आनंदित न करता हो। उन्हें भारतीय समाज एवं संस्कृति से जो अपार लगाव था उसका प्रदर्शन उन्होंने अपने काव्यात्मक चित्रों में प्रस्तुत किया है। विभिन्न त्योहारों के मनोरम चित्रांकन के इस तथ्य को उजागर कर दिया कि नजीर भारतीय समाज में प्रचलित त्योहारों में आस्था रखते और आनंदपूर्वक उन्हें स्वयं भी मनाते थे। यह समस्त चित्रण नजीर की साझा संस्कृति में उनकी आस्था एवं उनके सफल लोक कवि होने का भी सबल प्रमाण है।

संदर्भ

1. प्रोफेसर नजीर मुहम्मद (संपादक), नजीर ग्रंथावली, उ०प्र० हिंदी संस्थान, 1992, पृ० 315
2. वही, पृ० 315
3. वही, पृ० 316
4. वही, पृ० 316
5. वही, पृ० 318
6. वही, पृ० 326
7. वही, पृ० 328
8. वही, पृ० 338
9. वही, पृ० 361
10. वही, पृ० 367
11. वही, पृ० 370
12. वही, पृ० 377
13. वही, पृ० 374
14. वही, पृ० 379

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिंदी विभाग
जी०एफ० कालेज, शाहजहाँपुर 242001
मो० 8765502104
faiyazbaba123@gmail.com

सौंदर्यबोध और हिंदी की स्त्रीवादी कविता

डॉ॰ अमियकुमार साहु

सौंदर्यबोध मूलत: जीवन-बोध है अर्थात् जीवन को कैसे जिया जाए और दूसरों को कैसे जिलाया जाए, जीवन से कैसे संघर्ष किया जाए, जीवन-विरोधी हर तत्त्व को कैसे निर्मूल कर दिया जाए, दूसरों से कैसे उदारता और शालीनता से व्यवहार किया जाए; यही जीवनबोध की मूल शर्त है। और यह सौंदर्यबोध या जीवनबोध एक मानवीय संस्कार है, जो व्यक्ति तथा सामाजिक जीवन में छिपी विसंगतियों और विषमताओं के प्रति मानव को भावात्मक दृष्टि से सजग करता हुआ सहानुभूति या संवेदना का दायरा बढ़ाता है। यह जीवन की जटिलता का ज्ञान मनुष्य को देता है और इस जटिलता से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने की कोशिश भी करता है। मनुष्य को बेचैन भी करता है और तिलमिला भी देता है। यही समाधान की पहली कड़ी है। इसके लिए सहृदय होना बेहद जरूरी है। सहृदयता के बिना सौंदर्यबोध या जीवनबोध अर्जित नहीं किया जा सकता। आदमी जितना सहृदय होगा, उसका सौंदर्यबोध उतना श्रेष्ठ होगा। सिर्फ इंद्रियजन्य सौंदर्यबोध, स्वस्थ सौंदर्यबोध का लक्षण नहीं है। कारण यह है कि इंद्रियजन्य सौंदर्यबोध मनुष्य को भोग के लिए प्रेरित करता है, त्याग के लिए नहीं और यह जीवनबोध के एकदम विपरीत है।

अत: सिर्फ इंद्रियबोध से काम नहीं चल सकता। इसके साथ-साथ बौद्धिकता और व्यावहारिकता की आवश्यकता भी है। इन तीनों के संयोग से एक सही सौंदर्यबोध का विकास हो सकता है और यह सौंदर्यबोध जीवन-सापेक्ष होता है। जिसे हम मानवीय बोध भी कह सकते हैं। इसी सौंदर्यबोध के कारण मनुष्य पशु-प्रवृत्ति से अलग हटकर मानव कहलाने की योग्यता हासिल कर लेता है। रमेश कुंतल मेघ के शब्दों में, 'वे (मनुष्य) केवल पाँच इंद्रियों को ही नहीं, बौद्धिकबोध तथा व्यावहारिकबोध को क्रमश: विकसित कर अपनी वन्य प्रवृत्ति को भी मानवीय बोध में परिवर्तित कर देते हैं, चाहे वह रति हो या उत्साह या घृणा।'[1] इंद्रियानुभव की सोचने-समझने की शक्ति और व्यावहारिक ज्ञान अर्थात् परिवेश या वातावरण के साथ तालमेल बिठाने की प्रवृत्ति या परिवेश वातावरण को बदलने की प्रवृत्ति ही मानव को पूर्णता प्रदान करती है। परिवेश ही मनुष्य पर बहुआयामी प्रभाव डालता है।

सौंदर्यबोध और हिंदी की स्त्रीवादी कविता

युग के कारण मनुष्य के सौंदर्यबोध में परिवर्तन आता है और वह इसी के अनुकूल साहित्य भी रचता है। आज के इस युग ने स्त्रीवादी साहित्य को जन्म दिया है। सदियों से पीड़ित, शोषित, स्त्रियों ने अपना स्वर मुखरित किया है। सदियों से दोयम दर्जे पर रहती आ रही स्त्री ने आज एक सांस्कृतिक आंदोलन छेड़ते हुए अपना हथियार साहित्य को बनाया है। अपनी

 ISSN 0975-735X

आत्मगरिमा, आत्मसम्मान को स्थापित करने के लिए आज स्त्रीवादी साहित्य सक्रिय हो उठा है। इस आंदोलन को ज्यादातर कविता ने आगे बढ़ाया है। स्त्री का यह सौंदर्य-बोधात्मक आंदोलन उसकी बौद्धिक एवं सामाजिक चेतना का विकास है। यद्यपि इस आंदोलन का आरंभ पश्चिम में बहुत पहले हो चुका था, पर भारत में हम इसका आरंभ सन् 60 से मान सकते हैं। शिक्षा और सचेतनता का अभाव इसका मुख्य कारण था। पर आज स्त्रीवादी साहित्य सक्रिय हो उठा है।

आज स्त्रीवादी लेखिकाओं की भीड़ लग गई है और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। उनकी कविताओं की ओर ध्यान दें तो हमें कला के चमकीले, भड़कीले प्रदर्शन नहीं मिलेंगे। उनमें कलात्मक सौष्ठव की रक्षा नहीं है, न ये कला की हिमायती हैं। स्त्रीवादी कविता 'कला कला के लिए' की पक्षधर नहीं है, 'कला जीवन के लिए' की पक्षधर है। हिंदीभाषा के माध्यम से नए जीवनमूल्यों की स्थापना उनका उद्देश्य है, न कि स्वर्णिम अलंकार से ढका प्रदर्शनी योग्य साहित्य रचना। सौंदर्यबोध इस तरह के साहित्य की प्रभावोत्पादकता से उत्पन्न होता है। स्त्रीवादी कविता स्त्रीवादी चेतना का प्रतिनिधित्व करती है, जो स्त्री के विरुद्ध कोई भी हरकत सहन नहीं करती और तिलमिला उठती है। वह स्त्री-विरोधी हर तत्त्व पर कभी प्रत्यक्ष ढंग से तो कभी अप्रत्यक्ष ढंग से प्रहार करती है। स्त्रीवादी कविता कहीं डंडा, लाठी, बंदूक लेकर खड़ी हो जाती है तो कहीं अति सरलता के साथ कल कल करते निर्झर की तरह पत्थर रूपी हर बाधा को काटकर अपना रास्ता बना लेने को तत्पर रहती है।

नारी की चेतना का सौंदर्यबोधीय रूपांतरण कभी स्त्री को अपनी यथास्थिति का वर्णन करने को बाध्य करता है तो कभी परंपरा की चारदीवारी को तोड़कर बाहर आने की कामना। तो कभी वह अपने स्वत्व विघटन के विरुद्ध अपनी अस्मिता की तलाश करती है। सदियों से नारी पुरुष की कैद में एक गुलाम है, सोने के पिंजरे में बँधी एक असहाय पंछी है। वह कितने भी स्वप्न क्यों न देखे, पर उसकी नियति उसे नहीं छोड़ती। अंत में उसे गृहस्थी के दाँव-पेंच में उलझना ही पड़ता है। एक कवयित्री के शब्दों में–

एक अरसे बाद/ देखती/ सपनों की गुनगुनाहट में/
तल्लीन लड़की का/ तब्दील होना/ उचाट गृहस्थी के दाँव-पेंच में/
बे-तरतीब उलझे/ समझदारी संजीदगी के बोझ तले दबते/
रंगों की स्याह बैंगनी उदासी में/
डूबते उतरते और भय से सिहर उठती है लड़की। (शाह बैंगनी उदासी में सिहरती लड़की)[2]

पुरुषवादी संस्कृति में स्त्री अपने स्वाधीन होने का, घर से बाहर आकर खुली हवा में साँस लेने का सपना कैसे देख सकती है। वह तो पुरुष के हाथ की कठपुतली है। जब भी नारी स्वतंत्र होने की कोशिश करती है तो पुरुष का पुरुषत्व ठहाका लगाता हुआ अपनी श्रेष्ठता का बखान करता है–

कठपुतलियों की/ आजादी की बात सुनकर/
देर तक ठहाका लगाता है/ नया सूत्रधार/
कठपुतलियाँ और आजादी। (कठपुतलियाँ सोचती हैं)[3]

हर बार सूत्रधार बदलते गए। पुरुष कभी बाप बना, कभी भाई, तो कभी पति; पर स्त्री की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ और वह कठपुतली बनी रही। सबके इशारे पर नाचती रही–

ससुराल की जिस दहलीज पर/ कभी/ मेरा पिता खड़ा था/
आज/ वहीं तुम खड़े हो/ और कल वहीं खड़ा होगा तुम्हारा दामाद/
सोचती हूँ/ क्या फर्क पड़ता है/ पीढ़ियों के बदल जाने से।[4]

पुरुष को यह भ्रम रहा कि वह स्त्री को सुरक्षा प्रदान करता आ रहा है। पर उसके पीछे उसका एक बहुत बड़ा स्वार्थ है। वह एक अल्सेशियन कुत्ते की तरह उसके चारों और मँडराता रहता है। इसलिए नहीं कि स्त्री को सुरक्षा की जरूरत है। इसलिए कि वह स्त्री को अपने अधीन रखने में अपनी सार्थकता समझता है और इससे उसके अहं की पुष्टि होती है। समय आने पर वह स्वयं शिकारी बन जाता है। वह चूस लेता है उसके हिस्से की धूप, उसकी हवा, उसका जल। बरगद की तरह वह अपने नीचे उगे पौधों का सुरक्षा कवच बनने का बहाना करते हुए, मिट्टी का सारा रस खुद चूसकर उन्हें खत्म कर देता है। यही है एक स्त्री की करुण कहानी–

बरगद के नीचे/ हम छोटे-छोटे पौधे/
पैदा होते ही मर जाते हैं/....हमारी सुरक्षा का ढोंग रचता/
और बड़ा और बड़ा/ और और बड़ा/ गहरा/
बहुत अधिक गहरा/ मजबूत होकर फैल जाता है/
बरगद का छाता/ हम सूख जाते हैं।[5]

स्त्री सिर्फ एक असहाय बेसहारा चीज बनकर रह जाती है। बस एक चीज जिसे जो जैसा चाहे उपयोग कर सके। जैसे वह एक सिर्फ उपयोग की वस्तु हो। भारतीय मध्यमवर्गीय स्त्री इस वेदना से जितना होकर गुजरती है, शायद ही और कोई गुजरता हो। कमला दास ने सही कहा है कि 'Middle class bed is a cross where every middle class women has to be crucified.'

मध्यवर्गीय स्त्री सिर्फ एक बिछौना बनकर रह गई। बाद में पूँजीवादी संस्कृति ने यद्यपि स्त्री को चारदीवारी से बाहर निकाला तो और भी कठिन परिस्थितियों में डाल दिया। घर में जहाँ स्त्री के शरीर का आनंद एक लेता था, वहाँ पूँजीवादी संस्कृति ने यह आनंद सबके लिए मुहैया करा दिया। वह घर से बाहर निकली तो एक उपभोग की वस्तु बनकर, सामाजिक उपभोग की वस्तु बनकर। पुरुष की लोलुप दृष्टि को उत्तेजित करती हुई। उसकी स्थिति बदतर हो गई। वह जाए तो फिर कहाँ जाए, यही है एक कवयित्री की वेदना–

बाहर आने पर भी तो/ उतनी ही लहूलुहान होती है/
जितनी अंदर रहने पर/ जान नहीं पा रही/
कहाँ कम, कहाँ ज्यादा। (चौतरफा लड़ाई)[6]

इस प्रकार की अवस्था में उसके मन में द्वंद्व उठना स्वाभाविक है। आखिर वह कैसे जिए, कैसे घरवालों को संतुष्ट करें। इधर पुरुष है कि हमेशा अपनी श्रेष्ठता, अपना अधिकार

 ISSN 0975-735X

सिद्ध करने लग जाता है। वह नारी के प्रश्न का कोई उत्तर भी नहीं देता। जैसे उसके प्रश्न और उसकी बातों का कोई मूल्य न हो। क्योंकि वह कभी भी पुरुष की दृष्टि में साध्य नहीं बनी है, वह तो सिर्फ एक साधन है। ऊँचे स्थान पर पहुँचाने की, एक सीढ़ी है। इस बात को शकुंत माथुर ने सही पहचाना है–

मैं हीरा नहीं/ मैं फूल नहीं हूँ/ मैं चाँदनी नहीं हूँ/
दुनिया की नजर में मुझे मत चिढ़ा/ सौदागर हीरा नहीं चाहता/
उसकी आँख/ उसकी रकम पर रहती है/ मैं फूल उस बाग का हूँ/
जिसका मालिक/ फूलों को नहीं चाहता/
उसकी आँख बंगले की सजावट पर रहती है/
मैं मात्र रकम हूँ/ मात्र सजावट।[7]

इस सजावट, इस रकम के विरुद्ध उसका प्रश्न है, आखिर वह सिर्फ रकम क्यों बने। यह तड़पन स्त्री को एक बवंडर की तरह फूटने को मजबूर कर देती है–

मगर तुम कभी जवाब नहीं देते/ मुझे नगण्य मानते हो/
या चाहते हो परंपरा चलती रहे/....श्रवण शक्ति सुनती है स्वयं के प्रश्न/
हर बार यही इतिहास दोहराया जाता है/ तुम नहीं जानते हो अनुत्तरित प्रश्न/
उतनी ही पीड़ा देता है/ जितना कि कोई अपराधिक भाव/
जो अधपूजा रह जाए/....अगर बन जाऊँ सनातन परंपरा को तोड़ने हेतु/
तुम्हारे लिए अभिशाप/ तब तुम मेरे प्रश्न का उत्तर जरूर दोगे/
केवल इतना ही नहीं/ उन्हें बार-बार दोहराते रहोगे। (सुशीला टाकभौरे)[8]

यही तड़प, यही घुटन स्त्री में संघर्ष पैदा करती है। नारी सदियों से एक सहिष्णु मानव की भूमिका निभाती आ रही है। उसके लिए उसका परिवार सब-कुछ है। वह घुटन में भी सब-कुछ सहते हुए समझौता करती है। पर यह समझौता कब तक? क्या स्त्री का जन्म सिर्फ समझौते के लिए है? उसे भी उसका अधिकार चाहिए। कभी-कभी उसका अंतर विद्रोह कर उठता है। पर उसका पारंपरिक मन घर को नहीं छोड़ पाता। एक अजीब सी स्थिति पैदा हो जाती है–

मेरी दो जिंदगियाँ समानांतर/...../
एक रोशनी को तरसती/ एक रोशनी से चुँधियाई/
एक तुम तक पहुँचने को व्याकुल/ दूसरी तुमसे बचती कतराती।[9]

द्वंद्व और समझौता ही जिंदगी नहीं है। स्त्री का बेशर्त समर्पण उसे आज मंजूर नहीं है। पुरुष यदि स्त्री को अपना सहभागी बनाने को राजी नहीं है, तो उसे अपना रास्ता खुद बनाना होगा। इस रास्ते को अपनाने के लिए उसे संघर्ष करना होगा। यही चाहत, यही विद्रोह स्त्रीवादी कविता को सौंदर्य प्रदान करता है–

तुम्हारे मूड में उतरती चढ़ती/ देवी और कुलटा बनती/
एक बेजान लौंदा/ प्राणहीन तस्वीर बनकर/ नहीं रह सकती/
मैं स्वयं मूर्त हूँ-मूरत नहीं/ तुम्हारे मन के पैमाने/पर

नशे का उफान बनने को तैयार नहीं/ तुम्हारे बदलते तेवर के साथ/
बदलने को तैयार नहीं।[10]

स्त्री अपने को अब पहचान चुकी है, वह सिर्फ एक कठपुतली नहीं है, जो पुरुष के हाथों में नाचती रहे। वह देवी, माता, धरती की संज्ञा पाकर अपने को धन्य मानने को तैयार नहीं है। उसे पता है इसके पीछे कौनसी राजनीति है। वह अपने को इन रूपों से मुक्त करना चाहती है। एक नए जन्म के लिए, एक नए रूप के लिए। वह टूटना चाहती है, फूटना चाहती है–

अब मैं फूटना चाहती हूँ/ अब टूटना चाहती हूँ/
मैं हजारों बूँदों में बँटूँ/ देखूँ अपने सामने खड़े/
अपने हजार रूप में/ चाहती हूँ क्षण-क्षण बिखरना/
एक दिन था/ मधु भरा घड़ा संचित था/ उँडेलने में डर लगता था/
अब/ टूटना बिखरना/ स्वयं में। (स्वयं की पहचान)[11]

स्त्रीवादी कविता स्त्री की 'अस्मिता' की, उसके 'स्व' की पहचान कराती है। स्त्री किसी भी क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं है। उसे अपनी अस्मिता की रक्षा करनी है। इसलिए वह अपने को खुद की निगाह से देखने की आदी है, न कि पुरुष की निगाहों से। इस संदर्भ में कुसुम अंसल का कहना है कि 'ये कविताएँ एक मानसिक विशेषताओं की कविताएँ हैं। इन कविताओं में एक खोज है, अपने विस्मृत 'स्व' की जो निरंतर चलती रहती है तथा मन का गोपनीय भी है जो सामने आ खड़ा हुआ है।'[12] उसका स्व पुरुष के स्व से कहीं बढ़कर है, कहीं ऊँचा है, जिसकी पुरुष कल्पना भी नहीं कर सकता। अगर घर बनता है तो सिर्फ उसके कारण। उसके बिना घर का कोई अस्तित्व है ही नहीं। संगीता गुप्ता के शब्दों में–

घर जिसके लिए/ औरत/ पल-पल मिटती है/
ईंट, पत्थर, गारे, सीमेंट से नहीं बनता/ बनता है/
उसके प्रेम/ अगाध विश्वास/ जीवन में/ उसकी आस्था से।

लेकिन अगर पुरुष इसे नहीं समझता तो यह गलती उसकी है। अगर पुरुष घर छोड़ भी दे तो स्त्री को आस्था नहीं खोनी चाहिए–

औरत का/ आत्मविश्वास कायम रहे/ धुरी वह है/
घर उसका है/ उसके दम से है।[13]

स्त्री के प्रेम से, विश्वास से घर बसता है। पर पुरुष के लिए प्रेम एक छलावा है। प्रेम उसके लिए एक खेलने की चीज है। स्त्री उस तरह के प्रेम को स्वीकार नहीं करती। शकुंत माथुर लिखती हैं–

प्रेम शब्द/ और उसके समस्त अर्थ को/
मैंने अस्वीकार कर दिया है/ इस बढ़े हुए नाखून जैसे/
जिसे आज सुबह मैंने तराश दिया है।[14]

स्त्री के प्रेम से, अगाध विश्वास से घर बसता है। पर उसमें उसकी सुरक्षा कहाँ। वह कभी मुक्त हवा, सुबह की मदमाती धूप, चिड़ियों की चहचहाहट को महसूस भी नहीं कर पाती है। चारों और अँधेरे में जीना उसकी नियति है। यदि उसका समर्पण, अगाध विश्वास, प्रेम

 ISSN 0975-735X

उसे बंधन में डाल देते हैं, उसे पराधीन रहने को मजबूर करते हैं, तो वह इसको क्यों पकड़े रहे। अत: वह इससे भी बाहर निकलना चाहती है। उसे पता है बाहर भी असुरक्षा का माहौल मिलेगा। पर उसे मुक्त हवा चाहिए। इसके लिए उसे कितना भी कष्ट क्यों न झेलना पड़े। इसी असुरक्षा के बीच कुछ पल की मुक्त हवा उसे ग्राह्य है। इसी में उसका सुख है। कात्यायनी के शब्दों में–

इस जन अरण्य से दूर/ मुझे उन फसलों तक जाने दो/
अपने यौवन को अमृत प्रदान करने के लिए/
जिसका रस निचोड़कर तुम पीते हो/ मुझे उन पौधों तक जाने दो/
जिनके कंठ फूटने को है/ उन विशाल सघन वृक्ष तक जाने दो मुझे/
जिसके पत्तों से फूटती मर्मर ध्वनि/ यहाँ सीधे मेरी आत्मा तक आ रही है/
ऐसे ही एक वृक्ष के तने से पीठ टिका कर/ कम से कम एक बार/
भले ही वह जिंदगी में आखिरी बार हो/ अपने मन से गीत गाना है मुझे/
जिसकी कभी किसी ने फरमाइश न की हो।[15]

स्त्री जी लेना चाहती है एक छोटा-सा क्षण, जो अपना हो सिर्फ अपना। न किसी का आदेश हो, न किसी का बंधन। कुछ समय के लिए वह अपने लिए जीना चाहती है। अपने मन से खुले आसमान के नीचे जी लेना चाहती है। इसके लिए उसे कोई भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े, वह इसके लिए तैयार है–

क्या कहूँ/ क्या होता है/ झूठी और संकीर्ण/ सुरक्षा तोड़/
असुरक्षा के सच में/ खड़े होने का सुख/
अथवा दूसरों का स्वर्ग छोड़/ अपने हाथों की/
मौत या नरक/ चुनने का स्फुरण और रोमांच।[16]

स्त्री खुद अपने हाथों अपनी अस्मिता और सार्थकता को तलाशती है। वह हर इतिहास और मिथक से बाहर आना चाहती है, जिसमें वह सदियों से कैद है। 'दुनिया के तमाम मिथकों ने औरत की पहचान एक ऐसी हस्ती के रूप में कराई है, जो सभ्यता के आदिपर्व से आज तक सारे फसाद की जड़ में किसी रूप में मौजूद होती है। मगर असंख्य अनकिए अपराधों के बोझ से झुकी हुई गर्दन अब उठने लगी है और इतिहास की अँधेरी सुरंग से निकलकर उस छद्म को चिथड़े करने लगी है जिसने उन्हें अपनी ही पहचान से बेदखल कर रखा है।'[17] इसलिए उसका रूप कठोर हो उठा है, सारे बंधन, सारे मिथकों को तोड़ने के लिए। अब उसकी नजरें एक सहनशील नारी की तरह नीचे झुकी नहीं रहतीं, सीधे झाँकती है। कात्यायनी के शब्दों में–

वन्य पशु/ डरते हैं आग से/ वे/ हमारी निर्भीक आँख से/
जो झाँकती हैं सीधे उनकी आँखों में।[18]

एक ओर जहाँ स्त्री डटकर पुरुष के सामने खड़ी है वहाँ दूसरी ओर अपने स्त्री होने को कभी नहीं नकारती। अपने स्त्री होने पर भी उसे गर्व है। अगर सिमन द बुवा का वाक्य 'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है' सही है तो यह भी सही है कि स्त्री पैदाइशी स्त्री होती है और किसी में इतनी ताकत नहीं है कि स्त्री को स्त्री बना सके। स्त्री के पास ऐसे बहुत सारे

गुण हैं, जो सहज प्राकृतिक हैं, कुदरत का वरदान हैं। न उसे कोई व्यक्ति बना सकता है न कोई युग। स्त्री का माँ बनने का सुख क्या और किसी को मिल सकता है? स्त्री की सर्जनशीलता की शक्ति जिसके आधार पर संसार खड़ा है, क्या इसे कोई बना सकता है? यह प्राकृतिक है। इस अर्थ में वह पुरुष से बड़ी है–

कितनी अच्छी लगती है/ माटी के अपने भीतर/
उमगते अंकुर की प्रतीति/ एक अनूठा सुख/
जिसे माटी सिर्फ माटी जानती है।[19]

स्त्रीवादी कविता एक ऐसी काव्यात्मक शक्ति को लेकर सामने आती है, जो तिलमिला देती है, आदमी को झकझोरकर रख देती है। कभी विस्फोट के साथ, तो कभी सजगता और चिंतनशीलता के साथ। वह अपना सिर ऊँचा किए किसी से अपने को नीचा न समझते हुए चलती है, एक अजस्र बहाव की तरह। यही है उसका सौंदर्यबोधीय परिदृश्य, जहाँ वह मानव को मानव की तरह जीने देने की माँग करती है और इसके लिए संघर्ष करती रहती है।

संदर्भ

1. रमेश कुंतल मेघ, साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, पृ॰ 125
2. संगीता गुप्ता, पत्रिका 'अक्षरा' जुलाई-सितंबर 1999 पृ॰ 55
3. मायाप्रसाद, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 78
4. शशि सहगल, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 48
5. रमणिका गुप्ता, पत्रिका 'वैचारिक संकलन' जनवरी 1997 पृ॰ 57
6. स्नेहमयी चौधरी, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 09
7. शकुंत माथुर, अभी और कुछ, पृ॰ 11
8. सुशीला टाकभौरे, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 51
9. सुषम वेदी, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 32
10. रमणिका गुप्ता, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 111
11. शकुंत माथुर, अभी और कुछ, पृ॰ 47
12. रमणिका गुप्ता, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 02
13. संगीता गुप्ता, पत्रिका 'वैचारिक संकलन' अगस्त 1998 पृ॰ 07
14. शकुंत माथुर, अभी और कुछ, पृ॰ 41
15. कात्यायनी, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ॰ 65
16. मंजूरानी सिंह, पत्रिका 'वैचारिक संकलन' जून 1998 पृ॰ 80
17. मायाप्रसाद, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 74
18. कात्यायनी, आधुनिक महिला लेखन (कविता), सं॰ रमणिका गुप्ता, पृ॰ 174
19. मायाप्रसाद, सुनो युधिष्ठिर

एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी) एवं प्रमुख, भाषा संकाय
राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला, पुणे 411 023
मो॰ 8600329383

हिंदी हाइकु में प्रेम का चित्रण

रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'

हाइकु के लिए कोई विषय प्रतिबंधित नहीं है। इस नाजुक विधा के लिए इतना तो जरूरी है कि इसमें काव्य के कोमलतम भावों की अभिव्यक्ति हो। काव्य होना तो अनिवार्य शर्त है। शॉर्टकट की आपाधापी में काव्य की जगह शब्दजाल लेता जा रहा है, जिसमें संवेदना का नितान्त अभाव है। कोमलतम भावनाओं की जगह सस्ते वाग्जाल को ही हाइकु समझ लिया गया है। हाइकु के पथ को कँटीला और पथरीला बनाने का यह अभियान पुराने और नए दोनों तरह के हाइकुकारों ने चलाया है। ढेर सारे संग्रहों का अवगाहन करने पर भी प्रेमविषयक हाइकु अल्पतम संख्या में नजर आएँगे। लेकिन नए-पुराने उन अच्छे और समर्थ हाइकुकारों की भी कमी नहीं है, जिनके काव्य में प्रेम के विभिन्न रूप नारी की गरिमा के साथ दृष्टिगोचर होते है। छिछली आशिकी से दूर प्रेम की अछूती अभिव्यक्ति इस विधा को और भी अधिक गरिमामयी बनाती है।

डॉ॰ भगवतशरण अग्रवाल हिंदी के पुरोधा हाइकुकारों में हैं। इनके हाइकु में यादों का माधुर्य है तो सराबोर करने वाली प्रेम की महक भी है–

यादें ही यादें / आँखें बंद की तो क्या! / चित्र उभरे।

टहुके मोर / याद आ गया कौन / इतनी भोर?

उस भोर के साथ महक भी लिपटी हुई हो तो प्रेम का रूप और निखर जाता है–

भोर के साथ / महक किसकी थी / पागल मन!

प्रेम की उदात्तता के साथ उसकी क्षणभंगुरता और अलभ्यता सदा विदित रही है, अतः कवि अपनी विवशता इस प्रकार प्रकट करता है–

रेत पै बस / लिखूँ मिटाऊँ नाम / और क्या करूँ?

डॉ॰ सुधा गुप्ता हिंदी हाइकु-जगत् का वह नाम है, जिनका हाइकु-सर्जन विविधता से परिपूर्ण है। नारी जीवन स्वयं में एक बड़ी विडंबना है, जिसके ऊपर क्रूर समाज के पहरे सदा ही लगे रहे हैं। लगता है पूरा जीवन ही रेहन रख दिया है। कहीं वह प्रेममय जीवन काँटों की खेती बन गया है, जो हर समय किसी न किसी रूप में चुभता और रुलाता रहता है–

साँसों पहरे / रेहन है जीवन / ज़ख़्म गहरे।

काँटों की खेती / जीवन जोत दिया / चुभे तो रोती?

इस विवशता के आगे कवयित्री ने हार नहीं मानी है। बिटिया के रूप में इन्होंने नए युग की नारी की जो कल्पना की है, वह उसे 'रेहन' के जीवन से बाहर निकलने का रास्ता सुझाती नजर आती है। कहीं वह काँधे पर झूलती और कूजन करती चिड़िया है, तो कहीं वह मशाल

है; जिसकी आँखों में चाँद और सूरज की रौशनी कैद है–

काँधे झूलती / कूज रही चिड़िया / नन्ही बिटिया।

आँखों में कैद / चाँद और सूरज / बेटी मशाल।

वह किसी के निरंकुश बंधन में बँधनेवाली नहीं है। अब कोई उसके पर कतरने की चेष्टा करे, यह संभव नहीं। वह तो अब चुनौती की मुद्रा में कहती है–

लो मैं तो उड़ी, / पर कतरो जानूँ / हाथ न आऊँ।

डॉ॰ रमाकांत श्रीवास्तव उसी प्रेम पात्र को मेहन्दी की गन्ध रचा-बसा पाते हैं-

रची-बसी हो / मेहँदी की गंध में / याद आती हो।

डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल ने प्यार को जीवन की ठिठुरन में जाड़े की धूप का खूबसूरत उपमान दिया है–'ठिठुरती मैं / सच तुम्हारा प्यार / जाड़े की धूप।'

फिर भी जीवन की निष्ठुरता कहाँ कम हो पाती है! जीवन में जो ठेस मिलती है, जो घाव मिलते हैं, वे कभी नहीं भर पाते–'कभी न भरे / घाव जो तूने दिए / आज भी हरे।'

डॉ॰ भावना कुँअर के हाइकुकाव्य में प्रेम के विभिन्न रूप नजर आते हैं। कही अनुरागमय विविधवर्णी चित्र हैं। कहीं प्यार की हल्की-सी फुहार है, जो मुरझाए मन को अभिसिंचित करती है, तो कहीं सौंदर्य से आपूरित वह गुलाबी रूप है, जिसके होंठों पर चाँदी-सी उज्ज्वल धूप बिखरी है–

वो कुछ रंग / जो दिए थे तुमने / लिये हूँ संग।

प्यार-फुहार / मुरझाए मन में / लाई बहार।

गुलाबी रूप / होठों पर लिपटी / चाँदी-सी धूप।

प्रेम में मिलन के क्षणों का बहुत ही मर्मस्पर्शी रूप है, बंजर भूमि में फूलों के खिलने की तरह। ठीक दूसरी ओर वियोग के क्षणों की व्याकुलता और प्रिय से न मिल पाने की विवशता इनके हाइकु में रस का मधुरिम संचार करके उनको काव्यात्मक ऊँचाई प्रदान करती है–

तेरा मिलना / ज्यों बंजर भूमि में / फूल खिलना।

सात सागर / कर ना पाऊँ पार / जीना दुश्वार।

डॉ॰ हरदीप कौर संधु के हाइकु में प्रेम का हर उदात्त रूप नवीनता के साथ मुखरित हुआ है। प्रिय का जुड़ाव हर साँस से ऐसा हुआ कि उसकी सुधियाँ अनायास चली आईं–

भूल न पाया / जब-जब साँस ली / तू याद आया।

हिंदी हाइकु में बिटिया से जुड़े हाइकु का अभाव रहा है। डॉ॰ हरदीप कौर संधु ने इस विषय पर उत्कृष्ट हाइकु रचे हैं। इनके ये हाइकु देखिए, जिनमें बेटी की बिदाई का साम्य डार से बिछुड़ी कुंज से किया गया है। कहीं बिटिया को फूल की पँखुरी पर ओस का मोती बताया है, तो कहीं आँचल में खिली चाँदनी बताया है–

गोद में नन्ही / माँ के आँचल में ज्यों / खिली चाँदनी।

बिटिया होती / फूल-पंखरियों पर / ओस के मोती।

इस नई उद्भावना ने नारी के इस पावन स्वरूप को नई ऊँचाई दी है। इसका पूर्ववर्ती

 ISSN 0975-735X

हाइकुकारों में नितांत अभाव रहा है। **रचना श्रीवास्तव** के हाइकु नारी की व्यथा की जीती-जागती इबारत बन गए हैं। यहाँ नारी की चिट्ठी केवल आँसुओं से लिखी गई है, जिसको खोलने से हथेलियाँ भी नम हो जाती हैं। यह अकेला हाइकु 'अबला जीवन...आँखों में पानी' की अभिव्यक्ति से बहुत ऊपर निकल जाता है–'आँसू से लिखी / वह चिट्ठी जब खोली / भीगी हथेली।'

प्रेम का स्पर्श इतना मादक होता है कि शांत झील भी उससे अछूती नहीं रह सकती। झील में डूबते चाँद और बाहों में समाए प्रिय का साम्य अद्‌भुत ही नहीं, अनुराग की छटा से भी आर्द्र हो गया है–

तुमने छुआ / शांत झील में उठी / तीव्र लहर।
झील में चाँद / मेरी बाहों में तुम / दोनों लजाएँ।

रचना का यही प्रेम अन्य रूप में भी प्रकट होता है और वह है भाई के प्रति अत्यन्त गहन और सात्विक प्रेम। प्रेम का वह चाँद सदा बहन के अंबर में छाया रहे। विपदा आने पर भी वह चाँद कभी न डूबे। रचना श्रीवास्तव ने 17 वर्णों में भाई के प्रति सारी शुभकामनाएँ मोतियों की तरह पिरो दी हैं–'भाई है चाँद / बहन के अम्बर का / कभी न डूबे।'

डॉ॰ जेन्नी शबनम ने प्रेम के सफल और असफल दोनों रूपों को वाणी दी है। एक ओर प्यार को लुटाने वाली माँ है, जो प्यार लुटाने पर भी प्यार से वंचित है। उसे प्यार के स्थान पर केवल पीर मिली है–'प्यार लुटाती / प्यार को तरसती / पीर लिए माँ।'

प्रेम का बंधन इतना अजीब और दुर्निवार है कि वह रस्सी या साँकल के रूप में कहीं नजर नहीं आता पर फिर भी अटूट है, प्रिय भी है–'प्रेम बंधन / न रस्सी न साँकल / पर अटूट।'

बहुत सारे बंधन होने पर भी प्रेम किसी पिंजरे में बंद नहीं होता। प्रेम की राह में सिर्फ काँटे हैं। यह प्रीत मन को जीभर रुलाती-भरमाती है, पर भी अटूट है–

परों को काटा / पिंजड़े में जकड़ा / मन न रुका!
प्रीत रुलाए / मन को भरमाए / पर टूटे न।
प्रीत की राह / बस काँटे ही काँटे / पर चुभें न।

कमला निखुर्पा ने प्रेम की कोमलता को हाइकु की कोमलकान्त पदावली में बाँधा है। कहीं वह प्रेम यादों की गगरिया बनकर छलक पड़ता है, जो सारे जीवन को सराबोर कर देता है। समर्पण का यह आत्मिक और एकाग्र भाव प्रेम में सचमुच अलभ्य है, वंदनीय है–

जाऊँगी कहाँ / कौन मेरा अपना / तुम्हारे सिवा
छलक गई / यादों की गगरिया / भीगा जीवन।

दूसरी ओर नारी की कोमलता को चुनौतियों की आँच जलाने का प्रयास करती रही। आज की नारी अडिग रहकर मुकाबला करती रही और इन चुनौतियों की अग्निपरीक्षा में तपकर कुंदन-सी खरी सिद्ध हुई। नेह-भरे मन में प्रीत की डोर पूरी दृढ़ता से बँधी रही–

जलाती रही / चुनौतियों की आँच / कुंदन हुई
बँधी रहेगी / नेह-भरे मन में / प्रीत की डोर।

भाई के प्रति कवयित्री का अनुराग अद्‌भुत है। वह भाई के प्यार को किसी भी जन्म में भुलाने को तैयार नहीं है। उसे भाई की दी हर भेंट हृदय से स्वीकार है–

भाई भेजे जो / नेह-भरी भेंट तो / माथे लगाऊँ।
इस जनम / ना अगले जनम / मैं भुला पाऊँ।

डॉ॰ ज्योत्स्ना शर्मा के हाइकु में प्रेम की सादगी और पावनता के साथ तादात्म्य के अनूठे दर्शन होते हैं–

बहुत प्यारा / वह थाम लेना वहाँ / हाथ तुम्हारा!
निहारूँ तुम्हें / विलग ही कहाँ जो / पुकारूँ तुम्हें।
न आँसू तुम / कजरा भी नहीं हो / नैनों में बसे।

केवल नाम लेने भर से ही मन-प्राण को प्रेम का अव्यक्त सौरभ भिगो देता है–

जैसे गुलाब / महकती रही मैं / तेरे नाम से।
जरा सँभाल! / जीना मुश्किल करे / तेरा ख़याल।

भैया का प्यार तो स्नेह-सरोवर की तरह है, जिसे भुला पाना अत्यन्त कठिन है। जब वह भैया राखी पर दूर बैठा हो तो बहन की आँखों से लरजते आँसू मोती बनकर पलकों पर आ विराजते हैं–

भुला न सकी / स्नेह-सर अपार / भैया का प्यार।
राखी पर दूर / एक मोती पिरोया / आँसू भिगोया।

बचपन की सहेलियों की प्रेमानुभूति भी भुलाए नहीं भूलती-

थोड़ा झगड़ा / ढेर सारा प्यार था / कैसे मैं भूलूँ!

ज्योत्स्ना प्रदीप बहुत पहले से हाइकु रच रही हैं। इनके हाइकु नवीनबोध के परिचायक हैं। इंसान को जो भी मिलता है, वह सबको बाँटकर खुश हो लेता है, लेकिन ज्योत्स्ना प्रदीप ऐसा नहीं करती। वह उन्हें अपने पास ही सहेजकर रख लेती है। काँटे तो किसी को नहीं बाँटे जाते। प्रेम का यह सात्त्विक भाव इस हाइकु को ऊँचाई प्रदान करता है–

सहेजे मैने / तेरे दिए वह काँटे / कभी ना बाँटे।

क्योंकि मन की उर्वरा भूमि में जो प्रेम-बीज बोया था, वह आज भी हरा है।

मन उर्वरा / बोया बीज प्रेम का / आज है हरा।

नारी का जीवन चाहे संघर्ष का हो चाहे प्रेम का, वह मन को हर स्थिति में मथता है, पीड़ा हर कदम पर उसके साथ रहती है। उसे चैन नहीं मिलता। वह चाहे सीता बन जाए चाहे राधा। इन दो प्रतीकों में ज्योत्स्ना प्रदीप ने पूरा जीवन समाहित कर दिया है–

जीवन बीता / वह कभी बनी राधा / तो कभी सीता।

प्रियंका गुप्ता ने प्रेम को नदी माना है। यह नदी जलाप्लावित है तब भी प्यास नहीं मिटा पाती; क्योंकि जब अवगाहन किया जाता है, तो पता चलता है कि यह नदी आग से भरी थी। हाइकु जैसे अल्पतम शब्दों में प्रेम की ऐसी विशद व्याख्या दुर्लभ है तो साथ ही हाइकु की सामर्थ्य का बोध कराती है–

प्रेम की नदी / सामने ही थी बही / प्यासी ही रही।

 ISSN 0975-735X

प्रेम की नदी / पार किया तो जाना / आग से भरी।

प्रियतम का न होना, जीवन के अधूरेपन को बढ़ाता है। **प्रियंका** सहज भाव से कह उठती है–अधूरा लगे / मन का हर हिस्सा / जो तू न रहे।

हरकीरत 'हीर' के हाइकु में प्रेम मीठे शब्दों से दिलों में बहता दरिया है तो कभी गीली-सी रेत पर दर्द की करवटें है, तो कभी गर्म तवे पर छनछना रही बूँदें हैं। कभी जीवन जीना ही कठिन हो जाता है, क्योंकि पेड़ से मुहब्बत के पत्ते झड़ जाएँ तो क्या बचता है–

मीठे शब्दों से / है बहता दिलों में / प्रेम-दरिया।

गीली-सी रेत / दर्द की कराहटें / कैसी ये प्रीत?

गर्म तवे-सी / छनछना रही थी / बूँदें प्रेम की।

झड़े तरु से / मुहब्बतों के पत्ते / जीऊँ मैं कैसे?

शशि पुरवार के लिए प्रेम जीवन का शृंगार है, कभी मन की पीर का शब्दों की अँगीठी पर जन्मा गीत है, तो कभी प्रेमाग्नि के कारण पतझर में झरते पत्तों की तरह झरते आँसू हैं–

दिल के तार / जीवन का शृंगार / तुम्हारा प्यार।

मन की पीर / शब्दों की अंगीठी से / जन्मे है गीत।

पतझर से / झरते है नयन / प्रेम-अगन

हाइकु में बहुत से रचनाकारों ने माँ के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। कहीं वह बाती-सी जलनेवाली है तो, कहीं माँ के आँगन में फूल बनकर खिलने की आकांक्षा है–

डॉ॰ सतीशराज पुष्करणा–बाती-सी जली / हर दिन-रात को / हमारी माँ थी।

सुनीता अग्रवाल–शूल नहीं माँ / बन फूल खिलूँगी / तेरे अँगना।

वहीं **सुशीला श्योराण** खिलौने से बढ़कर माँ के सीने से लगने की मासूम-सी अभिलाषा को अधिक महत्त्व देती हैं–'खिलौने नहीं / सीने से लगा लो माँ / खिल उठूँगा।'

अनिता ललित यादों को महत्त्वपूर्ण मानती हैं। यादें कभी किसी को अकेले नहीं होने देती। इसमें वे पराए भी शामिल हैं, जिन्होंने प्रेम की राह को सदा निष्कंटक बनाने का प्रयास किया है–

अकेले कहाँ? / तेरी यादों के मेले / घेरे हैं सदा!

कैसे भूलेंगे / परायों ने प्रेम से / राह बुहारी!

प्रेम में चंदा को आमंत्रित किया गया है ताकि वह अपनी शीतल चाँदनी मन-आँगन में फैला सके–'आओ न चंदा! / शीतल चाँदनी से / करो उजाला।'

प्रेमपूर्ण रिश्तों को जमाने की हवा का डर सदा बना रहता है। शुष्क हवा सदा रिश्तों को ख़त्म करने का प्रयास करती है, जिसकी चिंता कवयित्री के मन में एक कसक पैदा करती है–

केसी ये हवा / जो उड़ा दे, सुखाए / रिश्तों की नमी।

नारी जीवन की पीड़ा, उसका संघर्ष, उसके सपनों की उड़ान और आँखों की नमी के महत्त्व पर अच्छे हाइकु लिखे गए हैं–

अनुपमा त्रिपाठी–अथाह पीड़ा / बस मौन ही रहूँ / किससे कहूँ?

कृष्णा वर्मा–आँखों की नमी / बंजर ना होने दे / रिश्तों की जमीं।

सीमा स्मृति–खोजती पंख / छू लेती आसमान / मेरी उड़ान।

मुमताज टी॰एच॰ खान फुर्सत के पल और उन पलों में खुशियों की तलाश करती हैं–

ढूँढ रहे हैं / फुर्सत के वे पल / थे पास कल।

मन के पंछी / कर बसेरा वहाँ / खुशियाँ जहाँ।

वहीं **जया नर्गिस** सच कहने की शक्ति और सच कहकर स्वयं के अस्तित्वबोध को बचाए रखती है। आज की नारी के लिए यह कोई कम उपलब्धि नहीं है–

सच कहके / दु:ख सहके हम / जिंदा क्या कम

यह शक्ति तभी बरकरार रहती है जब जीवन में ये महकाने वाले पल भी हों–

तूने छूकर / मुझको महकाया / दिल खिलाया

शैल सक्सेना ने प्रेम की महक को इस प्रकार अभिव्यक्त किया–'गूँथीं थी माला / महकी हथेलियाँ / अनायास ही।'

रेखा रोहतगी ने प्रेमी के सामीप्य को बहुत बड़ा माना है–'तू मेरे पास / रौशनी में नहाई/ ये काइनात।'

वहीं **तुहिना रंजन** प्रेम को अविरल धारा तो मानती ही है वह उसे ऐसी अग्नि भी मानती है, जो सब भेदों को भस्मसात् करने का सामर्थ्य भी रखती है। साथ ही वह इस तथ्य को भी जानती है कि टूटी नौका से कभी नदी नहीं पार की जा सकती है। जीवन का अधूरापन ही टूटी नौका है–

प्रेम धारा तो / अविरल चञ्चल / आदि न अंत।

प्रेम-अगन / सब भेद जलाती / राह दिखाती।

जीवन-नदी / कैसे करूँगी पार / टूटी है नौका।

डॉ॰ कुँवर दिनेश सिंह हाइकु-क्षेत्र का एक विशिष्ट नाम है। प्रेम के विप्रलंभ रूप को मेघों के नाद ने और अधिक बढ़ाया है। कहीं मन की अधीरता को भटकती समीर से रूपायित किया है–

मेघों का नाद / हृदय को बींधती / प्रिय की याद।

मन अधीर / दर-दर भटके मौन समीर।

प्रेम की इसी अधीरता को चाँद के स्पर्श के व्याज से **डॉ॰ मधु चतुर्वेदी** ने भी बखूबी चित्रित किया है–चाँद ने छुआ / सागर-सा धीर भी / अधीर हुआ।

कृष्णा वर्मा और भावना सक्सेना ने नारी की बेबसी को अत्यंत घरेलू आत्मीयता से अभिव्यक्ति किया है, साथ ही नारी को चिरकाल से स्नेह का अवलंब और नए आयाम माना है–बेबसी पीती / दुखों को धोए, गूँधे / आटे में दर्द।

कृष्णा वर्मा–चिरकाल से / जीवन अवलंब / नारी का स्नेह।

भावना सक्सेना–नए आयाम / जीवन महकता / संग तुम्हारे।

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा माँ की सुधियों को किसी त्योहार से कम नहीं मानती। साथ ही वैधव्य की कारुणिक पीड़ा को सांकेतिक शब्दावली (कोरा आँचल, धूल, दागी) से व्यक्त

 ISSN 0975-735X

करती हैं। नारी का यह रूप समाज की सदैव प्रताड़ना झेलता रहा है। हाइकु की आँख से यह भी अछूता नहीं रहा–

आँखें छलकें / सुधियों में आए माँ / दिन-त्योहार।
आँचल कोरा / धूल कहीं से उड़ी, / दागी विधवा।

ऋता शेखर 'मधु' ने प्रेम के फूलों को चुना तो काँटे भी स्वत: भेंट में मिल गए और आँचल भर गया। व्यथा के पीछे ही जीवन की कथा चलती रहती है। प्रेम के प्रतीक के लिए धरा और गगन का चयन बहुत सार्थक है। दर्द की गंगोत्री का उपमान भी बहुत सार्थक है। इस बाढ़ को रोकने के लिए पलकें बाँध बन जाती हैं–

फूलों को चुना / काँटे खुद ही मिले / भरा आँचल।
व्यथा के पीछे / तैयार हो रही है / जीवन कथा।
कैसे मिलेंगे / धरा और गगन / मौन क्षितिज।
अश्रु की बाढ़ / पलकें बनी बाँध / दर्द गंगोत्री।

शशि पाधा के हाइकु में सागर पार बसी बहन याद के सहारे जुड़ी है तो मन की पर्तों को भी उद्घाटित किया गया है। कहीं काँटों में हँसता गुलाब मन है तो कहीं मन का ताप बदली बनकर उड़ता है और अपनी उदात्तता से ऊर्ध्वगामी हो जाता है, कभी बदली बनकर बरस जाता है–

सागर पार / बसी मेरी बहना / यादें आधार।
गुलाब-मन / काँटों में भी हँसना / यही जीवन।
मन का ताप / बदली बन उड़ा / छुआ आकाश।
सिहरी काँपी / बदली-सी वेदना / आज बरसी।

डॉ॰ अनीता कपूर के हाइकु में प्रेम सन्नाटे की स्याही से लिखा दर्द का गीत बनता है, तो कभी वह कच्चे धागे की तरह उलझता है–

चुप्पी ने लिखे / सन्नाटे की स्याही से / दर्द के गीत।
कच्चे धागे-सा / उलझता ही गया / निगोड़ा प्रेम।

कमलेश भट्ट 'कमल' प्रेम की इस सादगी को सहज रूप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं–आपसे मिले / तो लगा क्या मिलना / किसी और से!

कहना न होगा कि हाइकु के क्षेत्र में बहुत से रचनाकारों ने प्रेम के महत्त्व को बहुत शिद्दत से रूपायित किया है। इसमें मिलन के मधुरिम पलों से लेकर बिछोह की व्याकुलता तो है ही साथ ही प्रेम के विभिन्न रूपों की बानगी भी मन को मोह लेती है। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रेम के क्षेत्र की मासूमियता और पावनता में हिंदी हाइकु ने इंद्रधनुषी रंग भरे हैं।

नारी के विभिन्न रूप, प्रेम की आकंठ व्याकुलता, टूटते सपनों और हाथ छूटने की विडंबना एवं तड़प के लिए मेरे (**रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'**) हाइकु भी देखे जा सकते हैं–

तन चंदन / मन हरसिंगार / झरता प्यार।
आँसुओं-भरी / कोठरियाँ तड़पें / जाएँ भी कहाँ?
पाखी न पाती / मिलेंगे कैसे अब / याद रुलाती।

सपना टूटा / ज्यों छूने से पहले / कोई हो रूठा।
बची निशानी / तुम्हारे आँसुओं से / भीगा रूमाल।
सपना टूटा / तेरा हाथ जो गहा / हमसे छूटा।

प्रेम का यह विस्तार और वैविध्य यहीं नहीं रुकता और भी बहुत से रचनाकार हैं, जिन्होंने अपनी कलम से मार्मिक हाइकु सृजित किए हैं। **डॉ॰ कविता भट्ट** ने हाइकु बहुत कम लिखे हैं; लेकिन जितने भी लिखे हैं, उनमें प्रेमानुभूति की गहनता एवं रसात्मकता सहृदय को स्पर्श करने वाली है–

जब भी रोया / विकल मन मेरा / तुमको पाया।
निर्मल बहे / पहाड़ी झरने-सा / प्रेम तुम्हारा।
गूँज रही है / मन-नीरव घाटी / प्रेम-बाँसुरी।
प्रेम-अगन / अनोखे आलिंगन / बर्फीली सर्दी।

हिंदी हाइकु में विशिष्ट शोध करनेवाली **डॉ॰ पूर्वा शर्मा** के हाइकु–

नेह तुम्हारा / शहरी ट्रैफिक-सा / थमता नहीं।
तुम ठहरे/मेरी परछाई-से /हाथ न आते।

लेख की परिधि में सभी का समावेश संभव नहीं है। फिर भी इतना जरूर कहूँगा कि सदी के प्रथम दशक के अंतिम वर्ष से अब तक ऐसे कई हाइकुकार सामने आए हैं, जिनका सौंदर्यबोध और अनुभूति पूर्ववर्ती रचनाकारों की अपेक्षा बहुत आशान्वित करती है।

सी 1702, **जे एम अरोमा**
सेक्टर 75, **नोएडा (उ॰प्र॰)** 201301
मो॰ 09313727493

 ISSN 0975-735X

समकालीन राजनीति का सच 'कैसी आगी लगाई' के संदर्भ में

मायादेवी, शोधार्थी
डॉ॰ मृदुल जोशी, शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आजादी से पूर्व राजनीति का एकमात्र उद्देश्य लोगों में जागरूकता पैदा कर अँग्रेजों की दासता से मुक्ति दिलाकर स्वतंत्रता हासिल करना था, लेकिन स्वतंत्रता मिलने के बाद बदली हुई परिस्थितयों में राजनीति का स्वरूप ही बदल गया, जिसका परिणाम कुछ यूँ हुआ कि सर्वजन हिताय की जगह लोगों ने अपने व्यक्तिगत हितों पर ध्यान देना शुरू कर दिया।

इसी प्रकार साहित्य पर समाज और राजनीति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। साहित्य में राजनीति को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, लेकिन राजनीति से मुक्त साहित्य की रचना करना बड़ा जोखिम भरा काम है, क्योंकि साहित्य समाज में परिवर्तन की सशक्त अभिव्यक्ति है। इसलिए साहित्य पर समकालीन राजनीति और विचारधारा का प्रभाव निश्चित रूप से दिखाई देता है। यदि आप किसी समय-विशेष के साहित्य को समझना चाहते हैं तो आपको उस दौर की राजनीति और विचारधारा को पहले समझना होगा। अधिकांश विद्वान राजनीति को समाजसेवा का माध्यम मानते हैं, लेकिन ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं है, जिनकी नजरों में राजनीति समाजसेवा नहीं, बल्कि एक पेशा है।

राजनीति को लेकर एक दृष्टिकोण साम्यवादी और मार्क्सवादी विचारक मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन का भी है। कई ऐसे साहित्यकार भी हैं, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चीजों को देखते हैं, इनके अनुसार राजनीति समाज में होनेवाले वर्गसंघर्ष की जड़ है। सांप्रदायिकता, जातिवाद, नस्लभेद भी इसी राजनीति की उपज हैं, जिसे भोगने के लिए हर वह आम और खास आदमी मजबूर है, जिसका राजनीति से सीधे-सीधे कोई मतलब ही नहीं है।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार राजनीति के चलते व्यक्ति सत्ता के नशे में चूर हो अपराध के गर्त में धँसता चला जाता है और उसे अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए हत्याएँ, यौनाचार, व्याभिचार जैसे वे सभी काम करने अथवा करवाने पड़ते हैं, जिन्हें वो सार्वजनिक मंचों पर अनैतिक बताते हुए आम जनमानस तक को ऐसे कामों से दूर रहने की सलाह देता है।

राजनीति में व्याप्त इन्हीं अनैतिकताओं ने बीसवीं शताब्दी के प्रमुख और चर्चित लेखक असगर वजाहत को 'कैसी आगी लगाई' जैसा उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित किया। ऐसा भी नहीं है कि वजाहत साहब ने सिर्फ इसी उपन्यास में राजनीति को बेपर्दा किया हो, इस उपन्यास के अलावा भी उन्होंने अपनी कहानियों व नाटकों के माध्यम से राजनीति और राजनीतिज्ञों की हकीकत से दुनिया को रूबरू करवाया है।

असगर वजाहत एक स्वतंत्र लेखक हैं। उन्होंने स्वयं एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें गरीबी कम हो, असमानता के खात्मे के साथ साथ लोग जागरूक और शिक्षित हों।[1]

असगर वजाहत के इस उपन्यास से उनकी सोच बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस गरीबी, भ्रष्टचार, अपराध और हत्याओं को रोकने के नाम पर राजनीति की जाती है, उसका दूर-दूर तक पालन नहीं होता। यही सत्ता पाने के इच्छुक लोग सत्ता हासिल करने की खातिर चुनाव के समय में जनता को पैसे, शराब व अन्य उपहारों का लालच देकर लालची बनाने के एकसूत्रीय अभियान में जुटे रहते हैं। नेताओं का फंडा बिल्कुल साफ है कि जो जितने ज्यादा वोट एकत्र करेगा उसका उतना ज्यादा फायदा होगा और यही फायदा भ्रष्टाचार की नींव है। इन सब स्थितियों को लेखक ने समझा और फिर सत्ता पाने के लिए की जानेवाली राजनीति और उसकी असलियत को जनता के समक्ष अपने इस उपन्यास के माध्यम से उद्घाटित किया। 'जनता को सीधे-सीधे संस्कार दिए जा रहे हैं' बाप बड़ा न भइया सब से बड़ा रुपैया'...हत्याएँ कीजिए पैसा...अपहरण कीजिए पैसा...जनता में लालच के संस्कार बढ़ते हैं।'[2]

लेखक ने उपन्यास के माध्यम से लेखक ने यह अवगत करवाने की कोशिश की है कि कैसे भ्रष्टाचार का रोना रोने और उसे शिद्दत से रोकने की कोशिशें करने का दावा करनेवाली सरकार और राजनीतिक पार्टियाँ ही सत्ता के लोभ में भ्रष्टाचार को सार्वजनिक मान्यता देती हैं–'हमारी सरकार ने ही यह तय किया है कि रुपया, पैसा, धन, दौलत बड़ी चीजें हैं। चाहे वोट देने से मिले, चाहे वोट देने के बाद मिले। भ्रष्टाचार का रोना दिखावा नहीं तो क्या है–जबकि सरकार ही प्रत्यक्ष रूप से उसे बढ़ावा दे रही है। वे प्रांत जहाँ हमारी सरकारें हैं, वहाँ केंद्र पैसा देगा, जहाँ नहीं हैं वहाँ नहीं देगा। मतलब नियम कोई नहीं है। हमारे साथ हो तो फायदे में रहोगे नहीं हो तो नुकसान उठाओ।'[3]

'कैसी आगी लगाई' उपन्यास के माध्यम से लेखक ने यह बताया कि कैसे राजनेता अपने निहित स्वार्थ के लिए सर्वसमाज के बारे में सोचना छोड़कर सिर्फ उन राज्यों व क्षेत्रों के विकास को प्राथमिकता देते हैं, जहाँ उनकी अपनी पार्टी की सरकारें हैं। लेखक ने उपन्यास के माध्यम से यह सवाल उठाया है कि क्षेत्र-विशेष को लाभ पहुँचाना क्या भ्रष्टाचार नहीं है, क्या यह भेदभाव या असमानता नहीं है, क्या यह भेदभाववादी राजनीति नहीं है। असगर वजाहत का मानना है कि मीडिया और संचार के माध्यम लोकतंत्र को जागरूक बनाते हैं। लेकिन मीडिया की भाषा राजनीति की भाषा है। केंद्र में सत्तासीन प्रभावशाली व्यक्ति और उसकी नीतियों का विरोध करने की हिमाकत अब विरले ही करते हैं या सीधे सपाट शब्दों में कहें तो सच को लिखने का हक किसी को नहीं है। लेखक ने स्वयं इसको अनुभव किया है कि शब्दों पर जब राजनीति हावी हो जाती है, तो शब्द शब्द नहीं रहते, उनका अर्थ स्वयं निरर्थक हो जाता है। वजाहत जी को खुद ऐसा लगता है कि वे राजनीति का शिकार हो गए हैं, लेखक राजनीतिक मंच से अपनी बात कह नहीं सकता और जब लेखक ही जो कहना चाहता है कह नहीं सकता फिर किसी दूसरे की तो बात ही क्या–'लेखक यदि इस समाज-व्यवस्था के समानांतर कोई व्यवस्था देना चाहता है तो कहाँ दे, कौनसा ऐसा मंच है। क्या राजनीतिक मंच पर हम लेखक अपनी बात कह सकते हैं, हरगिज नहीं। फिर क्या मीडिया, टेलीविजन, रेडियो, पत्र-पत्रिकाएँ

 ISSN 0975-735X

हमारी चिंताओं में शामिल होंगे, शायद नहीं, क्योंकि उनका काम हमारी चिंताओं में शामिल होना नहीं है, बल्कि अपनी तरह का व्यापार करना है।[4]

'कैसी आगी लगाई' के माध्यम से लेखक ने यह बताने की कोशिश की है कि कैसे राजनीतिज्ञ विश्वविद्यालयों को अपनी राजनीति के लिए इस्तेमाल करते हैं, वहाँ राजनीति का क ख ग सीखते समय ही छात्र-छात्राएँ पैसे और रुतबे को लेकर इस कदर सम्मोहित हो जाते हैं कि राजनीति का पहला अध्याय पढ़ने के बाद से ही वे राजनीति को सेवाभाव कम और पेशा ज्यादा समझने लगते हैं। विश्वविद्यालय से ही छात्रों को सांप्रदायिकता के रंग में कुछ यूँ रंग दिया जाता है कि जब वे पढ़ाई पूरी कर विश्वविद्यालय से बाहर निकलते हैं उनके मन में राजनीति को लेकर फंडे बिल्कुल साफ हो जाते हैं। ये फंडे देशसेवा के लिए नहीं बल्कि लोगों को धर्म, भाषा और जाति में बाँटकर अपना उल्लू सीधा करने में उन्हें इस कदर पारंगत बना देते हैं कि राजनीति सही ढर्रे पर कभी आ ही नहीं पाती।[5]

वजाहत जी का ये उपन्यास लोगों को ये समझाने में शत-प्रतिशत कामयाब रहा कि सांप्रदायिक दंगों से राजनेताओं का कुछ भी नहीं बिगड़ता है, बिगड़ता सिर्फ आमजन का है। उसकी न केवल जिंदगी में उथल-पुथल मच जाती है, बल्कि जान-माल का नुकसान भी उन्हें ही उठाना पड़ता है। लेखक ने बड़ी साफगोई से यह बताया है कि कैसे राजनीतिज्ञों द्वारा करवाए गए सांप्रदायिक दंगों से सांप्रदायिकता का जहर लोगों के दिलो-दिमाग पर हावी हो जाता है–'दंगाई दो होटलों में आग लगाकर और कुछ दुकानें लूटकर लड़कों को आता देखकर भाग गए वहाँ सिर्फ जलती दुकानें और रोते चिल्लाते शिकायत करते लोग थे, इस पर किसी ने कहा। नहीं नहीं सामान बर्बाद न करो।'[6]

वजाहत जी ने छात्र-राजनीति और सांप्रदायिकता को अपने साहित्य में इस हद तक स्थान दिया है कि यदि नीति-नियंता उस पर ध्यान दें, तो शिक्षा के इन मंदिरों को सांप्रदायिकता की आग में झोंकने से बचाया जा सकता है। ऐसा करने से राजनीतिज्ञों की अपनी दुकानदारी ठप्प पड़ जाएगी। शायद इसलिए उस पर आज तक गौर नहीं किया गया। वजाहत साहब ने 'कैसी आगी लगाई' उपन्यास में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का उल्लेख करते हुए बताया कि कैसे उन दिनों वहाँ छात्र-राजनीति पर सांप्रदायिकता इस कदर हावी थी कि छात्र वहाँ रात-रात भर दंगों पर ही बहस करते थे। इन छात्रों में जहाँ कुछ अल्लाह पर विश्वास करने के पक्षधर थे, वहीं कुछ इस बात से सहमत नहीं थे। कम्युनिस्टों का मानना था कि दंगों के मूल में राजनीति है और इसमें प्रशासन की भी सहमति है। खुद लेखक ने उस दौरान जो हालात देखे उससे उन्हें भी विश्वास हो गया कि प्रशासन की भी इन दंगों में रुचि थी।[7]

लेखक ने अपने उपन्यास में इस बात को इंगित किया है कि जब सत्ता में एक ही पार्टी की सरकार होती है तो उसे वर्ग विभेद नहीं करना चाहिए। इन परिस्थितियों में सरकार को समानता से सबके हितों को पोषित करना चाहिए। ये दंगे-फसाद होने से सिर्फ सामाजिक ताना-बाना ही छिन्न-भिन्न नहीं होता, जान-माल का भी नुकसान आमजन को उठाना पड़ता है और उसकी भरपाई कोई मुआवजा नहीं कर सकता। समाज में इस सबके चलते पहले से ही मौजूद वर्ग-विभेद, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर की खाई और चौड़ी हो जाती है। ऐसे में ही कम्युनिज्म

और मार्क्सवाद जैसी विचारधाराओं का जन्म होता है, जिसका वर्णन वजाहत साहब ने अपने इस उपन्यास में बड़ी शिद्दत के साथ किया है। उपन्यास के एक पात्र अहमद के पिता राजा साहब राजनीति की इन सब बारीकियों को बखूबी समझते थे। वे जानते थे कि जब तक समाज मे समानता नहीं होगी प्रजातंत्र की कल्पना, कल्पना मात्र ही रहेगी। राजा साहब के माध्यम से लेखक का मन्तव्य स्पष्ट है, 'वे फिर कहने लगे। 'एडमिनिस्ट्रेशन' की सबसे छोटी लेकिन बुनियादी शर्त है कि लॉ और आर्डर मेनटेन रहे। ये 'इडियट्स' इतना तक नहीं कर पाते। क्या हक है इन्हें गद्दियों से चिपके रहने का।'[8]

लेखक ने इस उपन्यास में लोकतंत्र की बात ही नहीं की बल्कि आजादी से पहले के सत्ता-संघर्ष को भी इंगित किया है। उन्हें लगता है कि सत्ता का मद जब किसी इंसान के सर चढ़ता है तो उसे अपने-पराए में कोई फर्क नहीं दिखता, ये वह समय होता है, जब वह किसी भी कीमत पर सत्ता हासिल कर लेना चाहता है, इसके लिए चाहे उसे किसी अपने की हत्या ही क्यों न करनी अथवा करवानी पड़े। इस बात को सिद्ध करने के लिए यहाँ वजाहत साहब ने राजा साहब के चाचा को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है, जिन्होंने सत्ता के लोभ में अपने सगे भाई को ही जहर देकर मरवा दिया।[9]

लेखक ने माना है कि उच्चशिक्षा के केंद्र विश्वविद्यालयों में पढ़ने आनेवाले छात्रों को संस्कारी बनाए जाने के साथ-साथ उन्हें मानवीयता का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। लेकिन उन्हें विश्वविद्यालयों में राजनीति का ऐसा पाठ पढ़ाया जाता है कि वे देश और समाज का भला सोचने की जगह पद-प्रतिष्ठा और झूठ के आडंबर में जीने लगते हैं और इस सबकी पूर्ति के लिए वे साम, दाम, दंड, भेद सारे पैंतरे आजमाने लगते हैं। विश्वविद्यालयों में सर्वधर्म समभाव का पाठ पढ़ाए जाने की जगह छात्रों को सांप्रदायिकता के रंग में रंग दिया जाता है, जिसका खामियाजा बाद में पूरे समाज को भुगतना पड़ता है। न जाने कितने अपराध पाप व अनैतिक कार्य छात्र-नेता अपनी साख बचाने के लिए करते हैं। लेखक ने यह भी बताया है कि कैसे पाकिस्तान और हिंदुस्तान को बाँटने में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के बड़े पदों पर आसीन लोगों और छात्रों ने भरपूर योगदान दिया। इस उपन्यास में लेखक असगर वजाहत रजी और लालसिंह का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि दोनों ही सी॰पी॰एम॰ के छात्र नेता हैं। पार्टी का सिद्धांत दोनों के लिए एक ही है बावजूद इसके दोनों के विचारों और सिद्धांतों में बहुत अंतर है, जिसे पार्टी के आला अधिकारी भी सही ठहराते हैं और एक अन्य कार्यकर्ता शंकर जो कि आजीवन पार्टी के लिए समर्पित रहता है, लेकिन बीमारी के समय में कोई उसके साथ खड़ा नहीं होता, तब साजिद यह महसूस करते हैं कि इसने कितनी ईमानदारी से पार्टी के लिए कार्य किया और अंत में इसको क्या मिला—बीमारी, कष्ट, घोर निराशा। लेखक का मानना है कि पार्टी चाहे कोई भी हो उससे आम आदमी का हित संभव नहीं है। ये सब देखकर वजाहत साहब यह तय करते हैं कि वह स्वतंत्र विचारधारा के साथ काम करेंगे, न कि किसी पार्टी के साथ। इसी उद्देश्य से वह पत्रकारिता को अपना कार्यक्षेत्र बनाते हैं, लेकिन वहाँ भी उन्हें राजनीति का शिकार होना पड़ता है। वे यही सोचते हैं कि लालसिंह, शंकर और मुझ जैसे अनेक लोगों के लिए जीवन बहुत कठिन है। लेखक रजी, डॉक्टर इल्मी, डॉक्टर कुसुम, डॉक्टर अतिया खान

आदि पात्रों के माध्यम से हमारे सामने मार्क्सवाद के सिद्धांतों का असली रूप प्रस्तुत करते हैं–'कल...शाम मालूम हुआ कि अपने डॉक्टर इल्मी जिनकी उम्र खुदा झूठ न बुलाए तो पचपन से कम नहीं है। अपनी एक शागिर्दा जिसकी उम्र सिर्फ तेईस साल है, से इश्क फरमा रहे हैं।'[10]

इस उपन्यास में लेखक यही इंगित करना चाहते हैं कि राजनीति, पैसा, सेक्स और अपराध के गठजोड़ ने लोकतंत्र को इस प्रकार विकृत संवेदनशून्य और अवसरवादी बना दिया है कि लोकतंत्र में साम्यवादी विचार गौण नजर आते हैं। वजाहत साहब यही यथार्थ अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं कि जब व्यक्ति को श्रेष्ठ अवसर मिलता है तो वह आदर्श की बलि दे देता है जैसे इस उपन्यास में रजी ने दी है।[11]

पूँजीवादी युग में अर्थ, हिंसा सेक्स, पद और अपराध व्यक्ति की आवश्यकता बन गया है। डॉ॰ कुसुम भी अपनी शोधछात्रा को कामुकता की दृष्टि से देखते हैं, जिसे मार्क्सवादी अपराध मानते हैं। जिसका उनके सीनियर समर्थन करते हुए शोधछात्रा रेखा भटनागर से कहते हैं कि डॉ॰ कुसुम पुरुष है और तुम स्त्री यह कोई बड़ी बात नहीं है और जब अपनी नौकरी जाने की बात आती है तो मिस अंडरस्टैंडिंग कहकर मामला टाल दिया जाता है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक पाठकों के सामने यह दर्शाने और बताने की कोशिश करते हैं कि मार्क्सवाद–परिवार, सेक्स और स्वयं के लाभ के पद के खिलाफ है या कहें कि ये सब मार्क्सवाद में वर्जित है, लेकिन यहाँ शायद ही कोई इससे अछूता हो। जहाँ जिसको मौका मिला उसने लाभ उठाया।

यह असगर वजाहत का यथार्थवादी उपन्यास है, जो समाज में व्याप्त सत्ता की राजनीति, अपराध, यौनाचार, व्यभिचार की कलाई खोलकर रखनेवाला है कि किस तरह प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को साफ–सुथरा बताते हुए गंदगी में लिप्त है। सभी आधुनिक ऐशो–आराम के साधन मौजूद हैं और निरंतर पूँजी अर्जन के लिए श्रम और साधन में लगे रहते हैं। वजाहत साहब मानते हैं कि ईमानदारी, निष्ठा और कर्तव्यपरायणता से काम करनेवालों को सिर्फ इज्जत और प्यार ही मिलता है, जिससे सीना तो चौड़ा हो सकता है, लेकिन पेट हमेशा खाली रहता है। ऐसे में ईमानदार व्यक्ति के लिए काम करना बहुत मुश्किल हो जाता है, आदर्श हमेशा उसके आड़े आ जाते हैं, जिसका खामियाजा उसे व उसके पूरे परिवार को भुगतना पड़ता है। साजिद, कामरेड लालसिंह, शंकर इस उपन्यास के पात्र हैं, जो इस उपन्यास में अपनी सटीक भूमिका निभाते दिखते हैं। मध्यवर्गीय चेतना को इस उपन्यास में लेखक ने प्रमुखता से उठाया है, लेकिन वह यहाँ भी मूक दिखाई देती है। क्योंकि उच्चवर्ग को अवसर की कमी नहीं है और मध्यमवर्ग की आवश्यकता है अवसरवादिता, जिसके लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। इसलिए मध्यमवर्गीय अवसरवादिता का जन्म समाज में होता है। लेखक कामरेड के माध्यम से मार्क्सवाद की कलाई खोलकर रख देते हैं लेखक बताते हैं कि केवल आदर्श और सिद्धांतों के व्याख्यान से कुछ नहीं होता, अपितु उन पर चलना भी पड़ता है।

'अब मैं समझा कि कामरेड रजी को न सिर्फ पार्टी से निकलवाना चाहता है, बल्कि यह भी चाहता है कि उसकी शादी प्रोफेसर फारूक की भतीजी से न हो। वैसे यह बात मेरे ख्याल से ठीक है। अगर कोई सिद्धांत बघारता है, तो उन्हें व्यवहार में भी लाए। रजी दुनिया जमाने का

ज्ञान पेलता रहता है, लेकिन अपने फायदे के लिए मासूम लड़की की जिंदगी बर्बाद कर सकता है।'[12]

लेखक रजी के माध्यम से वामपंथी राजनीति पर कटाक्ष करते हैं। और बताते हैं कि कम्यूनिस्ट जिस नैतिकता के बल पर सत्तारूढ़ होते हैं उसकी स्वयं धज्जियाँ उड़ाते हैं। इन पंक्तियों में लेखक कामरेड के माध्यम से नैतिकता पर प्रहार करते हुए दिखाई देते हैं–'सालों से घर नहीं जा रहे। पत्नी घर में पड़ी सूख रही है आप कैरियर बनाने के लिए शादी रचा रहे हैं। यही कम्युनिस्ट नैतिकता है।'[13]

लेखक, लालसिंह और पार्टी के अन्य सदस्यों के अनुसार रजी को तलाक देना चाहिए। लेकिन तलाक भी तो अनैतिक है और उसके बाद शादी करते हैं तब किसी को कोई दिक्कत नहीं है। रजी बताता है कि तलाक के बाद शादी और बिना शादी के शारीरिक संबंध अनेक कामरेडों ने बनाए हैं। हम कह सकते हैं कि राजनीतिक पार्टी, संघ में जो कुछ दिखाया जाता है वह पहले से नियत होता है और पर्दे के पीछे की हकीकत कुछ और होती है, जो शायद समाज और देश के लिए उचित नहीं है इसलिए पूरा विश्व इस बात को सही मानता है कि व्यावसायिक जिंदगी और व्यक्तिगत जिंदगी को अलग-अलग रखकर उसका विश्लेषण करना चाहिए। उसमें चारित्रिक भिन्न्ता निश्चित है। यह भी सच है कि ईमानदारी और सच्चाई का रास्ता टेढ़ी खीर है। जो तब नजर आता है जब अंत में लालसिंह अकेला हताश, निराश रह जाता है और रजी सभी पार्टी मेंबर के साथ बड़े उत्साह और गर्मजोशी के साथ शादी करता है। लाल सिंह चाहता है कि सच सामने आए, लेकिन लोकतंत्र का व्यावहारिक रूप यही है कि सच को समझने और सच के लिए लड़ने वाले बहुत विरले ही होते हैं। यही सच लेखक इस उपन्यास में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। लेखक स्वयं मानते हैं कि प्रभावशाली व्यक्ति को गलत साबित करना बहुत कठिन है दृश्य देखा तुम जानते हो कि रजी का अवसरवाद है लेकिन यह भी समझते हो कि इसे साबित करना टेढ़ी खीर है। दूसरी बात यह भी है कि रजी की जड़ें यहाँ गहरी हैं। वह फोर्थ ग्रेड एंप्लाइज यूनियन का ज्वाइंट सेक्रेट्री है।'[14]

लेखक उपन्यास के माध्यम से बताते हैं कि हमेशा से ही दोहरे चरित्रवाले व्यक्ति, समाज, परिवार और देश के लिए घातक सिद्ध हुए हैं और ऐसे लोगों से अपराध, पूँजी में बढ़ोतरी के साथ साथ देश को भारी नुकसान उठाना पड़ता है। लेखक उपन्यास के माध्यम से यह सच्चाई उजागर करते हुए कहते हैं–'कामरेड लालसिंह अकेला पड़ गया था। बाकी लोग रजी के साथ थे, कामरेड लालसिंह की लाइन यही रही कि रजी के अंदर अवसरवादी और समझौतापरस्त प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं और इनका विरोध करना आवश्यक है।'[15]

कहावत यह है कि अनपढ़ व्यक्ति ही औरत पर हाथ उठाते हैं, लेकिन यहाँ असगर वजाहत ने पाठकों के समक्ष आधुनिकता का दंभ भरने वाली मार्क्सवादी विचारधारा की पोल खोलकर रख दी है कि जिस साम्यवादी विचारधारा की यहाँ लोग बात करते हैं वह वास्तविकता से लाखों कोस दूर है।

'हम अब खासा नौश फरमाएँगे हाजिर किया जाए। उन्होंने बिल्कुल मुगलई शैली में खाना माँगा। हाजिर किया गया। पर दुर्भाग्य से रोटियाँ ठंडी थीं। इस पर वे जलालुद्दीन अकबर

बन गए और खाने की सीनी उठाकर फेंक दी। पहले तो ऐसा करने के बाद बीवी को सिर्फ दो ही चार थप्पड़ लगाते थे, लेकिन इस बार लातें भी चलाईं। बच्चे जाग गए, जो खड़े थर-थर काँप रहे थे और रो रहे थे। 'हरामजादी कुत्तिया अपना सामान बाँध...बाँध अपना सामान।'[16]

लेखक यह दर्शाना चाहते हैं कि छोटे से लेकर बड़े हर कार्य में राजनीति अपना रंग छोड़ती है। काम कैसा हो रहा है। प्रश्न यह होना चाहिए लेकिन पूँजीवादी और भोगवादी इस आधुनिक युग में रिश्वत और माफिया, बिल्डर आदि की अपनी अलग ही चलती है। इसी के चलते उपन्यास के पात्र जावेद भाई चिंतित है क्योंकि कैंटीन जो उनके पास थी, उसका ठेका उठने वाला है लेकिन कुछ प्रभावशाली प्रोफेसर उसको अपने रिश्तेदारों को दिलवाना चाहते हैं। इसी समस्या को लेकर पाठकों के सामने वजाहत साहब बयाँ करते हैं।

फिलवक्त उनकी समस्या यह थी कि कैंटीन का ठेका उठने वाला था। यह ठेका यूनिवर्सिटी हर साल उठाती थी और हर साल जावेद भाई को ही मिलता था, लेकिन इस साल यूनिवर्सिटी की राजनीति कुछ नया रंग ले रही थी। दो चार प्रभावशाली प्रोफेसर कैंटीन का ठेका अपने रिश्तेदारों को दिलाना चाहते हैं। एक दो तो ऐसे हैं, जो खुद ही किसी और के नाम से लेने के इच्छुक हैं।[17]

समकालीन राजनीति का सच इस उपन्यास में लेखक को सर्वत्र दिखाई देता है। जिसका उदाहरण देते हुए उन्होंने नुरू मियाँ वाला किस्सा पाठकों के समक्ष रखा। यदि हाजी साहब वाले केस में नुरू मियाँ न आते तो शायद ही अतहर अपने वालिद को छुड़ा पाता। लेखक यहाँ यही सोचते हैं कि यह कैसा लोकतंत्र है, जहाँ आम आदमी की सुनवाई बहुत मुश्किल से होती है। लेखक पुलिस का घिनौना चेहरा और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का सच 'कैसी आगी लगाई' के द्वारा प्रस्तुत करते हैं कि जो पुलिस वाले हाजी साहब को झूठे केस में फँसाते हैं और कहते थे कि सारी उम्र जेल में सड़ते रहोगे। वही पुलिस वाले राजनेता नुरू मियाँ के थाने पहुँचते ही अपनी भाषा बदल लेते हैं। दरोगा जी न केवल उनको सलाम करते हैं, बल्कि हाजी मियाँ को फौरन रिहा भी कर देते हैं। लेखक राजनीति में वर्चस्व व प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का परिचय यहाँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।[18]

इस उपन्यास में लेखक यह दिखाना चाहते हैं पुलिस और शासन सब राजनीतिक पार्टी के अनुसार चलते हैं न कोई नियम है, न कोई कानून है। पूँजीवाद और सामंतवाद के संरक्षण का काम यह पार्टियाँ ही करती हैं। लेखक मानते हैं कि इन दोनों को बढ़ावा देनेवाली पार्टी अच्छी हो सकती है, लेकिन आदर्शवादी कैसे हो सकती है, पुलिस इन सत्ताधारी लोगों के इशारे पर काम करती है और जिनके संबंध और प्रभाव ऊपर तक है वह अतहर के वालिद की तरह छूट जाता है। वरना तो पुलिस का घिनौना चेहरा और सच किसी से छुपा नहीं है। भ्रष्टाचार के सेवक हैं, ये पुलिस वाले राजनेताओं के रक्षक हैं। यह एक राजनीतिक समस्या है लेखक पाठकों के सामने इसे भली-भाँति उजागर करते हैं-'साजिद मियाँ शहर के दस बीस कोस इधर-उधर निकल जाओ, क्या साला पुलिस का आतंक है। जिस किसान के पास थोड़ा बहुत पैसा आ जाता है उसे डकेती में धर लेते हैं खूब खाते हैं।'[19]

लेखक अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस व्यक्ति की संघ, संगठन, राजनीति,

उद्योग और अपराध-जगत में कोई पहचान नहीं होती है, वह इस युग में हर क्षेत्र में स्वयं को हारा हुआ महसूस करता है। कदम-कदम पर निराशा ही उसको हाथ लगती है। न जाने कितने हारे और न जाने कितने जीते किसको पता अर्थात् किसी को नहीं पता।

लेखक बताते हैं कि यह शाश्वत सत्य है कि चाहे व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट हो या रंक। सबको चार कंधों पर जाना है। फिर ये वैचारिक संघर्ष, घृणा, असमानता, जात-पात ऊँच-नीच, वर्ग विभेद क्यों है। हार और जीत क्या है, समाज में यह रूढ़िबद्ध धारणा है कि जो जीतता है उसको ही शुद्ध लाभ मतलब अर्थ लाभ, पद लाभ, प्रतिष्ठा, सम्मान मिलता है। क्या यही वास्तविक मानवता है या कुछ और। ऐसे अनेक दार्शनिक, सत्यता से भरपूर जटिल प्रश्न लेखक पाठकों के मानस-पटल पर इंगित करते हैं। इससे प्रभावित होकर पाठक असगर वजाहत के साहित्य को न केवल अपनाते हैं बल्कि उसको पढ़ते भी हैं।

संदर्भ

1. कैसी आगी लगाई, असगर वजाहत, पृ॰ 09
2. वही, पृ॰ 08
3. वही, पृ॰ 08
4. वही, पृ॰ 09
5. वही, पृ॰ 13
6. वही, पृ॰ 14
7. वही, पृ॰ 17
8. वही, पृ॰ 22
9. वही, पृ॰ 26
10. वही, पृ॰ 191
11. वही, पृ॰ 198
12. वही, पृ॰ 208
13. वही, पृ॰ 211
14. वही, पृ॰ 219
15. वही, पृ॰ 224
16. वही, पृ॰ 229
17. वही, पृ॰ 230
18. वही, पृ॰ 153
19. वही, पृ॰ 155

54, चेतनदेव कुटिया
एम॰जी॰ रोड, कनखल
हरिद्वार (उत्तराखंड)
मो॰ 9456565303, 8791123428
mayasanjeevsharma@gmail.com

'दुक्खम-सुक्खम': भारतीय समाज की मुखर अभिव्यक्ति

रश्मिकुमारी, शोधार्थी
हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतीय समाज में विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों के लोग रहते हैं। भारतीय समाज भले ही आर्थिक और शैक्षणिक स्तर पर उन्नति की ओर अग्रसर रहा हो, परंतु उसके अंतर्गत विभिन्न सामाजिक समस्याएँ जैसे आतंकवाद, अंधविश्वास, लिंगभेद, जातिवाद, सांप्रदायिक हिंसा, अंधश्रद्धा आदि ने जन्म लिया है। इन सब समस्याओं को सुप्रसिद्ध महिला कथाकार ममता कालिया के 'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास में लिखा जाना जहाँ एक तरफ से विलुप्त होती जा रही कथा परंपरा का पुनराविष्कार करता है, तो वहीं दूसरी तरफ स्त्री-विमर्श के नाम पर फैली विसंगतियों का परिमार्जन करते हुए संपूर्ण सामाजिक ताने-बाने की संरचना में व्याप्त अच्छाइयों एवं बुराइयों से पाठक को रू-ब-रू कराता है। उपन्यासकार ने भारतीय समाज की बेबाक अभव्यक्ति करते हुए तीन पीढ़ियों को आमने-सामने रख कूदते-फलाँगते वक्त की कथा से अवगत कराया है। लेखिका ने अपने पाठकों के सामने मुखर अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक व्यवस्था तथा मूल्य न तो निरपेक्ष होते हैं और न ही शाश्वत। समयानुसार उनमें परिवर्तन आवश्यक है। घर से लेकर राजनीतिक विसंगतियों, सामाजिक रूढ़ियों एवं गरीबी की पीड़ा पर 'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास में उपन्यासकार की लेखनी बेबाक चलती है।

विषय-विस्तार

इक्कीसवीं सदी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अग्रसर है। जहाँ वर्तमान आधुनिक युग तीव्रता से परिवर्तित हो रहा है, जिसमें 'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास की कहानी किसी विशेष परिवार की कहानी न होकर एक भारतीय समाज की कहानी है, जिसकी तीन पीढ़ियों के माध्यम से लेखिका ने बीसवीं सदी के भारतीय समाज की हलचलों और परिवर्तनों का संकेत किया है। वहीं इस उपन्यास की एक बड़ी भारी विशेषता यह भी है कि यह न लाला नत्थीमल की कहानी है, न विद्यावती की, न इंदु की और न ही उसकी दो बेटियों की। ये सभी अपने चरित्र और व्यवहार से कथाधारा में उगते और डूबते हैं और बहुत ही मंद गति से बदलने वाले निम्न मध्यवर्गीय भारतीय समाज की कहानी कहते हैं।

भारतीय समाज में निम्न मध्यवर्गीय परिवार की दिशा एवं दशा दोनों को यह उपन्यास दर्शाता है। उपन्यास में जिन पात्रों के माध्यम से कथा कही गई है, वे इस प्रकार जमीन से उठाए गए हैं कि लगता है कि वे हमारे आस-पास के ही जीवंत पात्र हों। पात्रों की इन तीन पीढ़ियों के साथ चलती हुई कथा प्रतिभा के माध्यम से वैश्वीकरण की स्थितियाँ तक आती हैं और इस

रूप में बीसवीं सदी के प्राय: मध्य से चलकर इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक तक के समय को अपने कथा परिवृत्त में घेरती है। उपन्यासकार ने बड़े कौशल से वर्तमान से पुरातन और आगत भविष्यत् को संग्रथित किए बिना बहुत मुखर 'वोकल' हुए सहज रूप में समस्याओं को कथा में अनुस्यूत किया है। यह उपन्यास एक परिवार का वृतांत न होकर समाज में संबंधों और स्थितियों के बदलाव की कथा कहता है। उसका आरंभ तब होता है जब घरों में स्टोव और बाथरूम भी नहीं होता था तथा उसका अंत तब होता है, जब रेडियो और टेलीविजन में श्रेष्ठता की जंग छिड़ी है। इस तरह परिवार की कथा भारतीय समाज में आए व्यापक परिवर्तनों की कथा बन जाती है।

भारतीय समाज में होनेवाले विभिन्न प्रकार के भेदभावों को भी यह उपन्यास रेखांकित करता है। उपन्यास का प्रारंभ यद्यपि परिवार में पुत्रीजन्म की घटना पर परिवारजनों की प्रतिक्रियाओं से होता है। उपन्यास की पहली पंक्ति है–'उसके जन्म में ऐसी कोई असाधारण बात नहीं थी कि उसका जिक्र इतिहास अथवा समाज विज्ञान की पुस्तकों में पाया जाता। जिस दिन वह पैदा हुई, घर में कोई उत्सव नहीं मना, लड्डू नहीं बँटे, बधावा नहीं गाया। उलटे घर की मनहूसियत ही बढ़ी।'

यह मथुरा के लाला नत्थीमल के घर का दृश्य है, जिनके सुपुत्र कविमोहन की पत्नी ने दूसरी बार भी पुत्री को जन्म दिया है। पुत्री-जन्म के प्रसंग से प्रारंभ हुआ वह उपन्यास तीन पीढ़ियों की कथा कहता आगे बढ़ता है। इतने विस्तृत फलक के बावजूद उपन्यास समाज, परिवार व राजनीति में स्त्री से जुड़े सवालों को बहुत मार्मिकता से मुखर करता है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, गांधी का प्रभाव, चरखा व गांधी से उपजा विचार, देश विभाजन, शरणार्थियों के जत्थे, उनका संघर्ष, नये व पुराने बाजार की टकराहट उपन्यास के आंतरिक कलेवर में समाहित है। उपन्यासकार ने भारतीय समाज की कहानी बहुत ही बेबाक ढंग से प्रस्तुत की है, जिसका संबंध किसी परिवार विशेष से न होकर भारतीय समाज के प्रत्येक कोने में होने वाली समस्याओं से है।

जातिवाद

भारतीय समाज विभिन्न जातियों में बँटा हुआ है। आरक्षण की समस्या भी जातिवाद की देन है। नौकरी में जाति के कारण भेदभाव होता है। शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े होने के कारण ममता जी ने जातिवाद का यथार्थ चित्रण अपने कथासाहित्य में किया है। 'दुक्खम-सुक्खम' में उन्होंने कविमोहन की नौकरी के माध्यम से इस समस्या का बेबाक चित्रण इस प्रकार किया है–

दो-दो बार इंटरव्यू का सरंजाम सुनकर फूफाजी को जरा भी ताज्जुब नहीं हुआ। उन्होंने कहा–'भई यह भी लालाओं का कॉलेज है, यहाँ तो चपरासी भी रखा जाता है, तो उसे लालाजी के सामने पेश होना पड़ता है।' कविमोहन ने चिंतित होकर कहा–'अब इस दूसरी इंटरव्यू की क्या तैयारी करनी होगी?'

'कुछ नहीं, तुम चुप ही रहना। यह जो तुम्हारी जाति है न वही फैसला करवाएगी।'

कविमोहन को बड़ा अजीब लगा। मथुरा के चंपा कॉलेज में भी उसे यही पता चला कि उसे नियुक्ति महज इसलिए मिली है, क्योंकि वह अग्रवाल जाति का था। अर्थात् वह नियुक्ति

 ISSN 0975-735X

उसके अब तक के पढ़ने पर जोरदार तमाचा थी। इसी तरह की बढ़ती जातिवाद की समस्या को यह उपन्यास उठाता हुआ आगे बढ़ता है।

लिंगभेद

पितृसतात्मक समाज में लिंगभेद की समस्या भयानक है। स्त्रियों में संतान के रूप में पुत्ररत्न की प्राप्ति की कामना करना लिंगभेद का ही परिणाम है। ममता जी स्वयं एक स्त्री हैं, इसलिए इस सामाजिक समस्या को उन्होंने स्वयं महसूस किया है। उन्होंने अत्यंत गंभीरता से इस समस्या का वास्तविक चित्रण किया है। 'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास में इंदु जब दूसरी बेटी को जन्म देती है तो उसकी सास की हालत देखिए–'दादी माँ का चेहरा पीला पड़ गया। अब तक ऑपरेशन थियेटर के दरवाजे से सटी खड़ी थी, अब धम्म से बेंच पर बैठ गई!'

लड़की के जन्म पर शोक कैसे मनाया जाता है इसकी अभिव्यक्ति उपन्यासकार ने बड़े ही खुले ढंग से की है–'जिस दिन वह पैदा हुई घर में कोई उत्सव नहीं, बधावा नहीं ....। दादी ने चूल्हा तक नहीं जलाया।' भारतीय समाज में लिंग की कामना कितनी अधिक है और उसके लिए स्त्रियों को किन-किन समस्याओं से गुजरना पड़ता है, इसका यथार्थ चित्रण 'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास में देखा जा सकता है।

सांप्रदायिक हिंसा व आतंकवाद

जाति, धर्म के नाम पर लोग अकारण आपस में भिड़े रहते हैं। राजनेता अपना उल्लू सीधा करने के लिए लोगों को भड़काकर, सांप्रदायिक हिंसा करवाते हैं, जिससे आतंकवाद तथा सांप्रदायिकता जैसी समस्याओं का जन्म हुआ है। वर्तमान समय में हो रहे ऐसे राजनीतिक मुद्दों पर भी यह उपन्यास जोर देता हुआ परिवर्तन की दिशा में अग्रसर करता है। इसका वर्णन ममता जी ने अपने उपन्यास 'दुक्खम-सुक्खम' में किया है।

विद्यावती भारत-विभाजन की बात सुनकर चौंक जाती है, तो लाला नत्थीमल उसे समझाते हुए कहते हैं, 'समझ लो अब तैयारी हो गई है। वाइसराय राजी हो गए हैं। बस एक बात बुरी है कि हिंदुस्तान का बड़ा सा हिस्सा कटकर अलग हो जाएगा।'

'कहाँ चला जाएगा?'

'पराया देश बन जाएगा।'

'पाक कहलाएगा।'

देश के विभाजन ने लोगों के दिलों का विभाजन भी कर दिया। लोगों के मन में सांप्रदायिक हिंसा उत्पन्न हो गई है। इस तरह की सांप्रदायिकता के कारण भारतीय समाज पर पड़नेवाले दुष्परिणामों का वर्णन करता हुआ यह उपन्यास आगे बढ़ता है।

अंधविश्वास तथा अंधश्रद्धा

भारतीय समाज में कई रूढ़ियाँ तथा अंधविश्वास अभी भी प्रचलित हैं जैसे किसी की नजर लगना, विधवा के हाथ कोई शुभ कार्य न करवाना, गृहप्रवेश में पहले दायाँ पाँव रखना, पति की लंबी उम्र के लिए व्रत करना, गंगास्नान...आदि। इन सभी अंधविश्वासों का खुला चित्रण यह उपन्यास करता है।

'दुक्खम-सुक्खम' उपन्यास में जिस दिन बेबी दूध नहीं पीती है तो विद्यावती उसकी नजर उतरवाती है। वहीं दूसरी ओर दादी का विश्वास है कि यदि माँ का मीठा खाने का मन करे तो बेटा हो और यदि नमकीन खाने का हो तो बेटी...आदि। जो भारतीय समाज में बढ़ रहे अंधविश्वास को दर्शाता है। उपन्यासकार ने सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक समस्याओं के माध्यम से चित्रित किया है।

निष्कर्ष

ममता कालिया का सघ:प्रकाशित उपन्यास 'दुक्खम-सुक्खम' विमर्शों द्वारा प्राप्त ज्ञान से ज्यादा अनुभव जन्य संवेदना का आवेग है। समाज के अंदर परिवार-व्यवस्था की संरचनात्मक जड़ता को अपने केंद्र में रखता है तथा खासतौर पर इस बात को कि कैसे इस जड़ता की वजह से स्त्री-पुरूष की दुनिया और सरोकारों में एक बड़ा विभाजन पैदा हो जाता है। उपन्यास का शीर्षक भी यह ध्वनित करता है कि औरत की पूरी जिंदगी किसी प्रकार दुक्खम-सुक्खम कट ही जाती है।

इस प्रकार 'दुक्खम-सुक्खम' तीन लोक से न्यारी मथुरा की कथा के माध्यम से भारतीय समाज के पिछले 60-70 वर्षों का समाजशास्त्रीय अध्यन प्रस्तुत करता हुआ राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम के समय के तथ्यों को भी समाहित करता है।

निस्संदेह, पारिवारिक-सामाजिक मूल्यों के इस विघटनकारी दौर में यह उपन्यास न तो अतीत-राग है, न वर्तमान का मर्सिया, न भविष्य की दीपशिखा, यह है वस्तुसत्य को जानने और जानकर उसे बचाने की भारतीय समाज की मुखर अभिव्यक्ति है।

संदर्भ

1. ममता कालिया, दुक्खम-सुक्खम, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ॰ 7-9, 92,96, 11, 160-170, 270, 272
2. जितेंद्र श्रीवास्तव, शोर के विरुद्ध सृजन, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 25, 26, 53, 112, 118, 140
3. पीटर शागि, स्त्री एवं सामाजिक प्रसंग, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 256, 250, 261

 ISSN 0975-735X

'दरियाई घोड़ा' में अभिव्यक्त सामाजिक युगबोध

डॉ॰ मुदुल जोशी, शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, कन्या गुरुकुल काँगड़ी परिसर
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
रीतु, शोधछात्रा, हिंदी विभाग

समकालीन कहानीकारों में उदयप्रकाश एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी लेखक के रूप में जाने जाते हैं। यथार्थवादी लेखकों के अंतर्गत उन्होंने पाठकों के मन पर एक विशिष्ट छाप छोड़ी है। उदयप्रकाश एक ही लीक पर लेखनी नहीं चलाते वरन् उनकी प्रत्येक कहानी नए प्रतिमान स्थापित करती है। वे एक सामान्य घटना को भी प्रमाणित व जीवंत बनाकर अभिव्यक्त करने का हुनर रखते हैं। यही कारण है कि पाठक कहानी से अपना गहन जुड़ाव अनुभव करता है। समकालीन साहित्यकार होने के नाते उदयप्रकाश ने वर्तमान समय की नब्ज टटोलकर पाठकवर्ग को उनसे रू-ब-रू कराया है। उनकी कहानी में सामाजिक युगबोध जितनी प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है।

लेखक उदयप्रकाश ने अपने समय के यथार्थ को व वर्तमान में उपजी समस्याओं, समाज के विखंडित स्वरूप, मानव के परिवर्तित आचरण व उनसे पनपने वाली सामाजिक विसंगतियों को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। उनकी कहानियाँ अपने समय का सबसे कड़वा सच पाठकों के समक्ष लाती हैं। लेखक ने गूढ़ता के साथ इन समस्याओं से पर्दा हटाया है, साथ ही समाज का निम्न व शोषितवर्ग किस स्तर तक इनसे आहत व पीड़ित है, उसी का सच्चा स्वरूप इनकी कहानियों पाठकों को दिखाती हैं।

'दरियाई घोड़ा' में संकलित कहानियों में लेखक ने समाज का वह स्वरूप दिखाया है, जहाँ मानवता अंश मात्र भी नहीं रह गई है। वर्तमान समाज अनेक प्रकार की बुराइयों से जूझ रहा है। सामाजिक समस्याएँ आज इतना भयावह रूप धारण कर चुकी हैं, जिससे समाज की स्थिति गर्त की ओर अग्रसर है। आज समाज में जातिगत भेदभाव, पारिवारिक विघटन, सांप्रदायिकता, अजनबीपन, दलित-शोषण, कुंठा, संत्रास, अपराध, विलासी प्रवृत्ति, दुराचार भ्रष्टाचार, अत्याचार, व्यभिचार, अभिशप्त जीवन, गरीबी, बेरोजगारी अपने चरम पर है।

लेखक ने इन समस्याओं को समाज के उस प्रत्येक वर्ग से उठाया है, जहाँ इनका विकराल रूप दिखाई पड़ता है। लेखक का दायित्व होता है कि वह अपने लेखन के माध्यम से समाज का वास्तविक चेहरा पाठकों के समक्ष रखे। 'दरियाई घोड़ा' में संकलित सभी कहानियाँ इन समस्याओं को अपने भीतर समेटे हुए हैं। प्रत्येक कहानी समाज के दूषित, संवेदनहीन युग को परिलक्षित करती है।

सामाजिक युगबोध से तात्पर्य अपने समाज की सभी समस्याओं व वास्तविकताओं का स्पष्ट स्वरूप का यथार्थ चित्रण करना है व समाज को उसका प्रतिबिंब दिखाना होता है। स्पष्ट है कि सामाजिक युगबोध समाज को उसी रूप में प्रदर्शित करता है, जैसा वह वास्तविक अवस्था में होता है। लेखक उदयप्रकाश ने समाज की जिस कुरूपता को देखा, भोगा था, वही यथार्थ उनकी 'दरियाई घोड़ा' की सभी कहानियों में देखा जा सकता है।

'दरियाई घोड़ा' में संकलित पहली कहानी 'मूँगा धागा और आम का बौर' है, जिसमें एक ऐसे परिवार की दशा, मनोदशा से उपजी उन सभी समस्याओं व पारिवारिक विवशताओं को अभिव्यक्त किया गया है, जिनसे परिवार में विघटन, कुंठा, विवशता, संत्रास, अकेलापन, अजनबीयत, आंतरिक व मानसिक द्वंद्व, घुटन, ऊब, दोहरा व्यक्तित्व, पहचानहीनता, मानसिक संवेदनाओं का परिवर्तित स्वरूप, मानसिक पीड़ा व अलगाव आदि हैं। परिवार में पनपी इन विकट परिस्थितियों ने ही आज मनुष्य को अंतर्द्वंद्व ग्रस्त बना डाला है।[1]

यह कहानी हमें बताती है कि परिवार में माँ की क्या प्राथमिकता व आवश्यकता होती है। मानसिक पीड़ा व अलगाव की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति इस कहानी में हुई है। माँ जोकि एक सूत्रधार थी व परिवार के लिए सहारा थी, जिसने एक डोर से पूरे परिवार को बाँध रखा था, वह अब मर चुकी थी, वह धागा टूट चुका था और पूरा परिवार अब बिखर गया था।[2]

माँ की मृत्यु के पश्चात् परिवार के सदस्यों के बीच वार्तालाप बंद हो गया था। सभी के सभी गहरी वेदना लेकर कुंठित जीवना जीने को विवश थे। अवसादग्रस्त यह स्थिति किसी के भी जीवन का अनिवार्य अंग बन सकती है। संवेदनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण उदयप्रकाश की विशेषता है।[3]

दरियाई घोड़ा की दूसरी महत्त्वपूर्ण कहानी 'दरियाई घोड़ा' है। यह लेखक उदयप्रकाश के जीवन की सच्ची तस्वीर दिखाती है। कहानी उनके पिताजी की स्मृति को छूती हुई अनेक मानवीय संवेदनाओं से पाठकों को रूबरू कराती है। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से एक परिवार के मुखिया की कारुणिक व्यथा वर्णित की है, जो एक लाइलाज बीमारी केंसर से ग्रस्त थे, जिसके चलते उनके जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

एक लाइलाज बीमारी से ग्रस्त दादाजी के जीवन में अंधकार छा गया था। उन्हें कुछ भी होश नहीं था। इस स्थिति ने उन्हें अस्तित्वहीन बना डाला था। केंसर बीमारी से उत्पन्न विकट शारीरिक कष्ट व्यक्ति को मानसिक व संवेगात्मक आघात प्रदान करता है कि वह विक्षिप्तावस्था में पहुँच जाता है। यह कहानी हमें बताती है कि रिश्तों के खोखलेपन ने आज मानव को स्वार्थी व संवेदन शून्य बना दिया है–'मैं अपने प्रति दया और गर्व से भरा हुआ था। और प्रतीक्षा कर रहा था कि दादा के होश में आते ही मैं चिल्लाकर बताऊँ कि लो देखो जिसे तुम सबसे ज्यादा आवारा, फक्कड़, निकम्मा और गया गुजरा समझते थे, वो कितना वफादार और समर्पित सेवक निकला। हरीशदा और अमरेंद्र तो उस वक्त खिसक लिए। आखिर मैं ही काम आया न?'[4]

दादाजी को ऑपरेशन के वक्त खून की आवश्यकता थी। परिवार के तीन सदस्य वहाँ विद्यमान थे। हरीशदा और अमरेंद्र व दादाजी के पोते (कहानी के वक्ता पात्र) हरीशदा और अमरेंद्र खून देने के बजाय वहाँ से चले गए, जबकि कथावाचक जोकि अट्ठारह वर्ष का था

उसी ने दादाजी को अपना रक्त दिया। कहानी में जहाँ एक ओर हरीशदा व अमरेंद्र जैसे स्वार्थी व खोखले इंसान हैं, वहीं दूसरी ओर वो अठ्ठारह वर्ष का लड़का है जो नि:स्वार्थ भाव से दादा जी को मृत्यु से बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। अपने इस कृत्य से उसमें आत्मविश्वास व मानसिक उल्लास के साथ-साथ गौरव की अनुभूति हो रही है। कहानी हमें यह दिखाती है कि आज सत्ता को हथियाने के लिए दो गुटों का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा है।[5]

कहानी हमें अनेक मानवीय संवेदनाओं से भी रूबरू कराती है। संवेदनशील मन परिवार से कहीं न कहीं जुड़ा रहता है। उसकी स्वयं की अन्य मजबूरियाँ उसे विवश करती हैं। इस विवशता को लेखक ने सूक्ष्म अभिव्यक्ति दी है। 'मैंने अपने मुँह के दोनों छोरों पर उँगलियाँ फँसाईं, उन्हें खींचा और मेरा जबड़ा फैल गया। दरियाई घोड़े की तरह। मैं फूट-फूट कर रो रहा था, प्लेटफार्म पर भीड़ के बीच अब तमाशा था मैं।'[6] कहानी गहन संवेदनाओं को छूती हुई हमारे अंतर्मन पर गहरी छाप छोड़ती है। तथा समाज के उस अनछुए पहलुओं की ओर भी इशारा करती है। जिससे समाज पूरी तरह जकड़ा हुआ है।

'दरयाई घोड़ा' की तीसरी कहानी 'मौसाजी' है। यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति की है, जिन्होंने अपने आस-पास झूठा संसार निर्मित कर लिया है। जीवन की वास्तविकताओं में झाँकना उन्हें बिल्कुल गँवारा नहीं है। 'मौसाजी से मेरी मुलाकात दिलचस्प थी। उन्होंने कहा, 'बेटा कभी हमारा जमाना हतो। वे दिन तो भइया, फुर्र भये। तब अँग्रेजी हुकूमत हती। हम सब आजादी के परवाने हते। समझ लो, बस दिनरात एक-ई धुन। गांधी बब्बा को नाम, भजन-कीर्तन, उपास और सस्ती खादी का चौला अंग्रेजो, भारत छोड़ो।'[7]

यहाँ एक ऐसे व्यक्ति की कथा है, जो घर से उपेक्षित है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए वह एक नए झूठे संसार को अपने आस-पास निर्मित कर लेता है। जो एक मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में उजागर की गई है। परिस्थितियाँ मानव को किस स्तर तक परिवर्तित कर देती है। मौसाजी ने भी ऐसे ही संसार में स्वयं को लीन कर रखा था। जो भी उनके पास जाता वह उसे अपने सच्चे-झूठे आख्यान सुनाकर सबका ध्यान अपने और आकर्षित किया करते थे। कभी वह स्वतंत्रता सैनानी बनकर गांधीजी से घनिष्ठ संबंध की बात करते तो कभी दादा भाई नौरोजी से। अपने व्यक्तित्व पर उन्होंने झूठ का आवरण ओढ़ रखा था। उनकी इस बात से लगभग सभी परिचित थे।

कहानी में मौसाजी के तीन लड़के हैं, जो उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते थे। कोई भी उनकी सहायता के लिए आगे नहीं आता था। संतान होने के बावजूद भी वह अनाथ की तरह जीवन जीने को विवश थे। पारिवारिक विघटन की समस्या आज कितना विकराल रूप ले चुकी है यह कहानी भली-भाँति दर्शाती है-'एक बार मौसाजी बीमार पड़े तब उनके किसी लड़के ने उन्हें झाँककर नहीं देखा। पछीतटोला के लोग ही उन्हें खटोले में उठाकर अस्पताल ले गये। उनका इलाज करवाया।'[8]

कहानी आज के समय की सच्ची तस्वीर समाज के सामने रखती है। आज मानवमूल्यों का स्थान स्वार्थ ने ले लिया है। रिश्तों के निरंतर परिवर्तित स्वरूप के तथा उससे निर्मित होती मानवीय पीड़ा को इस कहानी में व्यक्त किया गया है।

मौसाजी ने जिस झूठे संसार को अपने आस-पास निर्मित किया था, वह पूर्णतया उसी के आधीन जीवन जीने में प्रसन्न थे। क्योंकि उस झूठे संसार में वह उस व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आते थे, जिनकी समाज में प्रतिष्ठित पहचान थी। लोग उन्हें विशिष्ट व असाधारण व्यक्ति समझें, ऐसी ही उनकी मंशा होती थी। वह संसार उनके अनुकूल था। कई बार लोगों द्वारा उन्हें उनकी सच्चाई से रूबरू कराया गया, उनका उपहास भी बना, लेकिन मौसाजी वास्तविकता से हमेशा दूर भागते रहे। हो सकता है कि वास्तविकता उन्हें और डरा दे। तीन संतानों के होते हुए भी वह उनसे प्रेम व स्नेह भी न पा सके वरन् उनके द्वारा किया जाने वाला अमानवीय व्यवहार वह सहते रहे। वह इस कड़वी वास्तविकता को स्वीकार करने में असमर्थ थे। शायद दोनों ही संसार उनके लिए अपरिचित थे। एक का कोई अस्तित्व नहीं था और दूसरा वह अपनाना नहीं चाहते थे।

इसी संग्रह की चौथी कहानी 'ज्ञ, जेड, अलिफ जगतपति और कर्फ्यू' है। यह कहानी आपातकालीन परिस्थितियों की देन है, जिसमें शहर में कर्फ्यू लग जाने के कारण जिन समस्याओं से लोगों को गुजरना पड़ता है, उसकी ही मूल संवेदना चार मित्रों के संकट में पड़ जाने से अभिव्यक्त की गई है। आपातकाल घोषित हो जाने पर उनकी मनोदशा की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की गई है। संकट की स्थिति में उन्हें मानसिक यंत्रणा का अनुभव होता है उनके चरित्र की विविधताएँ खुलकर सामने आती हैं।[9]

कहानी बढ़ रहे अपराधों व गैरजिम्मेदार राजनीतिक नेताओं के अव्यवस्थापरक विध्वंस के कारण उपजी समस्याओं को उठाती है। समाज का प्रत्येक वर्ग इससे अछूता नहीं रह सकता। कर्फ्यू के कारण मानव-जीवन में कितनी वीभत्स परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं, जिनसे मनुष्य भय व असुरक्षा अनुभव करता है। कहानी में लेखक ने इस समस्या को जीवंतता के रूप में अभिव्यक्ति दी है। यह समस्या आकस्मिक समय आकर हालात बेहाल कर देती है।

कहानी राजनीति में झूठ के आवरण व सत्ताधारी नेताओं के मनसूबों पर भी गहरी चोट करती है। आज राजनीति केवल स्वार्थ व अपराधों से परिपूर्ण है। अपने स्वार्थ के कारण यह लालची नेता जिंदा व्यक्ति को मृत व मृत व्यक्ति को जिंदा रखने का भी काम करते हैं। इस कहानी में श्रीमती नीना तिलक है, जोकि वर्षों पहले ही स्वर्ग सिधार चुकी हैं, जिन्हें अब भी अस्तपाल के बैड पर लिटाकर ऑक्सजीन दी जा रही है। वह वे राजनीति का केंद्रबिंदु हैं अगर उन्हें मृत घोषित कर दिया तो प्रशासन चौपट हो जाएगा—'लगा कमरे में कोई बड़ी घटना घट गई है। श्रीमती नीना तिलक की साँस की एक और घरघराहट उभरी। अलिफ, जेड और ज्ञ के चेहरे लटक गए थे और उनमें हवाइयाँ उड़ रही थीं।'[10]

संग्रह की पाँचवीं कहानी 'पुतला' है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी सामंतवादी प्रथाएँ गरीबों व दलितों पर अपना वर्चस्व स्थापित किए हुए हैं। इन सामंतवादी लोगों द्वारा दलितों पर मशीनों की तरह कार्य कराया जाता है, व अनेक यातनाओं से उन्हें दबाया व शोषित किया जाता है। कहानी जातिगत भेदभाव से उत्पन्न विकृतियों का खुलकर पर्दाफाश करती है—'एक तरफ पी॰डब्ल्यू॰डी॰ का सरकारी महकमा था तो दूसरी तरफ चौधरी की खानदानी आबरू (आबरू को इज्जत भी मान लिया जा सकता है) शब्दों में इतना हेर-फेर तो चलता ही है) चौधरी की

 ISSN 0975-735X

आबरू उसकी जमीन में ही होती है। घर की औरतों पर कोई हाथ डाले तो एक बार अपनी आबरू का ख्याल कर चौधरी खून का घूँट पीकर चुप भी रह सकता है, लेकिन जमीन पर हाथ डालने से तो सचमुच सारी दुनिया-जहान के सामने आबरू चली जाती है।'[11]

लेखक ने कहानी को माध्यम बनाकर सामंतवादी विचारधारा के कड़वे सच को पाठकों के समक्ष रखा है। उच्चवर्गीय सामंती अपनी मनमानी करके अनेक असहाय व जरूरतमंदों के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। लेखक ने इन भ्रष्ट सत्ताधारी की सच्चाई से भली-भाँति अवगत कराया है। यह कहानी धर्म के नाम पर जो अन्याय दबे व शोषित लोगों के साथ हो रहा है उसका बखान करती है।[21] आज अगर देश में विकास नहीं हो पाया है तो इसके जिम्मेदार यही सत्ताधारी लोग हैं। यह कहानी शोषण व अत्याचार के उस डरावने सच को दिखाती है, जिससे दलितों पर अमानवीय व्यवहार उनके परिहास में जान डालते हैं।[13] लेखक ने उस सच को बताने का प्रयास किया है, जिससे समाज का बहुत बड़ा वर्ग अनभिज्ञ रहता है। धर्म और आस्था के नाम पर सवर्णों के द्वारा दलितों पर जो शोषण व अत्याचार किया जाता है। यह हालात शोचनीय है।

विलासी प्रवृत्ति आज कितनी बड़ी समस्या है इस कहानी में दिखाया गया है।[14] उच्चवर्ग लोग हमेशा अपनी विलासी प्रवृत्ति में लीन रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी ऐसे लोग शोषित लोगों की महिलाओं के साथ जबरदस्ती यौनाचार करते हैं तथा उनमें (महिलाओं) में भय की भी स्थिति को भी स्पष्टत: देखा जा सकता है। इस कहानी में बंधुआ मजदूरी को कुप्रथाओं को भी सत्यता से उजागर किया गया है–'किशनू ने कहा, 'लेकिन पंडित मेरा बाप तो बाईस साल तक यहीं चौधरीजी की ड्यौड़ी पर खटते-खटते मर गया।'[15]

उच्चवर्गीय लोग शोषितों से मशीनों की भाँति ही कार्य कराते हैं, जो एक सबसे विकट समस्या है।[16] समाज में दलितों की स्थिति इतनी दयनीय है कि सभी श्रमकार्य दलित ही करते हैं। सामंती लोग तो केवल वैभवपूर्ण जीवन जीते हैं और शोषितवर्ग पर वर्चस्व कायम रखते हैं।

संग्रह की छठी कहानी 'दद्दू तिवारी गणनाधिकारी' है। कहानी के मूल कथ्य में एक ऐसे व्यक्ति को चित्रित किया है, जो अपने समाज में पहले सामान्य व्यक्ति ही था, किंतु अचानक उसके जीवन में एक घटना घटती है। वह एक सरकारी कर्मचारी के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। किंतु वह पद प्राप्त होते ही उसमें अनेक परिवर्तन आ जाते हैं। समाज में पदासीन व्यक्ति का धीरे-धीरे कटाव होने लगता है। ऐसा ही कुछ दद्दू तिवारी गणनाधिकारी के साथ हुआ।[17]

दद्दू तिवारी गणनाधिकारी शुद्ध बेरोजगार थे। उनके पिताजी ने बड़े अधिकारियों से सिफारिश करके उन्हें नौकरी दिलाने का प्रयास किया–'और इस तरह दद्दू तिवारी महामना मदनमोहन मालवीय स्मृति केना पुलत के चुंगीबाग में गणनाधिकारी के पद पर नियुक्त कर दिए गए।'[18] अपने पुराने बचपन के सभी मित्रों को पीछे छोड़ दद्दू तिवारी बहुत आगे निकल आए थे, जिस कारण उनका अहंकार भी प्रबल अवस्था में था। 'आखिर वे उठे। कुर्सी से तनकर खड़े हो गए। उनका चेहरा पत्थर जैसा हो गया और बहुत गंभीर और ऊँची आवाज में उन्होंने कहा, 'रमेश जी यह आपका मकान नहीं है, ऑफिस है ऑफिस एंड ड्यूटी इज ड्यूटी, रमेश जी यू गेट आउट।'[19]

'टेपचू' इस संग्रह की अंतिम कहानी है। 'टेपचू' नामक कथानायक एक खुद्दार,

मेहनती, स्वावलंबी लड़के की कहानी है जिसके अंदर जिंदादिली कूट-कूटकर भरी है। मेहनत और लगन ही उसे कमजोर से बलवान व्यक्ति बनाती है। 'टेपचू' एक गरीब परिवार का लड़का था जो अपने संकटकालीन हालातों से निरंतर जूझता रहता है। वह मेहनतकश व्यक्ति है फिर भी समाज के प्रतिष्ठावान, प्रभुत्ववादी लोगों द्वारा उसके ऊपर असहनीय अत्याचार व शोषण किया जाता है। उसमें जीवन जीने की अदम्य जिजीविषा है, जिसके कारण वह निरंतर मरकर भी जिंदा हो जाता है। उसके साथ बहुत डरावना खेल खेला जाता है। भ्रष्टाचार ने समाज को कितना संवेदन शून्य बना दिया है, इसका जीवंत उदाहरण इस कहानी में मिलता है।[20]

पति की मृत्यु के उपरांत फिरोजा को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ा। नारी की असहायता और बेबसी का उच्च घरानों के लोग लाभ उठाते हैं ओर अपनी लालची प्रवृत्ति के कारण उनके साथ शारीरिक यौनाचार करते हैं, जिसे यहाँ पर यह कहानी स्पष्टत: प्रदर्शित करती है।[21]

कहानी के माध्यम से लेखक ने गरीबी व दुराचार से पीड़ित टेपचू के संघर्ष से भरे जीवन को उजागर किया है। टेपचू ने अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करके स्वयं को एक दृढ़ व मेहनतकश आदमी बना लिया था। टेपचू को इस भ्रष्ट प्रशासन का शिकार होना पड़ता है। गरीबों, लाचार व्यक्तियों को हमेशा इन भ्रष्टाचारी लोगों द्वारा अपमानित व शोषित होना पड़ा है।[22]

भ्रष्टाचारी रणनीतियों का शिकार टेपचू को उच्चपदासीन अधिकारियों द्वारा पीटा गया। उसके साथ बदसलूकी की गई। वेदना व पीड़ा से कराहता टेपचू आज कितना विवश था। अन्याय व अत्याचार के खिलाफ जो कोई भी आवाज उठाता है, उसकी दशा टेपचू जैसी हो जाती है। यह सत्य इस कहानी को और ज्यादा विशिष्ट बनाता है।[23]

टेपचू के भीतर एक अदम्य जीजिविषा थी। वह संघर्षशील व्यक्ति था, जिसने इन विकट परिस्थितियों से न हारकर अत्याचारियों का खुलकर विरोध किया मरते-मरते भी उसकी आवाज में चेतना के स्वर गूँज रहे थे।

निष्कर्षत: उदयप्रकाश ने अपनी लेखनी समाज के उस परिदृश्य पर चलाई है, जहाँ आम आदमी की पीड़ा, गरीबी, भूख, लाचारी, शोषण, अत्याचार के कडुवे सत्य को उजागर किया गया है। मानव की अंतहीन लालची प्रवृत्ति, जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच, आंतरिक व बाह्य द्वंद्व, मानवमूल्यों का ह्रास व संवेदनाओं का टूटता-बिखरता स्वरूप उनकी कहानियों का सच बना है। वे अपनी कहानियों के माध्यम से समाज की विकृतियों का वास्तविक स्वरूप हूबहू पाठकों के समक्ष लाने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

उदयप्रकाश समाज के हाशिए में जीनेवाले लोगों के रचनाकार हैं। उन्होंने उस सत्य को उदघाटित किया है, जिसे लिखने के लिए एक मजबूत कलेजा चाहिए। 'दरियाई घोड़ा' में इन सभी समस्याओं का खुलकर पर्दाफाश हुआ है। हम जिस समाज में रह रहे हैं वहाँ इतना अपराधीकरण हो चुका है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

लेखक ने इन कहानियों के माध्यम से झूठे, भ्रष्ट सत्ताधारियों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं इन सत्ताधारियों में देश के वरिष्ठ नेताओं से लेकर कर्मचारी तक शामिल हैं, जो इस देश को निरंतर अपनी बढ़ती स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण नरक में ढकेलते रहे हैं।

उनका लेखन केवल एक कहानी मात्र नहीं है बल्कि जीवन की वो सच्चाई है जिससे आज का प्रत्येक असहाय व्यक्ति जूझ रहा है। लेखक उदयप्रकाश अपनी रचनाओं को मनोरंजन नहीं समझते और न ही उनकी रचनाएँ ऐसी समझी जाएँ। उनकी प्रत्येक कहानी में जीवन का कड़वा सच व गंभीर चिंतन होता है, जिन्हें पढ़कर समाज का आकलन करना आसान हो जाता है, वह समाज के सभी पक्षों पर अपनी पैनी दृष्टि रखते हैं।

लेखक उदयप्रकाश ने कहानियों में जिस यथार्थ को दिखाया है, उसमें मानवीय संवेदनाओं की उतार-चढ़ाव को स्पष्टतः देखा जा सकता है। समाज की विकट समस्याओं को उठाकर लेखक ने सच्चे साहित्यकार की भाँति अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। 'दरियाई घोड़ा' कहानी संग्रह में संकलित कहानियाँ इसका जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

संदर्भ

1. उदयप्रकाश (दरियाई घोड़ा) (मूँगा धागा और आम का बौर), पृष्ठ 9
2. वही, पृष्ठ 10
3. वही, पृष्ठ 10
4. उदयप्रकाश, दरियाई घोड़ा, पृष्ठ 21
5. वही, पृष्ठ 30
6. वही, पृष्ठ 38
7. उदयप्रकाश, मौसाजी, पृष्ठ 40
8. वही, पृष्ठ 44
9. उदयप्रकाश, ज्ञ, जड, अलिफ, जगतपति और कफ्यू, पृष्ठ 50
10. वही, पृष्ठ 62
11. उदय प्रकाश, पुतला, पृष्ठ 67
12. वही, पृष्ठ 69
22. वही, पृष्ठ 71
14. वही, पृष्ठ 76
15. वही, पृष्ठ 77
16. वही, पृष्ठ 82
17. उदयप्रकाश, ददू तिवारी गणनाधिकारी, पृष्ठ 87
18. वही, पृष्ठ 87
19. वही, पृष्ठ 91
20. उदयप्रकाश, टेपचू, वही, पृष्ठ 100
21. वही, पृष्ठ 109
22. वही, पृष्ठ 114
23. वही, पृष्ठ 114

मुलदासपुर, माजरा, पोस्ट पतंजलि योगपीठ
रुड़की हरिद्वार (उत्तराखंड) 249405
मो॰ 9759903478, 9458983778
Angelpatil.in@gmail.com

हिंदीकाव्य और प्रकृति

डॉ॰ सुधारानी सिंह, डी॰लिट्॰
एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी
शहीद मंगल पांडे राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय
माधवपुरम्, मेरठ (उ॰प्र॰)

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का महत्वपूर्ण स्थान है। पर्यावरण का तात्पर्य हमारे चारों ओर के आवरण से है। पर्यावरण जीव को प्रभावित करनेवाली सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अत: पर्यावरण का संरक्षण अति आवश्यक है। हिंदूधर्म में देनेवाले को 'देवता' कहा गया है और जिन पंच महातत्त्वों (भूमि, वायु, जल, अग्नि और आकाश) से हमारी सृष्टि निर्मित है, वे हमें जीवन भर देते ही रहते हैं, बदले में लेते कुछ भी नहीं।भारतीय चिंतन में पर्यावरण की अवधारणा मानव जाति के प्राप्त इतिहास जितनी ही पुरानी है। हमारे धर्मग्रंथों, शास्त्रों और पुराणों सभी में पर्यावरण संरक्षण की बात कही गई है।

भारतीय संस्कृति में प्रकृति के विभिन्न अंगों को देवतुल्य मानकर उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। प्रकृति के साथ सहअस्तित्व की भावना रखकर जीवन जीनेवाले ऋषि-मुनियों ने भी प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति की है। आकाश को पिता, जल,अग्नि और पवन को देवता माना है। धरती को माता कहा गया है–'माता भूमि: पुत्रोहं पृथिव्या' अर्थात् धरती मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं। माता और पुत्र का यही भाव 'नमो मात्रे पृथिव्यै' अर्थात माँ पृथ्वी को प्रणाम है, में परिलक्षित होता है। यह भारतीय संस्कृति ही है जिसमें निर्जीव समझी जानेवाली पृथ्वी को प्रात:काल उठते ही चरण स्पर्श कर उस पर पैर रखने के कारण उत्पन्न अपराधबोध अनुभव करते हुए क्षमा याचना की जाती है।

समुद्रवसने देवी, पर्वतस्तन मंडले।
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शम् क्षमस्व मे।[1]

अर्थात् विष्णुप्रिया वसुंधरा! समुद्र आपके वस्त्र एवं पर्वत स्तन हैं, आपको नमस्कार है। मेरे पैरों द्वारा आपके स्पर्श के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

गीता में श्रीकृष्ण का कथन 'मैं वृक्षों में पीपल हूँ' तथा मत्स्यपुराण में पेड़ों को पुत्रों की संख्या से अभिहित करना पेड़ों के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं–

दश कूप-समावापी दशवापी-समोह्रद:।
दश-ह्रद-सम: पुत्रो, दश पुत्रसमौद्रुम:।[2]

अर्थात् दस कुओं के बराबर एक बावड़ी, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष है।

 ISSN 0975-735X

हमारी संस्कृति में नीम को पूर्ण चिकित्सक, आँवले को पूर्ण भोजन, पीपल को शुद्ध वायुदाता, पाकड़ और वट के युग्म में वृक्षों को जल संग्राहक एवं वट को पूर्ण घर माना गया है। भारतीय संस्कृति में त्योहारों का विशेष महत्व है। अपनी प्राचीन एवं पारंपरिक संस्कृति को जानना साथ ही विभिन्न त्योहारों में वट, पीपल, नीम, आम, केला एवं तुलसी के पौधे की पूजा तथा गाय, कुत्ता, चिड़ियों, चीटियों व मछलियों यहाँ तक कि कौवों आदि को भोजन खिलाना हमारी संस्कृति का अंग है। यह हमारी प्रकृति एवं मनुष्य के विभिन्न सहभागियों के प्रति जागरूकता का द्योतक है।

इस पृथ्वी पर मानव को छोड़कर अन्य सभी सचेतन और अचेतन सृष्टि को प्रकृति माना गया है। प्रकृति और मानव का संबंध चिरंतन है। प्रकृति आदिकाल से ही मानव की सहचरी रही है। मानव शिशु ने प्रकृति की गोद में ही आंखें खोलीं, उसी के अंक में खेल कर बड़ा हुआ और उसी के अद्‌भुत क्रियाकलापों से उसकी हृदस्थ भावनाओं का स्फुरण हुआ तथा उसी की नियमितता से बुद्धि का विकास हुआ। प्रकृति शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टि से मानव का पोषण करती हुई उसे जीवनपथ पर अग्रसर करती है। सत रूपी प्रकृति, चित्त रूपी जीव और आनन्द रूपी परमतत्त्व, तीनों ही मिलकर सच्चिदानंद परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं।

आदिमयुग में जब मनुष्य सभ्यता और संस्कृति के आलोक से वंचित था तब प्रकृति और उसकी विभूतियाँ ही उसके जीवन का आधार थीं। 'प्रकृति और मानव आदिकाल से ही एक-दूसरे के सहयोगी अथवा विरोधी होते आए हैं। प्रारंभ से ही प्रकृति अपनी ममतामयी कोख में मानव को धारण करती और उसका पोषण करती आई है। वायु व्यजन करता, निर्झरों का कल-कल शब्द संगीत सुनाता, नक्षत्रगण गुप-चुप कहानियाँ कहते, कलिका चुटकी बजाकर पास बुलाती, चंद्रिका खिलखिलाकर हँस पड़ती, सूर्य अपनी ज्योति विदीर्ण कर देता और मंद सुगंधित समीर नवीन स्फूर्ति का संचार कर देता है।'[3] मानव-जीवन इसी के प्रांगण में रहता है और यहीं रहकर वह भाँति-भाँति के क्रियाकलाप और सृजनाएँ करता रहता है। साहित्य भी उन्हीं में से एक है।

साहित्य-सृजन की शुरुआत उस कविता से मानी जाती है जो क्रौंच पक्षी के वध को देखकर आदिकवि वाल्मीकि के मुख से अनायास फूट पड़ी थी–

मा निषाद प्रतिष्ठात्वमागमः शाश्वतीःसमः।
यत्क्रौंचमिथुनामेदकम वधी काममोहितम।

आदिकाल में लिखे गए रासो ग्रंथों में भी प्रकृति-चित्रण उद्दीपन और उपमान रूप में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है।

बीसभादबऊ बरसई छइ मगहर गंभीर, जल-थल महीयल सहू भार्या नीर।।
जाणें सरवर उलटई। एक अंधारी बीजखी बाया।।
सूनी सेज विदेश पिया, दोई दुःख नाल्ह क्युं सइहणा जाई।[4]

विद्यापति के प्रकृति-सौंदर्य का उद्दीपन रूप में किया गया चित्रण प्रस्तुत है–

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर बन, कोकिल पंचम गावे रे।

मलयानिल हिम सिखर सिधारल, पिया निज देश न आवे रे।[5]

उन्होंने प्रकृति-सौंदर्य के अन्य रूप भी प्रस्तुत किए। अन्योक्ति रूप में यह उदाहरण द्रष्टव्य है–

कंटक माझ कुसुम परगास भ्रमर विकल नहीं आवए पास।
भमरा मेल धुरए रब राम तोहे बिनु मालती नहिं बिसराम।[6]

न सिर्फ आदिकाल अपितु किसी भी काल में रचनाकार अपने आपको प्रकृति से अलग नहीं कर पाया है। भक्तिकालीन कवियों की साधना में आध्यात्मिक तन्मयता व एकनिष्ठता का भाव विद्यमान रहा है। कबीर, तुलसी, सूर व जायसी की रचनाओं में प्रकृति का कई स्थलों पर रचनात्मक वर्णन हुआ है, जहाँ वन, पर्वत, नदी, पशु-पक्षी, उपवन आदि का स्वाभाविक व उल्लासमयी भंगिमाओं के साथ वर्णन भी सम्मिलित है।

सूरदास के काव्य में प्रकृति का वर्णन उस समय और भी अनूठा लगता है, जब वह कृष्ण के माध्यम से कहलवाते हैं कि प्रकृति का जो आनंद उन्हें ब्रज में मिलता था, वह इस कंचन की नगरी मथुरा में नहीं है–

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं,
हंससुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाहीं।
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।[7]

सूर के श्रीकृष्ण वर्णन में भगवान को यमुना के रूप में नदी, मोर के रूप में पक्षी, गाय के रूप में पशु, गोवर्धन के रूप में पर्वत, तुलसी के रूप में पौधा, कदंब के रूप में वृक्ष तथा वृंदावन के रूप में वन का प्रिय लगना प्रकृति-प्रेम का ही द्योतक है। सूरदास के काव्य में ब्रज प्रदेश का मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित है–

सदा बसंत रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास।
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर।
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार।[8]

वे गंगा को परम पवित्र और मुक्ति प्रदायिनी बताते हुए कहते हैं–

अति पुनीत विष्णु पादोदक, महिमा निगम पढ़त गुन चैन।
परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथी भई वर दैन।[9]

मानव को प्रकृति की गोद में सच्चा सुख और आनंद प्राप्त होता है तभी तो प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यों को देखकर मंत्रमुग्ध हुए मर्यादा पुरुषोत्तम राम के विषय में तुलसीदास पुष्पवाटिका प्रसंग में कहते हैं–

भूप बागु बार देखेउ जाई, जहँ बसंत ऋतु रही लुभाई।
लागे विटप मनोहर नाना, बरन-बरन बर बेलि विताना।

एवं

बागु तड़ागु बिलोक प्रभु हरसे बंधु समेत, परम रम्य आरामु यह जो रामहिं सुख देत।[10]

तुलसीदास ने रामचरितमानस में लक्ष्मण और सीता को वृक्षारोपण करते हुए दर्शाकर पर्यावरण संरक्षण का सुंदर दृश्य प्रस्तुत किया है–

 ISSN 0975-735X

तुलसी तरुवर विविध सुहाए। कहुँ-कहुँ सिय, कहुँ लखन लगाए।[11]

रसखान ने भी इसी भावना को बलवती करते हुए कहा है–

जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन।

भक्त रसखान ने अपनी 'गंगामहिमा' में गंगाजल को औषधीय गुणों से युक्त बताते हुए कहा है कि गंगाजल तो विष को भी प्रभावहीन करनेवाला होता है। वे गंगा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं–

वैद की औषधि खाऊँ कछु ना करौं व्रत संजम री सुन मोसे।
तेरोई पानी पियो रसखानि, संजीवन लाभ लहौं सुख तोसे।
एरी सुधामयी भागीरथी, कोउ पथ्य कुपथ्य करे तउ पोसे।
आक धतूरे चबात फिरें, विष खात फिरें सिव तेरे भरोसे।[12]

रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति-वर्णन भावों के उद्दीपन रूप में किया है। रीतिकाल में कवि प्रकृति के रूप में नारी के रूप स्वभाव की छाया खोजता रहा है–'बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में, बागन में बनन में बगर्यो बसंत है।'[13]

पद्माकर ने प्रकृति को बड़े ही अनूठे ढंग से चित्रित किया है–

भौंरन को गुंजन बिहार बन कुंजन में मंजुल मलारन को गाबनो लगत है।
कहै पद्माकर गुमान हूँ ते मान हूँ प्राण हूँ तैं प्यारो मन भावनो लगत है।
मोरन को सोर घनघोर चहुओरन , हिंडोरन को वृंद छवि छावनी लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में, सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है।[14]

आधुनिककाल में भी अनेक कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत ही नहीं, सौंदर्य का अक्षय भंडार, कल्पना का अद्‌भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर, विचारों की अटूट शृंखला भी रही है।[15]

हीगल का सौंदर्य प्रेम, हड्‌सन का यथार्थ जगत के प्रति आकर्षक भाव और लगाव तथा प्रेरक प्रेरणाएँ इसी सत्य की परिचायक हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देशकाल में काव्यशास्त्रों में प्रकृति और काव्य का जन्मना संबंध माना गया है तथा प्रत्येक कवि ने किसी न किसी रूप मात्रा में प्रकृति-चित्रण को अपने काव्य का अंग बनाया है।'[16] प्रकृति का रम्य दृश्य मानव-हृदय के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत रहा है तथा प्रकृति का मौन संकेत भावुक कवियों को सर्वथा काव्य-सृजन की शक्ति प्रदान करता रहा है। काव्य में प्रकृति आलंबन, उद्दीपन, मानवीकरण, प्रतीकात्मक, बिंब-प्रतिबिंब, उपदेशिका, रहस्यात्मक, दूतिका आदि कई रूपों में प्रयुक्त की गई है।

रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में न सिर्फ साधारण मनुष्य अपितु स्वर्ग की अप्सराएँ भी अपने आपको प्रकृति से अलग नहीं कर पाई हैं, जिसका वर्णन वे अपनी पुस्तक उर्वशी के प्रथम अंक में इस प्रकार करते हैं–

धुली चाँदनी में शोभा, मिट्‌टी की भी जगती है,

कभी-कभी यह धरती भी, कितनी सुंदर लगती है!
जी करता है यहीं रहें, हम फूलों में बस जाएँ।[17]

प्रकृति की छटा का सुंदर रूप मैथिलीशरण गुप्त की साकेत, पंचवटी, यशोधरा, सिद्धराज आदि ग्रंथों में अभिव्यंजित होता है। चंद्र-ज्योत्सना में रात्रिकालीन वेला की प्राकृतिक छटा का मुग्धकारी वर्णन द्रष्टव्य है–

चारु चंद्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में।[18]

इतना ही नहीं, सीताजी तो वनवास के दिनों अपार वनसंपदा पाकर अपनी कुटिया में ही राजभवन का आनंद अनुभव करती हैं, जिसका वर्णन साकेत में गुप्तजी ने स्वयं सीताजी के मुख से कराया है–

क्या सुंदर लता-वितान तना है मेरा,
पुञ्जाकृति-गुंजित कुंज घना है मेरा,
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़-दिव्य बना है मेरा,
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रभाव की काया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।[19]

आधुनिकयुग के काव्य में प्रकृति को स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ है। छायावादी कवि पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी आदि कवियों ने प्रकृति को विविध रूपों में चित्रित किया है। प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत ने तो एक पल के लिए भी स्वयं को प्रकृति से अलग नहीं किया। प्रकृति के आलिंगन में आबद्ध होकर उन्होंने नारी के रूप सौंदर्य तक को ठुकरा दिया–

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन।[20]

पंतजी प्रकृति को ही अपना सब-कुछ समझते हैं। उनके लिए तो प्रकृति ही प्रेयसी है, वही उनकी सहायिका के रूप में सर्वत्र उपस्थित होती है। उन्होंने सब कुछ प्रकृति से ही प्राप्त किया है–

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ-कुछ मधु पान।[21]

यह सत्य है कि मानव प्रकृति से कदापि विमुख नहीं हो सकता है, इसी कारण काव्य जगत में प्रकृति के स्वरूप का अस्तित्व सदैव रहा है और आगे भी रहेगा। प्रकृति तथा पर्यावरण संरक्षण का संदेश हमारी संस्कृति तथा साहित्य में आदिकाल से निहित है। स्पष्ट है कि उस समय के प्राकृतिक संसाधनों तथा समृद्ध पर्यावरण के बावजूद हमारे साहित्य में पर्यावरण संरक्षण को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है तथा यह वर्तमान संदर्भ में पहले से भी अधिक प्रासंगिक है।

 ISSN 0975-735X

संदर्भ

1. साहित्य और संस्कृति, डॉ॰ सरला अग्रवाल, पृष्ठ 141
2. वही, पृष्ठ 144
3. हिंदी में प्रकृति चित्रण, पृष्ठ 11
4. ww.hi.everybodywiki.comf\ हिंदीकाव्य में प्रकृति-चित्रण
5. ww.hi.everybodywiki.comf\ हिंदीकाव्य में प्रकृति-चित्रण
6. साहित्यिक निबंध, गणपतिचंद्र गुप्त, पृष्ठ 574
7. संक्षिप्त सूरसागर, संपादक डॉ॰ सिद्धनाथ पांडे, पृष्ठ 466
8. ww.m.bharatdiscovery.org\india\सूरदास का काव्य
9. साहित्य और संस्कृति, डॉ॰ सरला अग्रवाल, पृष्ठ 151
10. रामचरितमानस, तुलसीदास, दो॰ 227
11. https:\\hindi.indiwaaterportal.org\ramrajy aur paryavaran
12. साहित्य और संस्कृति, डॉ॰ सरला अग्रवाल, पृष्ठ 151
13. आधुनिक निबंध, रामप्रसाद किचलू, पृष्ठ 187
14. साहित्यिक निबंध, गणपति चंद्र गुप्त, पृष्ठ 577
15. वही, पृष्ठ 570
16. सूर और सूरसागर, पृष्ठ 45
17. उर्वशी, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 4
18. पंचवटी, मैथिलीशरण गुप्त, उद्धृत कविताकोष वेब पेज से
19. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ 138
20. साहित्यिक निबंध, गणपतिचंद्र गुप्त, पृष्ठ 740
21. वही, पृष्ठ 746

बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु के चिट्ठे' में सामाजिक और सामयिक प्रतिबद्धता

प्रा॰ सुहास वसंतराव अंगापुरकर
हिंदी विभाग प्रमुख
शिक्षणमहर्षि बापुजी साळुंखे महाविद्यालय
सोमवार पेठ, पंचाचा कोट, कराड (सातारा)

भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी साहित्य जगत् में प्रथम उत्थान युग के प्रणेता माने जाते हैं। हम सब जानते हैं कि हिंदी साहित्य निर्माण में उनकी अपनी अलग भूमिका और पहचान रही है। अनेक अनुसंधाताओं द्वारा भारतेंदु साहित्य में कई सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आयामों की खोज की गई है। इतना कुछ होने पर भी उन पर जितना लिखा जाए, उतना कम है। भारतेंदु ही नहीं अपितु भारतेंदु मंडल के अकानेक साहित्यकार सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। इनके साहित्य में प्राप्त इसी प्रतिबद्धता का समाज पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था और तत्कालीन शासनकर्ताओं पर भी। इस युग के ये लेखक असल में पत्रकार थे। ये कवि, कहानीकार, निबंधकार, नाटककार, किसी भी साहित्यिक विधा की रचना करते समय समाज-सुधार और भारतीयता की मुहिम चलाते थे। अत: इस काल का साहित्य सामाजिक और सामयिक प्रतिबद्धता का साहित्य है। जिस प्रकार इस (सामाजिक प्रतिबद्धतावाले) साहित्य की तत्कालीन समाज को आवश्यकता थी, उसी प्रकार आज भी है। भारतेंदु का प्रभाव उस काल के लगभग सभी साहित्यकारों एवं पत्रकारों पर बना हुआ था। ऐसे ही एक निर्भीक निबंधकार थे–बालमुकुंद गुप्त। इनके निबंध अत्यंत उत्कृष्ट कोटि के थे। इनके निबंधों (विशेषकर शिवशंभु का चिट्ठा) में व्याप्त सामाजिक एवं सामयिक प्रतिबद्धता पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत आलेख का महत् उद्देश्य है।

सामाजिक प्रतिबद्धता

मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। समाज में रहकर ही वह प्रगति की दिशा में कदम उठाता है। हम सब जानते हैं कि समाज से कटकर जीवन जीनेवाली कतिपय जातियाँ आज भी जानवरों जैसा जीवन जीती हैं। प्रगति के लिए सामाजिक प्रतिबद्धता की अत्यधिक आवश्यकता होती है। सामाजिक शब्द का अर्थ कालिकाप्रसाद के बृहत् हिंदी कोश में इस प्रकार लिखा है– 'समाज-संबंधी, समाज से संबंध रखनेवाला सहृदयी।'[1] इसी प्रकार सामयिक का अर्थ है–'समयोचित, समय के विचार से उपयुक्त, समय-संबंधी, वर्तमानकाल संबंधी, ठीक समय पर होने वाला।'[2] प्रतिबद्धता का अर्थ इसी कोश में–'किसी खास उद्देश्य, मतवाद आदि से संबद्ध होने की संकल्पबद्धता'[3] दिया है। बालमुकुंद गुप्त की रचनाएँ समाज से संबंध रखने वाली, समयोचित

 ISSN 0975-735X

और समाज के लिए आवश्यक गुणों की महत्ता का प्रतिपादित करने में सक्षम रही हैं। इस प्रकार की रचनाओं में 'शिवशंभु के चिट्ठे' विशेष ख्याति प्राप्त हैं। इनमें निहित विचारों पर प्रकाश डालने से पूर्व आपके साहित्य का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।

बालमुकुंद गुप्त और उनकी रचनाएँ

बालमुकुंद गुप्त वरिष्ठ पत्रकार थे। आपने शुरुआती दिनों में 'मथुरा अखबार' में लिखना शुरू किया था। सन् 1886 में आप 'अखबारे चुनार' के संपादक नियुक्त हुए। आप आजीवन पत्रकार थे। सन् 1886 से सन् 1907 तक अर्थात् अपनी मृत्यु तक आपने 'अखबारे चुनार', 'कोहिनूर', 'हिंदोस्थान', 'हिंदी बंगवासी' और 'भारतमित्र' आदि पत्रों का संपादनकार्य कुशलता से निभाया है। इनके अतिरिक्त आपने 'भारत प्रताप', 'अवध पंच' और 'नया जमाना' आदि पत्रों में भी लेखनकार्य किया है। आपकी प्रसिद्ध दो कृतियाँ हैं–'शिवशंभु के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत' आदि। ये दोनों रचनाएँ सन् 1905 में भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुई थीं। आपके निबंधों का संकलन 'गुप्त निबंधावली' नाम से प्रकाशित हुआ है। आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'मडेल भगिनी', 'रत्नावलि', 'खिलौना', 'खेल तमाशा' और 'सर्पाघात चिकित्सा' आदि हैं। बालमुकुंद गुप्त निर्भीक आलोचक हैं। आपकी निर्भीकता में ही समाजहित और समसामयिकता के दर्शन होते हैं। 'शिवशंभु का चिट्ठा' इसका उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है।

शिवशंभु का चिट्ठा का सामान्य परिचय

'शिवशंभु का चिट्ठा' बालमुकुंद गुप्त के निर्भीकतापूर्वक लिखी चिट्ठियों का संग्रह है। ये चिट्ठियाँ उन्होंने तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्जन को लिखी थीं। लॉर्ड कर्जन के कार्यकाल में भारतीय जनता अत्यधिक दु:खी थी। अराजकता, अमानवीयता, अन्याय और अत्याचार खुलेआम होता था। इस निरंकुश और स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन-व्यवस्था के खिलाफ शिवशंभु शर्मा के नाम से बालमुकुंद गुप्त ने चिट्ठियाँ लिखीं। इन्हें ही शिवशंभु के चिट्ठे नाम से पहचान मिली। ये चिट्ठियाँ सन् 1904 से 1905 तक पूरे एक वर्ष में 'भारतमित्र' में प्रकाशित होती रहीं। ये आठ चिट्ठियाँ थीं। इनके शीर्षक हैं–'बनाम लार्ड कर्जन', 'श्रीमान का स्वागत', 'वैयसराय के कर्तव्य', 'पीछे मत फेंकिए', 'आशा का अंत', 'एक दुराशा', 'विदाई संभाषण' और 'बंग-विच्छेद' आदि। इन चिट्ठियों के शीर्षकों से ही पता चलता है कि ये व्यंग्य और उपहासपूर्ण कटूक्तियाँ थीं। शासन के विरोध में इतनी निर्भीकता से आवाज उठाने का दुस्साहसपूर्ण कार्य बालमुकुंद गुप्त ने किया था। ये कटूक्तियाँ तत्कालीन समय पर प्रकाश डालते हुए सामाजिक प्रतिबद्धता का बराबर निर्वाह करती दिखाई देती हैं। लार्ड कर्जन को आपने समाज के लिए कुछ अच्छा करने के दिशा-निर्देश अपनी विशिष्ट शैली में दिए हैं। ये निर्देश कामचलाऊ भाषा में नहीं हैं, इसके लिए उन्होंने इतिहाससम्मत कई राजा-महाराजाओं के कार्यभार के उदाहरण कर्जन को दिए हैं। इनकी यह अनोखी शैली ने उन्हें अमर बना दिया है।

'शिवशंभु का चिट्ठा' में चित्रित सामाजिक प्रतिबद्धता

बालमुकुंद गुप्त की निर्भीक वाणी ने कई उदाहरणों के साथ कर्जन को कर्तव्यबोध से

परिचित कराया है। उनका यह कर्तव्यबोध कराना उनके सामाजिक दायित्व को प्रकट करता है। उनका मानना था कि समाज का उद्धार करने से ही राजा की प्रशंसा होती है अथवा लोग उस राजा को भूल जाते हैं। राजा अगर अपनी ही धुन में अपने ही शानोशौकत में रमने लग जाता है, तो ऐसे दकियानूसी राजा की पहचान अपने आप मिट जाती है। निबंधकार ने बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ कर्जन को समाज के लिए प्रतिबद्ध होने का संदेश सुनाया है। उसने कर्जन को लिखे चिट्ठे में कहा है–'लोग विक्रम को याद करते हैं या उसके सिंहासन को, अकबर को या उसके तख्त को? शाहजहाँ की इज्जत उसके गुणों से थी या तख्तेताउस से? आप जैसे बुद्धिमानी पुरुष के लिए यह सब बातें विचारणे की हैं।'[4] जो राजा, वाइसराय या जनता-जनार्दन का प्रतिनिधि जनता को भूलकर अपने राज्य को मजबूत कराने की बात सोचता है, तो उसे नष्टप्राय होना पड़ता है। उस राज्य को और ऐसे राजा को भी लोग भूल जाते हैं।

कर्जन के राज्य की भी यही दशा थी। जनता को भूलकर अपनी वाहवाही वह मूर्तियों के निर्माणकार्य में खर्च करके करना चाहता था। प्रजा दुखी और राजा सुखी ऐसी स्थिति रहने से वह राज्य किस काम का? बालमुकुंद गुप्त ने कर्जन को सचेत करते हुए लिखा है–'इस देश की प्रजा के हृदय में कोई स्मृति-मंदिर बना जाने की शक्ति आपमें हैं, पर यह सब तब हो सकता है कि वैसी स्मृति की कुछ कदर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे धातु की मूर्तियों के स्मृतिचिह्न से एक दिन किले का मैदान भर जाएगा।....ये मूर्तियाँ किस प्रकार के स्मृतिचिह्न हैं। इस दरिद्र देश के बहुत से धन की एक ढेरी है जो किसी काम नहीं आ सकती।'[5]

इस प्रकार गरीब और असहाय जनता की सहायता करने का उपदेश शिवशंभु के माध्यम से गुप्तजी ने किया है। उनका यह लेखकीय कार्य निर्भीक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण है। आज भी सामाजिक दायित्वबोध का निर्वाह करनेवाले ऐसे आलोचकों की आवश्यकता है। यही सामाजिक प्रतिबद्धता की प्रमुख निशानी है।

गुप्तजी ने निर्भीकता के साथ व्यंग्योक्तियों के माध्यम से वाईसराय कर्जन को कई रूपों में कोसा है। उन्होंने लिखा है–'विद्वान, बुद्धिमान और विचारशील पुरुषों के चरण जिस भूमि पर पड़ते हैं, वह तीर्थ बन जाती है। आपमें उपर्युक्त तीन गुणों के सिवा चौथा गुण राजशक्ति का है। अत: आपके श्रीचरण स्पर्श से तीर्थ से भी कुछ बढ़कर हुई।'[6] देश को असहाय बनाने वाले इस पुरुष की प्रशंसा का आधार व्यंग्य है। गुप्तजी ने यहाँ कर्जन की प्रशंसा न करके उसके राजशक्ति की अनुपयोगी व्यवस्था पर व्यंग्य किया है। गुप्तजी को चिट्ठे प्रकाशित करवाने में एक सशक्त और सजग पत्र 'भारतमित्र' मिला था। यह तत्कालीन कई समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला सशक्त पत्र था। इसके बारे में डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र ने लिखा है–'राजा, प्रजा, राज्य, व्यवस्था, वाणिज्य, भाषा और सबके उपर देशहित की चर्चा करनेवाला 'भारतमित्र' एक तेजस्वी, राजनीतिक पत्र के रूप में चर्चित और विख्यात हुआ....सुसभ्य प्रजाहितैषी राजा लोग समाचारपत्रों को स्वाधीनता देकर उत्साहित करते हैं, क्योंकि समाचारपत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है।'[7] इस प्रकार तत्कालीन समय में समसामयिकता का चित्रण और समाज-सुधार का प्रदर्शन इस पत्र के रूप में होता था। इसमें कई निबंधकार अपने विचार निर्भीकता से रखते थे। बालमुकुंद गुप्त को भी अपने विचार रखने के लिए एक विशेष माध्यम 'भारतमित्र' के

 ISSN 0975-735X

माध्यम से मिला था। अतः उसका आपने बखूबी उचित उपयोग भी किया। आज के पत्रकारों को उनसे सीख लेनी चाहिए कि निर्भीकता और सामाजिक प्रतिबद्धता ही पत्रकारिता की प्रथम सीढ़ी है और समसामयिकता का चित्रण करने से ही समाज-सुधार संभव है, जो गुप्त ने किया है।

इस प्रकार बालमुकुंद गुप्त के विचार प्रासंगिक हैं। यह प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। राजा न जाने कितने आते हैं और चले जाते हैं, पर समाजहित के लिए प्रतिबद्ध राजा ही कारगर सिद्ध होता है। हम देखते हैं कि राजा को धमकाने की हिम्मत जुटाना अत्यंत कठिन कार्य होता है। कोई विरला कवि, साहित्यकार, पत्रकार ही यह हिम्मत जुटा पाता है। इन विरले पत्रकारों में एक थे–बालमुकुंद गुप्त। उनके विचारों की आज समाज को जरूरत है। समाज के साथ समाज पर नियंत्रण रखनेवाले राजा को भी इनके विचारों की अति आवश्यकता है। कहा जाता है कि साहित्य अमर होता है। वह कभी मरता नहीं है। कालानुरूप उसकी महत्ता बढ़ती ही जाती है। 'शिवशंभु के चिटठे' ऐसे ही विचारात्मक विचारात्मक निबंध हैं, जो कालजयी हैं। इनका अमरत्व बराबर बना रहेगा क्योंकि सामाजिक दायित्वबोध ही इसके मूल में है।

संदर्भ

1. डॉ॰ कालिकाप्रसाद, बृहत् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पृ॰ 1237
2. वही, पृ॰ 1237
3. वही, पृ॰ 728
4. बालमुकुंद गुप्त, बनाम लॉर्ड कर्जन, भारतमित्र, 11 अप्रैल, 1903
5. वही
6. बालमुकुंद गुप्त, वाईसराय के कर्तव्य, भारतमित्र, 17 सितंबर, 1904
7. डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी-पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ॰ 130

हिंदी विभाग प्रमुख
शिक्षणमहर्षि बापुजी साळुंखे महाविद्यालय
सोमवार पेठ, पंचाचा कोट, कराड (सतारा) 415110
मो॰ 9423263950

डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया के परिपेक्ष्य में न्यू इंडिया की अवधारणा

डॉ॰ यशमाया राजोरा

डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया के परिपेक्ष्य में न्यू इंडिया की अवधारणा के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई भारत को डिजिटल भारत और डिजिटल इंडिया 21वीं सदी के भारत का निर्माण करना है, लोगों में डिजिटल निवेश करने के लिए जागरूकता पैदा करना है, भारत की अंतर्राष्ट्रीय जगत में एक नई पहचान बनाना है, भारत में ई-क्रांति के द्वारा निवेश को बढ़ावा देते हुए घरेलू निर्माण के सपने को पूरा करना है, डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया के द्वारा पूर्णत: प्रौद्योगिकी से जोड़ना है, शिक्षा व सार्वभौमिकता के साथ-साथ भारत को डिजिटल रूप से सशक्त बनाना है व अर्थव्यवस्था में जनभागीदारी को बढ़ावा देना है। भारत सरकार का यह प्रयास है कि भारत के सभी नागरिक तकनीकि रूप से शिक्षित हों व संचार-क्रांति का विकास हर क्षेत्र में पहुचाया जा सके। मेक इन इंडिया के द्वारा निर्माण और निवेश को डिजिटलीकरण से जोड़कर ई-क्रांति के द्वारा सभी समस्याओं का समाधान करना है। ई-गवर्नेंस, ई-क्रांति व प्रौद्योगिकी निर्माण रोजगार के सभी अवसर प्रदान करेगा, साथ ही युवा बेरोजगारी को कम करने में सहयोग करेगा, जिससे राष्ट्र विकास और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में समर्थन मिलेगा। इन दोनों अभियानों के द्वारा न्यू इंडिया विजन का प्रचार-प्रसार किया जाएगा ।

डिजिटल इंडिया

डिजिटल इंडिया भारत की एक महत्त्वाकांक्षी योजना है, जिसके तहत देश की जनता व सरकारी विभागों को डिजिटल इंडिया से जोड़ना है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि बिना कागज के उपयोग के सरकारी सेवाएँ इलैक्ट्रानिक रूप से जनता तक पहुँचाई जा सकें। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण इलाकों को हाई-स्पीड इंटरनेट के माध्यम से जोड़ना भी है।

भारत को विकास की ओर अग्रसर करने के लिए भारत में डिजिटलीकरण की आवश्यकता को महसूस किया गया इसलिए माननीय प्रधानमंत्री ने डिजिटल इंडिया के इस अभियान को देश के प्रत्येक क्षेत्र में पहुँचाने का सटीक निर्णय लिया और 1 जुलाई 2015 को डिजिटल इंडिया के प्रोजेक्ट का शुभारंभ किया गया। भारत को डिजिटल रूप से सशक्त समाज तथा ज्ञानवान अर्थव्यवस्था के रूप में रूपांतरित करने के लिए डिजिटल इंडिया एक बहुआयामी कार्यक्रम है, जिसमें डिजिटल अधोरचना का सृजन करना, जनता को सरकारी सेवाएँ प्रदान करना, नागरिकों को डिजिटल संबंधी शिक्षा देना, प्रौद्योगिकी के उपयोग के द्वारा नागरिकों को संपोषणीय जीवनयापन करने योग्य बनाना, लोगों को स्मार्ट शहर निर्माण में सहयोग, नगदी रहित इलैक्ट्रानिक वित्तीय लेन-देन करना, सहभागी शासन हेतु सहयोगात्मक डिजिटल फार्म उपलब्ध करवाना

 ISSN 0975-735X

इत्यादि सुविधाएँ उपलब्ध करवाई गई हैं।

डिजिटल इंडिया मात्र एक प्रोजेक्ट ही नहीं, अपितु भारत देश की अत्यावश्यक जरूरत भी है। डिजिटल भारत ई-गर्वनेस पर जोर देकर भारत को एक डिजिटल रूप से सशक्त व सुदृढ़ समाज में परिवर्तित करना चाहता है और जहाँ अधिकांश लोगों तक इंटरनेट की जानकारी नहीं पहुँच पा रही है, उन लोगों तक इंटरनेट-संबंधी समस्त जानकारी पहुँचाना ही डिजिटल इंडिया का प्रमुख उद्देश्य है। डिजिटल भारत के द्वारा देश में व्यावसायिक आयामों को चहुँमुखी विकास की ओर ले जाने में सुविधा होगी, जिससे भारत देश उन्नति की ओर अग्रसर होगा।

डिजिटल इंडिया की यह पहल इस बात पर केंद्रित है कि भारत को इस अभियान के माध्यम से लाभ और प्रोत्साहन के साथ-साथ सरकारी नीतियों और कनेक्टीविटी से जोड़ा जा सके। इसके साथ ही डिजिटल इंडिया का निर्माण नौकरी के अवसर प्राप्त करने और कौशल विकास को प्रोत्साहन देने के लिए किया गया है। डिजिटल इंडिया ने अपने कार्यक्रम में डिजिटल इंडिया के नौ स्तंभों का उल्लेख किया गया है–

–ब्राड बैंड राजमार्ग; मोबाइल संपर्क हेतु सार्वभौमिक पहुँच; सार्वजनिक इंटरनेट कार्यक्रम; ई-शासन प्रौद्योगिकी के माध्यम से सरकार में सुधार; ई-क्रांति-इलेक्ट्रोनिक तकनीकी माध्यम से सेवाएँ उपलब्ध करवाना; सूचना के सभी साधन उपलब्ध करवाना; इलेक्ट्रॉनिक निर्माण; रोजगार हेतु सूचना प्रौद्योगिकी; लाभ प्रदान करनेवाले सभी कार्यक्रमों में शीघ्रता।

डिजिटल इंडिया के द्वारा कुछ कार्यक्रमों की भी पहल की गई है, जो योजनाओं के अंतर्गत आते हैं। ऑनलाइन अभिलेख निक्षेपागार, मोबाइल बैंकिंग एवं डिजिटल लेन-देन, भारतीय विशिष्ट पहचान विकास प्राधिकरण को भुगतान गेटवे से समेकित करना, ई-न्यायालयों की स्थापना, टेलीचिकित्सा प्रणाली, विद्यालयों में ब्राडबैंड डिजिटल द्वारा साक्षरता, लोक शिकायत निवारण यांत्रिकी।

डिजिटल अधोरचना, स्मार्ट सिटीज, ई-शासन एवं सेवाएँ, डिजिटल भुगतान, ई-पेमेंट और ई-क्रांति का संचार बायोमेट्रिक, ई-लाइब्रेरी, ई-बैंकिंग, ई-वालेट आदि सभी डिजिटल इंडिया के विकासस्तर को बढ़ावा देते हैं। टाटा कन्सलटेंसी सर्विसेज द्वारा आयकर विभाग का ई-फाइलिंग पोर्टल विदेश मंत्रालय के समुद्रपारीय रोजगार संभाग की ई-माईग्रेट परियोजना को पूरा किया। इसके अंतर्गत भारत आने वाले विदेशियों, भर्ती एजेंट एवं विदेशी सेवा योजकों को केबल मोबाइल सेट से ही सभी कार्य करने की एकल सुविधा प्रदान की गई। भारत में वस्तु एवं सेवाकर के क्रियान्वयन हेतु पोर्टल इन्फोसिस ने तैयार किया। इसके अंतर्गत सूचना प्रौद्योगिकी के द्वारा एक ऐसा प्लेटफार्म विकसित किया गया, जो केंद्र एवं राज्यों के आँकड़ों के आधार पर आपस में जोड़ा जाएगा। डिजिटल इंडिया के द्वारा भारत को सुदृढ़ शासन के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

वर्तमान में सोशियल मीडिया के माध्यम से लोगों के मानवीय मूल्यों को परस्पर जोड़कर उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक इत्यादि बाधाओं को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। आज देश के सभी गाँवों में टेली-मेडिसन और मोबाइल हेल्थ केयर सेवाओं में ब्राडबैंड सेवाएँ प्रदान करने और नागरिकों को हाई-स्पीड इंटरनेट सेवाएँ उपलब्ध कराने पर ध्यान केंद्रित करना डिजिटल इंडिया की आवश्यकता है, जिसे संपूर्ण लक्ष्य तक

पहुँचाने में सभी का योगदान आवश्यक है।

मेक इन इंडिया

मेक इन इंडिया भारत सरकार द्वारा चलाया गया एक ऐसा अभियान है, जो भारत में व्यापार करने की इच्छा रखने वाले विश्व के सभी बड़े व्यापारियों व निवेशकों को व्यापार करने के लिए आकर्षित कर निवेश प्रविधियों को सहज बनाता है। माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी के द्वारा 25 सितंबर 2014 को नई दिल्ली में विज्ञान भवन के प्रांगण में मेक इन इंडिया का शुभारंभ किया गया। मेक इन इंडिया का प्रतीक चिह्न भी जारी किया गया है। चिह्न में सिंह को दिखाया गया है जो कि भारत के राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न अशोकचक्र से लिया गया है। यह चिह्न साहस, बुद्धिमत्ता व शक्ति को प्रदर्शित करता है।

मेक इन इंडिया योजना का लक्ष्य भारतीय अर्थव्यवस्था को नए आयाम देना है, जिससे कि भारत मैनुफैक्चरिंग के मामले में विश्व के सभी देशों के साथ खड़ा हो सके। इस अभियान के तहत किसी भी क्षेत्र में उत्पादन, टैक्सटाइल, आटोमोबाइल निर्माण, खुदरा, रसायन, आईटी बंदरगाह, दवा के क्षेत्र में, पर्यटन, स्वास्थ्य, रेलवे आदि क्षेत्र में अपने व्यापार को बढ़ावा देने के लिए यह एक बड़ा अवसर प्रदान करता है। मेक इन इंडिया के तहत बड़ी-बड़ी कंपनियों को भारत में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है ताकि वे भारत में ज्यादा से ज्यादा निवेश करके भारत को मैन्यूफैक्चरिंग में आगे ले जा सकें। भारत में विश्वस्तर पर निवेशकों के लिए निर्माण की संभावनाएँ बनती जा रही हैं। मेक इन इंडिया भारत सरकार का भारतीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने का प्रयास है। बुनियादी ढाँचे में विकास के साथ-साथ सूचना क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी विकास किया जाना अति आवश्यक है। प्रशासनिक स्तर पर भी व्यापक सुधार करके इस योजना को आगे बढ़ाना है। उद्योगपतियों, शिक्षाविदों और नौजवानों की सोच में एकरूपता लाने की भी आवश्यकता है। जब देशवासियों को हर स्तर पर मेक इन इंडिया अभियान का लाभ मिलेगा, तभी देश विश्वस्तर पर अपनी छवि बनाने में सफल होगा।

मेक इन इंडिया की प्रक्रियाओं को सफल बनाने के लिए भारत सरकार ने नियमों एवं प्रक्रियाओं को सरल बना दिया है तथा कई वस्तुओं पर लाइसेंस की जरूरतों को भी हटाया गया है। देश में संस्थाओं के साथ-साथ अपेक्षित सुविधाओं का विकास करके व्यापार के लिए एक मजबूत बुनियादी दृष्टिकोण बनाना है। व्यापार संस्थाओं के लिए अत्याधुनिक प्रौद्योगिक वातावरण उपलब्ध करवाकर एक स्मार्ट सिटी का विकास करना जरूरी है।

मेक इन इंडिया अभियान के लिए भारत सरकार ने 25 निम्नांकित क्षेत्रों को चिह्नित किया है आटोमोबाइल, फूडप्रोसेसिंग, अक्षय उर्जा, सड़क और राजमार्ग, एविएशन, चमड़ा, अंतरिक्ष, जैव प्रौद्योगिक, मीडिया और मनोरंजन, कपड़ा और वस्त्र, कैमिकल, खनन, थर्मल पावर, निर्माण, तेल और गैस, पर्यटन और हास्पिटेलिटी, रक्षा विनिर्माण, फार्मेस्यूटिकल्स, कल्याण, इलैक्ट्रिक मशीनरी, बंदरगाह, इलैक्ट्रानिक प्रणाली, रेलवे इत्यादि।

भारत प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध देश है। यहाँ के नागरिक किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिभा में कुशल हैं। इसके उपरांत भी उनको बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है और रोजगार के लिए बाहरी वस्तुओं व शहरों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए मेक इन इंडिया अभियान

का मुख्य उद्देश्य यही है कि भारत में अधिक से अधिक वस्तुओं की मैन्यूफैक्चरिंग हो, जिससे कि सामान की कीमत कम होगी, देश में रोजगार के अवसर बढ़ेंगे और देश को अच्छी गुणवत्ता वाला सामान कम कीमत पर प्राप्त होगा और भारत के नौजवान भारत से पलायन करने के बजाय अपने ही देश में रहकर अपनी प्रतिभा व कौशल को नए आयाम देंगे, जिससे देश में बेरोजगारी भी कम होगी और भारत एक सक्षम राष्ट्र बनकर अपनी श्रेष्ठता का ध्वज लहराएगा। मेक इन इंडिया भारत की खुशहाली का प्रतीक बनकर उभरेगा।

न्यू इंडिया विजन

न्यू इंडिया विजन भारत का एक नीतिगत और सैद्धांतिक व वैचारिक विषय है। भारत के मेक इन इंडिया और डिजिटल इंडिया दोनों को मिलाकर जो विचार दृष्टि उत्पन्न हुई है, वह न्यू इंडिया विजन का निर्माण है। आज भारत 21 वीं सदी में है, जो भारत को विकसित देशों की कतार में खड़ा करता है। मेक इन इंडिया और डिजिटल इंडिया से विकासाधारित राष्ट्र का वैचारिक रूप उभरकर आया है।

मेक इन इंडिया और डिजिटल इंडिया भारत के न्यू इंडिया विजन को विकास की ओर अग्रसर करता है, जिसके अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक, वैश्विक और उन समस्त प्रौद्योगिक क्षेत्रों का विकास करना है। विकास सभी प्रौद्योगिक निवेशों के सहयोग के द्वारा ही संभव है।

राष्ट्र की प्रत्येक इकाई स्वयं को वैश्विक मानदंड के अनुरूप ऊँचाइयों पर ले जाकर सर्वांगीण संवृद्धि में विकास करेगी जो न्यू इंडिया विजन को पूरा करने में सहयोग देगी।

न्यू इंडिया विजन 2022 तक पूरा करने का लक्ष्य रखा गया है। नया भारत 65.1 युवा अधिकार संपन्न और महिलाओं के विकास की आकांक्षा से संचालित भारत होगा। भारत को गरीबीरेखा से हटाकर विकास के अवसर की माँग को पूरा करेंगे।

न्यू इंडिया विजन में योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग का गठन करना न्यू इंडिया विजन की पहली सीढ़ी है। न्यू इंडिया विजन राष्ट्र-निर्माण की सोच की प्रतिध्वनि रही है। यह भारतीय रूपांतरण के नए फार्मूले की खोज है, जिसका सरोकार ढाँचागत विकास, कृषि बैंक आदि में सुधार को मध्यनजर रखा गया है। औद्योगिक स्थिति अब ई-प्रौद्योगिकी के रूप में उभरकर आई है।

न्यू इंडिया विजन में महिलाओं हेतु (उज्ज्वला योजना) तथा 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' जैसी योजनाओं का शुभारंभ किया गया है। प्रधानमंत्री सिंचाई योजना के तहत ई-मंडी की शुरुआत की गई। सत्ता के विकेंद्रीकरण को मजबूत करने के लिए ग्राम पंचायतों को आप्टिकल फाइबर केबल से जोड़ने व पंचायतों के हाथों सीधे पैसे पहुँचाने के साथ उन्हें और अधिक स्वायत्तता देने का प्रयास किया गया है।

न्यू इंडिया विजन में वैदेशिक संबंधों में सरकार प्रोएक्टिव पॉलिसी को अपना रही है जिससे मंगोलिया से संबध स्थापित करने का प्रयास व चीन की वन बेल्ट वन रोड परियोजना में शामिल न होने का फैसला लिया है। आतंकवाद के मुद्दे पर भी सरकार सख्ती से निपटने के लिए पूरे सार्थक प्रयास कर रही है, जिससे राष्ट्र कहीं से भी कमजोर नजर न आए। आज भारत सांस्कृतिक रूप से बुद्धा सर्किट कांसेप्ट के द्वारा बौद्धधर्म से जुड़कर एशिया के अधिकांश देशों

का एक नेटवर्क बनाने की योजना को मूर्त रूप दे रहा है वर्तमान भारत सरकार विकास आधारित सभी योजनाओं को पूर्ण करने व भारत का ढाँचा पूरा करने में सलंग्न है, जो न्यू इंडिया विजन के स्वरूप को पूरा करने में लगी हुई है।

उपलब्धियाँ व संभावनाएँ

डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया दोनों योजनाओं के द्वारा 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' का सपना साकार करना है जो न्यू इंडिया विजन का और मेक इन इंडिया दोनों एक ठोस आर्थिक, सामाजिक बदलाव की विचारदृष्टि का नाम है। जहाँ सभी को अवसर और प्रोत्साहन के नए अवसरों का नया भारत। लहलाते खेत और मुस्कराते किसानों के चेहरे डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया की वैश्विक कतारों में अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति रखनेवाला भारत होगा। यह न्यू इंडिया विजन भारत सवा सौ करोड़ देशवासियों के मन का नया भारत होगा ।

इन योजनाओं के द्वारा भारत में रोजगार की सुविधाएँ बढ़ जाएँगी व इंडिया का प्रत्येक व्यक्ति डिजिटल इंडिया और मेक इन इंडिया से पूर्णतः संपन्न होगा। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक आदि के द्वारा डिजिटल आधारभूत ढाँचे का निर्माण करना आसान होगा। व्यक्ति पूर्णतया स्मार्ट सिटी, स्मार्ट गलियाँ व अत्याधुनिक पद्धति से सुसज्जित होगा। डिजिटल रूप शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने की संभावना होगी भारत में बेराजगारी का आँकड़ा कम होगा व्यक्ति स्वयं के व्यवसाय के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करने में सफल होगा। भारत में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी सुविधाओं को पूरा करने में सक्षम होगा।

संदर्भ

1. सुनीलकुमार गुप्ता, मेक इन इंडिया : ए कम्पेडीम आफ बिजनेस अप्रोचरनिटी एंड लॉ इन इंडिया पारागन पब्लिशर्स, नई दिल्ली 2016
2. चेतन भगत, मेक इन इंडिया, अवेसम प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
3. नमन विनोद, मेक इन इंडिया : प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का नया प्रयास, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2015
4. नमन विनोद, डिजिटल इंडिया, हिन्द पाकेट बुक्स जोहर बाग नई दिल्ली, 2015
5. प्रदीप नीनान थामस, डिजिटल इंडिया, अंडरस्टेंडिग इन्फोरमेंशन कम्यूनिकेशन एंड सोशियल चेंज इंडिया सेजे पब्लिकेशन इन थाउजड आक्स, कालिफ, 2012
6. भट्टाचार्य ए, ब्रुस ए, मुखर्जी, ए, मेक इन इंडिया : टेरनिंग विजन इन टू रियलिटी, न्यू देहली बी.सी. जी, 2014
7. कुमार आनंद, इंटरनेट एंड डिजिटल दा डिजिटल डिवाइस इन इंडिया ए केस स्टडी आफ धर 2014
8. ईश्वर सी॰ ढींगरा, मेक इन इंडिया, कासमोस बुक हाइव, गुडगाँव, 2014

राजनीति विज्ञान विभाग
एफ॰सी॰आई॰ गोदाम के सामने
शिव कालोनी, दौसा 303303 **(राज॰)**
मो॰ 9414253055
ysrajora6@gmail.com
ysamaya rajora@gmail.com

ISSN 0975-735X

कमलेश्वर की कहानियों में यथार्थबोध

अनिलकुमार अनल
शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

हिंदी साहित्य के लगभग 150 साल के इतिहास में तीन लेखकों ने इसकी दिशा और दशा बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चाहे कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' रही हो, राजेंद्र यादव की 'प्रेत बोलते' हैं, या फिर मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन'. इन तीनों की लेखनी ने हिंदी साहित्य की अविरल धारा को समृद्ध बनाने में भरपूर कोशिश की। इसमें सबसे अहम योगदान कमलेश्वर का रहा। राजेंद्र यादव ने शुरू में उत्कृष्ट लेख देने के बाद अपना ध्यान उपन्यास और पुस्तक के व्यवसाय पर केंद्रित कर लिया। उनकी रचनाओं को लेकर कुछ विवाद भी हुए। मोहन राकेश ने अच्छी कहानियाँ जरूर गढ़ीं, लेकिन जब वे अपने चरम पर थे तो असमय काल के कपाल ने उन्हें गले लगा लिया। हालाँकि, बाद में मोहन राकेश कहानियों से इतर नाटक मंचन में अपने आपको खपाने लगे थे।

ऐसे में कमलेश्वर ही थे, जिन्होंने शुरू से अंत तक अपनी संयमित विविधता और सृजनशीलता को बनाए रखा। राजेंद्र यादव हंस पत्रिका में लिखते हैं, 'नई कहानी' आंदोलन के प्रारंभिक पैरोकारों में सबसे अधिक जुझारु व्यक्तित्व कमलेश्वर का था। हालाँकि मुझे, मोहन राकेश और कमलेश्वर तीनों को नई कहानी आंदोलन के नेतृत्व करनेवालों के रूप में देखा-जाना जाता है, पर नई कहानी आंदोलन को हिंदी साहित्य में स्थापित करने में कमलेश्वर की भूमिका अहम थी। स्थापित साहित्यकारों की ओर से सबसे अधिक हमले उन पर ही हुए और आगे बढ़कर हमले का जवाब भी उन्होंने ही दिया।'

भारतीय समाज और राजनीति पर अपने मन के द्वंद्व का इजहार कहानियाँ गढ़ने से इतर जाकर वे सार्वजनिक रूप से करते थे। ये कमलेश्वर ही थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य में रचनात्मकता लाने के लिए 'नई कहानी' जैसा आंदोलन चलाया फिर 1972 में उसी हिंदी साहित्य के पतन को देखते हुए समांतर कहानी आंदोलन की शुरुआत भी की। 'सारिका' पत्रिका द्वारा चलाए गए इस आंदोलन से पहली बार दलित-लेखन ने साहित्य में अपनी जगह बनानी शुरू की। कमलेश्वर ने नए लेखकों को प्रोत्साहन देने और उनके संघर्षों को जगह देने के लिए 'गर्दिश के दिन' नामक एक कॉलम भी शुरू किया था। अपने मन की करने वाले कमलेश्वर आपालकाल के उस भयानक दौर में भी इंदिरा गांधी से लोहा लेने से नहीं चूके। उस समय इंदिरा का फरमान था कि छपने से पहले वे अपनी पत्रिकाओं और लेखों को सरकार को दिखाएँ। कमलेश्वर को दूरदर्शन का महानिदेशक बनाने की प्रक्रिया चल रही थी। उनकी नियुक्ति की प्रक्रिया बाकी थी। उन्होंने उस दौर में भी 'काली कहानी' जैसी कहानी लिखते हुए आपातकाल का जमकर

विरोध किया। जब यह बात इंदिरा गांधी को पता चली तो ये उनका बड़प्पन कह लें या फिर कमलेश्वर की स्पष्टवादिता का प्रभाव, गांधी ने केवल इतना कहा कि वे कमलेश्वर को दूरदर्शन के खिलाफ भी ऐसा ही मुखर देखना चाहेंगी।

कमलेश्वर की कहानियों में विशदता है, विराटता का बोध है, जीवन के विविध पक्षों का संस्पर्श कर यथार्थ अभिव्यक्ति देने का आग्रह है और आधुनिकता के बारीक से बारीक रेशों को परिवर्तित सामाजिक संदर्भों में ही अभिव्यक्त कर उन्होंने समकालीन और सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की सायास कोशिश की है।

कमलेश्वर ने हिंदी कहानी को एक नई परिभाषा प्रदान की। उन्होंने मूलत: निम्न मध्यमवर्गीय जीवनमूल्यों को अपनी रचनाशीलता का आधार बनाया। कहानी की रचना-प्रक्रिया में वे नई दृष्टि को महत्त्वपूर्ण मानते थे। कमलेश्वर ने आधुनिक मनुष्य के संकट, समस्या, तनाव, घुटन, विसंगति, संत्रास, भय आदि का चित्रण अपनी कहानियों में किया। दरअसल, उन्होंने संक्रमित, सामाजिक जीवन-संदर्भों की अभिव्यंजना व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से की। कमलेश्वर की कहानियाँ नए जीवनमूल्यों को प्रतिष्ठित करती हैं। साथ ही पारंपरिक रूढ़ियों पर प्रहार भी करती हैं।

कमलेश्वर ने हिंदी कहानी को कुंठा और घुटन के सघन कोहरे से निकालकर खुले वातावरण में साँस लेने का अवसर प्रदान किया है। कमलेश्वर के अनुसार–'पश्चिम की कुंठा, कुत्सा, अकेलापन, पराजय और हताशा चिंता का विषय हो सकती हैं, वर्ण्य नहीं; क्योंकि हमारा कुंठा, अकेलापन और अस्तित्व का संकट उससे नितांत भिन्न है। वह टूटते परिवार से उद्‌भूत है, वह आर्थिक संबंधों के दबाव से अनुस्यूत है। हम अपने सलीब स्वयं ढोने वालों की स्थिति में नहीं हैं, हमारी स्थिति दूसरों द्वारा गाड़े गए सलीबों पर जबर्दस्ती लटका दिए गए लोगों की है।'[1]

वर्तमान संदर्भ में कहानी का स्वरूप बदला है। इसलिए उसके मानदंड में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। कहानी की सफलता या असफलता की कसौटी यह नहीं हो सकती है कि वह किस हद तक और किसका मनोरंजन करती है, अपितु यह है कि मनुष्य की संवेदनाओं को कहाँ तक झकझोरती, उकसाती और स्पर्श करती है। कमलेश्वर की कहानियों में लोकजीवन की सांस्कृतिक और मधुर संवेदनाओं से युक्त कहानी है। देवा की माँ ऐसी ही संवेदनाओं से युक्त कहानी है। देवा की माँ के चरित्र के माध्यम से कमलेश्वर ने एक पीढ़ी के नारी-सत्य को बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत किया है।

कमलेश्वर के कहानी साहित्य में यथार्थ पूरे उभार के साथ उद्‌घाटित होता है। यही कारण है कि कमलेश्वर व्यक्ति की परिस्थिति एवं मूल्यगत संक्रमण को अपने कहानी साहित्य में वाणी देते हैं। यही इनका यथार्थ बोध है। जीवन का यथार्थ-चित्रण करने के लिए कमलेश्वर की 'नीली-झील' कहानी का महेश पांडे, 'अकाल' के रघुनंदनलाल, 'कस्बे का आदमी' का छोटे महाराज, 'देवा की माँ' की माँ आदि चरित्र साधारण जीवन व्यतीत करते हुए वर्णित हुए हैं। ये सभी चरित्र पुरातन जीवनमूल्यों के प्रति अपवादस्वरूप हैं और अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। इन चरित्रों ने नियमों को बदला है और उन्हें स्वीकार भी किया है। आंचलिक स्तर पर

 ISSN 0975-735X

यथार्थवाद की अभिव्यक्ति किस प्रकार की जाती है एवं ग्रामीणों में वैयक्तिक चेतना कितनी उभारी जा सकती है, वह 'नीली-झील' कहानी से स्पष्ट हो जाता है।

कमलेश्वर की कहानी में यथार्थ का हृदयग्राही व मार्मिक चित्रण हुआ है, जिसकी झलक 'अकाल' कहानी में देखने को मिलती है। प्रस्तुत कहानी में एक क्षुधातुर परिवार का वर्णन हुआ है, उस परिवार में दावत के प्रति लालसा है, जैसे स्वादिष्ट भोजन कभी नसीब नहीं हुआ हो। जब उन्हें बुलावा आता है, तब सभी प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु किसी के पास ढंग के कपड़े नहीं हैं, किसी के पास जूते नहीं हैं, किसी के पास जूतों में फीते नहीं हैं, किसी की नेकर गंदी है। फिर भी वे सब निकल पड़ते हैं। बातों ही बातों में पैदल ही सफर कट जाता है। सुंदरसिंह के घर पहुँचकर, दावत के इंतजार में भोली-भाली आँखें लिए वे खामोश बच्चे जैसे उनका राज खोले दे रहे थे, हम भूखे हैं। हम आज पेट भर खाने के लिए खड़े हैं, हम मिठाई खाएँगे, हम नमकीन खाएँगे, रायता और चाट तरकारी खाएँगे।[2] भोज प्रारंभ होने पर क्या रघुनंदन लाल या उनके बच्चे कुछ भी खा पाते हैं? रघुनंदनलाल के दाँत कुछ भी चबा नहीं पाते, बच्चों की खाने की गति धीमी होने के कारण रघुनंदनलाल का आदेश भरी आँखें उन्हें खाने की मेज से उठा देती हैं। बिना रिक्शा लिए ही ये सब घिसटते-घिसटते घर पहुँचते हैं और रघुनंदनलाल खाट पर लेटते हुए पत्नी को धीरे से पास बुलाकर बोले–'सुनो कुछ बचा है?'[3] यहाँ पर कितना कारुणिक यथार्थ का चित्रण हुआ है, निर्धनता कितना बड़ा अभिशाप है, इसका प्रमाण आँखों के सामने चित्रवत् उपस्थिति होते चारों बच्चे दे देते हैं। इस प्रकार कमलेश्वर की कहानियों में यथार्थ अपने पूरे रूप में उभरा है। इनका यथार्थ चित्रण कहीं भी इतना कटु एवं रिक्त नहीं है, जो खटकने लगे, ऐसा चित्रण है जो पढ़ते समय प्रतीत होता है कि सामने ही घटित हो रहा है, इसमें अतिशयोक्ति कहीं भी नहीं।

कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' एक बेजोड़ कहानी है, जहाँ नैतिक मर्यादाएँ परिवर्तित होकर युग-सापेक्ष हो गई हैं। उसमें वैयक्तिक चेतना के साथ-साथ वर्ग-वैषम्य बहुत ही भव्यता के साथ ध्वनित हआ है। दो कथाएँ एक साथ चलती हैं–एक तो पौराणिक लोककथा, राजा-रानी की और दूसरी रचनाकार की कल्पना, निम्नमध्यवर्गीय जगपति तथा चंदा की। राजा-रानी की कथा में वैयक्तिक चेतना का कोई विशेष उभार नहीं है, फिर भी रानी के माध्यम से इतना तो है ही स्त्री-पुरुष से ऊपर उठने की कोशिश करती है और उठ भी जाती है। राजा-रानी की कथा तो एक संकेत-भर है। असल कहानी तो है चंदा और जगपति की। सामंती पौराणिक संस्कृति के राजा-रानी और वर्तमान आर्थिक विषमताओं से तंग जगपति एवं चंदा जैसे अभिशप्त स्त्री-पुरुष को पारस्परिक विरोध में रखकर कमलेश्वर ने यह उद्घाटित करने की कोशिश की है कि यदि संपत्ति हो, चरित्र हो या न हो, नैतिकता हो या न हो, तो भी मनुष्य समाज में पूजा जा सकता है, जैसे राजा-रानी समाज में सम्मान योग्य माने जाते हैं, संपत्ति उनके सभी कृत्यों पर पर्दा डाल देती है। जगपति और चंदा की कथा के माध्यम से कमलेश्वर ने निर्धन वर्ग के मन की टोह ली है और अर्थपरक वैयक्तिक चेतना को वाणी दी है।

'खोई हुई दिशाएँ' से कमलेश्वर की एक नई यात्रा आरंभ होती है। वे कस्बाई जीवन से बाहर निकलते हैं। 'राजा निरबंसिया' और 'कस्बे का आदमी' की कहानियों में सामाजिक

असंगतियों, विडंबनाओं, विद्रूपताओं और अमानवीयता के बावजूद एक कोमलता है, जीवन की सहजता और मूल्यवत्ता की तलाश की टीस है। 'देवा की माँ', 'पानी की तस्वीर', 'सुबह का सपना', 'मुर्दों की दुनिया, 'तीन दिन पहले की रात', 'कस्बे का आदमी' आदि कहानियों में एक मूल्य है; एक आदर्श की अभिव्यक्ति है और यह स्थिति सन् 60 के आस-पास की रचनाओं में परिलक्षित होती है। 'खोई हुई दिशाएँ' कहानी शहराती बोध, अजनबीपन पर लिखी गई कहानी है। कस्बे से बाहर निकला चंदर शहर में आकर अपने को अकेला और अजनबी महसूस करता है। वह कस्बाई जीवन का सामाजिक संस्कार लेकर महानगर में भटकता है, लोगों से आत्मीय संबंधों की अपेक्षा करता है, लेकिन यहाँ अजनबीपन लगातार व्याप्त है। समाज अजनबी है, शासन अजनबी है, पड़ोसी अजनबी है किंतु विडंबना यह है कि चंदर के अकेलेपन में सभी अपने-अपने ढंग से दखल देते हैं। अजनबीपन शहर के अकेलेपन और परायेपन की ऊब का सार्वजनिक चित्रण न होकर व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ अधिक है। सिर्फ एक कहानी 'एक रुकी हुई जिंदगी' कुछ प्रभावित करती है। यह कहानी घड़ी के पेंडुलम-सी हिलती जिंदगी की बड़ी सटीक व्यंजना है। कहानी के पात्रों के जीवन चार वर्ष में ही बदल जाते हैं। चार वर्ष सतवंती को गुजरे हुए हो गए और तभी से कमरे की दीवार पर घड़ी में बस वही सवा आठ बज रहे थे।'[4] यह ठहरी हुई जिंदगी की 'तलाश' में भी है, वहाँ सुमी को केलेंडर की तारीख बदलने का होश ही नहीं रहता है। 'तलाश' में ऐसे सिद्धांतों का प्रतिफलन है। ममी और सुमी ऐसी ही मन:स्थितियों में जी रही हैं, जहाँ अस्तित्व होते हुए भी व्यक्ति अनस्तित्व अनुभव करने को विवश हो जाता है, तभी तो ममी हँसते-हँसते बोली थी—जब से तू गई, तारीख ही नहीं बदली। ख्याल ही नहीं रहा और सुमी चाहते हुए भी कुछ कह नहीं पा रही थी। उसे लग रहा था कि चलने से पहले वह ज्यादा से ज्यादा पूछ पाएगी तो यही कि अभी कितना बज गया है?

'मांस का दरिया' में कमलेश्वर पुन: सामाजिक संबंधों की आपसी टकराहट से उत्पन्न संवेदनात्मक गहराई एवं नवीन दृष्टि के समन्वयात्मक सौंदर्य की ओर मुड़ते हैं। 'मांस का दरिया' वेश्या-जीवन से संबद्ध कहानी है, जो कथ्य की निर्बाध स्पष्टता और भाषा के खुलेपन के कारण विवाद का विषय रही है। एक जमाने की संगीत, नृत्य और मधुर संभाषण के लिए प्रसिद्ध वेश्या को वर्तमान समय में केवल 'मांस का दरिया' बना दिया गया है। वेश्या के पास देने लिए मांस के अलावा होता भी क्या है? प्रस्तुत कहानी की नायिका जुगनू के संबंध में कमलेश्वर लिखते हैं—'कोई-कोई रात तो खाली ही चली जाती थी और अपनी कोठरी में अकेले लेटे हुए वह बहुत घबराती थी।....यह पहाड़-सी जिंदगी...दिन-दिन टूटता हुआ शरीर।'[5] लेखक आवेश उपदेश या दया का आँचल ओढ़ने का नहीं, उसके यथार्थ रूप को परखने एवं प्रस्तुत करने का पक्षधर है। वातावरण-अंकन के सहारे पात्रों के दर्द को वह अधिक पैना कर पाया है। अंगारे की तरह जलती यह कहानी नारी की परवशता और छटपटाहट के कारण अधिक कलात्मक बन पाई है।

'बयान' एक सशक्त कहानी है, जो न्याय-व्यवस्था के खोखलेपन को बेनकाब करती है। व्यक्ति की मौत का कारण है क्रूर व्यवस्था, परंतु न्याय-व्यवस्था क्रूर व्यवस्था पर प्रहार

 ISSN 0975-735X

करने के बदले उस व्यक्ति की मौत का रहस्य तलाशती है, उस मृतक व्यक्ति के पारिवारिक संबंधों के बीच। यह कहानी अदालत में दिए गए बयान के रूप में आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। घटनाएँ चित्रपटी की तरह इतने वेग से घटती हैं कि कहानी का सौंदर्य कहीं क्षीण नहीं होने पाता, न उसकी रोचकता कहीं टूटती है।

'नीली झील' सहज मानव-संवेदना को साकार करनेवाली वातावरण-प्रधान कहानी है। स्वच्छंद अल्हड़ प्रकृति के और रूप-लावण्य के पीछे ललचाई नजर से निरर्थक दौड़ लगाने वाले और उम्र के दस साल बड़ी विधवा पत्नी से उखड़े-उखड़े रहने वाले अनपढ़ देहाती महेसा की जीवनधारा को प्रसूत पत्नी पारवती की मौत ने बदल दिया। पत्नी के अंतिम समय 'मंदिर और धर्मशाला' के निर्माण के लिए बचनबद्ध महेसा को झील का आकर्षण कुछ दिनों के लिए उदासीन अवश्य बना पाया, पर अंततोगत्वा शिकारी की गोली से मृत सारसनी के पीछे सारस के हृदयद्रावक क्रंदन में अपनी विलाप-ध्वनि पानेवाला महेसा, नीलाम में मंदिर के लिए जमीन के बदले किसी अज्ञात प्रेरणा से दलदल वाली नीली झील ही खरीद लेता है। झील पर लगाई गई–'यहाँ शिकार करना मना है-महेसा पांडे, नीली झील का मालिक' तख्ती में काल के क्रूर हाथों असमय छीन ली गई पत्नी के विछोह की वेदना साकार होती है। सारस का जोड़ा जैसे जीवन के लिए रूपक बन गया है। कार्तिक अगहन में आनेवाले पंछियों की आस उसे मृतपत्नी के संतर्पण की सांत्वना पहुँचाती है। कस्बाई परिवेश का अंकन करनेवाली इस कहानी के संवाद आंचलिकता लिए हुए हैं। महेसा की मन:स्थिति को कहानीकार ने चित्रण और प्रतीकों के सहारे उभारा है। यौनभाव की परतों को कमलेश्वर ने बड़े ही सहज लहजे में उकेरा है।

'देवा की माँ' में परित्यक्ता नारी के मानसिक द्वंद्वों का चित्रण किया गया है। माँ का दरी बुनकर, अपना और पुत्र का पेट पालन और किसी तरह दिन काटना ग्रामीण परिवेश की कठोरता को परिभाषित करता है। प्रस्तुत कहानी में देवा के मन न लगने की चर्चा की गई है। परित्यक्ता नारी दांपत्य-निर्वाह की छटपटाहट, गुजारे की स्वनिर्भरता, दूसरी पत्नी के साथ रहनेवाले पति के प्रेम की पुन: प्राप्ति की आशा, पति का छलिया रूप प्रकट होने पर उसके प्रति घृणामूलक प्रतिक्रिया इसके बावजूद उसकी बीमारी में उसके क्षेमकुशल की प्रार्थना, प्रवंचक पति के मन में छिपी सौभाग्यरक्षा का प्रकटीकरण, पुत्र-वात्सल्य देवा के जेल जाने पर पास-पड़ोसी एवं संबंधियों का विपन्न नारी से आँखें चुराने का जनमानस आदि का सजीव वर्णन है। देवा की माँ में एक ओर सौभाग्य के प्रति निष्ठा है तो दूसरी ओर पति के प्रति अटल विरक्ति भी। देवा कहता है–'हमलोग चलकर बाबूजी को आज ही देख आएँ। माँ स्पष्ट मना करती है, तुम नहीं जाओगे? देवा ने जैसे बात समझाने के लिए बात दोहराई। नहीं? माँ के स्वर में हठता थी। तो मैं चला जाऊँ? देवा सहसा कह गया। नहीं? माँ ने उसी दृढ़ता से कहा और अपने काम में लग गई।'

आधुनिकयुग में मानव अपना यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत नहीं करता, फलत: रचनाकार उसे हमारे समक्ष वास्तविक रूप में उजागर करता है। 'दिल्ली में एक मौत' कहानी में कमलेश्वर ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति की मौत भी मात्र दिखाने की वस्तु बन गई है। लोकप्रिय सेठ दीवानचंद की मौत का असर दिल्ली की रोजमर्रा की जिंदगी पर नहीं हुआ। दिल्ली की जिंदगी की हलचल के बीच में सेठ दीवानचंद की अर्थी निकल रही है। शव के साथ श्मशान यात्रा के

लिए कुल सात आदमी बाकी श्मशान भूमि में स्कूटर, कार एवं टैक्सियों की भीड़। यहाँ दिल्ली महानगर की भागदौड़ भी बनावटी जिंदगी का संकेत किया है, जो आधुनिक जीवन के खोखलेपन को भी खोलते हैं। कहानी में यह स्पष्ट बताया गया है कि व्यक्ति के मरते ही कितना फर्क पड़ जाता है। पिछले साल ही सेठ ने जब लड़की की शादी की थी तो हजारों की भीड़ थी। जिंदगी एवं मौत का यह अंतर है। स्वार्थ भरे महानगरीय जीवन में मानवीय रिश्ते खोखले, दिखावे से भरे, कृत्रिम व बेमानी होकर रह गए हैं तथा संबंधों में शुष्कता आ गई है।

कमलेश्वर के पात्र संवेदना के पात्र हैं। लेखक समाज के साथ जुड़कर सभी प्रकार के व्यक्तियों के मन की थाह लेता है और इसी थाह को ही कहानी की अनिवार्यता घोषित करता है। कमलेश्वर की कहानियों में नारी-पात्र अपनी पूर्ण गरिमा, वास्तविकता एवं आत्मसम्मान की भावना के साथ उपस्थित हुए हैं। कमलेश्वर ने नारी का बहुपक्षीय चित्रण किया है। नारी को संपूर्णता में चित्रित करना मख्य विषय है। पतिताओं का उद्धार, अशिक्षिताओं की शिक्षा और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ढलना, जीवन की जटिलताओं, विडंबनाओं आदि का चित्रण इनकी कहानियों में सहजता से मिल जाता है। 'मांस का दरिया' की जुगनू की कहानी उसकी ही नहीं समग्र वेश्या वर्ग की कहानी है जिसे किसी भी स्थिति में शरीर का सौदा करना पड़ता है।

कमलेश्वर एक ऐसे कथाकार हैं, जो परंपरा से कटे नहीं, बल्कि पुरानी परंपरा के गुणों को अपनी शैली में परोसकर नई वस्तु उपस्थित करते हैं। आरंभिक कहानियों में तो परंपरा से पूर्णरूपेण जुड़े हुए हैं। इन कहानियों की शैली लगभग वही रही है, जो प्रेमचंदकालीन लेखकों की थी। कमलेश्वर की कुछ कहानियाँ 'देवा की माँ', 'इंसान और हैवान', 'मुर्दों की दुनिया', 'पानी की तस्वीर', 'नौकरीपेशा', किस्सागोई शैली में लिखी गई हैं। ऐसी कहानियों में एक के बाद एक गंभीर दार्शनिक की-सी शैली में कहानी लिखते हैं। इनकी कहानियों में शैली-वैविध्य देखने को मिलता है। 'मांस का दरिया' की शैली सहज है तो 'नीली-झील' और 'जो लिखा नहीं जाता' की काव्यात्मक है, तो 'पराया शहर' तथा 'कुछ नहीं कोई नई' की शैली स्मृत्यात्मक है। 'कस्बे का आदमी' कहानी रेखाचित्रात्मक है। कमलेश्वर लोककथा कहने के मोह से छूट नहीं पाए हैं, फलस्वरूप 'राजा निरबंसिया' लोककथात्मक शैली के आधार पर लिखी गई है। वे ऐसे कहानीकार है, जो पुरानी तथा नई पीढ़ी दोनों से जुड़े परिलक्षित होते हैं। इनकी कहानियों की विशेषता को रेखांकित करते हुए धनंजय वर्मा लिखते हैं-'इस लिहाज से हिंदी कहानी की परंपरा को इन्होंने आत्मसात किया और उसे अलग-अलग भोगा हैं। उनकी सारी कहानियाँ कथ्य और शिल्प के स्तर पर भी एक क्रमिक और अनुवर्ती संक्रमण की द्योतक हैं। लेकिन इनके पीछे रचना-संकेतन की वह प्रकृति है, जो निरंतर अपने वृत्त छोड़ती और सीमाएँ बढ़ाती है।'[7]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कमलेश्वर ऐसे कहानीकार हैं, जो पुरानी तथा नई पीढ़ी दोनों से जुड़े दिखाई पड़ते हैं। विशिष्टता यह है कि सामाजिक चेतना की प्रस्तुति की प्रक्रिया भी वैयक्तिक धरातल पर टिकी है। लेखक ने मनुष्य का मनुष्य के प्रति कपटपूर्ण व्यवहार, निर्धनता का नग्नरूप, स्त्री-पुरुष-संबंध, बेकारी की समस्या, वेश्यावृत्ति, सामाजिक कुरीतियाँ, असंतोष और विद्रोह की भावना तथा पारिवारिक जीवन के विविध रूपों और संबधों आदि विषयों को अपने वैयक्तिक अनुभवों व जीवनदृष्टि के आधार पर सशक्त वाणी प्रदान की

है। वर्तमान संदर्भ में कमलेश्वर की कहानियाँ आधुनिक परिवेश के सूक्ष्मतम यथार्थ के प्रसंगों से जोड़ती हैं। जितना वैविध्यपूर्ण मानव-संसार है, उतना ही वैविध्यपूर्ण कमलेश्वर का रचना-संसार है।

संदर्भ

1. सत्तरोत्तरी हिंदी कहानियों में बदलते मानवीय संबंध, अजिता के॰ नायर, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 2001, पृ॰ 73
2. बयान तथा अन्य कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972, पृ॰ 69
3. वही, पृ॰ 78
4. समग्र कहानियाँ, कमलेश्वर, राजपाल एंड सन्स, 2001 पृ.309
5. वही, पृ॰ 345
6. वही, पृ॰ 162
7. नई कहानी में वैयक्तिक चेतना, डॉ॰ कु॰ प्रेममाल, चानना प्रेस दिल्ली, (1980) पृ॰ 93

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार) 812007
Anilkumaranal2019@gmail.com

देश की वर्तमान समस्याएँ और राही मासूम रजा

चंदनकुमार

भारत एक विशाल देश है और इसकी विशालता के कारण हम इसे 'उपमहाद्वीप' की संज्ञा देते हैं। किसी भी देश को उपमहाद्वीप कहने के पीछे केवल भौगोलिक विस्तार की भूमिका नहीं होती है, बल्कि सांस्कृतिक विविधता, सामाजिक विविधता, भाषा-बोली की विविधताएँ, वेश-भूषा की जातिगत निजताओं, धार्मिक विश्वास से जुड़ी मान्यताओं आदि की भी अहम भूमिका भी होती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो साझा संस्कृति की विरासत को अपनी लोकपरंपराओं में जीनेवाला देश ही उपमहाद्वीपीय गरिमा को वहन करता है।

हिंदी-उर्दू भाषा साहित्य में राही मासूम रजा एक ऐसा ही नाम है, जिन्होंने देश की उपमहाद्वीपीय गरिमा को बनाए रखने के लिए कलम चलाई है। आधा गाँव, टोपी शुक्ला, ओस की बूँद, हिम्मत जौनपुरी, कटरा की आरजू, दिल एक सादा कागज, सीन 75, नीम का पेड़, असंतोष के दिन जैसे कालजयी उपन्यासों के रचनाकार राही मासूम रजा समय और समाज से अभिन्न रूप से जुड़े रहे। उन्होंने उपन्यास के अलावा गीत, गजल, नज़्म, कहानी, जीवनी और पटकथा लेखन में उत्कृष्ट कार्य किया है।

राही अपने उपन्यास एवं कविता-कहानियों में देश को जिस रूप में आकार देते हैं, उसमें राष्ट्र की एकता और अखंडता के तत्त्व अनिवार्य रूप से शामिल होते हैं। आज जब देश और देशप्रेम की बातें सियासी नारों की तरह इस्तेमाल की जा रही हों तो राही बेबाकी से कहते हैं–'मेरा देशप्रेम चुनाव जीतने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम हिंदू-मुसलमान दंगे करवाने के लिए नहीं है। मेरे लिए देश केवल एक शब्द नहीं है, मेरे सारे उपन्यास मेरे देशप्रेम की परिभाषाएँ हैं। आज के हिंदुस्तानियों को यह नहीं मालूम कि शहर का नाम वाराणसी हो या बनारस, मुंबई हो या बंबई, ये शहर उत्तर प्रदेश या महाराष्ट्र में नहीं हैं, हिंदुस्तान में हैं, क्योंकि यह उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्र, महाराष्ट्र वगैरह तो दीवारें हैं, जिनसे घर बनता है। ये अंदर की दीवारें हैं, जो घर को कमरों और दलानों में बाँटती है–जीना आसान बनाने के लिए। कमरा घर नहीं, कमरा घर में है। रहे कोई कमरा घर का होता है, दुर्भाग्य से हमारे देश में कमरे को घर मानकर उस पर कब्जा जमाने की बीमारी बहुत फैल रही है।'[1]

राही साहब की उक्त बातें आज के वर्तमान संदर्भ में बिल्कुल सच लगती हैं। जब उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों को महाराष्ट्र और गुजरात आदि जगहों से खदेड़ा जाता है, जब देशभक्ति या देशप्रेम जैसे शब्द किसी खास पार्टी या नेता की भक्ति से जुड़ गए हों, तब अक्सर राजनीतिक विरोधियों को देशद्रोही की उपाधि देनेवाले लोगों को राही देशप्रेम का असली मतलब समझाते हैं–'मेरा देशप्रेम हिंदू-मुसलमान दंगे करवाने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम

 ISSN 0975-735X

महाराष्ट्र के मुसलमानों से महाराष्ट्रीय अधिकार छीनने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम बंबई या मुंबई में मलियाली या तमिल भाषियों की दुकानें जलाने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम हिंदी को दूसरों पर लादने या मद्रास में संविधान के पन्ने फाड़ने और हिंदी फिल्मों की रिलीज रोकने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम पंजाब में हिंदुओं, दिल्ली में सिक्खों और असम में मुसलमानों के कत्लेआम करने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम बिहार में बेगुनाह हरिजनों को जिंदा जलाने के लिए नहीं है। मेरा देशप्रेम मेरे जीने का ढंग है, मेरे जीने का आधार है।'[2]

गौरतलब है कि राही ने देशप्रेम को लेकर अपने समय में जो बातें लिखी थीं, उसकी झलकियाँ आज भी उसी रूप में देखने के लिए मिलती हैं। एक खास वर्ग के राजनीतिक कट्टर लोग अपने को देशप्रेमी कहते हैं और वे मानते हैं कि हिंदू ही देशप्रेमी हैं बाकी मुसलमान या गैरहिंदू देशप्रेमी नहीं हैं। ऐसे विभाजनकारी सांप्रदायिक लोगों को राही हिंदू शब्द का सही मतलब समझाते हैं–

'न मालूम क्यों हिंदू एक मजहब का नाम पड़ गया है। मेरे ख्याल में यह नाम गलत है। हिंदु एक कल्चर का नाम है और उस कल्चर की गोद में परवान चढ़ते और जीने मरनेवाली एक कौम का नाम है। इस नाम का किसी मजहब से कोई वास्ता नहीं है। मैं सनातन धर्म, वैष्णव धर्म, इस्लाम, सिक्खमत, बुद्धमत और जैनमत का कायल हूँ, लेकिन कल्चर के लिहाज से ये सब हिंदू हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि जिस माने में हम हिंदुस्तानी शब्द का इस्तेमाल करते हैं उस माने में हमें हिंदू शब्द का इस्तेमाल करना चाहिए।'[3]

जातीय पूर्वग्रह से भरे लोगों को राही मासूम साहब ने हिंदू शब्द को भाषा और सभ्यता के धरातल पर लाकर इसे देश की साझा संस्कृति के तत्त्वों से जोड़ते हुए समझाया है–

'मैं यह बात फिर कहना चाहता हूँ कि हिंदुस्तान के तमाम लोग धार्मिक मतभेद के बावजूद हिंदू हैं। हमारे देश का नाम हिंदुस्तान है। हमारी कौम का नाम हिंदू और इसलिए हमारी भाषा का नाम हिंदी है। हिंदुस्तान की सीमा हिंदी की सीमा है। यानि मैं भी हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान का नारा लगाता हूँ, परंतु मैं यह नारा उस तरह नहीं लगाता, जिस तरह वह लगाया जा रहा है। मैं एक मुसलमान हिंदू हूँ। कोई विक्टर ईसाई हिंदू होगा और मातादीन वैष्णव आर्यसमाजी हिंदू! इस देश में कई धर्म समा सकते हैं, परंतु एक देश में कई कौमें नहीं समा सकती हैं! परंतु यह सीधी सी बात भी अब तक बहुत से हिंदुओं (हिंदुस्तानियों) की समझ में नहीं आ सकी है। हमें धर्म की यह ऐनक उतारनी पड़ेगी। इस ऐनक का नंबर गलत हो गया है और अपना देश हमें धुँधला-धुँधला दिखाई दे रहा है।'[4]

उक्त कथन में राही साहब जिस तरह हिंदू शब्द का विस्तृत अर्थ लेते हैं, वह आज कहीं देखने को नहीं मिलता है। काश, ऐसे यदि जातीयबोध को समझा जाता तो हिंदू या हिंदुत्व शब्द इतना एकांगी नहीं रहता। एक शब्द का अर्थ तब तय होता है, जब उसे उपयोग करनेवाले लोग बहुसंख्यक हों। इसलिए जरूरी यह है कि हमारी वर्तमान समझ को खारिज करते हुए हमें 'भारतीय जाति' की अवधारणा पर काम करना पड़ेगा। राही मासूम रजा का साहित्य उसी भारतीय जाति में मानवता के बहुआयामी गुणों के बीजारोपण की प्रेरणा देता है।

राही जी ने केवल एक पक्ष के बारे में ही नहीं लिखा। उन्होंने मुसलमानों को भी

जिम्मेदार नागरिक बनने की सलाह दी है–'मुसलमान होने की पहली शर्त यह है कि उसे अच्छा आदमी होना चाहिए और अच्छा आदमी होने की शर्त यह है कि उसे अच्छा नागरिक होना चाहिए और अच्छे नागरिक की पहचान यह है कि वह कानून और दूसरों के अधिकारों का आदर करे।'[5]

राही मुसलमानों को उसके इतिहास से अवगत कराते हुए बताते हैं कि मुसलमानों की परंपरा किस तरह साधारण और समर्पित लोगों की सद्भावना से आगे बढ़ी है–'अल्लाह के बंदे साधारण आदमी, जिन्हें कुरान की तहजीब ने असाधारण बना दिया था, यह लोग अल्लाह से डरते थे, रूखा-सूखा खाते थे–वह भी बाँट के मोटा-झोटा पहनते थे। यहूदियों के बागों में मालीगीरी का काम करते थे। सड़कों पर बैठकर जूता टाँकते थे और शायद इसीलिए अच्छे मुसलमान अच्छे नागरिक और अच्छे आदमी थे।'[6]

दरअसल, राही लोगों के विभाजित मन को एक करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने हिंदू-मुस्लिम समस्याओं पर केंद्रित उपन्यास लिखे। देश की आजादी के साथ ही जिस प्रकार धार्मिक संप्रदायिक तनाव में मनुष्यता लहू-लुहान हुई उसके लिए राही ने राजनीतिक लोगों को जिम्मेदार ठहराया। देश के विभाजन की वही बातें आज भी बदस्तूर जारी हैं, जिनसे देश टूटा, समाज टूटा, परिवार टूटा और मनुष्य के सपने बिखर गए। राही देश के राजनीति में जाति, धर्म और क्षेत्रीयता के इस्तेमाल किए जाने से क्षुब्ध होकर कहते हैं–

'शायद हिंदुस्तान जैसे बेपढ़े-लिखे धर्मों, जातियों और क्षेत्रों में जकड़े हुए मजबूर देश के लिए क्लासिकल लोकतंत्र का रास्ता ठीक रास्ता नहीं है, क्योंकि हम निरपेक्षता की बातें चाहे कितनी ही तौर से क्यों न करें चुनाव के दिनों में हम पाकिस्तान, खालिस्तान, हरिजनिस्तान, ब्राह्मणिस्तान, बंगालिस्तान, तमिलिस्तान वगैरह वगैरह में बँट ही जाते हैं, क्योंकि हिंदुस्तान में हिंदुस्तानी के पास एक वोट भी नहीं है। वोटों का सारा खजना तो धर्मों, जातियों और क्षेत्रों के केंचुल में भरा हुआ है।'[7]

सचमुच हमारा देश राजनीति को केंद्र मानकर कभी किसी फिल्म के रिलीज होने पर आंदोलित हो जाता है। कभी मंदिर-मजिस्द के बनने या न बनने को लेकर आंदोलित हो जाता है। कभी भाषा और बोलियों को बोलने या न बोलने को लेकर आंदोलित हो जाता है। कभी किसी क्षेत्र या राज्य की जनता और बाहरी घुसपैठियों को लेकर आंदोलित हो जाता है। कोई गाय या सुअर काटे तो दंगों की भेंट चढ़ जाता है। आएदिन भीड़ की हिंसा में मारे गए लोग धर्म या क्षेत्र या जातिगत पहचान (अवर्ण-सवर्ण या दलित होने) का शिकार हो जाते हैं। राही इन सबके पीछे राजनीतिक लोगों का हाथ मानते हैं। वे कहते हैं-

'चक्कर क्या है कि हमारे छोटे बड़े नेता इन मौके की ताक में रहते हैं और कोई भी दुर्घटना होते ही दौड़ पड़ते हैं कि इस्लाम खतरे में है, हिंदू खतरे में है, सिक्ख खतरे में है, मराठी खतरे में है, असमी खतरे में है, गुरखे खतरे में है...खतरा हमारी राष्ट्रीय राजनीति का आधार है। खतरा पैदा करो और वोटों की फसल काटो और इन बुद्धिजीवियों की चुप हमारे देश की बेईमान और खुदगर्ज राजनीति की सहयोगी है।'[8]

यही बात वे बकायदा तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी को खत लिखते हुए कहते

 ISSN 0975-735X

हैं–'भारतवर्ष बड़ी तेजी से पीछे की तरफ भाग रहा है। डूबते हुए सूरज की तरफ, डूबे हुए सूरजों की तरफ और हम 'वोट बैक आफ इंडिया' में अपना खाता खोलने में लगे हुए हैं। वोटों के करेंट एकाउंट खाते, सेविंग्स एकाउंट खाते, फिक्स एकाउंट खाता, राम जन्मभूमि खाता, बाबरी मस्जिद खाता, गोल्डन टेम्पिल खाता, कोंकणी मराठी खाता, कन्नड मराठी, गुरदासपुर खाता, अहमदाबाद खाता, इलाहाबाद खाता, दिल्ली खाता...हर तरफ कोई न कोई खतरे में है। सभी जान बचाने के लिए सरकार की तरफ भागेंगे। यह सौदा खतरनाक है महोदय।'[9]

दरअसल, लेखक को धर्मनिरपेक्षता की हमारी राष्ट्रीय नीति से शिकायत है। उनकी नजर में हमारी धर्मनिरपेक्षता आज भी धर्मों की गुलाम है–'खतरनाक बात यह है कि हमारा सेकुलरइज्म भी धर्मवाद और क्षेत्रवाद से आजाद नहीं है जैसे ज्योति बसु एक बंगाली सेकुलर आदमी है। सरदार जाफरी एक उर्दू सेकुलर आदमी है। शेख अब्दुल्ला एक सेकुलर कश्मीरी थे...हमारी सरकार सेकुलर होते हुए भी हिंदू है। वह भूमिपूजा करती है। वह काम आरंभ करने से पहले नारियल फोड़ती है। आकाशवाणी की उर्दू मजलिस मुसलमान सेकुलर है।....यह सारे चक्कर देख रहे हैं न आप। कोई धर्म कभी सेकुलर नहीं हो सकता। वह अपने को सही और तमाम धर्मों को गलत कहने पर मजबूर है, इसलिए यदि हम भारत की तरक्की वाकई चाहते हैं तो हमें धर्मों को घरों, मंदिरों, मस्जिदों, चर्चों और गुरुद्वारों में बंद करना पड़ेगा।'[10]

राही ने देश के राजनीतिक सबलीकरण के लिए धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि तमाम विभाजनकारी तत्त्वों से ऊपर उठकर जनसाधरण के लिए प्रशासन–व्यवस्था बनाने की वकालत की है।

आज हमारा देश ऊपर वर्णित परंपरागत परेशानियों से तो जूझ ही रहा है साथ–साथ जीवन जीने के तमाम साधन भी तेजी से कम होते जा रहे हैं, पूरा देश कभी प्रलयकारी बाढ़ की त्रासदी झेलता है, कभी जलसंकट की चुनौतियाँ हमें डराती हैं। वायुप्रदूषण के कारण महानगरों की हालत खराब है। रोज हर दिन औसतन 40 किसानों की आत्महत्या (2016 तक के आँकड़ों के मुताबिक) कृषिप्रधान देश की पीड़ा बयाँ करती है। अखबारों में रोज लूट, हिंसा, भ्रष्टाचार और बलात्कार की खबरों के बीच आज का युवा एक अदद नौकरी के लिए लालायित है। राही 'टोपी शुक्ला' उपन्यास में खासतौर से जाति–धर्म से पीड़ित युवा के लिए मजबूरन आत्महत्या कर बैठने को 'सभ्यता की हार' बताते हैं। इस तरह सभ्यता को हारते हुए देखकर भी राही कहते हैं–

'आज के साहित्यकार का फर्ज यह है कि वह 'हिंदू' को धर्म की अँधेरी दुनिया से निकालकर कल्चर की खुली फिजा में लाए। धर्म सभ्यता का एक छोटा सा अंग होता है। सभ्यता धर्म से बड़ी होती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के सुपरस्टीशन उन्हें उस हिंदुस्तान से जोड़े हुए हैं जिस हिंदुस्तान में इस्लाम नाम का कोई मजहब नहीं था। इस्लाम छींकने पर काम न करने या बिल्ली के रास्ता काटने पर घर लौट आने का कायल नहीं परंतु हिंदुस्तानी मुसलमान इन सबका कायल है। और इन सबका कायल होने पर भी वह मुसलमान है। हिंदुस्तानी है बल्कि इनका इस्लाम तक हिंदुस्तानी है।'[11]

आज जब हमारा देश चंद्रमा पर अपना अंतरिक्ष यान भेज चुका है, तब भी हमारे समाज का एक बड़ा वर्ग धर्म–जाति, भाषा–बोली, क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद के चंगुल में फँसा मध्यकालीन

समय के परछाई में कैद है। राही मासूम रजा अपने समग्र लेखकीय चिंता में मनुष्य की खुशहाली, सामाजिक-सांस्कृतिक औदात्य एवं साझा विरासतों पड़ताल करते हैं। वे देश में राजनीतिक उठा-पटक में लहूलुहान मनुष्य को जिंदा रखने की लालसा सँजोते हुए कहते हैं–

आज सियासत के सहरा में
सच्चाई की शबनम का कतरा भी नहीं है
जिससे कोई अपनी प्यास का जी बहलाए
मुस्तक्बिल[2] के चंचल सपनों को नहलाए
इन हालातों में जी लेना आसान नहीं है
कूच-ए मौसमे-वादे-सबा[3] में
खुशबुओं के आने का इमकान नहीं है
कतरा फस्ले जुनूँ का फाटक बंद है कबसे
फूल मोहल्ले में शबनम मेहमान नहीं है
इन हालत में जी लेना आसान नहीं है।[11]

1. मरुस्थल 2. भविष्य 3. सवेरे की हवा की गली, दिल्ली लखनऊ में मोहल्लों के नाम-कूच-ए-चेलान, कूच-ए-मीर-अनीस

संदर्भ

1. बुद्धिजीवियों की चुप्पी बेईमान राजनीतिज्ञों को बल दे रही है, सिनेमा और संस्कृति, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 101
2. वही, पृ॰ 101
3. प्यारे लिखूँ कि प्रिय, खुदा हाफिज कहने के मोड़ पर, सं॰ कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 22
4. उर्दू साहित्य की भाषा, खुदा हाफिज कहने के मोड़ पर, सं॰ कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 32
5. जन्नत की तरफ जानेवाली जीती-जागती सड़क, सिनेमा और संस्कृति, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 93
6. जन्नत की तरफ जानेवाली जीती-जागती सड़क, सिनेमा और संस्कृति, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 93
7. वही, पृ॰ 94
8. बुद्धिजीवियों की चुप्पी बेईमान राजनीतिज्ञों को बल दे रही है, सिनेमा और संस्कृति, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 104,
9. सुलेमान के अब्बा को अस्सलामालेकुम के मालूम होय कि हमलोग इहाँ खैरियत से हैं, लगता है बेकार गए हम, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 19-20
10. जन्नत की तरफ जानेवाली जीती-जागती सड़क, सिनेमा और संस्कृति, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा, पृ॰ 94
11. भूमिका, खुदा हाफिज कहने के मोड़ पर, संपादक कुँवरपाल सिंह, लेखक राही मासूम रजा

ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन एक दंशकथा

प्रा॰ डॉ॰ संजय गडपायले
माधवराव पाटिल महाविद्यालय
पालम (परभणी) महाराष्ट्र

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित-साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। जूठन वाल्मीकि जी की बहुचर्चित आत्मकथा है, जिसमें विषम जातिगत समाजव्यवस्था, आर्थिक विषमता, सामाजिक पीड़ा, अन्याय, अत्याचार दुत्कार आदि का ताना-बाना स्वानुभुति के आधार पर बुना गया है। जूठन ऐसी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करती है, जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करती। वाल्किकी जी ने जूठन के द्वारा ब्राह्मणवाद, सवर्णवाद एवं जातिवाद की सच्ची तस्वीर समाज के सामने प्रस्तुत की है, जो भारतीय संस्कृति के गुण गानेवाले चेहरों पर करारा तमाचा है। यह आत्मकथा किसी व्यक्ति-विशेष का दर्द नहीं अपितु उसके संपूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करती है। जूठन में विशेष रूप से दो परिवेश चित्रित हैं–सामाजिक और आर्थिक। वाल्मीकि जी दलितवर्ग से संबधित हैं, इसलिए इनके परिवार को गाँव के सभी हीन और मेहनतकश कार्य करने पड़ते हैं, जिसके बदल में उन्हें पेटभर अन्न भी प्राप्त नहीं होता था। वाल्मीकि जी स्पष्ट कहते हैं कि ऊँच-नीच हिंदूधर्म की सभी जातियों में थी और ब्याह भी जाति के अंतर्गत होते थे। सवर्णों का दलितों के साथ व्यवहार जानवर से भी बुरा था। जहाँ वे एक स्थान पर कहते हैं कि अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते, बिल्ली, गाय, भैंस को छूना बुरा नहीं था, लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था।[1] आत्मकथा के आरंभ में ओमप्रकाश जी ने गाँव में चूहड़ों की परिस्थितियों का चित्रण किया है। चूहड़ों की अलग बस्ती थी, जहाँ पूरी गंदगी थी। खुले में शौच को जाना पड़ता था। सवर्ण लोग छोटे या बड़े व्यक्ति को चूहड़े कहकर ही बुलाते थे। अस्पृश्यता का पूरा माहौल बरकरार था, जहाँ गाय, कुत्ते, बिल्ली को छुआ जाता था, पर चूहड़े का स्पर्श भी पाप था। सवर्णों ने हर प्रकार से भंगियों का शोषण किया था।

1947 को देश को आजादी प्राप्त हुई, पर यह आजादी दलितों को नहीं, सवर्णों को प्राप्त हुई। वर्णव्यवस्था में अधिक सुधार नहीं आया। वाल्मीकि जी कहते हैं कि सरकारी स्कूलों में बड़ी मुश्किल से दाखिला हो जाता था, पर कक्षा में सबसे पीछे बैठना पड़ता था, जहाँ से बोर्ड पर के अक्षर बहुत धुँधले से दिखाई देते थे। वाल्मीकि जब पुराने कपड़े पहनकर स्कूल जाते थे, तब सवर्ण बच्चे कहते थे 'अबे चूहड़े दूर हट, बदबू आ रही है।' पाठशाला में उन्हें जाति का अभिशाप भोगना पड़ा। वाल्मीकि को स्कूल में मास्टर कालीराम ने झाड़ू लगाने का कार्य सौंपा और उन्होंने वह किया भी। एक दिन जब ओमप्रकाश कक्षा में जाकर बैठा तो मास्टर कालीराम ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। इस प्रसंग को उन्होंने उल्लिखित किया है, जो

तत्कालीन सवर्ण अध्यापकों की नीच मानसिकता और सोच को अभिव्यक्त करता है। हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। कक्षा के बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू नहीं तो गाँड में मिर्ची डाल के स्कूल से काढ़ दूँगा।[2] बाद में जब ओमप्रकाश के पिता को इस बात का पता चला तो उन्होंने इसका विरोध किया। क्योंकि व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने की क्षमता उनमें थी। मास्टर कालीराम से उनकी बात होती है। तब कालीराम उन्हें दबाने-डराने की कोशिश कर कहते हैं, 'ले जा इसे यहाँ से चूहड़ा होके पढ़ाने चला है, जा चला जा, नहीं तो हाड़-गोड़ तुड़वा दूँगा।'[3] लेकिन ओमप्रकाश जी के पिता निडर और प्रजातंत्र पर विश्वास रखनेवाले थे। जाते वक्त वे कहते हैं, 'मास्टर हो इसीलिए जा रहा हूँ, मगर इतना याद रखना यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा, इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू।'[4] कक्षा में जब अध्यापक द्रोणाचार्य की गरीबी का चित्रण करते हैं तो पूरी कक्षा गंभीर हो गई, तब ओमप्रकाश ने बड़ी हिम्मत जुटाकर मास्टर से पूछा कि हमें अपनी भूख मिटाने के लिए चावल का माड़ पीना पड़ता है, तो किसी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? इस बात पर मास्टर ने उसे मारते हुए कहा, 'चूहड़े तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करेगा? ले मैं तेरे ऊपर महाकाव्य लिखता हूँ।'[5] वाल्मीकि कहते हैं कि कक्षा में तथाकथित द्रोणाचार्य की गरीबी की कथा सुनकर सारी कक्षा शोकसागर में डूब गई, पर आसपास की गरीबी और भुखमरी कक्षा के सवर्ण छात्र देख नहीं पाते थे। गरीबी देखकर उनका मजाक उड़ाकर उसे अपमानित करते थे। पाठशाला में कई बार उन्हें प्यासा रहना पड़ता था, क्योंकि पाठशाला के हैंडपंप को छूने का अधिकार उन्हें नहीं था। दरअसल, भूख और प्यास क्या होती है, इसका अहसास कराती है 'जूठन'। दलितों को सवर्णों ने पढ़ाई-लिखाई करने से रोका और उन्हें यही कहते रहे कि अगर तुम पढ़-लिख गए तो गाँव का मैला ढोने का और साफ-सफाई का काम कौन करेगा। ये स्कूल के सवर्ण बच्चे ओमप्रकाश को चूहड़ा कहकर चिढ़ाते और मारते थे। यह मनुवादी व्यवस्था दलितों को पूर्ववत् बनाए रखने की पूरी कोशिश करती थी, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि दलित समाज उन्नत हो और सामाजिक स्तर पर उनकी बराबरी करे।

लेखक यहाँ यह भी विश्लेषित करते हैं कि यह जातिगत भेदभाव पिछड़ी जाति में भी थे। धोबी हमारे कपड़े प्रेस करने से मना करता था, तो नाई बाल काटने से। भारतीय वर्ण-व्यवस्था ने आरंभ से ही शूद्रों को रोटी, कपड़ा, आवास, अनाज, रुपया, ज्ञान आदि से वंचित रखा। शूद्रों के कार्य सिर्फ गुलामी करना, सेवा करना, खेतों में काम करना, साफ-सफाई और गंदगी साफ करने के थे और बदले में सवर्ण उन्हें रूखा-सूखा तथा फटे कपड़े देते थे। दो वक्त की रोटी के लिए इन्हें संघर्ष करना पड़ता था। कभी-कभी तो अपनी अस्मत को भी दाँव पर लगाना पड़ता था। दलित अगर पढ़-लिख गया तो ज्ञान प्राप्त कर लेगा और गुलामी करने से इंकार कर देगा, इसलिए शूद्रों को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार ही नहीं दिया गया। दलितों के पास उपजीविका के अपने साधन नहीं थे, इसलिए उन्हें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता था। अपना हक माँगने पर उनके साथ मारपीट या गाली-गलोच की जाती या बहिष्कृत किया जाता था। ओमप्रकाश और उनका परिवार अन्य लोगों के यहाँ साफ-सफाई और खेतीबाड़ी का कार्य करता था और काम

 ISSN 0975-735X

के बदले में मेहनताना के रूप में जूठन ही नसीब होती थी।[6] एक तरफ घोर गरीबी तो दूसरी तरफ सामाजिक उपेक्षा, नफरत और उत्पीड़न सहते हुए वाल्मीकि जी ने अपनी जीवनयात्रा पूर्ण की, उसका दस्तावेज है 'जूठन'। लेखक ने आत्मकथा में भूख का भी करुण चित्रण किया है। कभी-कभी गाँव में ऐसा वक्त आता था कि गरीबों को कोई काम नहीं मिलता या ऐसे समय सवर्ण इतर गरीबों की मजबूरी का गलत फायदा उठाते थे, जहाँ दलितवर्ग मजबूर था। बस्ती में दलितों का एक ही कुआँ था और बरसात के दिनों में उस कुएँ में बड़े-बड़े लंबेवाले कीड़े हो जाते थे। ओमप्रकाश कहते हैं कि उस पानी को पीना मजबूरी थी। तगाओं के कुएँ से पानी लेने का अधिकार हमें नहीं था।[7] वर्णव्यवस्था के कारण बस्ती के लोगों को यही पानी पीना उनकी मजबूरी थी। देश आजाद हुआ, पर सही मायने में दलित आजाद नहीं हुआ। छुआ-छूत एवं अस्पृश्यता के दंश को लेखक ने बचपन से ही सहा था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो दूर फेंको।[8]

कुलकर्णी की बेटी सविता वाल्मीकि जी से प्रेम करती थी, लेकिन वह उनकी जाति नहीं जानती थी। पर जाति जान जाने के बाद उसने उनसे कोई संबंध नहीं रखा। वाल्मिकी जी बताते हैं कि यात्रा के दौरान भी उन्हें यही अनुभूति हुई। ऐसे अनेक अनुभव उन्हें अपने जीवन में आए। अपनी इस पीड़ा को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया 'भारतीय समाज में जाति एक महत्त्वपूर्ण घटक है। जाति पैदा होते ही व्यक्ति की नियति तय कर देती है। पैदा होना व्यक्ति के अधिकार में नहीं होता यदि होता तो मैं भंगी के घर पैदा क्यों होता।[9]

असल में 'जूठन' समाज के वास्तविक रूप का पर्दाफाश करते हुए हमें समाज की क्रूर सच्चाइयों से परिचित करवाती है। जूठन में लेखक ने बलीप्रथा, सलाम करने की प्रथा, अंधविश्वास, बालविवाह जैसी मानसिक यंत्रणाओं का भी बेवाक चित्रण किया है। नि:संदेह, जूठन में व्यक्त वाल्मीकि के जीवनानुभव केवल उनकी अकेले की पीड़ा नहीं, अपितु संपूर्ण दलित समुदाय की ही पीड़ा है, जो सदियों से वर्णवादी एवं अमानवीय साँचे में जकड़ा रहा रहा है। आत्मकथा को पढ़ने के बाद यह समझ में आता है कि वाल्मीकि जी का विरोध ब्राह्मणवाद, जातिवाद एवं सवर्णवाद से है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए बजरंग तिवारी ने कहा कि आत्मकथा जूठन से गुजरना वस्तुत: उस समाज से गुजरना है, जिसमें घृणा, वैर वरेण्य है, शोषण नैतिक है, दमन जायज है, असमानता स्वीकृत है और अत्याचार का अंतहीन सिलसिला है। 'जूठन' व्यवस्था की सनातनता की पोल खोलती है। गर्व को शर्म में तब्दील करती है और दार्शनिक आधार के झूठेपन को बेपर्दा कर जाती है।[10] उपर्युक्त मत भारतीय संस्कृति की वास्तविकता को दर्शाता है। इसी वर्णवादी एवं मनुवादी संस्कृति को प्रारंभ मे श्रेष्ठ माना गया था। इस प्रकार 'जूठन' दलितों की पीड़ा, यातना, संघर्ष, जिजीविषा, दमन एवं दु:ख की गाथा है, जो पूरी ईमानदारी और तल्खी के साथ अपने स्वानुभवों को प्रस्तुत करती है।

संदर्भ

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन पृ॰ 12
2. वही, पृ॰ 14
3. वही, पृ॰ 15

4. वही, पृ॰ 16
5. वही, पृ॰ 16
6. वही, पृ॰ 30
7. वही, पृ॰ 12
8. वही, पृ॰ 13
9. वही, पृ॰ 159
10. बजरंग तिवारी, कागद की लेखिका अंतर जूठन–एक विमर्श, पृ॰ 135

 ISSN 0975-735X

तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की भूमिका (रूसी और हिंदी साहित्य के संदर्भ में)

अमृतकुमार
शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
मुनीरका, नई दिल्ली

तुलनात्मक साहित्य किसी भी देश या राष्ट्र के विभिन्न विचारधारा एवं उसके चिंतन आदि का अध्ययन करने का महत्त्वपूर्ण अंग है। तुलनात्मक साहित्य वस्तुतः अँग्रेजी के 'कंपैरेटिव लिटरेचर' (Comparative Literature) का हिंदी अनुवाद है। तुलनात्मक शब्द की बात करें तो अँग्रेजी में इसका सबसे पहला प्रयोग मैथ्यू आर्नल्ड ने ऐंपियर के शब्दों इस्तवार कोंपरातीव का अनुवाद करते हुए सन 1848 ई॰ में किया था। सन् 1886 ई॰ में अपनी एक पुस्तक का शीर्षक 'कंपैरेटिव लिटरेचर' रखकर एच॰एम॰ पासनेट ने इस विद्याशाखा को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया था। बाद में सन 1901 ई॰ में 'द साइंस अकूफ कंपैरेटिव लिटरेचर' के नाम से उनका एक लेख भी प्रकाशित हुआ। वस्तुतः 20 वीं सदी की शुरुआत से 'कंपैरेटिव लिटरेचर' पद का प्रयोग शुरू हो गया था। तुलनात्मक साहित्य में एक साहित्य की तुलना दूसरे साहित्य से की जाती है और उसका क्षेत्र सीमित नहीं होता और अपने देश के साहित्य के साथ-साथ दो या दो से अधिक देशों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के कारण विश्वसाहित्य की अवधारणा भी उभरकर सामने आती है।

तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की अवधारणा का विकास 19वीं सदी में यूरोप से आरंभ होता है और उस समय विश्वसाहित्य के अंतर्गत उसी साहित्य को महत्त्व दिया जाता था, जो यूरोपीय था और इसी कारण 20वीं सदी के आरंभ तक विश्वसाहित्य और तुलनात्मक साहित्य यूरोपीय साहित्य की परिधि के भीतर ही सीमित रहा। इसके उपरांत 20वीं सदी में विश्वसाहित्य में एक परिवर्तन आया और एक खास तरह की व्यापकता सामने आई, जिसके कारण विश्वसाहित्य के अंतर्गत विश्व के अन्य क्षेत्रों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को स्थान दिया गया। उसके उपरांत विश्वसाहित्य का अर्थ हो गया पृथ्वी पर किसी भी साहित्य का अध्ययन करना। डॉ॰ नगेंद्र लिखते हैं, 'तुलनात्मक अध्ययन एक भाषा के अंतर्गत हो सकता है, द्विभाषीय या भारत जैसे देश-विदेश की सीमाओं का अतिक्रमण कर विविध देशों के साहित्य तक होने क्षेत्र का विस्तार कर सकता है–अथवा अपनी परिधि के बाहर भी अन्य कलाओं एवं शास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का आकलन कर सकता है।'[1] वस्तुतः तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य में देश का तत्त्व जुड़ा रहता है, पर यह तत्त्व सीमित होता है। विश्वसाहित्य का दूसरा अर्थ केवल विशिष्ट देश से ही नहीं अपितु काल

से भी जुड़ा हुआ है। काल की कसौटी में श्रेष्ठ साहित्य (Classics Literature) को भी विश्वसाहित्य की संज्ञा दी गई है। गोदान, कुमारसंभव, युद्ध और शांति, हैमलेट, आदि ऐसी ही रचना है, जिनकी श्रेष्ठता को विश्व भर में स्वीकार किया गया है। इन सब के बावजूद भी तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन रचना की प्रसिद्धि के आधार पर नहीं अपितु जो भी कृति तुलनीय है उसके आधार पर की जाती है। वस्तुतः केवल क्लासिक साहित्य ही नहीं अपितु आवश्यकता पड़ने पर द्वितीय श्रेणी के लेखकों को भी तुलनात्मक साहित्य का विषय बनाया जा सकता है, जिससे साहित्यिक प्रभाव के सूत्र या प्रवृतियाँ हमारे सामने आ सके । महान कवि गेटे विश्वसाहित्य शब्द का प्रयोग उस काल के लिए करते हैं, जब समूचे संसार का साहित्य एक हो जाए। रेने वेलेक लिखते हैं, 'तुलनात्मक साहित्य' साहित्य के समग्र रूप का अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है, जिसके मूल में यह भावना निहित रहती है कि साहित्यिक सृजन और आस्वादन की चेतना जातीय एवं राजनीतिक, भोगौलिक सीमाओं से मुक्त एकरस और अखंड होती है।'[2]

विश्वसाहित्य के संदर्भ में रवींद्रनाथ टैगोर के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'कंपैरेटिव लिटरेचर' शब्द को व्यापकता देते हुए सन् 1907 ई॰ में बांग्ला में विश्वसाहित्य शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में दिए गए भाषण में कहा कि, 'मानव विश्वमानव के बीच अपने को व्यक्त करने के लिए, अपने को उपलब्ध करने के लिए अपने आपको बनाता-बिगाड़ता रहा है। वह केवल तीर्थयात्रियों को देखकर नहीं लौट आता, अपितु सभी यात्री जिस एकमात्र देवता को देखने कि लिए अनेकानेक दिशाओं से आते हैं, उनका दर्शन करके घर लौटता है। ठीक उसी तरह साहित्य में मनुष्य अपने आनंद को किस तरह व्यक्त करता है—तथा वह अपने को रोगी, भोगी या योगी जिस परिचय से परिचित कराके आनंद अनुभव करता है, यह तत्त्व विश्वसाहित्य में देखने योग्य है।'[3] उनका यह भाषण विश्वसाहित्य(तुलनात्मक साहित्य) के नाम से बंग दर्शन में प्रकशित हुआ था। वस्तुतः इस जगत में मनुष्य की आत्मीयता कितनी दूर तक सत्य हो उठी है अर्थात् कितनी दूर तक सत्य उसका अपना हो चुका है यह इसी विश्वसाहित्य के अध्ययन से संभव हो सकेगा, जिसकी बात टैगोर जी करते हैं और यही विश्वसाहित्य की प्रमुख अवधारणा भी है।

यूरोप में मार्क्सवादी दृष्टि की सहायता से किए जानेवाले साहित्य के अध्ययन में विश्वसाहित्य को तुलनात्मक साहित्य के निकटस्थ स्वीकार करते हुए तुलनात्मक साहित्य की तुलना में विश्वसाहित्य को अधिक उपयुक्त स्वीकारा किया गया है। इसी संदर्भ में रेमाक मानते हैं कि तुलनात्मक साहित्य एक पद्धति का अनुसरण करती है, परंतु विश्वसाहित्य के अध्ययन में ऐसा कुछ संभव नहीं है, क्योंकि वहाँ अध्ययन की कोई तुलनात्मक पद्धति होती ही नहीं है। उनका मानना है कि तुलनात्मक साहित्य के लिए किसी भी साहित्यिक कृति, लेखक अथवा ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों के साथ वास्तविक तुलना आवश्यक है, मगर विश्वसाहित्य के अंतर्गत उधारणतः तुर्गनेव, थैकरे अथवा मोपासाँ के निबंधों के संकलन को आसानी से 'फिगर्स आफ वर्ल्ड लिटरेचर' का नाम दिया जा सकता है, जिसमें तुलनात्मक अध्ययन या तो होता ही नहीं है या न कि बराबर होता है, लेकिन रेमाक शायद यहाँ पर यह भूल करते हैं कि किसी कृति का

संकलन करना अलग बात है और उसका अध्ययन करना दूसरी बात है। पाठक जब किसी कृति को पढ़ता है तो वह उसकी तुलना विश्व के किसी-न-किसी रचना से कर सकता है या पाठक उस रचना को विश्व के किसी और रचना के आलोक में उससे तुलना करते हुए पढ़ सकता है। विश्वसाहित्य की अपनी भी पद्धति है और उसी के अनुरूप दो या उससे अधिक देशों की सामाजिक-सांस्कृतिक विकासक्रम को साहित्य में लक्षित किया जा सकता है और निःसंदेह इसमें तुलनात्मक साहित्य की भूमिका बहुत अधिक होती है। वस्तुतः विश्वसाहित्य और तुलनात्मक साहित्य को कितना ही परिभाषित या विचार कर लिया जाए, परंतु यह दोनों अध्ययन के ऐसे विस्तृत क्षेत्र हैं, जो परस्पर आपस में एक दूसरे से जुड़े रहेंगे।

तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की अवधारणा और एक-दूसरे के महत्त्व को समझने के लिए विभिन्न देशों के साहित्य की आवश्यकता होती है। इसी क्रम में यहाँ पर रूसी साहित्य के कुछ प्रमुख रचनाकारों को हिंदी साहित्य के कुछ प्रमुख रचनाकारों के साथ तुलना करते हुए विश्वसाहित्य और तुलनात्मक साहित्य के आपसी महत्त्व को रेखांकित किया गया गया है। पुश्किन, तुर्गनेव, टकूलस्टकूय, गोर्की, चेखव, दस्तायेव्स्की आदि रूस के ही नहीं अपितु विश्व के भी महान लेखक हैं। रूसी साहित्य का प्रचार-प्रसार भारत में हमेशा बड़े स्तर पर होता रहता है और साथ ही रूसी लेखकों की रचनाएँ अनुवाद के माध्यम से भारत की विभिन्न भाषाओं में छपते भी रहते हैं।

विश्व विख्यात रूसी लेखक मक्सिम गोर्की (1868 ई॰ 1936 ई॰)संसार के अन्य देशों की भाँति भारत में भी काफी लोकप्रिय हैं। गोर्की ऐसे लेखक हैं, जिनका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ा है ठीक उसी तरह जैसे प्रेमचंद हैं। प्रेमचंद गोर्की के निधन होने पर अपनी पत्नी से चर्चा करते हुए कहते हैं, 'जब घर-घर में शिक्षा का प्रसार हो जाएगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जाएगा? वे भी सुर-तुलसी की तरह चारों ओर पूजे जाएँगे।'[4] प्रेमचंद का यह कथन दर्शाता है कि वह खुद गोर्की से कितना प्रभावित हैं। प्रेमचंद का अधिकतर जीवन गाँवों और छोटे नगरों में बीता तो वहीं गोर्की के अधिकतर संस्कार नगर संबंधी थे और जहाँ प्रेमचंद ने किसान और ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत किया वहीं गोर्की ने शहर के गरीब, आवारा-शोषित मजदूरों को रेखांकित किया है। इसी कारण प्रेमचंद और गोर्की मानवीय संवेदना और चेतना के धरातल पर समान होने के कारण उनकी सृजन की दिशा भी एक थी। गोर्की ने 'नमकसार' कहानी में रूस के मजदूरों की जिंदगी में कोल्हू के बैल की तरह मेहनत, ठेकेदार की गालियाँ और शराब की बोतलों के सिवा और कुछ नहीं को दर्शाया है। गोर्की कहानी के माध्यम से बताते हैं कि कठोर, अर्थहीन और उबाऊ जिंदगी ने इन मजदूरों को निर्दयी बना दिया है, परंतु फिर भी उनकी आत्मा पूरी तरह नहीं मरती है। ठीक प्रेमचंद भी 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूँ' में जिस किसानवर्ग की बात करते हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि उनकी भी जिंदगी मजदूरवर्ग की हो चली है, क्योंकि उन्हें भी उसी स्तर की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, जिसका वर्णन गोर्की अपनी कहानियों में करते हैं। प्रेमचंद के किसान पात्रों की स्थिति इन कहानियों में बिलकुल ही गोर्की के मजदूर पात्र जैसी ही लगती है।

मक्सिम गोर्की की कहानी 'एक बार पतझर' में गोर्की ने समाज से उपेक्षित वेश्या के

भाग्य की ओर समाज के दायित्व का ध्यान खींचा है, ठीक उसी तरह जिस तरह प्रेमचंद सेवासदन उपन्यास में सुमन के माध्यम से करते हैं। दोनों ही रचनाकारों ने वेश्या जीवन को विविध स्तर पर दर्शाया है और इससे पहले भी और कई उपन्यास और कहानी में वेश्या जीवन का चित्रण देखने को मिलता है, परंतु प्रेमचंद और गोर्की की नवीनता इस बात में है कि वेश्या भी संवेदनशील हो सकती है। 'सेवासदन' की सुमन वेश्या जीवन अपनाकर भी मानवीय संवेदना से भरी हुयी है तो 'एक बार पतझर' कहानी की वेश्या नताशा संवेदनशील होने के कारण ही गोर्की को सांत्वना देती है और उनका हौसला बढ़ाती है। इन दोनों रचनाकारों की कई कहानियों मानवतावादी होने के कारण इन्हें आपस में जोड़ती है। मानवतावाद के केंद्र में मानव के उत्थान की प्रक्रिया है, जो इनकी कहानी का केंद्रीय तत्त्व है। 'विश्वासघात' कहानी में गोर्की एक देहाती औरत का ऐसा दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जो अमानवीयता के सभी सीमा को पार कर जाता है। कहानी में औरत का पति उसे घोड़ागाड़ी के साथ बाँधकर उस पर कोड़े बरसाता है, जिसके कारण उस औरत का पेट बुरी तरह से सूजा रहता है। इस तरह की अमानवीयता को पढ़कर सहसा प्रेमचंद की कहानी 'बूढ़ी काकी' कहानी का यह दृश्य, 'उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर झूठे- पतलों के पास बिठा दिया। दिन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगी'[5] स्मरण हो आता है। दोनों कहानियों की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न है, परंतु जिस अमानवीयता का वर्णन है, वह इन दोनों कहानी को आपस में जोड़ देती है। दोनों रचनाकारों ने जीवन के कटु अभावों को देखा है और उनके बाल्यावस्था के परिवेश भी कहीं न कहीं बहुत हद तक मिलते हैं, इसलिए वह मानव हृदय को छू लेनेवाली कहानियाँ लिखने में सक्षम हुए हैं।

प्रेमचंद और गोर्की की कुछ कहानियों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने जीवन में शोषण, अपमान, अत्याचार को बहुत ही करीब से देखा और समझा है और फिर उसे साहित्य में उतारा है। दोनों रचनाकारों ने जीवन-भर इसी बात का प्रयास किया कि कैसे सामान्य लोगों के जीवन को बदल कर बेहतर बनाया जा सके। गोर्की ने रूसी गद्य-साहित्य की समृद्ध यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उसे एक नया मोड़ दिया, जीवन की समस्याओं के समाधान, अन्याय, शोषण, दमन-उत्पीड़न और असमानता की समाप्ति के साधन के रूप में समाजवादी यथार्थवाद की धारा प्रवाहित की तो प्रेमचंद ने हिंदी-उर्दू साहित्य का वास्तविक जीवन से नाता जोड़ा, उसे तिलिस्म और ऐयारी के मनगढंत किस्सों की दुनिया से बाहर निकालकर सभी तरह के सामाजिक नासूरों पार नश्तर चलाया और बेहतर और न्यायपूर्ण जीवन की खोज में समाधान ढूँढ़ने और सुझाने का प्रयत्न किया। गोर्की कहते हैं, 'साहित्यकार अपने देश, अपने वर्ग की अनुभूति, उसका कान, आँख और हृदय-अपने युग की आवाज होता है।'[6] तो प्रेमचंद भी कहते हैं, 'यों कहिए कि वह (साहित्यकार) मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है?, जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।'[7] उपर्युक्त दोनों के कथन से यह ज्ञात होता है कि दोनों साहित्यकार के दायित्व से पूर्ण रूप से परिचित थे। दोनों रचनाकारों के सामाजिक-राजनितिक पृष्ठभूमि की तुलना करें तो रूस में जार की निरंकुश सत्ता से मुक्ति पाने का जो संघर्ष सन् 1825 ई॰ के

 ISSN 0975-735X

दिसंबरवादी विद्रोह से शुरू हुआ था और जिसे हेर्जेन, दोब्रोल्यूबोव और चर्नीशेव्स्की ने आगे बढ़ाया था वह गोर्की के समय के तक मार्क्सवादी संघर्षकर्ताओं और मजदूर आंदलनों के रूप में बहुत ही ठोस शक्ल ले चुका था, जो 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के आरंभ की बात है, तो दूसरी तरफ भारत राजनीतिक दृष्टि से इतना सजग और उग्र नहीं था, लेकिन सन् 1885 ई॰ में इंडियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, जिसके नेतृत्व में आगे चलकर भारत की जनता ने बड़े पैमाने पर अँग्रेज साम्राज्यवादियों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई लड़ी। आर्थिक दृष्टि से गोर्की के समय का रूस भारत से उन्नत था, क्योंकि वहाँ पूँजीवाद का विकास हो चुका था, परंतु फिर भी वहाँ सर्वहारा वर्गों का शोषण, गरीबी, अत्याचार, भूख, बीमारियों आदि का भी बोलबाला था। भारत में यह सब और अधिक था। इसी कारण गोर्की और प्रेमचंद का जीवन इन कटुताओं का मूर्त रूप था। गोर्की और प्रेमचंद अलग-अलग देश और अलग-अलग राजनीतिक, सामजिक, आर्थिक परिस्थितियों से जूझते हुए जनता में चेतना और जागृति को फैलाए हुए थे, क्योंकि दोनों की संवेदना एक थी। गोर्की की कहानी 'बाज का गीत' में उन्होंने साहसी लोगों को सामने रखा है, जो संघर्ष में ही जीवन का सुख और सार समझते हैं और आकाश के ऊँचे विस्तारों की ओर उड़ते हैं और संघर्ष से मुँह मोड़ने के बजाय अपने प्राण गँवाना उचित समझते हैं। गोर्की इस कहानी में लिखते हैं, 'साहस का उन्माद यही है जीवन का मूलमंत्र, ओह दिलेर बाज।'[8] यह कहानी तत्कालीन रूसी क्रांतिकारियों को ही नहीं, बल्कि दुनिया भर के सभी क्रांतिकारियों को प्रेरणा देती है। ठीक इसी तरह प्रेमचंद भी अपने उपन्यास 'कर्मभूमि' में अपने पात्र अमरकांत, नैना जैसे चरित्रों से क्रांतिकारियों को प्रेरणा देते हैं। नैना भी बाज की तरह संघर्ष करते हुए अपने प्राण गँवाती है।

वस्तुत: गोर्की और प्रेमचंद के तुलना से यह स्पष्ट होता है कि दोनों लेखकों ने पाठकों में नई चेतना लाने का प्रयास किया और मानव को अँधेरे से निकालकर प्रकाश की ओर बढ़ने का मार्ग दिखाया। इन दोनों रचनाकारों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि रूसी और हिंदी साहित्य अलग-अलग परिवेश में लिखा जाने के बाद भी संवेदना के स्तर पर एक थे और यही तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की उपलब्धि भी है।

गोर्की की ही तरह रूस के ऐंटेन चेखव (1860 ई॰-1904 ई॰) भी मानवतावादी लेखक रहे हैं। चेखव की 'वांका' कहानी एक दूकान में नौकरी करनेवाले नौ वर्ष के बच्चे की कहानी है, जो अपने दादा को खत लिखता है कि कैसे उससे जानवरों की तरह काम लिया जा रहा है और उसे कैसे जानवरों की तरह पीटा जाता है। वह पत्र अपने दादा को लिखता है, पर उसे अपने दादा के गाँव का पता नहीं मालूम है, तो वह 'एक गाँव' लिखकर और दादा का नाम लिखकर खत डाल देता है। एक बच्चे की संवेदना को चेखव ने बखूबी इस कहानी में दिखाया है ठीक उसी तरह जैसे प्रेमचंद ने 'ईदगाह' कहानी में हामिद के माध्यम से एक बालक की संवेदना को दिखाया है। चेखव की कहानी 'नकाब' में एक करोड़पति व्यक्ति के व्यक्तित्व को दर्शाया है। जब वह नकाब लगाए रहता है, तो वह कितना ही अभद्र व्यवहार करे, लोग उसका विरोध करते हैं, लेकिन जब पता चलता है कि वह करोड़पति है, तो लोग उसकी अभद्रता का विरोध छोड़कर उसकी खातिरदारी में जुट जाते हैं। नकाब कहानी मन्नू भंडारी द्वारा लिखित

'महाभोज' उपन्यास के दा साहब की याद दिला देता है। महाभोज के दा साहब भी कुछ ऐसा ही नकाब ओढ़े रहते हैं, जिससे लोग उन्हें सत्य और अहिंसा के पुजारी समझते हैं। उनकी असलियत को उपन्यासकार अंत में प्रकट करते हुए लिखती हैं, 'अरे यों तो धोती के नीचे सभी नंगे और ससुरी इस राजनीति में तो धोती के बाहर भी नंगे, पर दा साहब एकदम अपवाद? धोती के नीचे भी धोती ही निकलेगी इस गीता बाँचनेवाले के खाल खींचने पर ही सामने आ सकता है इनका नंगापन।'[9] वस्तुत: इन नकाब की वजह से ही कई लोग इन उच्चवर्ग के लोगों का असली चेहरा नहीं देख पाते हैं और अगर उनके सामने ही देख लेते हैं, तो उनके कोपभाजन के डर से उनकी खातिरदारी में जुट जाते हैं। वस्तुत: चेखव भी गोर्की और प्रेमचंद की तरह समाज के हर वर्ग के बारे में लिखते हैं और मानवीय संवेदना के विभिन्न धरातल पर साहित्य का सृजन करते हैं।

रूसी साहित्य में इवान तुर्गनेव (1818 ई०–1882 ई०) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उनके उपन्यास अगर 'पिता और पुत्र' (1862 ई०) की बात करें तो इसमें तुर्गनेव ने दो पीढ़ियों के अंतर्द्वंद को मनोवैज्ञानिक स्तर पर बखूबी चित्रित किया है। उपन्यास में बजारोव निहिलिस्ट होता है, यानी सर्वखंडनवाद। वह एक ऐसा चरित्र है, जो किसी की भी प्रभुत्ता को नहीं मानता है और किसी भी सिद्धांत को आस्था के रूप में स्वीकार नहीं करता है। बजारोव का चरित्र हिंदी में अज्ञेय द्वारा रचित 'शेखर : एक जीवनी' (1941 ई०) उपन्यास के शेखर की याद दिलाता है। शेखर भी ईश्वर के अस्तित्व को लेकर हमेशा संदेह में रहता है और उसके अस्तित्त्व पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। शेखर का आलोचनात्मक नजरिया बहुत हद तक बजारोव से मिलता है। इन समानताओं के बाद भी दोनों चरित्रों में फर्क है, जो इन्हें अलग करता है। बजारोव का चरित्र उपन्यास में शुरू से लेकर अंत तक समाज को ऐसा कुछ नहीं दे सका, जिसे उपलब्धि कहा जाए या जिसका कुछ सार हो। यहाँ तक की उससे प्रभावित उसका दोस्त अरकादी और उसकी प्रेमिका अन्ना सेर्गेयेवना भी अंत में उसके प्रभाव से मुक्त दिखते हैं, लेकिन शेखर का चरित्र समाज को ही नई पूरे देश को बहुत कुछ देता है और देश के लिए वह क्रांतिकारी होना भी स्वीकार करता है तथा शशि को वह प्रेम भी देता है, जो बजारोव अन्ना सेर्गेयेवना को नहीं दे पाता है। विश्वसाहित्य के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कई बार एक ही तरह के सोच रखनेवाले व्यक्तियों का विकास भी अलग तरह से हो सकता है और समान सोच रखने के बावजूद एक व्यक्ति समाज को सार्थक करता है, तो दूसरा कुछ विशेष नहीं कर पाता है। एक ही मानसिक सोच के बावजूद भी बजारोव और शेखर की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में उपन्यास में अभिव्यक्त होती है और जिसके चलते संवेदना भी कई बार अलग रूप से उभरकर सामने आते हैं।

रूसी और हिंदी साहित्यकारों से तुलना करने के पश्चात् एक बात सामने आती है और वह यह कि भले लेखक के परिवेश एक हों या अलग हों अगर उन्हें अपने समय के मानव-हृदय की पहचान है या उन्होंने अपने आस-पास या दूसरे देशों के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन को देखा-समझा है, तो निश्चय ही वह ऐसे साहित्य की रचना करेंगे, जो समाज का दर्पण हो तथा अपने से आगे आने वाली पीढ़ी के लिए भी प्रासंगिक हो। एक श्रेष्ठ रचनाकार

 ISSN 0975-735X

अपने समय के साथ साथ आने वाले भविष्य की भी सटीक संकल्पना करता है, जो उसे कालजयी रचनाकार के रूप में स्थापित करता है और तभी उसकी रचना विश्व के सभी देशों के प्रत्येक मानव के संवेदना को छूती है। तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में विश्वसाहित्य की अवधारणा यह है कि हम दो देशों के उस मानवीय सत्य को पहचानते हैं, जो रचनाकार हमें दिखता है और साथ ही उन दो देशों के वर्णित राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों को समझते हुए उन तत्त्वों को ढूँढ़ते हैं, जो एक साहित्य को दूसरे साहित्य से जोड़ता है। यह तत्त्व मानवीय संवेदना है, जो दूसरे देशों के लोगों से जोड़ता ही नहीं है, बल्कि उनकी संवेदना भी अपनी जैसी प्रतीत होने लगती है। यह एक ऐसा सौंदर्यबोध है, जो गोर्की, चेखव, तुर्गनेव, प्रेमचंद, अज्ञेय आदि को आपस में जोड़ता ही नहीं है, अपितु संवेदना के विभिन्न धरातल से साक्षात्कार भी कराता है। वस्तुतः विश्वसाहित्य का इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन एक नए मानवता के लिए जमीन तैयार करने की कोशिश करता है और खंडित मानवता के समक्ष कुछ ऐसे मूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास है, जो एक सीमा तक सभी को ग्राह्य हो। इससे संपूर्ण मानव-सभ्यता के अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त होगा और यह अध्ययन एक ऐसी सौंदर्य चेतना का विकास करेगा, जो देश और काल की सीमाओं से मुक्त होगा। साहित्य को जब तक मेरी रचना या तुम्हारी रचना के संदर्भ में देखा जाएगा तब तक साहित्य विश्वसाहित्य की भूमिका में नहीं आ पाएगा। विश्वसाहित्य में विश्व मानव को देखने का लक्ष्य, प्रत्येक लेखक की रचना में जो उसकी संवेदना की समग्रता होती है, उसे पकड़ना है और उसी समग्रता में सारे मनुष्यों की अभिव्यक्ति चेष्टा के संबंधों को देखना ही विश्वसाहित्य का वास्तविक अर्थ है और यही वह सूत्र है, जो तुलनात्मक साहित्य को विश्वसाहित्य की संज्ञा से अभिभूत करता है।

संदर्भ

1. तुलनात्मक साहित्य, डॉ॰ नगेंद्र, पृ॰ 14
2. तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएँ, (संपा॰) डॉ॰ राजमल बोरा, पृ॰ 35
3. तुलनात्मक साहित्य, एन॰ई॰ विश्वनाथ अय्यर, पृ॰ 55
4. मक्सिम गोर्की : चुनी हुई कहानियाँ, (संपा॰) मदनलाल 'मधु', पृ॰06
5. प्रेम मंजूषा, प्रेमचंद, पृ॰ 44
6. गोर्की और प्रेमचंद, मदनलाल 'मधु', पृ॰ 124
7. गोर्की और प्रेमचंद, मदनलाल 'मधु', पृ॰ 124
8. मक्सिम गोर्की की चुनी हुई कहानियाँ : खंड एक, (संपा॰) कात्यायनी, पृ॰ 158
9. महाभोज, मन्नू भंडारी, पृ॰ 125

मो॰ 9871511697

संत तुलसी साहब की सामाजिक चेतना

कु॰ किरण त्रिपाठी, शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संत तुलसी साहब हिंदी संतकाव्य परंपरा के अंतिम प्रसिद्ध संत कवि हैं। अधिकांश संत कवियों की तरह इनके भी जीवनकाल, माता-पिता, जन्मस्थान और वंश परंपरा के विषय में स्पष्ट जानकारी का अभाव है। हिंदी के संत कवि अपनी जनभिमुखता के कारण जनकवि के रूप में विख्यात हैं। जन के नजदीक रहनेवाले इन संतों के साथ उनके अनुयायी अनेक प्रकार के कथा प्रसंगों को जोड़ देते हैं, जिनमें कुछ इतनी चमत्कारिक होती हैं कि किसी भी व्यक्ति के लिए सत्य तक पहुँचना अत्यंत दुष्कर हो जाता है। हिंदीकाव्य में लगभग सभी संतों और भक्तकवियों के साथ यही हुआ है और तुलसी साहब भी इसके अपवाद नहीं हैं। तुलसी साहब के भी जन्म, माता-पिता, जन्मस्थान इत्यादि के संबंध में अनेक किवंदंतियाँ प्रचलित हैं, जिसके आधार पर उनके अनुयायी उन्हें सगुण तुलसदास का अवतार मानते हैं और उनका जन्म संवत 1680 में हुआ मानते हैं–

सम्मत सोलसै असी, नदी बरुन के तीर
सावन सुकला सत्तमी, तुलसी तज्यो सरीर।[1]

लेकिन बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित इनकी रचना 'घटरामायण' भाग एक की भूमिका के अनुसार इनका जन्म 1763 ई॰ में महाराष्ट्र के राजा के घर हुआ था। इनका बचपन का नाम श्यामराव था और ये पेशवा बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था, जिससे इनको एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। बचपन से ही इनका झुकाव आध्यात्म की ओर था, इसलिए जब इनके पिता इनके राज्याभिषेक की तैयारी कर रहे थे, ये घर से भाग गए। कई वर्षों तक यहाँ-वहाँ भटकने के बाद ये हाथरस आकर बस गए और आजीवन यहीं से सत्संग तथा संतमत का प्रचार-प्रसार करते रहे। यहीं रहते हुए सन् 1843 ई॰ में इनका देहांत हो गया। 'घटरामायण' भाग एक की भूमिका के अनुसार, 'तुलसी साहब के उत्पन्न होने का संवत् सुरत बिलास में नहीं दिया गया है, पर यह लिखा है कि उन्होंने अनुमान अस्सी बरस की अवस्था में जेठ सुदी 2 विक्रमी संवत् 1899 या 1900 में चोला छोड़ा। हाथरस में उनकी समाधि मौजूद है और बहुत से लोग वहाँ दर्शन को जाते हैं और साल में एक बार भारी मेला होता है।'[2]

संत तुलसी साहब रीतिकाल के अंतिम अवस्था के कवि हैं। इन्होंने चार ग्रंथों 'घटरामायण', 'शब्दावली', 'रत्नसागर'और 'पद्मसागर' की रचना की है। इनमें 'पद्मसागर' इनकी सबसे छोटी तथा अधूरी रचना है। 'घटरामायण' तथा 'शब्दावली' की रचना दो भागों में की गई है। तुलसी

 ISSN 0975-735X

साहब द्वारा रचित सभी ग्रंथों का मूल विषय संतमत की धार्मिक साधना तथा दर्शन है, परंतु फिर भी जैसा कि कहा गया है कि संतकवि जनकवि के रूप में जाने जाते हैं, क्योंकि वे चाहे जिस भी विषय पर रचना करें उनकी नजरों से समाज कभी ओझल नहीं होता। अतः तुलसी साहब ने भी रीतिकाल जैसे साहित्यिक वातावरण में भी जन की समस्याओं को अपने साहित्य का अंग बनाते हैं।

रीतिकालीन समाज नैतिक रूप से पतन का काल था। इस काल में समाज कई जातियों और उपजातियों में बँट गया था, हिंदू तथा अन्य धर्म आपस में लड़ रहे थे, समाज में स्त्रियों की स्थिति में भारी गिरावट आ गई थी। इस काल के साहित्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इस काल में स्त्री भोग-विलास की वस्तु बन गई थी। समाज को सही रास्ते पर ले जानेवाला धर्म भी इस काल में आकर विकृत हो गया था। जिन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सारा भक्तिकाल एकजुट होकर लड रहा वह सब इस काल में पुनः उठ खडी हुई थी। रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल में प्रारम्भ हुई भक्तिधारा इस काल में आकर कमजोर पडने लगी। इस काल में राधा और कृष्ण सुमिरन के बहाने मात्र रह गए तो राम का मर्यादापुरुषोत्तम वाला रूप भी इस काल के कवियों के हाथ में पड़कर विकृत हो गया। इस काल के कवि प्रसिद्धि तथा राजदरबार में अपना स्थान बनाए रखने के लिए सामन्तों तथा शासकों के लिए मनोरंजनपरक साहित्य की रचना कर रहे थे, जिसमें वे नायिकाओं के अंग-प्रत्यंगों का चित्रण कर रहे थे अथवा अपनी प्रेमिका के प्रेम तथा विछोह में काव्य रचना कर रहे थे। कुल मिलाकर इस काल कवि जनसामान्य की समस्याओं से विमुख होकर काव्य-रचना कर रहे थे। इसी काल में एक काव्यधारा ऐसी भी थी, जो जनसामान्य को भूली नहीं थी और वह काव्यधारा थी रीतिकालीन 'संत काव्यधारा'। इस काल में अनेक संतकवि हुए, जिनमें तुलसी साहब का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। तुलसी साहब ने सामान्य जनता की समस्याओं और उन समस्याओं में वृद्धि करनेवाले तत्त्वों को अपने साहित्य का विषय बनाया। तुलसी साहब ने पूर्ववर्ती संत कवियों की तरह ही समाज की जडताओं और कुरीतियों का विरोध करते हैं। उन्होंने तत्कालीन समय में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, नारी की गिरती हुई स्थिति, बाह्याडंबर, मिथ्याचार, कर्मकांड, ऊँच-नीच, छुआछूत, मूर्तिपूजा, धार्मिक वैमनस्य और सांप्रदायिकता जैसे विभिन्न प्रकार की विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह प्रकट किया है।

वर्ण और जाति के आधार पर भेदभाव की भावना भारतीय समाज में बहुत पुरानी है। यह भारत में अधिकांश बुराइयों की जन्मदाता है। वर्ण-व्यवस्था का प्रारंभिक उद्देश्य समाज में व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसे कार्य सौंपना था, ताकि समाज को सुचारु रूप से चलाया जा सके, लेकिन कालांतर में इसकी यह व्यवस्था लुप्त हो गई और यह भारतीय समाज में भेदभाव का करण बन गया। डॉ॰ पीतांबर दत्त बड़वाल ने वर्ण-व्यवस्था की विषमता पर प्रकाश डालते हुए कहा है, 'जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था रखने के लिए बनाए गए थे, वे इस प्रकार समाज में वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गए। जीवन के कार्यक्रम के चुनाव में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का प्रश्न ही न रहा। जिस वर्ण में व्यक्ति-विशेष ने जन्म पा लिया, उस वर्ण के निश्चित कार्यक्रम को छोड़कर और सब मार्ग उसके लिए सर्वदा के लिए बंद हो गए।'[3]

वर्ण- व्यवस्था मध्यकाल तक आते-आते जाति-व्यवस्था के जटिल रूप में परिणत हो चुकी थी। देश अब केवल चार वर्ण में नहीं, बल्कि कई जातियों और उपजातियों में विभाजित हो चुका था। ब्राह्मण उस समय भी समाज में सबसे ऊँचे पायदान था और उसमें इस बात का अहंकार भी था जिसकी ओर तुलसी साहब ने संकेत भी किया है–

मान मई बाम्हन की जाती। ऊँचा चारि बरन मैं पाँती।[4]

तुलसी साहब के अनुसार समाज में जाति-व्यवस्था के सबसे ऊँचे पायदान पर बने रहने के लिए ब्रह्मणों ने अपनि उत्पत्ति के संदर्भ में जो कथा चला रखी वह मात्र एक ढकोसला है, जिससे ब्रह्मणों ने अपने नीच कर्मों को ढँक रखा है–'पंडित झाड़ की आड़ लई, कहै ताड़ के पात पर जात लिखो थी।'[5]

तुलसी साहब उस काल में जाति व्यवस्था के सबसे बडे निंदक थे। वे जाति-व्यवस्था को नहीं मानते थे, उनके लिए सभी जातियाँ एक समान थी–

पंथ जाति में ये बिधि नाही। संत अजाति जाति नहि जाही,
संत अजाति जाति नहिं मानै। पंथ जाति बिधि एक न मानै।[6]

तुलसी साहब के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जाति-व्यवस्था की जड़ें समाज में इतनी गहरी उतर चुकीं थी कि उससे कबीर तथा नानक के नाम से चलने वाले पंथ भी नहीं बच पाए। संत कबीर और गुरु नानक हिंदी संतपरंपरा के आदिप्रवर्तकों में गिने जाते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम जातिगत भेदभाव के प्रति विरोध प्रदर्शित करते हुए सभी जातियों को बराबर माना। इन संतकवियों के बाद इनकी शिक्षाओं को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए इनके अनुयायियों ने कबीरपंथ और नानकपंथ की स्थापना की, लेकिन धीरे-धीरे इन्होंने अपने आदिगुरुओं की शिक्षाओं को भुला दिया और उन सभी कुरीतियों को इन पंथों में स्थान दिया, जिसका संतकवि निरंतर विरोध करते आए थे–

पंथ कहा सो मरम न जाना। पंथ राह उन अगम बखाना,
ता की बूझ समझ नहिं आई। पंथी जाति जाति भइ भाई।[7]

जातिप्रथा की कठोरता के कारण समाज में छुआछूत की भावना जन्म लेती है। कबीरदास, दादू, रैदास इत्यादि सभी संतकवियों ने समाज में व्याप्त इस छुआछूत की भावना का विरोध बड़ी तीखी वाणी में किया है। कबीर आदि संतों की तरह तुलसी साहब ने भी तत्कालीन समाज में प्रचलित छुआछूत की भावना का विरोध किया है। 'घटरामायण' भाग दो में तुलसी साहब तथा प्रियेलाल गुसाँई के संवाद में प्रियेलाल स्वयं को सनातन धर्म अनुयायी बताते हुए अपनी दिनचर्या का वर्णन करता है–

हम करैं संध्या नेम अचारा। पूजा सेवा ठाकुरद्वारा।
और सनातन धर्म हमारा। ठाकुर भोग अछूता सारा।
मंदिर में कोई जान न पावै। बरतन कपडा छुवा न जावै।[8]

उपर्युक्त पंक्ति को सुनकर तुलसी साहब प्रियेलाल को जिस प्रकार समझाते हैं, वह तुलसी साहब की जाति-विरोधी भावना का ही परिचायक है। उनके अनुसार प्रियेलाल की कही गई ये बातें अनीतिपूर्ण हैं, 'ये सब बात अनीति भाखी'[9] जिसे सुनकर तुलसी साहब को भी क्रोध

 ISSN 0975-735X

आ गया, 'कहे सुने से मन रिसियाई'।[10] तुलसी साहब इन नेम-आचार, स्नान-ध्यान आदि को महत्त्वहीन मानते हैं, क्योंकि इन सब आडंबरों से शरीर का मैल धुल जाता है, लेकिन मन का मैल कभी नहीं धुलता–

ऊपर हाई अचार जो किन्ही। अंदर मन मैला नहि चीन्हा[11]

इस प्रकार तुलसी साहब ने इन सभी जातिगत भेदभावों और छुआछूत का खंडन कर जनसामान्य को इससे मुक्त रहने का उपदेश दिया है।

हिंदी संतकवियों को उनके जाति-व्यवस्था तथा बाह्याडंबर, जैसी कुरीतियों के विरोध के लिए जहाँ जनकवि की संज्ञा दी जाती है, वहीं उनके नारी-विरोधी प्रसंगों के लिए उनकी आलोचना भी होती है। संतकवियों के यहाँ इच्छा तथा माया जैसे सांसारिक बंधनों को नारी के रूप में चित्रित किया गया है और उसकी निंदा की गई है–

नागलोक में नगपतनी कहिये, मृत्युलोक में नारी।
इंद्रलोक (मैं) रम्भा ह्वै बैठी, मोटी पासि पसारी,
तीनि लोक में बच्यों न कोई, दिये डाट तर सारे,
सुंदरदास लगे हरि सुमिरन, तै भगवंत उबारे।[12]

संतकाव्य में स्त्री का पतिव्रता तथा माता रूप भी मिलता है। स्त्री के इस रूप की संतकाव्य में भरपूर प्रशंसा की गई है। संतकवि साधक को पतिव्रता स्त्री की तरह अपने इष्ट के प्रति एकाग्र रहने का उपदेश देते हैं। पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा करते हुए कबीरदास ने कहा है–

पतिबरता मैली भली, काली कुचित कुरूप,
पतिबरता के रूप पर, वारो कोटि सरूप।[13]

तुलसी साहब भी पूर्ववर्ती संतकवियों की तरह ही स्त्री के मायारूप की निंदा करते हैं तथा उसके पतिव्रता रूप की प्रसंशा करते हैं। उनके अनुसार तो जिस स्त्री का पति उसके पास न हो उसे शृंगार नहीं करना चाहिए, लेकिन यदि वह ऐसा करती है तो उसे विष खा लेना चाहिए–

बिन स्वामी सिंगार सुहागिन, लानत तोबा ताइ,
पिय बिन सेज बिछावै ऐसी, नारि मरै विष खाई।[14]

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब ने स्त्री के रूप में स्वयं को तथा साधकों को रखा है, और उन्हें अपने इष्ट के प्रति समर्पित रहने का उपदेश दिया है, लेकिन इन्हीं पंक्तियों से तुलसी साहब एक सुहागिन स्त्री के कर्तव्यों को भी रेखांकित किया है, जो पूर्ववर्ती संतकवियों से बहुत अलग नहीं है। इस प्रकार तुलसी साहब के यहाँ स्त्री के वे सब रूप देखने को मिलते हैं, जो भक्तिकलीन संतकवियों के यहाँ देखने को मिलता था।

उपर्युक्त दो रूपों के अतिरिक्त तुलसी साहब के यहाँ स्त्री का एक और रूप देखने को मिलता है, जो स्वतंत्र है, जो किसी भी बंधन को तोड़ सकती है। तुलसी साहब ने 'करिया' तथा 'जैनी' नामक ऐसी ही दो स्त्रियों का चित्रण किया है। करिया जब तुलसी साहब के दर्शन को आती है तथा उनसे दीक्षा लेना चाहती है, तो तुलसी साहब उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं कि उसका परिवार भरा-पूरा है, तो वह अपने परिवार पर ध्यान लगाए न कि वैराग्य पर, 'कन्या पुत्र

सकल परिवारा। सुख संपति भोगो तुम सारा'[15] तुलसी साहब की यह बात सुनकर करिया जो जवाब देती है, वह तुलसी साहब को निरुत्तर कर देता है और वे करिया कि प्रशंसा करते हुए, 'ऐसी नारि पोढ़ जब जानी। मन तेहि केर भरम पहिचानी'[16] उसे अपनी शिष्या के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इसी प्रकार वे करिया की सहेली जैनी को भी अपनी शिष्या के रूप में स्वीकार करते हैं, जो अपने पति की इच्छा के विरुद्ध उनके दर्शन को आती है। करिया और जैनी के माध्यम से तुलसी साहब ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की अवस्था पर प्रकाश डाला है। एक ओर करिया है जो स्वतंत्र है तो दूसरी ओर जैनी है, जो एक ऐसी स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे रोका जाता है और वह विद्रोह करती है। तुलसी साहब इन दोनों को ही समान दृष्टि से देखते हैं।

तुलसी साहब ने तत्कालीन समाज में प्रचलित कन्याहत्या की भी आलोचना की है और उससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार लोगों को कसाई की संज्ञा दी है। तुलसी साहब कन्याहत्या को संसार का सबसे बड़ा पाप कहते हुए उसकी निंदा करते हैं–

सुनि साहब जादों की रीति। लड़की मारि जो करैं अनीति
कन्यापापजगत में भारी। सो वे साधु करैं बिचारी।[17]

तुलसी साहब कन्या की हत्या करने की प्रवृत्ति की तो निंदा करते ही हैं, इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में लड़की के शरीर को कुदृष्टि से देखना भी बडा अपराध है–

जो चेतन बसै लड़की माहीं। सो चेतन है अपने ठाहीं,
लड़की देंह दृष्टि करि देखी। त में अदृष्टि ताहि नहिं पेखी।[18]

भारतीय समाज में धर्म ने हमेशा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत का सामाजिक जीवन यहाँ की धार्मिक व्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। भारत में यदि धर्म में किसी प्रकार की विकृति आ जाए तो समाज उससे बच नहीं सकता और यदि समाज में उत्पन्न हुई, किसी बुराई को खत्म करना है तो धर्म से बेहतर कोई माध्यम नहीं हो सकता। प्राचीनकाल से ऋषि-मुनियों तथा दार्शनिकों ने समाज के संचालन के लिए अनेक नियम बना रखे थे, उन नियमों को धर्म मानकर लोग उनका पालन करते थे। इसीलिए भारतीय समाज में जब कभी कोई विषमता आई तो समाज-सुधारकों तथा महात्माओं ने समाज को सुधारने से पहले अपने धर्म की समीक्षा की। यह प्रक्रिया हम प्राचीनकाल में महात्मा बुद्ध से आधुनिक काल के सामाजिक-धार्मिक आंदोलन तक देखते हैं।

मध्यकालीन युग अनास्था और विघटन का काल था। धर्म और आध्यात्म ही वह माध्यम था, जिससे समाज को सही रास्ते पर लाया जा सकता था, लेकिन वह धर्म कुछ उच्चवर्ग के लोगों तथा पंडित-मुल्लाओं के हाथ में पड़कर विकृत हो रहा था, जिसका उपयोग आम जनता के शोषण में होता था। संत कवियों ने जनता को बरगलाने के लिए बनाए गए कर्मकांडों, मिथ्याचारों और बाह्याडंबरों का पुरजोर तरीके से विरोध किया–'पंडित मुल्ला जो लिख दिया, छाड़ि चले हम कछु न लिया।'[19]

निर्गुण संतकवियों का संपूर्ण काव्य तत्कालीन समाज में फैली कुरीतियों के खंडन और विद्रोह की वाणियों से भरा पड़ा है। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दोनों के धार्मिक आडंबरों, यथा-

मूर्तिपूजा, नमाज पढना, तीर्थयात्रा, धर्म केनाम पर जीव हत्या, स्वर्ग व नर्क की परिकल्पना, आदि का खंडन किया है। यह प्रवृत्ति संत काव्य परंपरा की मूल विशेषता के रूप में जानी जाती है। संत तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती संतों की भाँति इन सभी कुरीतियों का विरोध किया है। तुलसी साहब का समय भक्तिकालीन संतकवियों से अधिक जटिल था, क्योंकि इस काल में उपर्युक्त कुरीतियाँ केवल हिंदू और मुसलमान धर्म में ही नहीं वरन उस समय प्रचलित सभी धर्मों का अंग बन गई थीं। यहाँ तक कि इन आडंबरों से 'संतमत' भी नहीं बच पाया। तुलसी साहब धर्म के नाम पर फैले पाखंड को जनता को रिझाने का हथियार मानते थे–

पूजा और सेवा कर घट बजावै।
कर कर पाखंड लोग बहुत रिझावै[20]

इस पाखंड में जो सबसे पहला कार्य था, वह था वेश धारण करना। संपूर्ण संतसाहित्य में संतकवियों ने ज्ञानहीन साधुओं से बचने की सलाह दी है। तुलसी साहब के अनुसार ये समस्त वेशधारी साधू निरे अज्ञानी होते हैं, इन्हें किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, लेकिन इन्होंने अपने पाखंड से लोगों को इतना भ्रमित कर रखा है यदि कोई इनके भ्रम को तोड़ने की कोशिश करे तो लोग नगर में उसका रहना मुश्किल कर देते हैं। तुलसी साहब के काल में धर्म केवल धन कमाने का जरिया बन गया था, जिसकी तरफ तुलसी साहब ने हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है–

कपरा रँगे भेष भये साधू। बूझै न बस्तु आदि अनादू,
दया जानि कोई भेद बतावै। तौ वह नगर रहन नहि पावै,
गृही भेष सब मारि निकारै। कहै हमरा रुजगार बिगारै,
परमारथ नहिं बूझ गँवारा। पढ़ि पढ़ि बूडे भव जलधारा।[21]

तुलसी साहब के अनुसार किसी धर्म को मानने का अर्थ यह नहीं है कि हम उसके प्रतीक चिह्नों को धारण करें अथवा अपने पूर्व धर्म के प्रतीक चिह्नों और वेश-भूषा का त्याग करें, जिससे हमारी पहचान होती है कि हम किस धर्म के अनुयायी हैं–

कपडा कंठी गहि पहिरावा। बूझज्ञान बोध मन आवा,
कपरा में बिधि सिद्ध न होई। संत की राह और बिधि सोई।[22]

तुलसी साहब ने तत्कालीन भारत में प्रचलित सभी धार्मिक मतों से परिचित थे इसलिए उनमें इन धर्मों मे व्याप्त बाह्याडंबर का आत्मविश्वास के साथ खंडन करने की शक्ति थी। पूर्ववर्ती संतकवियों की तरह तुलसी साहब भी स्वयं के अनुभव से सिद्ध बात पर ही विश्वास करते थे। वे कहते हैं, जो अपने अनुभव से जाना जाए उसी पर भरोसा करना चाहिए। मृत्यु के बाद भारत में होनेवाले विभिन्न कर्मकांडों के विषय में तुलसी साहब का मानना है कि ये सब व्यक्ति को भ्रमित करने के लिए बनाया गया है, क्योंकि मरने के बाद की स्थिति को कोई नहीं जान पाता। अतः ऐसे अंधविश्वास से बचना चाहिए–

अपनी देखी कहौ न भाई। मुए गए की विधि बताई,
साँचा सोई मिलै जो आजी। मुए मुक्ति बतावै पाजी।[23]

तुलसी साहब ने मूर्तिपूजा का भी विरोध किया है। उनके अनुसार पंडितों ने पत्थर की

पूजा का जो झूठ संसार भर में फैला रखा है, उसमें लिप्त होकर लोग अपना समय नष्ट कर रहे हैं–

पाहन की मूरत का झूठ पसारा।
तुलसी पूजै बेहोस जन्म बिगारा।[24]

तकी मियाँ के साथ संवाद में तुलसी साहब ने इस्लाम के पाखंड की भी भर्त्सना की है। तुलसी मानते हैं कि सभी धर्म तथा मत अपने मौलिक विचारों से दूर होते जा रहे हैं। इस्लाम धर्म के अनुयायी भी कुरान की बातों के सच्चे अर्थों को भूल गए हैं तथा मुल्लाओं द्वारा प्रचलित बाह्याडंबर को बिना तर्क किये स्वीकारते जा रहे हैं–

तकी तोल जाना नहीं, कहौ कुरान की बात।
दिल दरियाफ्त अपने करो, जो कुरान विख्यात।[25]

तुलसी साहब धर्म के नाम पर फैले तीर्थयात्रा और हज जैसे बाह्याडंबर की भी आलोचना की है। जिस प्रकार हिंदू मंदिर और तीर्थ यात्रा पर जाता है, उसी प्रकार मुसलमान भी मस्जिद और हज जाता है, लेकिन फिर भी ये दोनों सच्चे परमात्मा को समझने में असमर्थ हैं–

पंडित काजी बेद कितेबा। पढ़ि-पढ़ि मुए लबारी,
ये तीरथ वे हज को जाते। बूडे भौजल धारी,
हिंदू तुरक दीन दोउ भूले। करम धरम पचि हारे।[26]

तुलसी साहब ने हिंदू, मुस्लिम तथा जैन धर्म की तरह ही संत मत में प्रचलित अंधविश्वास की भी आलोचना की है। संतमत इसलिए लोकप्रिय हुआ, क्योंकि उसने किसी भी प्रकार के मिथ्याडंबर और कर्मकांडों का विरोध किया था। लेकिन उनके बाद उनके अनुयायियों ने उनकी शिक्षाओं को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पंथों की स्थापना की। फलस्वरूप इनकी टकराहट ब्राह्मण धर्म के गुरुओं तथा पंडितों से हुई। उनके साथ प्रतिस्पर्धा करने के साथ ही संतमत में भी उन कर्मकांडों तथा बाह्याडंबरों का समावेश हुआ, जिसका विरोध संतकवि आजीवन करते आ रहे थे। तुलसी साहब इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहते हैं–

पलकराम सुनियौ बिधि रीति। पंथ भेष सब करें अनीति,
कहि नानक मैं सबके माही। ये चेला करै कौने राही।[27]

तुलसी साहब ने जाति-व्यवस्था तथा धार्मिक आडंबरों के साथ ही तत्कालीन समाज में व्याप्त हिंसा की प्रवृत्ति का भी विरोध किया है। इस काल में मांस-सेवन और धर्म के नाम पर की जानेवाली जीवहत्या आम बात हो गई थी। यह हिंदुओं में देवी-पूजन के समय बलि देने की प्रथा थी तथा मुसलमानों के यहाँ रोजा खत्म होने के बाद बकरे को काटा जाता था। तुलसी साहब बलिप्रथा को बढ़ावा देनेवाले इस प्रकार के अनुष्ठान करानेवाले ब्राह्मणों को फटकारते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण इस प्रकार का निकृष्ट कार्य कराकर भी स्वयं को सबसे ऊँचा समझता है। तुलसी साहब उन लोगों पर भी व्यंग्य करते हैं, जो जीवहत्या करानेवाले ऐसे लोगों को अपना गुरु बनाते हैं–

बकरी मारि भेड़ को धावै। दिल में दरद न आई।
करि असनान तिलक दै बैठे। बिधि से देबी पुजाई।

 ISSN 0975-735X

आतम मारि पलक में बिनसै। रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये। सभा माहिं अधिकाई।
इनसे गुरु दिच्छ सब मागै। हँसी आवै मोहि भाई।[28]

इसी प्रकार वे मुसलमानों द्वारा गाय और बकरी जैसे जीवों की हत्या करने की प्रवृत्ति पर भी प्रश्न करते हैं। उनके हिंसक कृत्य के लिए चेताते हुए तुलसी साहब कहते हैं कि जीव हत्या का पाप कभी नहीं मिटता–'रोजा कर कर खून बिचारा। ये गुनाह नहिं बक्सनहारा।'[29]

तुलसी साहब के काल में सांप्रदायिकता बहुत बढ़ गई थी। इस काल में हिंदु मुसलमान धर्म ही नहीं वरन संतमत भी इस सांप्रदायिकता की चपेट में आ गया था। तुलसी साहब ने पूर्ववर्ती संतकवियों की तरह ही इस काल में सांप्रदायिक भावनाओं और धार्मिक वैमनस्य का चित्रण किया है–

बाह्मन तुरुक जैन मत माईं। करता कि गति केहु न पाई।
मत अपने अपने की गावैं। तीनौं कर्ता तीनि बतावैं,
थापा जग रचि एक बनाई। ये तीनौं मिलि तीनि बताई।[30]

तुलसी साहब के अनुसार इस प्रकार के अलगाव और विषमता को 'संतमत' ही खत्म कर सकता है। संपूर्ण संसार में संतमत ही ऐसा है, जो किसी भी प्रकार के आडंबर को नहीं मानता, जो मनुष्य तथा धर्म की समानता की बात करता है। संतमत के प्रति विशेष आग्रह तथा झुकाव के कारण तुलसी साहब पर भी सांप्रदायिक होने के आरोप लगते हैं। विशेष तौर पर 'घटरामायण' की विषयवस्तु को इसके लिए आधार बनाया जाता है, जहाँ वे सगुण तथा निर्गुण दोनों मतों की आलोचना करते हैं तथा संतमत को सगुण-निर्गुण दोनों मतों से अलग करते हुए संसार के सर्वश्रेष्ठ मत के रूप में उसकी स्थापना करने का प्रयास करते हैं–

तुलसी इष्ट संत को जाना। निरगुन सरगुन दोउ न माना,
जो जो संत अगम गति गाई। निरगुन सरगुन नहीं ठहराई।[31]

तुलसी साहब के अनुसार संतमत को मानने से ही भारत में व्याप्त सभी प्रकार की विषमता, ऊँच-नीच, आदि समाप्त हो सकते हैं। इस प्रकार तुलसी साहब ने भारतीय जनता में समंवय स्थापित करने के लिए एक नवीन मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया, जो उनकी दृष्टि में तत्कालीन परिस्थिति में सर्वश्रेष्ठ मार्ग था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत तुलसी साहब ने अपने समाज की समस्त कुरीतियों का अपने काव्य में न केवल चित्रण किया है, वरन उनकी आलोचना भी की है। हालाँकि तुलसी साहब की भक्तिकालीन संतकवियों की तरह उनकी वाणी उग्र नहीं हो पाई है, फिर उन्होंने रीतिकाल की एक बड़ी कमी को पूरा करने का सराहनीय प्रयास किया है। यदि तुलसी साहब की नारी चेतना की बात करें तो वे इस क्षेत्र में भक्तिकालीन कवियों से भी आगे निकल जाते हैं, क्योंकि ये लोगों को स्त्री की परछाई से भी बचने का उपदेश नहीं दिया है वरन् वे उन्हें अपनी शिष्या के रूप में स्वीकार करके लोगों के सामने एक प्रतिमान उपस्थित करते हैं।

संदर्भ

1. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 188

2. घटरामायण भाग एक की भूमिका, पृ॰ 03
3. डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, हिंदीकाव्य की निर्गुण धारा, पृ॰ 46-47
4. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 100
5. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰ 124
6. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 138
7. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 99
8. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 65
9. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 65
10. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 65
11 .घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰ 66
12. सुंदर ग्रंथावली, सं. पुरोहित शर्मा, पृ॰ 828
13. कबीर वचनावली, सं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ॰ 118
14. शब्दावली भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰ 01
15. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰108
16. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰108
17. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰152
18. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰147
19. कबीर ग्रंथावली, सं श्यामसुंदर दास, पृ॰ 209
20. शब्दावली भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰17
21. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰18
22. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰86
23. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰43
24. शब्दावली भाग एक, पृ॰19
25. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰79
26. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰16
27. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰132
28. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰164
29. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰76
30. घटरामायण भाग एक, संत तुलसी साहब, पृ॰91
31. घटरामायण भाग दो, संत तुलसी साहब, पृ॰29

 ISSN 0975-735X

कबीरविषयक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की आलोचना-दृष्टि

विनयकुमार पांडेय, शोधार्थी
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली

हिंदी साहित्य में कबीर साहब का प्रादुर्भाव हुए लगभग छः सौ साल हो गए हैं, किंतु हिंदी साहित्य में उनकी प्रासंगिकता अभी भी वर्तमान हैं और हमारे बीच उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस रूप में मध्ययुगीन अविकसित समाज में थी। आज भी समाज को उनकी आवश्यकता है। यह वास्तविकता है की उनकी वाणी उनके विचार उनके प्रतिरूप आज भी हमारे सामने मौजूद हैं। हमारे सामने यह प्रश्न आज भी हैं कि कबीर वाणी आज किस अस्तर तक अपने मौलिक रूप में हमारे पास है। यह प्रश्न हिंदी आलोचना के सामने समय-समय पर आता रहा है। आधुनिक काल में अनेक आलोचकों द्वारा कबीर को उनके वास्तविक रूप में खोज निकालने का अनेक बार प्रयास किया गया है, किंतु उनके प्रयासों से कबीर साहब कितना सामने आ पाए यह भी अपने आपमें एक प्रश्न है।

हिंदी आलोचना का शायद ही कोई बड़ा एवं स्थापित आलोचक होगा, जिसने कबीर पर आलोचना न की हो। मुख्य अथवा गौण रूप से हर किसी ने कबीर पर अपनी आलोचना-दृष्टि अवश्य डाली है। डॉ॰ श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पीतांबरदत्त बड़वाल, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ॰ नामवरसिंह, पुरुषोत्तम अग्रवाल, डॉ॰ नगेंद्र, मैनेजर पांडेय, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि अनेक आलोचकों ने कबीर पर अवश्य ही आलोचनाएँ की हैं।

यदि कबीर के आलोचकों की बात की जाए तो कबीर के संबंध में सबसे प्रतिष्ठित आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को माना जाता है। विभिन्न आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से बड़ा आलोचक कबीर के संबंध में कोई अन्य नहीं। इस संबंध में डॉ॰ नामवरसिंह का मत है 'हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम कबीर के साथ उसी प्रकार जुड़ा है जैसे आचार्य शुक्ल का तुलसी के साथ।'[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रमुख आलोचक है, इसमें कोई संदेह नहीं है, किंतु आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा कबीर के संबंध में किए गए अनेक शोध और लेखनकार्य तथा कबीर के संबंध में उनकी जो आलोचना के कारण परशुराम चतुर्वेदी का नाम कबीर के आलोचकों में अग्रणीय है। यह वास्तविकता है कि हिंदी साहित्य में कबीर के संबंध में जितना गहन और विशद अध्ययन आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का है, उतना किसी अन्य विद्वान का नहीं दिखाई पड़ता। परशुराम चतुर्वेदी की संपूर्ण आलोचना के केंद्र में मध्यकाल के दो मुख्य कवि रहे हैं—कबीर और जायसी। इन दोनों में भी यदि तुलना की जाय तो उनका झुकाव पूरी तरह से कबीर के तरफ ही दिखाई पड़ता है। इन्होंने कबीर को केंद्र में रखकर संपूर्ण संतसाहित्य की आलोचना की है।

मध्यकालीन साहित्य संबंधी यदि प्रमुख हिंदी आलोचकों की बात की जाए तो आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का नाम उसमे अग्रणीय है। और यदि बात कबीरविषयक आलोचना की हो तो वहाँ ये सर्वोपरि हैं। आचर्य चतुर्वेदी ने अपने समग्र रचनाकर्म में कबीर को केंद्र में रखकर ही आलोचना की है। वह चाहे उनकी कृति 'उत्तरी भारत की संतपरंपरा' में हो 'संतकाव्य' में हो या फिर 'कबीर साहित्य की परख' एवं 'कबीर साहित्य चिंतन' में हो हर जगह उन्होंने कबीर एवं उनके साहित्य के संबंध में मौलिक उद्‌भावनाएँ की है। यदि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के समग्र अनुसंधान एवं आलोचना का अवलोकन किया जाए तो उनकी आलोचना शोधपरक दृष्टिवाली है, लेकिन यदि मात्र कबीर विषयक उनकी आलोचना दृष्टि पर विचार किया जाए तो वहाँ उनकी दृष्टि थोड़ी समन्वयवादी हो जाती है। हालाँकि वे कबीर साहित्य के अध्ययन में सामजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि के पक्षपाती है–'कबीर साहित्य का अध्ययन यदि सामजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से किया जाए तो वह भी कम महत्त्व का नहीं होगा।[2] परशुराम चतुर्वेदी की आलोचना दृष्टि विशिष्टत: अनुसंधानपरक होने के कारण हर तथ्य को व्याख्यायित करने से पहले वे जाँचते और परखते हैं और फिर इस पर अपनी बात रखते हैं। किसी कवी की काव्य पंक्तियों से उस कवी की तत्कालिक समाज के रहन-सहन, जनजीवन, लोक, रीती-रिवाज आदि विभिन्न पहलुओं का जो चित्र प्रस्तुत किया जाता हैं वह एक कुशल और विद्वान आलोचक को ही संभव हैं, जोकि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के आलोचना कर्म में बखूबी देखी जा सकती है। कबीर के समय की तत्कालीन परिस्थितियों के बारे में वे कहते हैं–'कबीर साहब ने अपनी पंक्तियों में जो तत्कालीन जनजीवन का चित्र निर्मित किया है, वह अत्यंत मार्मिक और सजीव है, उन्होंने किसानों, वन्यजीवियों, बंजारों, मठियारों, महाजनो आदि की व्यावसायिक जीवन को बहुत ही निकट से देखा है। वे दरबारी सिपाही, कोतवाल आदि के पूर्ण परिचित से जान पड़ते हैं। वे पंडितों, काजियों, पीरों, पुजारियों तथा पाखंडियों की आलोचना करते समय प्रधानत: उनकी मौलिक दुर्बलताओं को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं।'[3]

परशुराम चतुर्वेदी की आलोचना-दृष्टि पर विचार करते हुए इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए की वे मुक्त चिंतन के समर्थक थे। किसी भी विचारधारा, वाद अथवा पंथ में न पड़कर पंथनिरपेक्ष रहकर सहज तल्लीनता से अपने आलोचना-कर्म में लीन रहे। वे एक महान आलोचक थे। मनुष्य की चिंतन परंपरा की खोज में उन्होंने संत साहित्य का गहन अध्ययन किया वे हमेशा ही साहित्य में विकासवादी सिद्धांत के पक्षधर थे। पेसे से वकील रहते हुए भी उनकी रूचि आध्यात्मिक साहित्य की ओर काफी गहरी दिखाई पड़ती है। शायद इसी का परिणाम है कि वे कबीर साहित्य के प्रति अपनी आत्मीयता रखे थे।

कबीर के संबंध में देखें तो उनकी आलोचना करते समय ये अपना पूरा झुकाव उनकी ओर रखते हैं। अपनी कृति 'उत्तरी भारत की संतपरंपरा' और 'संतकाव्य' में इन्होने अलवर संतों से लेकर महात्मा गांधी तक का जिक्र किया है, किंतु जितना अनुसंधानपरक दृष्टिकोण उनका कबीर साहब के प्रति रहा है उतना किसी अन्य संत के प्रति नहीं। इससे आचार्य चतुर्वेदी की सहानुभूति कबीर के प्रति थोड़ी ज्यादा दिखाई पड़ती है और शायद इसी का परिणाम रहा है कि इन्होंने संपूर्ण संतसाहित्य एवं संतपरंपरा का प्रवर्तक कबीर साहब को माना है इस बात को वे

 ISSN 0975-735X

स्वीकार भी करते हैं–'कवि भावुक हो या भावक उसकी रचनाओं में चिरंतन सत्य के सास्वत सत्य का जितना स्थान अथवा अनुपात होता है, वह उतना ही लोकप्रिय तथा दीर्घजीवी रहता है। कबीर स्वयं इसके जीवंत प्रमाण हैं। इसी बल पर उन्होंने न केवल आचार प्रधान संतमत के प्रवर्तकों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया अपितु वे शिक्षित समाज के अध्ययन का विषय भी बन बैठे हैं।'[4] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कि यह आलोचना-दृष्टि मात्र कबीर के प्रति नहीं अपितु जब वे सूफियों की बात करते हैं उनका यही दृष्टिकोण जायसी के प्रति भी साफ-साफ देखी जा सकता है।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी एक युगद्रष्टा आलोचक थे। वे किसी भी कवि की आलोचना करते समय उसके वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों की गहरी पड़ताल करने के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कबीर एक प्रगतिशील समाज सुधारक संत थे, उन्होंने अपने युग की समस्याओं अपने दोहों और साखियों में व्यक्त किया है। रचनाकार या कलाकार अपनी रचनाओं में जिस भाव या विचार को व्यक्त करता है, उसकी सही अभिव्यक्ति पाठक को एक कुशल आलोचक कराता है। आचार्य चतुर्वेदी कुछ इसी प्रकार से कबीर का अध्ययन करने के बाद उस बात की तह पहुँचते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति कबीर ने अपने पदों में की है। कबीर जिस जाति, धर्म, वर्ण, आदि में व्याप्त कुरीतियों की भत्सर्ना करते हैं आचार्य परशुराम चतुर्वेदी उसी की व्याख्या करते हुए कहते हैं–'कबीरदास ने हिंदुओं तथा मुसलामानों के धर्मग्रंथ वेद और कुरान के संबंध में यहाँ तक कह दिया हैं कि उन्हें झूठा बताना ठीक नहीं है, झूठे तो उन लीगो को कहना चाहिए, जो उनकी मूल बातों पर पूर्ण विचार न करके उनका सही अनुसरण नहीं करते हैं।'[5]

कबीर साहित्य की आलोचना करते समय आचार्य चतुर्वेदी उद्धरण शैली का भी प्रयोग करते हैं। प्रत्येक आलोचक का यह कर्तव्य होता है कि कही बातों को पाठक के सामने लाकर उद्धरणों के माध्यम से सहज बनाए आचार्य चतुर्वेदी इसमें सिद्धहस्त हैं। कबीर और जायसी के संबंध में वे जब भी कोई नई उद्‌भावनाएँ करते हैं तो उद्धरण देकर अपनी बात स्पष्ट भी करते हैं। जैसे यदि कबीर के दार्शनिक विचारों को देखें तो उसको लेकर कुछ रूढ़ियाँ बन गई हैं। विभिन्न आलोचकों ने उन्हें अद्वैतवादी घोषित करके उनके दर्शन को रहस्यवाद का प्रतिरूप मात्र मान लिया है। कबीर के संदर्भ में यह भ्रम मिथ्या है। कबीर मुख्य रूप से एक साधक थे सत्य के स्वरूप का जो उद्‌घाटन उन्होंने किया है, वह अपने आध्यात्मिक अनुभव के बल पर किया है। आचार्य चतुर्वेदी ने अपने गहन अध्ययन से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर का जो चिंतन था वह उनके स्वाधीन चिंतन का परिणाम था। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी का मानना है–'परशुराम चतुर्वेदी ने स्वयं कबीर कि पंक्तियों को उद्धृत करके यह प्रमाणित करना चाहा है कि कबीर के मत में जो तत्त्व प्रकाशित हुआ था वह उनके स्वाधीन चिंतन का ही परिणाम था।'[6]

उत्तरी भारत की संतपरंपरा में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने यह स्थापित किया है कि संतों की जो अविरल परंपरा चली आ रही है, उसका सूत्रपात कबीर के समय में नहीं हुआ अपितु उनके काफी समय पहले से जयदेव से यह परंपरा चली आ रही है। जयदेव को संतपरंपरा में

लाने पर भी आचार्य चतुर्वेदी का अन्य आलोचकों से मतभेद दिखाई पड़ता है। जहाँ आचार्य शुक्ल आदि आलोचकों ने जयदेव को भक्तकवि माना है वहीं आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने उन्हें संतपरंपरा में लाकर खड़ा कर दिया है। उनका मानना है कि–'कबीर साहब के उक्त पूर्ववर्ती सभी संतों की परंपरा बहुत लंबी है, जिसके अंतर्गत आनेवालों की संख्या भी अधिक है। इस परंपरा का आरंभ यदि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के जयदेव से मानकर उसे 21वीं शताब्दी के महात्मा गांधी तक वर्तमान समझा जाए तो यह दीर्घकाल प्राय: नौ सौ वर्षों का होता है।'[7] संतों पर जयदेव के महत्त्व को उन्होंने मात्र इतना ही नहीं स्वीकारा अपितु कबीर के संदर्भ में तो उन्होंने यहाँ तक मान लिया है कि कबीर साहब के लिए जिन लोगों ने पथ प्रदर्शन का काम किया उनमें जयदेव का नाम अग्रणीय है। इस संदर्भ में इनका मानना है–'कबीर साहब के लिए पथ प्रदर्शन करनेवाले संतों में सर्वप्रथम नाम जयदेव का आता है, जो बंगप्रांतीय होने के नाते उत्तरी भारत के कहे जा सकते हैं।'[8]

मध्यकालीन साहित्य के बारे में यह मत सर्वग्राह्य है कि मध्यकाल के उत्तर मध्यकाल का संपूर्ण साहित्य भक्तिप्रधान साहित्य था। सभी प्रमुख कवि चाहे वे संत रहे हों, सूफी रहे हों या फिर भक्तकवि रहे हों, उनकी रचनाओं में कवियों के संबंधित दर्शन और भक्तिमार्ग का स्पष्ट दर्शन होता है। सूफियों ने जहाँ ईश्वर को प्रियतम मानकर अपनी भक्तिभावना को सूफी दर्शन के माध्यम से प्रकट किया है तो वहीं संतों ने जीवात्मा परमात्मा के रूप में निर्गुण निराकार ब्रह्म कि उपासना की। तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के सगुण साकार रूप को परब्रह्म मानकर उसकी उपासना की। इन सभी निर्गुण और सगुण कवियों पर किसी-न-किसी मत का प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है, परंतु कबीर साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कबीर विशिष्टत: किसी धर्म या संप्रदाय में विश्वास नहीं रखते थे। उनका दर्शन मानवता का था और मनुष्य के सामजिक कल्याण कि भावना उनमे प्रबल थी। इसी संदर्भ में डॉ॰ आर्याप्रसाद त्रिपाठी का मत है– 'उन्होंने एक ऐसे मानवता धर्म का प्रतिपादन किया, जो देश, काल, जाति, धर्म, वर्ण आदि किसी के घेरे में घिर नहीं सकता। उन्होंने उसमे मानव जीवन के विकासशील तत्त्वों को ही स्थान दिया और उन्हें तर्क और बुद्धि का आधार प्रदान कर उस पर आडंबर और अंधविश्वास के आवरण को भष्म कर दिया।'[9] इस संदर्भ में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत थोड़ा भिन्न है। वे कबीर को कोई धर्मनिरपेक्ष या संप्रदाय-निरपेक्ष नहीं मानते है बल्कि वे यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी काल का कोई भी कवि उसके ऊपर तत्कालीन समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सामजिक एवं धार्मिक परस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। जाने अनजाने कवि अथवा रचनाकार इन सभी परस्थितियों का वर्णन अपने रचनाओं में अवश्य करता है। वे कबीर साहित्य के बारे में कहते हैं–'वास्तव में जिस समय कबीर साहित्य का आविर्भाव हुआ, उन दिनों धार्मिक व्यवस्था की प्रधानता थी और समाज के किसी भी अंग का पुनर्निर्माण अथवा उसकी कार्यपद्धति का समुचित निर्देश केवल धार्मिक विधान एवं धार्मिक शब्दावली के सहारे संभव समझा जाता था।'[10]

कबीर को हिंदी के लगभग आलोचकों ने अद्वैतवादी घोषित किया है। किसी ने नाथपंथी तो किसी ने बौद्धों के ब्रजयानी शाखा से प्रभावित माना है। कबीर साहित्य के इस पहलू को

 ISSN 0975-735X

लेकर आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का भी अपना मत है। वे कबीर पर विभिन्न मत-मतांतरों का प्रभाव स्वीकार तो करते हैं, किंतु उन्हें पूरी तरह से उसमे बँधा हुआ स्वीकार नहीं करते। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का अपना मत है–'मध्यकालीन संतों का जो दर्शन रहा है वह किसी प्रभाव आदि के करण नहीं था, अपितु एक काल्पनिक आरोप था, जिसे प्रायः सभी संतों ने किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया।'[11] इस प्रकार से कबीरपंथ को लेकर इनका दृष्टिकोण उदारवादी प्रतीत होता है। जबकि आगे के संतों कि विवेचना करते समय वे संपूर्ण संतसाहित्य को कबीर साहब के आस- पास का मानते हैं, जिससे कहीं-न-कहीं वे इस बात को स्वीकार रहे होते हैं कि कबीर साहब का अपना एक खुद का पंथ 'कबीरपंथ' चल पड़ा। यह बात सत्य भी है इसके प्रमाण आज भी हमें कबीर पंथियों के रूप में देखने को मिलते हैं।

कबीर के भाषा को लेकर भी विद्वानों का अपना मत है और इसमें काफी विवाद है। अलग-अलग विध्वनों ने उनकी भाषा को लेकर अपनी अलग-अलग राय दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को वाणी का डिक्टेटर मानते हुए कहा है–'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया–बन गया तो सीधे-सीधे वरना दरेर कर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।'[12] इसके विपरीत आचार्य शुक्ल ने कबीर कि भाषा को अनगढ़ और अपरिमार्जित भाषा मान कर उनकी भाषा को साधुककड़ी भाषा माना है। वे कहते हैं–'भाषा बहुत परिष्कृत तथा परिमार्जित न होने पर भी कबीर कि उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमे बड़ी प्रखर थी इसमें संदेह नहीं।'[13]

कबीर की भाषा को लेकर आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत इस प्रकार है–'कबीर साहित्य की शब्दावली में अनेक ऐसे शब्द मिल सकते हैं, जो प्रचलित काव्यभाषा की दृष्टि से हमें अनगढ़ अथवा अशिष्ट जान पड़ेंगे। उनके बहुत से वाक्यों की गठन शैली हमें उसी प्रकार अव्यवस्थित और विचित्र-सी लग सकती है, परंतु इस प्रकार का मत प्रकट करने के पहले यह जान लेना भी आवश्यक है कि जिन सामजिक क्षेत्रों में रहकर ऐसे साहित्य की रचना की गई थी अथवा जहाँ-जहाँ इसका प्रचार करना इसके रचयिता को अभीष्ट था, वे हमारे शिक्षित व उच्चवर्गीय वातावरण से नितांत भिन्न थे वैसी दसा में कबीर साहब कि प्रतीक योजना, उनके मुहावरों और उनके द्वारा व्यवहृत कहावतों तक के प्रयोग हमें सर्वथा उपयुक्त जचेंगे।'[14] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के इस भाषिक दृष्टिकोण में एक समन्वयवादी दृष्टिकोण नजर आता है। यहाँ वे आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर पर भाषाविषयक दृष्टिकोण में समन्वय करते दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इन्होने दोनों आलोचकों के विचारों को अपनाते हुए अपना एक मौलिक दृष्टिकोण रखा है। वे कबीर कि भाषा को जनभाषा मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कबीर के प्रमुख आलोचकों में से हैं। इस विवेचन के आधार पर उनकी कबीरविषयक जो आलोचना-दृष्टि है, वह अनुसंधानपरक, समन्वयवादी और परंपरावादी है। यद्यपि कोई भी आलोचक किसी दृष्टि विशेष में बँधकर आलोचना नहीं करता, किंतु उसके समग्र आलोचनाकर्म को ध्यान में रखकर एक धारणा निर्मित की जाती है कि उक्त आलोचक का दृष्टिकोण क्या है, इस दृष्टि से देखें तो

आचार्य चतुर्वेदी की आलोचना मुख्य रूप से अनुसंधानपरक है। कुछ आलोचकों ने इन पर जातीय होने का आरोप भी लगाया है, किंतु यह सत्य नहीं है। आचार्य चतुर्वेदी ने अपना समग्र आलोचना- कर्म निष्पक्ष भाव से तटस्थ रहकर किया है।

संदर्भ

1. दूसरी परंपरा की खोज, नामवरसिंह, पृ॰ 43
2. कबीर साहित्य की परख, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ॰ 5
3. कबीर साहित्य की परख: आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ॰ 6
4. कबीर साहित्य चिंतन, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ॰ 2
5. कबीर साहब सिद्धांत और साधना, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ॰ 47
6. कबीर-मीमांसा, डॉ॰ रामचंद्र तिवारी, पृ॰ 112
7. उत्तरी भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृ॰ 11
8. वही, पृ॰ 10
9. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ॰ आर्याप्रसाद त्रिपाठी, पृ॰112
10. कबीर साहित्य की परख, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ॰ 2
11. उत्तरी भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ॰ 72
12. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ 172
13. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ॰ 72
14. कबीर साहित्य की परख, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रस्तावना, पृ॰ 5

आर॰जेड॰एफ॰ 94, **गली नं॰** 9
राज नगर पार्ट 2
पालम कॉलोनी, नई दिल्ली 110077
मो॰ 8826868907, 9811633329

ISSN 0975-735X

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' के यात्रा-साहित्य में सामाजिक समरसता के तत्त्व

डॉ॰ सुमित मोहन

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' (जन्म : 15 जुलाई, 1959) उत्तराखंड हिमालय के छोटे से गाँव में जन्मे और गंगाद्वार हरिद्वार में शिक्षित-दीक्षित सांस्कृतिक चेतनासंपन्न साहित्यकार हैं। भारतीय जीवनमूल्य उनके चरित्र का आधार हैं और वे मूल्य उनके समस्त साहित्य में विद्यमान हैं। उनकी रचनाधर्मिता का फलक अत्यंत व्यापक है। 'समर्पण' (1983) से लेकर 'सृजन के बीज' (2018) तक उनके 12 से अधिक कविता-संग्रह, 'क्या नहीं हो सकता' (1993) तथा 'बस एक ही इच्छा' से लेकर 'कथाएँ पहाड़ों की' (2016) तक एक दर्जन कहानी-संग्रह, 'निशांत' (2008) से लेकर 'प्रतिज्ञा' (2010) तक 6 उपन्यास तथा अनेकनेक अन्य कृतियाँ उनकी लेखनी से नि:सृत हैं। उनकी रचनाओं के देश तथा विदेश की कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। जहाँ तक यात्रा-साहित्य का प्रश्न है, उनकी छह पुस्तकें यात्रावृत्तांतों की प्रकाशित हैं। ये हैं– मॉरीशस की स्वर्णिम स्मृतियाँ (2016), भारतीय संस्कृति का ध्वजवाहक है, इंडोनेशिया (2016), एक दिन नेपाल में (2018), खुशियों का देश भूटान (2019), प्रलय के बीच (केदारनाथ आपदा), विध्वंस से सृजन आदि। विषयवस्तु की दृष्टि से उनकी तीन कृतियों की शृंखला 'धरती का स्वर्ग : उत्तराखंड' भी यात्रा-साहित्य की रोचक और ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रस्तुत करती है। इस शृंखला में हैं–भाग-1. हिमालय का महाकुंभ नंदा राजजात, भाग-2, स्पर्शगंगा और भाग-3 प्रकृति का अलौकिक सौंदर्य (2018)। किंतु ये यात्रावृत्तांत की श्रेणी में नहीं हैं। हाँ पर्यटक प्रेरक और ज्ञानवर्द्धक अवश्य हैं। इस शृंखला के विषय में स्वयं लेखक डॉ॰ 'निशंक' जी का कहना है कि, 'धरती के स्वर्ग की विविधता को जानने, समझने के लिए विनसर पब्लिकेशन द्वारा ग्रंथों की एक शृंखला प्रकाशित की जा रही है। इस शृंखला में प्रकाशित ग्रंथ एक कोमल पुष्प की पंखुड़ियों की तरह हैं, जो अपनी विविध ता से इन्हें आकर्षक और सुगंधमय बनाते हैं।' (डॉ॰ 'निशंक', (2018), प्रकृति का अलौकिक सौंदर्य, देहरादून, विनसर, पब्लिकेशन, पृ॰ XII)

हम उनकी यात्रावृत्तांत कृतियों के विशेष पक्ष सामाजिक समरसता के तत्त्वों का संधान करेंगे, जो भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा भी हैं।

विवेचन

यात्रा मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हम पाएँगे कि मानव के सांस्कृतिक विकास में यायावरी का विशेष महत्त्व है। यों तो अपने जीवनकाल में सभी लोग यात्राएँ करते हैं, उनके किस्से या वृत्तांत भी दूसरों से साझा करते हैं, किंतु सजनात्मक प्रतिभा के

धनी लेखक ही अपने यात्रानुभवों को पाठकों तक प्रभावशाली ढंग से पहुँचा पाते हैं।

साहित्य के कथेतर गद्य रूपों में यात्रावृत्तांत वर्णन तत्त्व प्रधान ऐसी विधा है, जो प्रकृतिपरक है। हिंदी में 'घुमक्कड़शास्त्र' जैसी कृति देनेवाले घुमक्कड़ी के बादशाह महापंडित राहुल सांकृत्यायन कहा करते थे कि, 'मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ी से बढ़कर व्यक्ति और समाज के लिए कोई हितकर नहीं हो सकता।' और 'जो लोग घूम-फिर कर दूसरे देशों की वेशभूषा, रहन-सहन और बोली का अध्ययन नहीं करते, वे बिना सींग के बैल के समान हैं।' (राहुल सांकृत्यायन, (1949), घुमक्कड़शास्त्र, इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, पृ॰ 10)

यात्राएँ तो सभी करते हैं, किंतु सभी यात्राओं के वृत्तांत या वर्णन साहित्यिक 'यात्रावृत्तांत' की श्रेणी में नहीं आते। जिज्ञासा, सौंदर्यबोध, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक बोध, प्रकृति की पुकार को सुनने और उल्लास की भावना से अनुप्रेरित कोई यायावर जब यात्रा करता है, और अपने अनुभवों को आत्मीयता के साथ शब्दबद्ध करता है, तो उन यात्रावृत्तांतों को साहित्य की मनोवृत्ति का कहा जा सकता है। प्रो॰ हरिमोहन का इस संदर्भ में मानना है, 'साहित्य की विधा के अंतर्गत वे यात्रावृत्तांत ही आ सकते हैं, जिनमें लेखक की प्रकृतिगत विशेषताएँ प्रक्तिककड़ता, घुमक्कड़ी वृत्ति, उल्लास, सौंदर्यबोध और ज्ञान पिपासा सर्वत्र दृष्टिगत हो।..इनमें संवेदना और अभिव्यक्ति का कलात्मक संतुलन रहता है।' (हरिमोहन, साहित्यिक विधाएँ–पुनर्विचार, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 273) विकिपीडिया में कहा गया है कि यात्रावृत्तांत 'किसी स्थान में बाहर से आए व्यक्ति या व्यक्तियों के अनुभवों के बारे में लिखे वृत्तांत को कहते हैं। इसका प्रयोग पाठक के मनोरंजन के लिए या फिर उसी स्थान में स्वयं यात्रा के लिए जानकारी प्राप्त करने के लिए करते हैं।'

यात्रा-साहित्य से मुख्यत: उन स्थानों की प्राकृतिक विशिष्टता, सामाजिक संरचना, वहाँ की भाषा, इतिहास, संस्कृति, रहन-सहन, रीति-रिवाज, मेले-त्योहार, दार्शनिक, आचार-विचार, शकुन-अपशकुन, आस्थाओं इत्यादि का ज्ञान होता है।

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' के यात्रा-साहित्य में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का समावेश है। वे मूलत: कवि हैं, इसलिए काव्यात्मक संवेदना उनके यात्रावृत्तांतों को विशिष्ट बना देती है। भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से हिमालय-संस्कृति उनकी सभी रचनाओं में विद्यमान है और यह उनकी रचनाओं की संजीवनी सिद्ध होती है। इन सबका एक प्रमुख पक्ष है सांस्कृतिक-सामाजिक समरसता का दर्शन। हम उसी दर्शन को उनके यात्रा-साहित्य में रेखांकित करेंगे।

हमें आरंभ में वह सूत्र पकड़ना होगा, जो भारतीय समाज एवं संस्कृति, बल्कि कहना चाहिए कि हिंदू-समाज एवं संस्कृति में आदर्श जीवनमूल्यों को अंगीकृत किए हुए है और वह सूत्र है हमारा आध्यात्मिक चिंतन। क्या है वह हमारा आध्यात्मिक चिंतन? व्यक्ति, समाज, प्रकृति तथा ईश्वर की ओर देखने की हमारी दृष्टि। हजारों वर्षों के चिंतन, अनुभव तथा महापुरुषों के आचरण द्वारा, समाज की स्वस्थ परंपरा के अनवरत संचालित होते रहने के लिए कुछ सिद्धांत स्वाभाविक रूप से हिंदू-समाज के व्यवहार में स्थापित हो गए हैं, जिनकी ओर

 ISSN 0975-735X

संकेत करते हुए डॉ॰ कृष्ण गोपाल जी ने चार बातों को सामने रखा है–

1. सभी प्राणियों में ईश्वर चौतन्य की समान अनुभूति,

2. किसी से भी द्वेष, बैर अथवा घृणा नहीं करना,

3. सभी प्राणियों के सुखी होने की अनुपम कामना, और

4. सभी को विचार स्वातंत्र्य तथा सभी विचारों का सम्मान। (पठनीय : भारत की संत परम्परा और सामाजिक समरसता, पृ॰ 2–9)

कहना न होगा कि डॉ॰ 'निशंक' के यात्रावृतांतों में इन सभी तत्त्वों की अनुगूँज विद्यमान है। इस संदर्भ में एक उदाहरण विशेष रूप से उद्धृत किए जाने योग्य है। जब वे अपनी भूटान-यात्रा में लिखते हैं–'भूटानी लोगों को मैं आचार, व्यवहार से उत्तराखंड या हिमालयी राज्यों के जनमानस के अत्यधिक करीब पाता हूँ। हो भी क्यों न, केवल नेपाल और भूटान ऐसे देश हैं, जहाँ लोगों के व्यवहार में अपनापन, एक-दूसरे के लिए समर्पण की भावना और रीति-रिवाजों में अत्यधिक समानता देखने को मिलती है। सदियों पुराना हमारा संबंध किसी सरकार, राजतंत्र या किसी राजनीतिक एवं सामाजिक दल पर निर्भर न होकर विशुद्ध आत्मिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का संबंध है, जो आदिकाल से चला आ रहा है और युगयुगांतर चलता रहेगा।' (खुशियों का देश, भूटान, 2019, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, पृ॰ 8–9)

यह उनका सूक्ष्म पर्यावलोकन है, जो वहाँ के समाज में भारतीय उच्च आदर्शों को प्रतिबिंबित देखता है और इससे वे अभिभूत हो जाते हैं। क्या यह उस भारतीय हिंदू संस्कृति के उस सामाजिक समरसता के सिद्धांत का प्रथम रूप नहीं है, जो सभी प्राणियों में ईश्वर की समान अनुभूति करता है? सभी को समान दृष्टि से देखने की यह अनुभूति एक अनूठी आध्यात्मिक दृष्टि है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में याग्वल्क्य इसी भाव को उधृत करते हैं, 'एष त आत्मा सर्वांतरः' (अर्थात् 'जो आत्मा मेरे अंदर है वही सभी के अंदर है।) यही हमारे राष्ट्रीय जीवनदर्शन की दिव्य दृष्टि है।

देखिए भूटान के राजा के एक कथन का डॉ॰ 'निशंक' अपने भूटान यात्रावृत्तांत में कितनी श्रद्धा और आश्वस्ति के साथ उल्लेख करते हैं, जो समता और सर्वे भवंतु सुखिन के भारतीय आदर्श से मेल खाता है–'मेरे साम्राज्य में चारों ओर, मैं कभी भी आप पर एक राजा की तरह राज नहीं करूँगा। मैं आपकी एक अभिभावक की तरह रक्षा करूँगा, एक भाई की तरह देखभाल करूँगा, एक पुत्र की भाँति आपकी सेवा करूँगा, मैं आपको सब-कुछ दूँगा और अपने पास कुछ नहीं रखूँगा। मेरे कोई भी निजी लक्ष्य नहीं हैं, सिवाय आपकी उम्मीदों एवं आकांक्षाओं को पूर्ण करने के। मैं आपकी दिन-रात, दयालुता, इंसाफ और समानता के भाव से सेवा करता रहूँगा।' (डॉ॰ 'निशंक' (2019), खुशियों का देश भूटान, पृ॰ 127)

पुनः कहना न होगा कि इसमें सभी की समानता और सुख की कामना निहित है, जो इस भारतीय चिंतन के अनुरूप है–

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत

अर्थात् 'सभी सुखी रहें, सभी नीरोगी रहें, सभी आनंदपूर्वक अच्छा देखें, किसी को लेशमात्र भी कष्ट न हो।'

इसी क्रम में 'निशंक' जी अपनी नेपाल-यात्रा में अनुभव करते हैं कि भारतीय संस्कृति का आदर्श 'सर्वधर्म समभाव' नेपाल के लोगों में भी देखने को मिलता है। वे लिखते हैं, 'धर्म के मामले में नेपाल के लोगों की खूबसूरती यह है कि वे भारत के लोगों की तरह सर्वधर्म समभाव में विश्वास रखने में सहिष्णु व लचीले हैं। कट्टरता तो दूर-दूर तक कहीं भी नेपाल की जनता में देखने को नहीं मिलती। नेपाल के लोग दूसरे धर्म का सम्मान करने और अपनी सादगी सहनशीलता के लिए जाने जाते हैं।' (डॉ॰ 'निशंक', एक दिन नेपाल में, (2018), पृ॰ 65-66)

यही स्थिति मॉरीशस के समाज में देखने को मिलती है। वहाँ भी सर्वधर्म समन्वय है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और वे रेखांकित करते हैं, 'नेपाल के लोग भारतीयों की तरह ही नमस्ते से अभिवादन करते हैं और भगवान् के अलावा ये लोग देश, नदियों, पशु-पक्षियों, वनस्पति की भी पूजा करते हैं। (वही, पृ॰ 66) यह है समरसता का सूत्र, जो मुझ में है, वही सबमें है, सभी प्राणियों, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों, वृक्षों-वनस्पतियों–सभी में!

वे अपनी भूटान यात्रा में भी ध्यान देते हैं कि नदियों के प्रति वहाँ के लोगों में कितनी श्रद्धा और उनके प्रदूषित न हो जाएँ, इसकी सचेतता है। प्रकृति-प्रेम और जीवधारियों की चिंता उनके पर्यावारण संरक्षण की योजनाओं में सम्मिलित हैं। जैसा कि 'निशंक' जी लिखते हैं, 'भूटान में पर्यावरण सुरक्षा उपायों को पड़ोसी देशों द्वारा की गई गलतियों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। इनमें यह नियम शामिल है, जिनमें यह सुनिश्चित करना होता है कि देश में वन क्षेत्र कभी भी 60 प्रतिशत से कम न होने पाए और किसी भी उद्योग या व्यावसायिक गतिविधि, जिनसे पर्यावरण को क्षति पहुँच रही हो और वन्य जीवन को भयग्रस्त कर रहे हों, उन्हें चलाने की यहाँ पर अनुमति नहीं है।' (डॉ॰ 'निशंक (2019), खुशियों का देश भूटान, पृ॰ 124)

सभी धर्मों का आदर करने की भारतीय संस्कृति एवं जीवनमूल्यों की प्राचीन समय से चली आ रही परंपरा अपनी यात्राओं में लेखक को मॉरीशस, भूटान और नेपाल में भी मिलती है। इन देशों में किसी एक धर्म को लेकर कट्टरता नहीं है। फिर हिंदू धर्म तो मात्र धर्म नहीं, उससे कहीं आगे बढ़कर जीवन की एक शैली है। एक आदर्श पद्धति है। वे मॉरीशस, नेपाल और भूटान देशों के जनमानस में विशेष रूप से सभी धर्मों का समान भाव से आदर परिलक्षित करते हैं, जहाँ हिंदू जनसंख्या का बाहुल्य है। यही कारण है कि इन देशों में हिंदू, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों के लोग प्रेमभाव से रहते हैं। धर्म उनके सामाजिक जीवन की धुरी है। अपने नेपाल यात्रा के वृत्तांत में वे उल्लेख करते हैं, 'नेपाल के लोग परंपरागत, सामाजिक ताने-बाने से बुने समाज में रहकर अपने धर्म, आस्था, व्यवहार,उनकी वेशभूषा, उनके हिंदू और नेपाल धर्म को प्रतिष्ठित करते हैं।...देश में मंदिरों की बड़ी संख्या है और नेपाली जनजीवन पर धर्म का बड़ा प्रभाव दिखता है। नेपाल के लोग हिंदूधर्म एवं बौद्धधर्म की मान्यता के अनुसार अतिथियों का अत्यधिक सत्कार करते हैं।' (डॉ॰ 'निशंक', एक दिन नेपाल में, (2018), पृ॰

 ISSN 0975-735X

61) और जैसा कि हमने कहा, उनकी जीवन-शैली भारतीय संस्कृति के तत्त्वों के साथ गहराई से जुड़ी है। वे एक स्थल पर लिखते हैं कि, 'आम नेपाली का जीवन उसके रीति-रिवाजों, धर्म,संस्कृति, पौराणिक ग्रंथों से काफी कुछ प्रेरित रहता है। जन्मसे लेकर मृत्यु तक वह विभिन्न संस्कारों में बंधा रहता है। लोगों की अपने धर्म-संस्कृति में गहरी आस्था है। सभी लोग त्योहारों-उत्सवों को पूरे हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। इन मौकों पर उनका प्रकृति के प्रति लगाव उजागर होता है। भारत की तरह पेड़, पर्वत, जीवों की पूजा की जाती है। जहाँ तुलसी,पीपल की उपासना की जाती है, वहीं गाय और पक्षियों को विशेष अवसरों पर पूजा जाता है।' (वही, पृ॰ 63)

भूटान नि:संदेह बौद्धों का देश है, किंतु इस देश में अन्य धर्मों के प्रति सदाशयता और सम्मान की भावना है। यह किसी के लिए भी आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक विश्व में भूटान जैसा भी एक देश है, जो अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को आज भी जीवित रखे हुए है। इसका कारण संभवत: यह भी है कि जब हम अपनी सांस्कृतिक परंपराओं का सम्मान करेंगे, तब स्वत: दूसरों की संस्कृति का भी सम्मान कर सकेंगे। यहाँ के इस अनूठेपन पर डॉ॰ 'निशंक' जी टिप्पणी करते हैं, 'भूटान को रहस्यमयी देश के रूप में जाना जाता है। कई सदनों, रहस्यवादियों, विद्वानों और तीर्थयात्रियों द्वारा यहाँ का दौरा किया गया है, उन सभी लोगों ने भूटान की भूमि और उसके लोगों को अनमोल आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत के लिए पूरे विश्व में विलक्षण माना है।...यहाँ आनेवाले अतिथि और पर्यटकों को आश्चर्य होता है कि यहाँ के जनजीवन में पारंपरिक शैली और संस्कृति पूर्णत: विद्यमान है। आज जब कि पाश्चात्य संस्कृति ने हर देश में घुसपैठ कर दी है, ऐसे में भूटान में अभी भी अपने पारंपरिक रीति-रिवाजों, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों तथा परंपराओं को सहेजकर रखा है।' (खुशियों का देश भूटान, पृ॰ 41)

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' जी के यात्रा-साहित्य में पर्वतों, हिमनदों, अरण्यों, समुद्र आदि के सौंदर्य को समेटे हुए व्यापक प्रकृति-चित्रण, संबंधित देशों के सांस्कृतिक इतिहास, कला, साहित्य, भूगोल, राजनितिक और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों, विकास की दिशाओं आदि का वर्णन रहता है। अनेक ऐसी जानकारियाँ प्रामाणिक रूप से दी गई हैं, जो उस देश को समझने के लिए हमारी सहायता करती हैं। कई बार वे धर्म और धर्मस्थलों का सटीक चित्रण करते हुए जनमानस में उन धर्मस्थलों के प्रति पैठी आस्था को रेखांकित करना नहीं भूलते और कई स्थलों पर प्रचलित विश्वासों, लोकमान्यताओं और कथा-प्रसंगों आदि का वर्णन भी अवश्य करते हैं।

इस संदर्भ में मात्र एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा–'नेपाल पूरे विश्व में हिंदुओं के लिए आस्था का केंद्र है। यह मंदिरों का देश है। यहाँ एक कहावत कही जाती है, 'जितने आदमी उतने मंदिर।'....एक कथा के अनुसार, भगवान् शिव एक बार ब्रह्मा द्वारा रचित सुंदर वसुंधरा को देखने के लिए निकले। उन्हें नेपाल की हरी-भरी घाटी इतनी पसंद आई कि वे कैलाश पर्वत को भी भूल गए। कहते हैं कि उन्होंने तीन सींग वाले मृग का रूप धारण किया और घाटी की सुंदरता में खो गए। जब कई दिनों तक भगवान शिव वापस कैलाश नहीं लौटे, तो

ब्रह्मा और विष्णु दोनों परेशान हो गए।....तलाश शुरू कर दी, पता चला कि शिव तीन सींगोंवाले मृग के रूप में विचरण कर रहे हैं। ब्रह्मा ने मृग रूपी शिव को पकड़ने की कोशिश की, तो उनके हाथ में एक सींग आया। यह सींग तीन हिस्सों में टूट गया। टूटे हुए सींग का एक हिस्सा काठमाण्डू क्षेत्र में गिरा और यह समूचा क्षेत्र पशुपति क्षेत्र के नाम से मशहूर हुआ।...जो दूसरा भाग था, उसे उन्होंने काठमाण्डू से थोड़ी दूर 'गोकणेश्वर' में स्थापित किया।' (एक दिन नेपाल में, पृ॰ 84)

समग्रत: हम कह सकते हैं कि कविहृदय लेखक डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' का यात्रा साहित्य भारतीय हिंदू संस्कृति तथा जीवनमूल्यों के आदर्शों को समेटे हुए है। उन्होंने देश-विदेश की व्यापक यात्राएँ की हैं। इन यात्राओं में अन्य सभी विशेषताओं के साथ ही सामाजिक समरसता और विश्वभर में मानव-मात्र के कल्याण की भावना दृष्टिगत होती है। वे जहाँ की यात्रा करते हैं, उस स्थल, परिवेश और देश के प्रचीन इतिहास, समाज, संस्कृति, भाषा, कला और भूगोल...सभी के आर-पार तक देखते हैं। किंतु वर्तमान समाज, सभ्यता, संस्कृति और राजनीतिक स्थितियों पर भी पैनी दृष्टि टिकाए रहते हैं। उनके यात्रावृत्तांतों में भारतीय संस्कृति और सामाजिक समरसता के तत्त्व अपने पूरे प्रभाव तथा सौंदर्य के साथ संचरित हैं। उनका यात्रा साहित्य विश्व के देशों को परस्पर निकट लाने का श्रेष्ठ उदाहरण है।

संदर्भ

1. डॉ॰ कृष्ण गोपाल (2013), भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता, भोपाल, मध्य प्रदेश हिंदी अकदमी।
2. राहुल सांकृत्यायन, (1949), घुमक्कड़शास्त्र, इलाहाबाद, इंडियन प्रेस।
3. डॉ॰ रमेशपोखरियाल 'निशंक' (2018), एक दिन नेपाल में, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
4. डॉ॰ रमेशपोखरियाल 'निशंक' (2019), खुशियों का देश भूटान, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
5. डॉ॰ रमेशपोखरियाल 'निशंक' (2016), मॉरीशस की स्वर्णिम स्मृतियाँ, दिल्ली प्रभात प्रकाशन।
6. डॉ॰ रमेशपोखरियाल 'निशंक, (2013), प्रलय के बीच, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
7. डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक', (2014), विध्वंस से सृजन, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
8. डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक'(2018) धरती का स्वर्ग उत्तराखण्ड–शृंखला, तीन भाग 1. हिमालय का महाकुंभ नंदा राजजात, 2. स्पर्श गंगा, 3. प्रकृति का अलौकिक सौंदर्य, देहरादून, विनसर पब्लिशिंग कंपनी।
9. प्रो॰ हरिमोहन, (2007), साहित्यिक विधाएँ, पुनर्विचार, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय संघटक कॉलेज
सिखवाला (श्री मुक्तसर साहब) पंजाब 152113
मो॰ 09914197374
drsumitmohan@gmail.com

ISSN 0975-735X

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व

डॉ॰ तमन्ना फातिमा
हिंदी विभाग
रा॰भा॰ दे॰ महिला महाविद्यालय, बिजनौर

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम हिंदी के एक सुधि समीक्षक, आलोचक, लेखक, निबंधकार तथा सफल उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके प्रौढ़ साहित्य-सर्जन ने हिंदी गद्यसाहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, वह उनकी बहुमुखी प्रतिमा का परिचायक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म 1907 में बलिया के छोटे से गाँव ओझबलिया के 'दुबे का छपरा' नामक टोले में एक प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम पंडित अनमोल द्विवेदी तथा माता का नाम परम ज्योतिदेवी था।

आपका व्यक्तित्व बचपन से ही प्रखर था। द्विवेदीजी प्रखर बुद्धि, उदारहृदय के थे। यह सब उन्हें दया के रूप में प्राप्त हुआ था। द्विवेदी को ज्योतिष का ज्ञान विरासत मे प्राप्त हुआ था। साहित्य का चिरंतन सौंदर्य और उसका शाश्वत बोध द्विवेदीजी को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं के साहित्य के अध्ययन से प्राप्त हुआ था।

1930 से द्विवेदीजी शांतिनिकेतन में अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। हरिऔधजी ने आपकी प्रतिभा को प्रोत्साहित किया और उन्हीं की सलाह पर शांति निकेतन चले गए थे। 1930 से 1950 तक का शांति निकेतन में रहे। द्विवेदीजी जब शांति निकेतन पहुँचे तो गुरुदेव ने उनको पंडितजी शब्द से पुकारा था। शांति निकेतन में गुरुदेव रवींद्र का सानिध्य प्राप्त करने के साथ आपका आचार्य नंदलाल वासु, क्षिति मोहनसेन, विधुशेखर भट्टाचार्य, दीनबंधु एंडयूस आदि से संपर्क हुआ। सन् 1940 ई॰ में आप शांति निकेतन में हिंदी भवन के निर्देशक के पथ पर प्रतिष्ठित हुए आपने 1950 मे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष का पदभार ग्रहण किया। सन् 1960 तक इस पद पर रहने के बाद आपने 1960 में पंजाब विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग अध्यक्ष के रूप में कार्य किया।

आपकी साहित्यसेवा एवं विद्वत्ता को देखकर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1949 ई॰ में आपको मानद डी॰लिट् की उपाधि देकर सम्मानित किया गया। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व उनके गोरे मुखमंडल उन्नत ललाट पर दिखाई देता था। जब वह खादी का कुर्त्ता व धोती पहनते थे तो उनके मुख मंडल पर रसमायी भावभंगिमा आ जाती थी। संपूर्ण हिंदी-जगत् में आचार्यजी के व्यक्तित्व की धाक थी। उनकी वाणी की ओजस्विता श्रोताओं पर वशीकरण मंत्र-सा फूँक देती

थी। उनकी आवाज सागरों की लहरों-सी कभी ऊँची उठती तो कभी नीचे कभी गर्जना करती तो कभी दूसरे ही क्षण समतल होकर तट पर बिखर जाती।

हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के शलाका पुरुष थे। अन्वेषक, इतिहास, लेखक, आलोचक, निबंध लेखक, संपादक, व्याख्याता तथा उपन्यासकार के अतिरिक्त आप कुशल वक्ता और सफल अध्यापक भी थे। आचार्य द्विवेदी विश्वभारती व काशी को अपनी माँ के समान मानते थे।' विश्वभारती में उन्हें गुरुदेव का पवित्र वासल्य मिला, उन्हीं की स्नेहिल छाया में द्विवेदीजी का व्यक्तित्व विकसित हुआ। द्विवेदीजी उच्च आदर्शों को अपने जीवन में महत्त्व देते थे। इसलिए इनको महात्मा गांधी एवं रवींद्र के प्रति इतनी भक्ति और श्रद्धा थी। द्विवेदीजी उदार स्वभाव के थे। द्विवेदीजी का अंधविश्वास से कोई नाता नहीं थे। द्विवेदीजी ज्योतिषाचार्य होने के कारण उक्त विधा में काफी निपुण थे, परंतु ज्योतिष की वैज्ञानिकता के संबंध में उनका स्पष्ट मत भी अनेक बार व्यक्त हुआ है। द्विवेदीजी अपनी परिहासप्रियता के लिए प्रख्यात थे। साधारण बातचीत में भी ऐसी हँसी का फव्वारा खोज लेते थे कि लोग चमत्कृत हो उठते थे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने एक बार ताना कसते हुए कहा कि बलिया के लोग गँवार होते हैं तो हजारीप्रसाद बोले कि 'सचमुच पर चिरगवार नहीं होते है।'[1] द्विवेदीजी शांतिनिकेतन में गुरुदेव के संपर्क में आए तो उन्हीं के रंग में रंग गए। उन्हीं की तरह आपका भी सादा जीवन और सरल व्यक्तित्व था। द्विवेदीजी भारत के महान पुजारी का गांधीजी के भक्ति थे। द्विवेदीजी ने कहा कि 'वह चला गया वह ब्रह्मचर्य का विजय केतन, धर्म का भूर्तिमान विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकार, कीर्ति का कैलाश, भक्त का उल्लास, हमारे बीच से चला गया।'[2] गांधीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव द्विवेदीजी के ऊपर पड़ा और आपके निबंधों में भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है।

द्विवेदीजी को भारतीय सभ्यता, संस्कृति ने बहुत प्रभावित किया था। द्विवेदीजी कहते हैं कि, 'हिंदी साहित्य का इतिहास केवल संयोग और सौभाग्य से प्राप्त हो गया पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता है। प्राचीन हिंदी का साहित्य रस साहित्य नहीं है, जो रससाहित्य कहा जा सके, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका सबसे बड़ा गुण यह है कि उससे हम बहुत दिनों के अपेक्षित और अपरिचित मनुष्य को पहचान सकते हैं और मेरी दृष्टि में यह बहुत बड़ी बात है कि साहित्य मनुष्य को उसकी समस्त आशाओं के साथ उसकी सभी सफलता और दुर्बलताओं के साथ हमारे सामने प्रत्यक्ष ले आकर खड़ा कर देता है। वहीं महान साहित्य है।'[3] द्विवेदीजी ने सांस्कृतिक धरोहर की जीवित रखा अपने निबंधों के माध्यम से अपने विचारों में।

द्विवेदीजी प्रकृति के प्रेमी रहे हैं। आपके व्यक्तित्व पर प्राकृतिक वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ा है। प्रकृति के समीप रहने के कारण प्रकृति और आपके मध्य एक संबंध स्थापित हो गया था। द्विवेदीजी इस बात को अपने निबंधों 'शिरीष के फूलों' में कहते हैं कि वह ऐसे स्थान पर बैठे हैं, जहाँ पर चारों ओर का वातावरण प्रकृति से भरा हुआ है आप बताते हैं। जहाँ बैठकर यह लेख लिखा रहा हूँ उसके आगे पीछे, दाएँ-बाएँ, 'शिरीष के अनेक पेड़ हैं'[4]

द्विवेदीजी प्रकृति से बहुत प्रभावित थे। द्विवेदीजी प्रकृति की अनुपम छटा को अपने निबंधों में समेटने मे लगे रहे। द्विवेदीजी वेदों और उपनिषद् का गहन अध्ययन किया है।

द्विवेदीजी पंडित थे और आपके व्यक्तित्व पर इनकी गहरी छाप थी। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व पर भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेदों का प्रभाव था। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को कई तत्त्वों ने प्रभावित किया, परंतु द्विवेदीजी का एक आजाद व्यक्तित्व था। वह अपनी बुद्धि और तर्क पर ही किसी भी विचार को स्वीकार करते थे। द्विवेदीजी किसी भी बात को ज्यों का त्यों अनुकरण नहीं करते थे। पहले चिंतन मनन करके प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर विचार करते थे। द्विवेदीजी को जो बात सही लगती थी, उसको स्वीकार करते थे, जो बात गलत लगती थी उसको कह देते थे। द्विवेदीजी के विचार कबीरदास से बहुत मिलते थे। कबीरदास के साहित्य का अध्ययन करने से अपनी बात स्वतंत्र रूप से कहने की क्षमता आ गई थे। इस प्रकार द्विवेदीजी का व्यक्तित्व श्रेष्ठ निबंधकार के रूप में विद्यमान है।

संदर्भ

1. रवींद्रनाथ टैगोर के राष्ट्रीयगान, अशोक के फूल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ 11
2. एक कुत्ता और एक मैना, अशोक के फूल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ 8
3. शांतिनिकेतन से शिवालिक, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ 5
4. भारतीय संस्कृति की देन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ 68

सरोज दहिया रचित 'पटराणी' काव्य में पारिवारिक जीवनमूल्य

संतोष कुमारी
शोधार्थी हिंदी
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

जीवनमूल्यों के उद्‌घाटन द्वारा साहित्य विशिष्ट आयामों पर स्थापित है। साहित्य में जितने अधिक मूल्य समाहित होंगे, वह उतना ही श्रेष्ठ एवं रुचिकर होगा। मूल्य-मानव एवं उनके आसपास के वातावरण से संबंधित होते हैं। साहित्यकार की दृष्टि जितनी अधिक व्यापक होगी मूल्य भी उतने की समष्टिपक होंगे। मानव से संबंधित मूल्यों को मानव की संज्ञा से अभिप्रेरित किया गया है।

जीवनमूल्य

मानव-जीवन को उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने हेतु विद्वानों ने कतिपय मानदंडों का निर्माण किया और उन्हीं के आधार पर मूल्य की अवधारणा अस्तित्व में आई। अतः मूल्य का अभिप्रायः मानव-जीवन से संबंधित है। मानव-जीवन के अनुरूप मूल्य परिवर्तित होते रहते हैं।

विद्वानों ने जीवनमूल्यों को परिभाषित करते हुए लिखा है, 'ऐसी कोई भी वस्तु मूल्य हो सकती है, जो जीवन को आगे बढ़ाती है एवं उसको सुरक्षित करती है।'[1] हरिश्चंद्र उप्रेती वस्तु की पूर्ति हेतु मूल्य को नगण्य मानते हुए कहते हैं, 'किसी वस्तु का वह गुण जो व्यक्ति एवं व्यक्ति समूह के लिए उसे रुचिकर बनाता है।'[2] प्रो॰ मेकेन्जी के अनुसार, 'मूल्य से हमारा आशय उस विचार से जो एक विचारशील प्राणी के चिंतन का परिणाम हो।'[3]

'पटराणी' काव्य में चित्रित पारिवारिक जीवनमूल्य

मनुष्य के विकास के संदर्भ में पारिवारिक प्राथमिक संस्था होती है। व्यक्ति जिस प्रकार के संस्कारों और आदर्शों के बीच पलता है, वह व्यक्ति के भावी जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है। अतः समाज में पारिवारिक जीवन के संगठन और उसके आदर्शों के प्रति सतर्क रहना चाहिए। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावित होने के कारण आज भारतवर्ष में भी संयुक्त परिवारों का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है, जबकि भारतवर्ष की संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास रखती है। आज के समय में व्यक्ति पारिवारिक संबंधों के प्रति शिथिल एवं नितांत व्यक्तिवादी होता जा रहा है।

सरोज दहिया ने अपने काव्य में माता-पिता, भाई-बहन एवं पति-पत्नी के संबंधों की प्रस्तावना में आदर्शवाद को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है। दहिया ने अपने काव्य में इस आदर्श पारिवारिक जीवनमूल्यों का वर्णन किया है।

 ISSN 0975-735X

पिता-पुत्र विषयक जीवनमूल्य

'पटराणी' में शुक्राचार्य क्रुद्ध होकर राजा ययाति को वृद्धावस्था का श्राप देते हैं तो शर्मिष्ठा और ययाति के सबसे छोटे पुत्र 'पुरु' अपनी ताकत व जवानी देकर अपने पिता को जवान करते हैं, क्योंकि पुरु को सिर्फ अपने पिता का सुख प्रिय है। इसके लिए वह अपने यौवन व सुखों का त्याग करने से हिचकिचाता नहीं और कहता है, 'न्यू बोल्या अपने तन की मैं सारी ताकत दयूँगा माता-पिता को दिया गात यो फेर काम कदे आवे।'[4]

इस प्रकार 'पटराणी' में हमें आदर्श पुत्र के गुण देखने को मिलते हैं जो वक्त पे अपने सब कुछ दाँव पर लगाकर अपने माता-पिता का मान रख लेता है वही पुत्र सुपुत्र होता है।

पूत सपूत उसने कहो, करै बख्त पै काम।
तन की बाजी लागज्या फेर भी राखे मान।[5]

माता-पुत्र विषयक जीवनमूल्य

पारिवारिक जीवन में माता का स्थान पिता से ऊँचा माना गया है। सामाजिक व्यवस्था में प्राय: होनहार बालक पिता की तुलना में माँ के अधिक निकट होता है। माता उसकी प्राथमिक गुरु होती है। 'पटराणी' में जब शर्मिष्ठा को पता चलता है उसका सबसे छोटा पुत्र 'पुरु' अपना यौवन देकर अपने पिता ययाति की वृद्धावस्था दूर करना चाहता है तो वह अपने नादान बालक के बारे में अत्यंत चिंतित हो उठती है–

पुरुराज ने बूढ़ा करके, कुणसा सुख मन्नै होगा
क्यूँकर आँख्या देखूँगी, जब यो न्यू बूढ़ा होगा
अपने याणे बालक ने क्यूंकर बूढ़ा देखूँगी।[6]

इस प्रकार जब शुक्राचार्य अपनी सिद्धियों से ययाति को दोबारा यौवन देकर पुरु को बूढ़ा कर देते हैं, तो माँ शर्मिष्ठा व देवयानी अपने पुत्र की ऐसी स्थिति देख नहीं पाती और बेहोश हो जाती है–

माँ की गोदी लाल का, हुआ हाल बेहार,
होगी मां बेहोश, देख अपने बेटे का हाल।
देख पुरु की या हालत शर्मिष्ठा न गस्स आगी।[7]

पिता-पुत्री विषयक जीवनमूल्य

पिता-पुत्री के संबंधों के बारे में भी सरोज जी ने अपने उदात्त विचार व्यक्त किए हैं। एक पिता अपनी पुत्री के लिए जो भी उससे अधिक से अधिक होता है, करता है। पिता उसके लिए अच्छा वर तलाशना चाहता है। वह चाहता है कि उसकी पुत्री हमेशा प्रसन्न रहे। जब कन्या विवाह-योग्य हो जाती है तो उसके पिता को उसकी चिंता सताने लगती है। पिता चाहता है कि विवाह के बाद उसकी कन्या सुख व शांति का जीवन व्यतीत करे।

जिस पिता को पुत्री दु:खी हो वह पिता कभी सुख से नहीं रह सकता। जब दैत्यराज वर्षपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा देवयानी के साथ दासी बनके चली जाती है तो उसके माता-पिता अत्यंत दु:खी हो जाते हैं। उनकी दशा अत्यंत दयनीय हो जाती है न उनको भोजन अच्छा लगता है, न रात को नींद आती है। फिर एक दिन दैत्यराज वर्षपर्वा चुपके से राजा ययाति को चिट्ठी

लिखकर मिलने का संदेशा भेजते हैं–

दैत्यराज अर उसकी राणी, तन मैं कुछ बाकी कोन्या
सोच फिकर में दिन बितै, के करणा अर के ना करणा
भोजन कड़वा लाग्या करता, कौन्या आती नींद रात नै
मन म्हं वेदन भारया छिड़गी, क्यूंकर आवै घर न बेटी
एक दिन वे दोनू बतलाए, लुक-छिप के कुछ करणा चाहिए।[8]

जब दैत्यराज वर्षपर्वा राजा ययाति से मिलते हैं तो बेटी के दु:ख में तड़प जाते हैं और राजा ययाति को कहते हैं–

आज पिता सूं बेटी का, कदै पिता तू आप बणैगा
बेटी का दु:ख बड़ा जगत म्हं, बेटी आणा खुद समझैगा।[9]

सरोज मानती हैं कि बेटी का दु:ख जगत में सबसे बड़ा है। बेटी के दु:ख से बड़ा दु:ख और कोई नहीं हो सकता। जिस बाप की बेटी दु:खी हो उस बाप की जिंदगी नरक बन जाती है।

सास-बहू विषयक जीवनमूल्य

'पटराणी' काव्य में चित्रित सास-बहू का रिश्ता अत्यंत उदात्त है। ययाति की माँ एक आदर्श सास के रूप में चित्रित की गई है, जो पूरे परिवार को बाँधकर रखती है। वास्तव में सास परिवार की धुरी होती है। पूरे घर की खुशियाँ सास पर निर्भर करती हैं। यदि सास आदर्श व कर्त्तव्यपरायण हो तो घर व्यवस्थित रहता है। जब तक देवयानी की सास जिंदा थी तब तक देवयानी को किसी प्रकार की कोई चिंता व कष्ट नहीं था। देवयानी की सास देवयानी को बेटी की तरह रखती है यह सच्चाई भी है कि दांपत्य जीवन की खुशियाँ बहुत कुछ सास पर निर्भर करती हैं। सास का व्यवहार अच्छा है तो पति-पत्नी के रिश्ते में कभी दरार नहीं पड़ती।

देवयानी की सास में एक आदर्श सास के सारे गुण देखने को मिलते हैं। समूचे साहित्य में ही शायद ऐसी सास देखने को न मिले। जब उसे पता चलता है कि ययाति का विवाह शर्मिष्ठा के साथ हो रहा है तो उसे अपनी बहू देवयानी की चिंता हो जाताती है और वह विवाह का विरोध करती है। वह देवयानी से कहती है तू क्यों अपना हक बाँटकर अपना जीवन नरक बना रही है–'क्यांते आपै देबाणी, तू अपनी जिंदगी नरक बणावै।'[10]

शर्मिष्ठा व ययाति का विवाह होने के बाद भले ही देवयानी ऊपर से खुश नजर आ रही है, लेकिन उसके अंदर एक कसक, एक टीस, एक वेदना है जिसे देवयानी की सास ताड़ जाती है–

देबाणी! मन्नै तेरे तै प्यारी और बहू कदै लागै कोन्या
मन की बूझण लागगी, बैठ बहू के पास।[11]

कभी-कभी तो लगता है कि देवयानी की सास देवयानी के पिता से भी ज्यादा करीब है। जब ययाति के दूसरे विवाह के बाद देवयानी मायके प्रस्थान करती है तो उसकी सास उसके साथ आती है और रह-रहकर देवयानी के मन में बुरे ख्याल आते हैं और उसकी रात काटे नहीं कटती तब देवयानी का उसी सास के प्रति प्रेमभाव ही यह जो उसकी रात कटती है–'सासू जी के सहारे कटगी, ना ते कटती रात नहीं।'[12]

शर्मिष्ठा व ययाति का विवाह होने के बाद शुक्राचार्य को भी एक खटका सा रहता है

कि कहीं देवयानी पर कोई विपदा न आ जाए। वो हाथ जोड़कर देवयानी की सास से विनती करते हैं कि देवयानी सीधी व भोली कन्या है। राज की रीत को नहीं जानती। इसलिए इन दोनों को बराबर रखना तो देवयानी की सास शुक्राचार्य को आश्वस्त करते हुए कहती है–

याहड़े प्यार मिल्या था तैरा, उस घर म्हं या मेरी प्यारी
घणी कहुँ का के फायदा, या मन्नै बेट्या ते भी प्यारी।[3]

सास बहू का प्यार देखकर शुक्राचार्य की सारी शंकाएँ दूर हो जाती हैं और अत्यंत खुश हो जाते हैं कि देवयानी को माँ से भी अधिक प्यार करने वाली सास मिली है–

देख ऋषि राजी घणे, सास बहू का प्यार
स्याणी सासु सै घणी, देगी माँ का प्यार।[14]

कभी-कभी तो देवयानी व उसकी सास को देखकर यकीन ही नहीं होता कि ये सास-बहू हैं। इतना प्यार, इनती ममता और अपनापन देखकर आश्चर्य होता है जो देवयानी के चेहरे को देखकर ही उसके मन के भाव पढ़ लेती है और अपनी बहू के साथ सास, माँ व सहेली तीनों रिश्ते एक साथ कायम करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पटराणी में सास का चरित्र अत्यंत उदात्त बनकर पाठकों के सामने उभरता है। देवयानी की सास, सास के रूप में ऐसी त्रिवेणी है जो सास, माँ व सहेली के रूप में पाठकों को सबसे ज्यादा प्रभावित करती है। देवयानी को अपनी सास से सास की सीख, मां की ममता व सहेली का सा अपनापन मिलता है जो शायद समूचे साहित्य में दुर्लभ है।

इस प्रकार पौराणिक पष्ठभूमि को लेकर हरियाणवी बोली में लिखा गया सरोज दहिया के 'पटराणी' काव्य में जीव के प्रत्येक मूल्य, प्रत्येक आदर्श को अत्यंत सहजता व गहराई से चित्रित किया गया है, जो मनुष्य को एक आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देता है। जीवन के प्रत्येक पहलू, प्रत्येक मूल्य को सरोज ने अत्यंत सुंदर व स्वाभाविक तरीके से उभारा है।

संदर्भ

1. अर्बन फंडामेंटल आफ इथिकस्ट, पृ॰ 16
2. हरिश्चंद्र उप्रेती, समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति, पृ॰ 82
3. डिक्शनरी आफ सोशलॉजी एंड रिलेटिड साइंस, पृ॰ 645
4. सरोज दहिया, पटराणी, 2014, सुकीर्ति प्रकाशन, करनाल रोड़, केथल (हरियाणा), पृ॰ 327
5. वही, पृ॰ 327
6. वही, पृ॰ 332
7. वही, पृ॰ 331
8. वही, पृ॰ 79
9. वही, पृ॰ 82
10. वही, पृ॰ 149
11. वही, पृ॰ 186
12. वही, पृ॰ 191
13. वही, पृ॰ 240
14. वही, पृ॰ 274

मो॰ 9802541024

गौरा पंत शिवानी की कहानियों के समस्याग्रस्त नारी-जीवन

कला ए॰, शोधार्थी
हिंदी विभाग, अन्नामलै विश्वविद्यालय, चिदंबरम
डॉ॰ एल॰ तिल्लै सेल्वी
विभाग अध्यक्षा, हिंदी विभाग
अन्नामलै विश्वविद्यालय, चिदंबरम

गौरा पंत शिवानी हिंदी साहित्य जगत् की एक प्रतिष्ठित लेखिका हैं। उनकी अधिकतम कहानियाँ नारी-प्रधान हैं। शिवानी ने समाज की विभिन्न समस्याओं खासकर नारी-समस्याओं को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। भारतीय परिवार एवं समाज में नारी की स्थिति विवाह, वैधव्य एवं आर्थिक गुलामी के कारण बदलती रहती है। विवाह के पूर्व भी कन्या को अपने ही परिवार में आर्थिक अभाव के कारण क्या-क्या सहना पड़ता है, दूसरों के लिए अपनी खुशी, आजादी सब-कुछ त्याग करके घर की चार दिवारों में बंद हो जाने को विवश हो जाती है। शिवानी ने अपनी कई कहानियों में आभिजात्य वर्ग और निम्नवर्ग की महिलाओं एवं ग्रामीण पहाड़ी और शहरीय नारी-जीवन का चित्रण किया है।

शिवानी की 'गूँगा' कहानी में अवैध मातृत्व की समस्या तत्कालीन सामाजिक परिवेश की एक मुख्य समस्या बनकर आई है। कृष्णा 'गूँगा' कहानी की मुख्य स्त्री-पात्र है। वह एक पढ़ी-लिखी औरत है और अपनी मर्जी से जीवन जीना चाहती है। उनके पिता एक सर्जन हैं। सर्जन होने के बावजूद वह रूढ़िग्रस्त, घोर सनातनी और अपनी परंपरा के अनुसार जीना चाहते हैं। कृष्णा देखने में बहुत सुंदर और नृत्यकला में भी पारंगत थी। उसकी माँ कृष्णा को जन्म देकर सौर में ही पगला हो गई। दूसरों को जीवनदान देनेवाला वह सर्जन अपनी पत्नी का इलाज नहीं कर पाया। कृष्णा के पिता ने पहाड़ से अपनी पुत्री के लिए एक वर को ढूँढ़ लिया था। लेकिन कृष्णा को वह रिश्ता पसंद नहीं आया। कृष्णा ने अपने पिता से कहा, 'आपको मेरे लिए वर नहीं ढूँढ़ना होगा। मैंने वर ढूँढ़ लिया है।'[1]

पुत्री का कथन सुनकर वह दंग रह गए और पूछा, 'क्या है लड़की, कहाँ से वर ढूँढ़ लिया, यहाँ तो हमारे समाज का एक परिवार भी नहीं था।'[2]

सर्जन परंपरा के अनुसार जीनेवाला व्यक्ति है। यहाँ कृष्णा आधुनिक नारी का प्रतीक है। उसने खुद अपने लिए वर को ढूँढ़ लिया है। पिता का कहना यह था कि 'सामान्य-सा पाइलट डिसूसा उस पर भी ईसाई और कहाँ कुमाऊँ के महापंडितों के खानदान की पुत्री कृष्णा।'[3] प्रस्तुत कथन से हमें मालूम हो जाता है कि समाज में मनुष्य कितने ही ऊँचे पद पर विराजमान हो मन ही मन वह एक मध्यवर्गीय मानसिकतावाला व्यक्ति होता है। वह पूर्व निश्चित मूल्यों पर अडिग रहता है। वह अपनी पुत्री के स्वच्छंद सोच में विश्वास नहीं रखता। समाज में ऐसी कई

 ISSN 0975-735X

घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। बाद में कृष्णा ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध अपने प्रेमी विकी से शादी की। कुछ ही दिनों बाद विकी पढ़ाई के लिए विदेश गया और एक दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। बाद में सर्जन को मालूम हुआ कि कृष्णा माँ बननेवाली है। लेकिन सर्जन ने अपनी बेटी की शादी दूसरे आदमी से तय कर ली थी। सर्जन कृष्णा को एक महिला आश्रम में ले गया और ाह एक सतमासी पुत्र को जन्म देकर घर लौट आई। बच्चे को वहाँ छोड़ आया। प्रस्तुत कहानी 'गूँगा' में शिवानी जी ने कृष्णा के द्वारा इस समाज में स्वच्छंद जीवन जीनेवाली स्त्रियों का चित्रण किया है। अंत में कृष्णा का अनाथ बच्चा गूँगा एक प्रश्नचिह्न के रूप में खड़ा रहता है।

शिवानी जी की एक दूसरी नारी-प्रधान कहानी है 'टोला'। कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है। यह तो बिलकुल ठीक है कि साहित्य और समाज का परस्पर संबंध है। 'टोला' कहानी कूर्मांचल क्षेत्र की पृष्ठभूमि में लिखी गई कहानी है। 'टोला' कहानी की पात्र लक्ष्मी को अपनी छोटी उम्र में ही कई समस्यों को झेलना पड़ा। शिवानी जी ने भारतीय समाज की समस्याएँ जैसे लैंगिक असमानता, अशिक्षा, दहेजप्रथा, ऋणग्रस्तता, निर्धनता, जनसंख्या-वृद्धि आदि को टोला कहानी के द्वारा उजागर किया है। भारतीय समाज में स्त्रियों की हालत पुरुषों से भिन्न और भेदभावपूर्ण है। शिवानी ने अपनी कई कहानियों में एक न एक समस्या को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। लक्ष्मी उसके माँ बाप के उन्नीस बच्चों में एक थी।

'तेरह बच्चों को उन्हें मिट्टी बेच बेचकर ही पाला था। पति कभी फौज में था, पता नहीं क्यों, एक दिन नौकरी छोड़-छाड़कर घर आ गया और तबसे निरंतर अपने बृहत परिवार की परिकल्पना को बृहत्तर रूप देता उन्नीस बच्चों का पिता बन चुका था, जिनमें कुल जमा तेरह बचे थे।'[4]

शिवानी जी ने उक्त वाक्य द्वारा जाहिर किया है कि जनसंख्या में हुई वृद्धि पहाड़ी परिवारों में एक समस्या बन गई है। शिवानी जी इस समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराती हैं। जनसंख्या-वृद्धि को नियंत्रित करनेवाले उपायों की जानकारी नहीं होने के कारण तो इन्हीं से उत्पन्न समस्याओं को लक्ष्मी को झेलना पड़ा। तेरह बच्चों को पालने के कारण उनके घर में गरीबी बढ़ती रही। उच्चवर्ग में सदस्यों की संख्या अधिक है तो कोई समस्या नहीं होती, लेकिन निम्नवर्ग या निर्धन परिवारों में सदस्यों की संख्या अधिक और परिवार के काम करनेवालों की संख्या कम हो तो समस्याएँ बढ़ती जाएँगी। स्त्रियों की निम्न दशा भी एक कारण है। निम्न सामाजिक स्थिति के कारण स्त्रियाँ अपनी ओर से जनसंख्या नियंत्रण की दिशा में आगे नहीं आ सकी है।

'परलोक से इहलोक में खींचकर, लक्ष्मी के बाप ने उसे फिर सात वर्षों में छह पुत्रों की जननी बना दिया। सबसे छोटे सवा साल के पुत्र नरीराम को छोड़कर, लक्ष्मी की माँ फिर मिट्टी बेचने जाने लगी थी।'[5]

लक्ष्मी की माँ की मृत्यु के बाद उसका पिता नशे का आदी हो गया। घर को सँभालने के लिए लक्ष्मी दूसरे घरों में काम करने लगी। इतनी छोटी सी उम्र में भी सारे परिवार का बोझ उसके कंधों पर आ पड़ा। 'लक्ष्मी के ग्यारह भाई स्कूलों में पढ़ रहे थे, बारहवें को गोद में टाँगे

वह बेचारी पाँच सात घरों में चौका-बासन करने लगी, उन्हीं में एक हमारा घर भी था।'[6] इन वाक्यों द्वारा शिवानी ने समाज की एक और समस्या लैंगिक असमानता की ओर इशारा किया है।

लक्ष्मी अपने भाई की पढ़ाई के लिए अपनी पढ़ाई छोड़ देती है। शिवानी जी ने टोला कहानी की पात्र लक्ष्मी द्वारा कई समस्याओं को उद्घाटित किया है। एक बार उसने लेखिका के आभूषणों की चोरी की। उसके भाई के फीस जमा करने के लिए उसके सामने कोई और रास्ता नहीं था। घर के अभावग्रस्त जीवन ने लक्ष्मी को चोर बना दिया। लेखिका ने उक्त घटना द्वारा बाल-अपराध की समस्या को भी उठाया है।

'जिस राजू की फीस जुटाने, जिस मासूम बहन ने उस दिन इतना अपमान, इतना लांछना सही थी, वह आज एक उच्च पदाधिकारी है, अपने ही शहर में। मैं उसे कई बार देख चुकी हूँ। किंतु उसके अतीत के दारिद्र्य की इस शहर में मैं ही एकमात्र साक्षिणी हूँ, इसी से उसने मुझे पहचानना नहीं चाहा।'[7]

शिवानी जी ने टोला कहानी के द्वारा एक और समस्या को भी उजागर किया है। एक बार लक्ष्मी के पिता ने किसी से पाँच सौ रुपए लिए थे। ब्याज सहित वे पंद्रह सौ रुपए हो गए थे। उस ऋण से मुक्त होने का एक ही उपाय था कि लक्ष्मी को उसके साथ भेजना।

'उस राशि से उऋण होने का एक ही उपाय वह बार-बार सुना जाता था—लक्ष्मी को उसके हवाले कर दे तो वह कर्ज से ही छुट्टी पा जाएगा, लड़की से भी। उसकी हिरुली दीदी के पास पहुँचकर जिंदगी-भर रानी बनकर राज करेगी। धरमसिंह की विधवा हिरुली देवी अब आग्रा की हीराबाई थी। कुमाऊँ, गढ़वाल की न जाने कितनी लछमियों को वह हीराबाई के कोठे पर पहुँच आया था।'[8] गरीबी के कारण कुमाऊँ क्षेत्र की कई युवतियाँ हीराबाई के वेश्यालय में पहुँचा गई थीं। लेखिका ने इस कटु समस्या को पाठकों के सम्मुख उठाया गया है। स्त्री की स्थिति समाज में कैसी होती है, खासकर निम्न परिवार या गरीबी परिवार की स्त्रियों की स्थिति का मार्मिक चित्रण शिवानी जी ने टोला कहानी की पात्र लक्ष्मी के माध्यम से किया है। इस कहानी में शिवानी जी खुद समाज का प्रतीक बनती हैं।

प्रस्तुत कहानी में नारी-समस्या सामाजिक समस्या का अंग बनकर आई है। इसमें उन्होंने सामाजिक समस्याओ के संदर्भ में समस्याग्रस्त नारी-पात्र का संश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत किया है।

शिवानी जी ने 'श्राप' कहानी द्वारा दहेज-प्रथा जैसी ज्वलंत सामाजिक या नारी समस्या का चित्रण किया है। उक्त कहानी की पात्र दिव्या की शादी होनेवाली है। उसके पिता का कहना है, 'हम लोगों में अच्छे लड़के के लिए अच्छी-खासी रकम देनी पड़ती है। दुर्भाग्य से हम कन्याकुब्ज ब्राह्मण हैं, हमारे यहाँ एक प्रकार से रेट बँधे हैं, आई.ए.एस लड़का है तो सवा लाख, आई.पी.एस तो एक लाख, इंजीनियर है तो अस्सी हजार, उस पर दहेज अलग, डॉक्टर लघ्ड़के तो कंधे पर हाथ नहीं धरने देते। यानी जैसा दाम खर्च कर सको वैसी ही चीज लो'। कभी-कभी तो सोचता हूँ, 'बहनजी, बिहार में जो कन्या के पिता, सुपात्रों का अपहरण कर जबरन दामाद बना रहे हैं।'[9] बाद में दूसरों के सामने वर के पिता ने दिव्या के पिता का अपमान किया। वरपक्ष ने पहले दहेज के रूप में कुछ नहीं माँगा, लेकिन बाद में पैंतरा में बदल लिया। विवाह के चार ही महीने बाद गैस से आँचल में आग पकड़ मिनटों में वह झुलस गई और दूसरे

 ISSN 0975-735X

ही दिन उसका निधन हुआ।

शिवानी जी ने अपनी कहानी 'चीलगाड़ी' में विधवा समस्या को उजागर किया गया है। नारी की मजबूरी और रूढ़ अंधविश्वासों से ग्रस्त नारी के विवश जीवन को उभारा गया है। कहानी की नायिका की शादी एक रोगग्रस्त बूढ़े के साथ हुई थी। शादी के कुछ महीने बाद ही उस बूढ़े की मृत्यु हो गई। 'अम्मा की दबी सिसकियाँ, दोनों जिठानियों का सटीक विलाप, सब सुनकर भी मैं नहीं रो पाई। उस कठोर निर्मम व्यक्ति के साथ बिताए गए सात महीनों की अवधि में मुझे एक भी ऐसा प्रणय-प्रसंग स्मरण नहीं आ रहा था, जिसका आधार लेकर मैं बिलख सकती।'[10] प्रस्तुत प्रसंग से हमें मालूम हो जाता है कि उन दोनों के बीच में कोई प्रेमसंबंध नहीं थे। जेठानियाँ मजबूरीवश विधवा का जीवन जी रही थीं। 'मुझे उन दोनों को देखकर उबकाइयाँ आने लगतीं। एक ओर तो उनका व्रत और कोरे अनुष्ठानों का अंत नहीं रहता, दूसरी ओर रँगीले देवर के साथ उनका मर्यादाहीन आचरण देखकर मैं दंग रह जाती। दिन मैं जिस चादर को बिछाकर, भक्तिभाव से सिर हिलाती और कृपालदत्त पंडितजी से शिवपुराण सुनती, रात को उसी चादर की चाँदनी बिछाकर देबूलला और उनके एक रसिकप्रवर मित्र को लेकर, ताश की ब्रिजलीला जमाती।'[11] कहानी की नायिका इन जेठानियों की तरह विधवा बनकर जीना नहीं चाहतीं। वह वहाँ से भागकर एयरहोस्टेस बन जाती है। शिवानी ने चीलगाड़ी में समाज की रूढ़ मान्यताओं को रेखांकित किया है। इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने विधवा नारी की विडंबनाओं को दर्शाया है। प्रस्तुत कहानी की पात्र विमाता के अमानवीय व्यवहार की शिकार बनी हुई है।

शिवानी की कहानी 'करिए छिमा' की पात्र हीरावती समाज के कटु व्यवहार का शिकार बन गई है। शिवानी ने अपनी कहानी 'पिटी हुई गोट' में पात्र चंदो की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है। महाभारत जैसे इतिहास में भी युधिष्ठर ने अपनी धन-दौलत सब-कुछ हारने के बाद अपनी पत्नी द्रौपदी को भी दाँव पर लगाया था। इसी प्रकार शिवानी की कहानी पिटी हुई गोट का नायक गुरदास महिम भट्ट के साथ जुआ खेलता है। वह अपनी दुकान और दस हजार रुपए हारने के बाद अपना सब-कुछ पाने के लिए अपनी पत्नी को दाँव पर लगा देता है और वह बाद में आत्महत्या कर लेता है। पति के मरने से किसी ने उसका सिंदूर पोंछा, चूड़ियाँ तोड़ीं, मंगल-सूत्र तोड़ा। इस कहानी के द्वारा लेखिका ने दर्शाया है कि जुआ एक घर को किस प्रकार बर्बाद कर देता है। 'उपप्रेती' नामक कहानी में विमाता की क्रूरताओं का चित्रण है। 'दो स्मृति चिह्न' नामक कहानी में जातिप्रथा और अंतर्जातीय प्रेम-विवाह से उत्पन्न समस्याओं का चित्रण है। कभी-कभी दो परिवारों के अलग-अलग रीति-रिवाजों के कारण समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

निष्कर्ष

शिवानी ने अपनी कहानियों के माध्यम से नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्त्रियों के जीवन पर विशेष ध्यान दिया है। यह कहा जा सकता है कि जिस लेखक या लेखिका का अनुभव-क्षेत्र जितना व्यापक होता है, उसकी रचनाओं में उतनी ही जीवनगत विविधता दिखाई पड़ती है।

संदर्भ

1. गौरा पंत शिवानी : संपूर्ण कहानियाँ, सं॰ मृणाल पाण्डे पृ॰ 18
2. वही, पृ॰ 18
3. वही, पृ॰ 18
4. वही, पृ॰ 90
5. वही, पृ॰ 90
6. वही, पृ॰ 90
7. वही, पृ॰ 93
8. वही, पृ॰ 94
9. वही, पृ॰ 30
10. वही, पृ॰ 216
11. वही, पृ॰ 217

 ISSN 0975-735X

दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र बनाम परंपरावादी सौंदर्यशास्त्र

जयकांत यादव, शोधार्थी
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

किसी भी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की विवेचना करने से पूर्व इस बात को भली-भाँति समझना आवश्यक है कि उस साहित्य का उद्देश्य क्या है? साहित्य के सृजन के उद्देश्य का संबंध उस साहित्य के सौंदर्यशास्त्र से जुड़ा होता है। इसलिए उसका आकलन आवश्यक हो जाता है।

साहित्य में सौंदर्य के शास्त्रीय विवेचन का अर्थ उस साहित्य में सुंदर व असुंदर के मानक को निर्धारित करना है। कोई वस्तु सुंदर है और कोई असुंदर क्यों हो जाती है। इस सुंदर और असुंदर की घोषणा का आधार क्या है? इसका सीधा संबंध सामाजिक नीति निर्धारित तत्त्वों से है। प्रत्येक समाज की वैचारिकता उसके नीति नियामक का निर्धारण करता है। उसकी इस घोषणा में समाज सापेक्ष वैचारिकता की पूर्ण छवि दिखलाई देती है।

हिंदी साहित्य का परंपरागत सौंदर्यशास्त्र संस्कृत और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र से मिलकर बना है, जिसका आधार मूलत: सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् है। लेकिन हिंदी के दलित साहित्यकारों ने इस पर प्रश्नचिह्न लगाए हैं कि हिंदी साहित्य में जो सत्य या सुंदर अभिव्यक्त हुआ है, क्या वह संपूर्ण भारतीय समाज का सत्य है और उसी का सौंदर्यजनित बखान प्रस्तुत करता है? हिंदी साहित्य केवल सवर्ण समाज का सत्य है। इस संबंध में 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में शरणकुमार लिंबाले ने लिखा है–'सत्यम्, शिवम् और सुंदरम्' में भेदभाव की कल्पनाएँ हैं–जिसके आधार पर आम आदमी का शोषण हुआ है। दरअसल सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की धारणा तो सवर्ण समाज के स्वार्थ-साधना के लिए रची गई साजिश है। उसकी परिभाषा बदलने की जरूरत है। उन्हें अधिक ऐहिक और सामाजिक करने की आवश्यकता है। मनुष्य सर्वप्रथम मनुष्य है यही 'सत्य' है। मनुष्य की स्वतंत्रता ही 'शिव' है। मनुष्य की मनुष्यता ही 'सौंदर्य' है।

काल्पनिक सत्य काल्पनिक शिव

काल्पनिक सौंदर्य ये सब मूर्खता को बातें हैं। विश्व में मनुष्य जैसी 'सत्य और सुंदर' दूसरी कोई चीज नहीं है। इसलिए तो मनुष्य की समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की चर्चा होनी चाहिए। मेरे विचार में यही चर्चा 'दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र' की चर्चा होनी चाहिए।[1]

दलित सौंदर्यशास्त्र संबंधी मतों का विस्तार करते हुए डॉ॰ भारती का कथन उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि 'हिंदी साहित्य में साहित्य का सौंदर्य व उसकी अर्थवत्ता, सत्यं, शिवं,

सुंदरम् की कसौटी पर कसकर ही निर्धारित की जाती है। 'सत्यं' का तात्पर्य जो कि सत्य हो यथार्थ हो। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का लगभग संपूर्ण साहित्य ही साहित्य की कोटि से खारिज हो जाता है। आध्यात्मिकता, सौंदर्य, प्रेम व वासना के राजवंश से बोझिल हिंदी साहित्य का सामाजिक सरोकारों से कोई दूर का संबंध नहीं रहा। वैयक्तिक सरोकारों से जुड़कर ही साहित्य सर्पण हुआ है। स्वांत:सुखाय की भारी-भरकम शब्दावली के नीचे जनमानस की व्यथा व आग को दबा दिया गया है। अधिकालीन साहित्य से लेकर अब तक के सृजित साहित्य पर हम इस संदर्भ में विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं। नाथों, जैनों, सिद्धों व संतों का साहित्य यद्यपि यथार्थ की पृष्ठभूमि से ही उभरा है, पर वह आध्यात्मिकता के क्रोड में पुष्पित, पल्लवित व भ्रमित होकर सत्यं से दूरतर होता गया है। ...हिंदी का अधिकांश उपन्यास, नाटक व कहानी साहित्य भी सत्यं से दूर-दूर भटकता रहा है। प्रेमचंद की कुछ कहानियों–ठाकुर का कुआँ, सद्गति आदि में सत्य की प्रस्तुति है, पर कफन तक आते-आते उनकी मानसिकता भी भ्रमित होती व परिवर्तित होती प्रतीत होती है। जबकि दलित साहित्य का संपूर्ण वाङ्मय सभी विधाओं में सृजित (चाहे वह उपन्यास हो, आत्मचरित हो, कहानियाँ हों, या काव्य हो) साहित्य से है जो समाज को एक दिशा दे व सबके लिए कल्याणकारी हो। इस दृष्टि से भी अधिकांश हिंदी वाङ्मय प्रश्नचिह्नों के घेरे में आ जाती है, क्योंकि आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक का अधिकांश साहित्य सामाजिक सरोकारों, प्रेम, सौंदर्य, वासना व आध्यात्मिकता अथवा कलात्मकता की कृत्रिमता का ही प्राधान्य है। कहीं भी समूचे समाज के उत्थान की कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती। जो साहित्य सत्यं व शिवं से परिपूर्ण हो, वही सुंदरम् से भी परिभाषित हो सकता है। वही समाज के लिए भी उपयोगी है। अलंकारों, छंदों, रसों व शब्दों की कलात्मकता के माध्यम से रचा गया संवेदनशून्य, वायवीय व मानसिक व्यभिचार का साहित्य सत्यं, शिवं, सुंदरम् की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता, जबकि दलित साहित्य की परिकल्पना ही सत्यं, शिवं, सुंदरम् के व्यापक फलक पर हुई है। वह मानव को देव, धर्म, देश से भी उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करती है।'[2]

शिवं का तात्पर्य उस साहित्य से है, जो समाज को एक दिशा दे और सबके लिए कल्याणकारी हो। इस दृष्टि से भी अधिकांश हिंदी वाङ्मय प्रश्नचिह्नों के घेरे में आ जाता है; क्योंकि आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक का अधिकांश साहित्य सामाजिक सरोकारों को लेकर रचा ही नहीं गया है। सभी जगह वैयक्तिक सरोकार, प्रेम, सौंदर्य, वासना व आध्यात्मिकता अथवा कलात्मकता की कृत्रिमता का ही प्राधान्य है। कहीं भी परिपूर्ण हो वही सुंदरम् से भी परिभाषित हो सकता है। वही समाज के लिए भी उपयोगी है। अलंकारों, छंदों, रसों व शब्दों की कलात्मकता के माध्यम से रचा गया संवेदनशून्य व मानसिक व्यभिचार से रचा साहित्य सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। दूसरी ओर, दलित साहित्य की परिकल्पना ही सत्यं, शिवं, सुंदरम् के व्यापक आधार फलक पर हुई है। वह मानव को देव, धर्म, देश भी स्थान पर प्रतिष्ठित करती है।

सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता साहित्य की समीक्षा के लिए होती है। हिंदी में जो सौंदर्यशास्त्र उपलब्ध है, संस्कृत और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र पर आधारित है। ये दोनों ही शास्त्र

सामंती सोच के सौंदर्यशास्त्र हैं जिनके आधार पर दलित साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यदि ऐसा करने की कोशिश की जाएगी तो समीक्षक गलत निष्कर्षों पर पहुँचेंगे। दलित साहित्य का अपना सौंदर्यशास्त्र होगा, उसमें वे तमाम तत्त्व निकृष्ट माने जाएँगे, जो शोषण की प्रक्रिया को तेज करते हैं। दलित साहित्य सामाजिक द्वेष को भाईचारे में बदलना चाहता है। उसकी लड़ाई बाह्य नहीं, आंतरिक है। जातिवाद के खिलाफ वह एक हथियार की तरह है। जब कोई समीक्षक दलित साहित्य का विरोध करता है तो उसके संस्कारबद्ध पूर्वाग्रह उसकी सोच को दिखा देते हैं। उसकी दृष्टि में एक दलित निकम्मा, असभ्य और जाहिल है। साहित्य जैसी विशिष्ट विद्या में उसका घुस आना उसे बर्दाश्त नहीं होता। वह तमाम हथकंडे अपनाता है ताकि साहित्य में घुस आए अवांछित दलितों को रोका जा सके।[3]

डॉ॰ शरणकुमार लिंबाले के विचार में, जो साहित्य मूलत: जागृति के लिए ही लिखा गया हो, क्या उससे परिवर्तन की जगह आनंद या सौंदर्य की अपेक्षा करना उचित है? दलित लेखकों का यह मानना है कि उनके साहित्य की समीक्षा समाजशास्त्रीय दृष्टि से होनी चाहिए। समाजशास्त्रीय समीक्षा में सौंदर्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की चर्चा अधिक होना लाजिमी है। इस परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की सौंदर्य-चर्चा का अर्थ है–'दलित लेखकों की मूलभूत भूमिका की उपेक्षा कर उसके साहित्य की चर्चा करना।'

इसी कारण दलित लेखक को अपने साहित्य की ऐसी सौंदर्य-चर्चा स्वीकार्य नहीं है। दलित लेखकों ने अपने साहित्य की जीवनवादी, यथार्थवादी समीक्षा के साथ-साथ ही दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की माँग भी की है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'जहाँ दलित लेखक पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र को नकारता है, वहीं अपने साहित्य के लिए अलग सौंदर्यशास्त्र की जरूरत को भी स्वीकरता है।' अर्थात् दलित लेखक ने अपने साहित्य की सौंदर्य-मीमांसा के लिए अलग कसौटियों की माँग की है। ऐसे दलित लेखक और समीक्षकों का दृढ़ मत है कि कसौटियाँ बदलेंगी तो सौंदर्य भी बदलेगा। एक ऐसी भूमिका भी हो सकती है कि जीवनवादी-यथार्थवादी समीक्षा के अनुसार ही दलित साहित्य की सौंदर्य मीमांसा करनी होगी।

लेखक को जिस प्रकार 'ऐसे लिखो, वैसे लिखो' कहना अनुचित है, वैसे ही समीक्षक को भी यह कहना उचित नहीं है कि 'ऐसी समीक्षा करो, वैसी समीक्षा करो।' यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कलाकृति तो एक ही होती है, लेकिन उस पर समीक्षा विविध प्रकार की हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'दलित लेखकों की भूमिका के अनुरूप ही समीक्षा भी होगी।'

अर्थात् पारंपारिक सौंदर्यशास्त्र के आधार पर दलित साहित्य की समीक्षा हो सकती है। सवर्ण समीक्षकों ने जोरदार ढंग से घोषित किया है कि 'दलित साहित्य को अलग सौंदर्यशास्त्र की जरूरत नहीं है। चिरंतन मूल्यों के आधार पर दलित साहित्य की समीक्षा की जाएगी।'[4] पर किसी ने भी पूर्ण दलित साहित्य का गंभीरतापूर्वक मनन कर दलित साहित्य की सौंदर्य मीमांसा नहीं की। दलित समीक्षकों ने दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की चर्चा की जरूर है, पर वे गंभीरता से दलित साहित्य पढ़कर प्रामाणिक रूप से दलित साहित्य की सौंदर्य मीमांसा नहीं कर पाए।[5]

दलित साहित्य की सौंदर्य-चर्चा हो तो दलित साहित्य की निर्मिति, भूमिका, व्याख्या, विशेषता, प्रेरणा, प्रवृत्ति, स्वरूप और प्रयोजन के संदर्भ में विचार करना आवश्यक होता है, यह समझ दलित साहित्य के प्रारंभिककाल से ही पनप रही है। ऐसी चर्चा नए सिरे से शुरू करने की बजाए दलित साहित्य के विषय में आज तक की गई समीक्षा एवं विचारों की छानबीन किए बिना हम आगे नहीं जा सकेंगे। इसलिए संपूर्ण दलित साहित्य की समीक्षा की छानबीन करना आवश्यक है।

संपूर्ण दलित साहित्य की समीक्षा की छानबीन किए बिना आवर्त्त में घिरी दलित साहित्य की समीक्षा और दलित साहित्य आगे नहीं जा पाएँगे। यह हमेशा ध्यान में रखना होगा कि दलित साहित्य का सौंदर्य-विचार आंबेडकर-सोच का प्रतिफल है और दलित साहित्य का सौंदर्यमूल्य सामाजिक मूल्य है।

पहला प्रश्न उठता है कि सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता क्यों है? और क्या दलित साहित्य के लिए भी सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है? प्रथम सवाल में यह माना जाता है कि सौंदर्यशास्त्र से साहित्य की समालोचना एवं समीक्षा संभव हो सकती है और यदि साहित्य की समीक्षा नहीं होती है तो उसके कई पहलू छिपे रह सकते हैं। इसी बात को लेकर दलित साहित्य में कई तरह के विवाद खड़े हुए हैं, उसको लेकर दलित लेखकों और गैर-दलित लेखकों ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। दलित साहित्य और सौंदर्यशास्त्र पर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रो॰ कुमुद पाँवड़े ने विचार व्यक्त किया है–'दलित साहित्य सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए चलाया गया एक प्रबोधनकारी आंदोलन है।'[6] पाँवड़े के विचारों का अर्थ निकाला जाए तो दलित साहित्य सांस्कृतिक परिवर्तन से जुड़ा आंदोलन है। संस्कृति में व्याप्त असमानता को उजागर करना दलित साहित्य का लक्ष्य हो जाता है। इस तरह सांस्कृतिक प्रतिमान में भी परिवर्तन की संभावना हो जाती है। सवर्ण साहित्य में दलितों की स्थिति को निम्न स्थापित करने के लिए कई तरह के विधानों की आवश्यकता पर बल दिया। वहीं दलित साहित्य वैसे प्रतिमानों को जो दलितों को निम्न और अछूत ठहराने के लिए लिखे गए हैं, उसके जगह पर अपना प्रतिमान स्थापित करते हैं। जैसे सांस्कृतिक मिथक के रूप में रामचरित एवं महाभारत में आए पात्रों को दलित साहित्यकार अपने वर्ग चरित्रों के पात्रों को ढूँढते हैं, और शंबूक एकलव्य और सत्यकाम जैसे महान पुरुष को प्रतिमान बनाते हैं। इसको आगे बढ़ाते हुए प्रो॰ कुमुद पाँवड़े कहते हैं–दलित साहित्य का प्रस्थापित सौंदर्यशास्त्र से कोई लेना देना नहीं है। उसका अपना समीक्षाशास्त्र है। 'सौंदर्यशास्त्र एक तत्वज्ञान है जो प्रस्थापित साहित्य के समीक्षा व्यवहार से रिश्ता रखता है। सौंदर्यशास्त्र इसकी मूल्यविधान व्यवस्था होता है। सौंदर्यादि संकल्पना निष्कर्ष के आधार पर कृति रूप में प्रस्तुत की जाती है और उसकी समीक्षा की जाती है।'[7]

प्रो॰ पाँवड़े ने सौंदर्यशास्त्र के घटकों को विभाजित करके बताया है कि सौंदर्यशास्त्र के तत्त्वों के दो प्रधान घटक हैं–एक आकार एवं दूसरा आशय। प्रस्थापित पारंपरिक समीक्षा प्राचीनकाल से लेकर आजतक आकृतिनिष्ठ ही है। वह आकार को ही प्रधान मानती है। काव्य की व्याख्या करते हुए पंडित जगन्नाथ कहते हैं–'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः'। परंपरा से शब्दार्थ की रमणीयता पर ही जोर दिया गया दिखाई देता है।[8] 'आशय' को परिभाषित करते हुए

 ISSN 0975-735X

कहते हैं–आशय जीवन से संबंध रखता है, वह यथार्थ भी बदलता है। उदाहरण के लिए चंद्र प्राचीनकाल से कवियों के लिए युवती के सुंदर मुख का उपमान बनकर बैठा है, पर दलित साहित्यकार को वह रोटी का टुकड़ा लगता है। इस संबंध में सुधाकर गायधानी कहते हैं–'अगर यह संभव होता तो इस बस्ती के लोगों ने चाँद को रोटी का टुकड़ा समझकर खा लिया होता।'[9]

भारतीय साहित्य में अनुभव के स्थान पर अध्यात्म को जगह प्रदान की गई है। इससे यह परिणाम निकलता है कि यथार्थ का दरवाजा हमेशा बंद रहा। लेकिन दलित साहित्य का निर्माण यथार्थ के धरातल पर होता रहा है, इसलिए उसमें अध्यात्म और दर्शन का स्थान गौण हो जाता है। बल्कि दलित साहित्य के नकार और विद्रोह इन्हीं में छिपे वैसे तत्त्वों की खोज करते हैं जिसके चलते हमेशा उस पर सांस्कृतिक उपनिवेश का छाया पड़ता रहा। डॉ॰ मा॰ ना॰ वानखेड़े का विचार है–जिस भारतीय सौंदर्यशास्त्र में दलित साहित्य की आशयनिष्ठ समीक्षा करने की क्षमता न हो, उस सौंदर्यशास्त्र को ठुकरा देने में कोई हानि नहीं है क्योंकि आकृतिनिष्ठ भूमिका से दलित साहित्य को न्याय नहीं मिलने वाला है। दलित चिंतन के आध्यात्मिक दर्शन में पड़ना नहीं चाहते बल्कि तर्क एवं विज्ञान पर आधारित यथार्थ के साथ अपनी समीक्षा करना चाहते हैं। यह तर्क और विज्ञान पर समीक्षा तभी संभव है जब साहित्य में यथार्थबोध हो। इसलिए अगर साहित्य आकृतिनिष्ठ होता है तब उसके लिए यथार्थ का स्थान गौण हो जाता है। प्रो॰ पाँवड़े का विचार है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अलग होगा, समीक्षा का मूल्य विधान अलग होगा और उसके निष्कर्ष आशय से संबंधित होंगे।[10]

परंपरा में समीक्षा के जो मूल्य वर्तमान में हैं, वह कहीं-न-कहीं दलित शोषण के मूल्यों को प्रतिपादित करते हैं, इसलिए सौंदर्य मीमांसा करने का उनका ढंग अलग है। इस आधार पर दलित साहित्य की समीक्षा संभव नहीं है। स्वप्नरंजकता मनोरंजन के लिए बड़ी उपयोगी होती है, जिससे कामचलाऊ तत्काल आनंद मिलता है। इस तरह का आनंद देना ही दलित साहित्य का प्रयोजन है। दलित साहित्य इस प्रयोजन को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि जिस जीवन में दु:ख व वेदना के अलावा कुछ भी नहीं, उसका अनुभव शब्दों के द्वारा आनंदमय कैसे हो सकता है। दलित साहित्य का समीक्षाशास्त्र उनके जीवनमूल्यों के निष्कर्ष पर आधारित होता है। इस समीक्षाशास्त्र को एक प्रमुख विचार यह अपनाना चाहिए कि यह साहित्य आत्मानुभूति की समर्थ अभिव्यक्ति करता है या नहीं, अगर करता है तो उसकी श्रेष्ठता शब्दजीवी नहीं, शब्द-चमत्कार भी नहीं, अर्थजीवी एवं अर्थगांभीर्य लिए हो। समीक्षा करने वाले समीक्षकों को दलित साहित्य की समीक्षा करते हुए दलितों द्वारा स्वीकृत जीवनमूल्यों को ध्यान रखना चाहिए। जीवनमूल्यों की चर्चा करते हुए प्रो॰ पाँवड़े अपने विचार में आंबेडकरवादी विचारधारा एवं बौद्धज्ञान को आधार मानते हैं। समता, स्वातंत्र्य, न्याय, बंधुता, इस मूल्यचतुष्टयी से जीवन के अनुभव को आधार मानकर मूल्यांकन करना होगा। भारतीय जीवन में असलियत छुपाने की आदत, धर्म एवं संस्कृति के नाम पर दिखाई देती है, उस ढाँग को नकारना होगा। अस्तित्व में जो चीजें हैं ही नहीं लेकिन शब्द सुंदर हैं, उन्हें हटाना होगा। इसका उदाहरण 'अमृत' शब्द को लेकर दिया है। जैसे अमृत जिसे सदियों से मधुपेय करके बताया जाता है पर किसी ने उसका आस्वादन नहीं किया। ऐसे कल्पनाजन्य प्रतिमानों को हटाना होगा। जीवन जैसा

है और व्यक्ति ने जैसा अनुभव किया है, उसी तरह का चित्रण होना चाहिए। शब्दों के आडंबर-चित्रण में सौंदर्य-निर्माण नहीं किया जा सकता, क्योंकि कलात्मकता स्वातंत्र्य के अविष्कार में बाधा बनेगी, जिसके चलते संवेदना की आत्मा ही नष्ट हो जाएगी। इस तरह दलित साहित्य को तथाकथित सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता नहीं, उसका अपना समीक्षाशास्त्र अलग तरीके का है, उसके मापदंड अलग हैं और उसका मूल्यविधान भी अलग है।[11]

संदर्भ

1. हिंदी दलित साहित्य, मोहनदास नैमिशराय, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2011, पृ॰ 151
2. वही, पृ॰ 144
3. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 49
4. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ॰ कुमुद पाँवड़े, युद्धरत आम आदमी, अंक-41-42, पृ॰ 12
5. हिंदी दलित साहित्य, मोहनदास नैमिशराय, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2011, पृ॰ 238
6. वही, पृ॰ 238
7. वही, पृ॰ 241
8. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ॰ शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 24
9. वही, पृ॰ 25
10. दलित चिंतन का विकास, डॉ॰ धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ॰ 67
11. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ॰ शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 28

मो॰ 9162785146

jaykantyadav1989@gmail.com

ISSN 0975-735X

महात्मा गांधी की दृष्टि में स्त्री

मनोहरकुमार यादव, शोधार्थी
स्नताकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

महात्मा गांधी ने स्वाधीनता-आंदोलन में महिलाओं की भूमिका को एक क्रांतिकारी दिशा दी थी और महिलाओं को चाहरदीवारी और पर्दे से बाहर ले आए थे। उन्होंने नारी की शक्ति को पहचानकर उसे मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया था। उनका कहना था–'स्त्री-जाति के प्रति रखा गया तुच्छ-भाव हिंदू समाज में घुसी हुई सड़न है, धर्म का अंग नहीं है। धार्मिक पुरुष भी इस प्रकार के तिरस्कार-भाव से मुक्त नहीं है, यह बतलाती है कि यह सड़न कितनी गहराई तक पहुँच गई है।'[1] पुरुष एक ओर स्त्री-जाति को दबाता है, अज्ञान दशा में रखता है, उसकी अवगणना और निंदा करता है, दूसरी ओर उसे अपनी भोग-वासना तृप्त करने का साधन-मात्र मानता है। इस हेतु से उसे पुतली की भाँति अपनी इच्छा के अनुसार सजाता तथा उसकी खुशामद करता है और इस तरह उसकी भोगवृति को उत्तेजित करने का प्रयत्न करता है। इन दोनों प्रकारों से केवल 'स्त्री-जाति का ही नहीं, पुरुष का अपना भी और सारे समाज का भारी अध:पतन हुआ है।'[2]

गांधीजी के अनुसार पुरुष की तुलना में महिलाओं के लिए कोई अयोग्यता नहीं होनी चाहिए। वह पुत्र और पुत्री के साथ एक समान व्यवहार करने में विश्वास करते थे। उनके लिए किसी प्रकार का अन्याय हिंसा का रूप था।

अन्य समाज-सुधारकों की अपेक्षा गांधीजी की महिलाओं के बारे में छवि सोच भिन्न थी। वे महिलाओं को सुरक्षा एवं राहत प्रदान करने में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार, 'स्त्री-जाति अपने बल और कार्यक्षेत्र की दिशा ठीक-ठीक समझ लें तो वह कभी अपने-आप को पुरुष की दबैल न मानेगी, और पुरुष का तथा उसकी प्रवृत्ति का अनुकरण करने का ही आदर्श अपने सामने न रखेगी। वह पुरुष को रिझाने अथवा आकृष्ट करने के लिए अपने शरीर को न सजाएगी, किंतु अपने हृदय के गुणों से ही सुशोभित होने का यत्न करेगी।'[3]

गांधीजी के सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से ऐसी प्रतीत होता है कि गांधीजी नारीवादी विचारक भी थे, उन्होंने पितृसत्तात्मक मूल्यों के आधार पर लैंगिक समानता का निर्माण किया और उन्हें संबोधित भी किया। गांधीजी के पदार्पण के साथ महिलाओं के विषय में एक विशेष नजरिए की शुरुआत हुई। उनके अनुसार–'स्त्री-जाति न तो पुरुष के भोगने की वस्तु है और न ही पुरुष की प्रतियोगी।'[4]

समाज में महिलाओं के जीवन एवं भूमिका पर विचार प्रकट करते हुए गांधीजी ने कई

ऐसे प्रश्नों का उठाया, जिनका महिलाओं के जीवन में बहुत महत्त्व हैं ये वे प्रश्न है, जिनसे महिलाएँ अपनी रोजमर्रा की जिंदगी से जूझती रहती हैं जिन महिला-संबंधी समस्याओं पर गांधीजी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्हें तीन अलग-अलग शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है–

1 समाजिक प्रश्न

2 राजनीतिक प्रश्न

3 व्यक्तिगत प्रश्न।

गांधीजी महिलाओं को एक ऐसी नैतिक शक्ति के रूप में देखना चाहते थे, जिनके पास अपार नारीवादी साहस हो। गांधीजी के अनुसार, 'पुरुष और स्त्री मूलत: एक हैं, इसलिए उनकी समस्याएँ भी एक जैसी होनी चाहिए। दोनों की आत्मा एक है, दोनों एक जैसा जीवन जीते हैं और दोनों की भावनाएँ भी एक हैं, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।'[5] महिलाओं की व्यक्ति शक्ति के बजाए उनकी नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति में गांधीजी की अपार आस्था रही है। महिलाओं के प्रति स्मृतिग्रंथों के दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए गांधीजी ने कहा है, 'निर्दयी परंपराओं को धार्मिक स्वीकृति देना धर्म के खिलाफ है।'[6] उनका मानना था कि यदि महिलाओं को विश्व में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है, तो उन्हें पुरुषों को आकर्षित एवं खुश करने के लिए सजना-सँवरना बंद कर देना चाहिए और आभूषणों से दूर रहना चाहिए।

गांधीजी के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनुभवों ने उन्हें यह मानने को मजबूर कर दिया, 'पुरुष ने हमेशा महिला को अपनी कठपुतली के रूप में इस्तेमाल किया है।'[7]

विनोबाजी ने भी स्त्रियों की शक्ति में अपनी अकूत आस्था दिखाई। विनोबाजी का मानना था कि 'स्त्री की इतनी शक्ति होने पर स्त्री की तरफ लोग देखते हैं–कामिनी के तौर पर। वह कामसाधना का एक विषय ही माना गया। यह मातृशक्ति का घोर अपमान है।'[8] विनोबाजी खुद भी स्त्री-पुरुष में भेद नहीं मानते थे। उनका मानना था कि स्त्रियों के सामाजिक कौटुंबिक तथा राजकीय अधिकार और कर्त्तव्य वे ही हैं, जो पुरुषों के हैं। दोनों का आर्थिक अधिकार, नैतिक योग्यता भी एक है। स्त्री-पुरुष का भेद बाह्य है, मूलभूत नहीं। स्त्री-पुरुष के समान मानव आत्मा होती है, इसलिए बाह्य भेद दिखाई दे तो भी उनको महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं।

स्त्री-पुरुष की समानता प्राचीनकाल में कम-से-कम विचार में तो अवश्य मानी गई है। आधुनिकयुग में अभी तक नहीं मानी गई है। उसमें सुधार की जरूरत है। कागजी तौर पर महिलाओं को सभी आधिकार प्राप्त हैं। सभी आरक्षण मौजूद हैं, लेकिन बहुत से ऐसे क्षेत्र अब भी बाकी हैं, जहाँ सिर्फ ढोल पीटने से काम नहीं होगा, बल्कि व्यवहार में भी उसको सरजमीं पर लाना होगा। विनोबाजी कहते हैं–'वस्तुत: स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष-तत्त्व, जो चेतना है, समान भाव से मौजूद है और दोनों के शरीर उसी प्रकृति-तत्त्व के बने हैं। दोनों की संसार शक्ति और संसार बंधन समान हैं और मोक्ष का अधिकार भी दोनों का समान है लेकिन काव्य-शक्ति कहाँ तक अनर्थ कर सकती है, उसका ये प्रकृति, पुरुष-शब्द एक उदाहरण बन गए हैं।'[9]

भारत के स्वाधीनता आंदोलनों का मुख्य आधार महिलाओं को भी बनाया गया और

 ISSN 0975-735X

प्रयास रहा कि 1921 के असहयोग आंदोलन में महिलाओं को जोड़कर उनके संघर्षों को राष्ट्रीय संघर्ष के साथ जोड़ दिया जाए।

सत्याग्रह अस्त्र का प्रयोग, नमक बनाने का निर्णय, शराब और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर पहरा तथा चौकसी करके महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज कराई। लेकिन स्वतंत्रता के इतने बर्षों बाद भी खुले दिल से महिलाओं को मुख्य धारा में लाने का प्रयास नहीं हो रहा है। आज भी स्वास्थ्य, शिक्षा और राजनीतिक के क्षेत्र में भेदभाव बरकरार है।

अभी भी स्त्रियाँ अत्याचार, बलात्कार, हिंसा, सामाजिक भेदभाव और परिवार का दमन जैसे दुष्चक्रों में फँसी कराह रही हैं। इनसे मुक्ति की छटपटाहट तो उनमें हैं, लेकिन इस दुष्चक्रों से निकालने के लिए अब गांधीजी जैसे कोई रहनुमा नहीं। गांधीजी ने कहा था, 'देश की आजादी के बाद मैं अपना पूरा समय स्त्रियों के उत्थान में लगाऊँगा।'[10] मगर दुर्भाग्यवश बापू आजादी के तुरंत बाद मृत्यु के क्रूर पंजों द्वारा दबोच लिए गए। महात्मा गांधी ने अपने जीवनकाल में हजारों पुत्रियाँ बनाईं। वे अपनी पुत्रियों के लिए माता और पिता दोनों की भूमिका निभाते थे। आज पिता और पुत्री का जैसे सहज संबंध है, कुछ ऊँचे वर्ग के घरों को छोड़कर पुत्रियाँ अपने माता-पिता से बात तक नहीं कर पाती थीं। पुत्रियाँ अनुपयोगी समझी जाती थीं, जैसे कोई बोझ हों। गांधीजी ने इस बुराई को देखा और समझा। जन्म के साथ ही अपने घर में अनुपयोगी वे बेटियाँ, जो अपने पिता के लिए अपने कलेजे को निकालकर दे सकती थीं, एक कोने में पड़ी हुई थीं।

मनु और आभा गांधीजी के बुढ़ापे की लाठियाँ बन सकती हैं। महात्मा गांधी की दृष्टि में स्त्रियाँ बहुत ही अच्छी प्रबंधक हैं क्योंकि गृह-प्रबंध की कला उनके अंदर जन्मजात होती है किंतु गांधीजी को इस बात का अफसोस था कि वे अपनी प्रबंधन क्षमता को सिर्फ घर की चारदीवारियों तक सीमित क्यों रखती हैं? क्यों नहीं वे समाज और राष्ट्र को उस क्षमता से लाभान्वित करती हैं?

'गांधीजी महिलाओं को किसी भी प्रकार के संरक्षण पर निर्भर से हमेशा मना किया और यही कारण था कि वे महिलाओं के लिए किसी भी प्रकार के आरक्षण के समर्थक नहीं थे।'[11] आधुनिक सोच में इतना परिवर्तन होने के बावजूद सामाजिक विसंगति को ही दर्शाता है। सब कुछ बदला, लेकिन पुरुष-प्रधान समाज बदलने के लिए तैयार नहीं है। उसकी नजर में महिला अब भी अबला और भोग की वस्तु है। पुरुषों ने अपने-आपको बिना किसी से पूछे श्रेष्ठ मान लिया है, स्त्री को श्रेष्ठता देने का कोई कारण नहीं। पुरुषों ने स्त्रियों का व्यक्तित्व छीन लिया, उनको दबाकर रखा और गुलामी की बेड़ियों में डाला। भारतीय समाज ऐसा हो, जो शोषण और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक असमानता से मुक्त हो। ऐसे समाज का आधार प्रेम, सहयोग और सहानुभूति जैसे मूल से होगा और ये सभी मूल महिलाओं में अपार मात्रा में मौजूद हैं। ऐसा समाज महिलाओं के लिए अनुकूल होगा और उन्हें अपना उचित स्थान समाज में मिलेगा। गांधीजी ने महिलाओं की दिशा-दशा सुधारने के जो प्रयास किए थे। उनका महत्त्व कभी कम नहीं हो सकता। एक व्यक्ति का बिना किसी मदद और संचार-तंत्र के अभाव में

करोड़ों शिक्षित और अशिक्षित महिलाओं तक पहुँचना और उन्हें एकत्र करना कोई सरल कार्य नहीं था। लेकिन सत्य, अहिंसा के पुजारी और महान व्यक्तित्व के धनी गांधीजी ने इस कार्य को संभव कर दिखाया। भारत में महिलाओं को एक नई दिशा दिखाई।

संदर्भ

1. किशोरलाल मशरूवाला, गांधीजी विचार-दोहन, सस्ता साहित्य मंडल 2011, पृ॰ 40
2. वही, पृ॰ 41
3. वही, पृ॰ 42
4. गांधी अध्ययन, संपादक मनोज सिन्हा, ओरियंट ब्लैक श्वान प्रा॰लि॰, दूसरा संस्करण 2010, पृ॰ 120
5. वही, पृ॰ 121
6. वही, पृ॰ 121
7. हरिजन 25 जनवरी 1936, पृ॰ 157
8. विनोबा, स्त्री-शक्ति, संस्करण 16, सर्वसेवा संघ प्रकाशन वाराणसी, पृ॰ 08
9. वही, पृ॰ 19
10. सुजाता, बापू और स्त्री, सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी, पृ॰ 07
11. सं॰ मनोज सिन्हा, गांधी अध्ययन, ओरियंट ब्लैक श्वान प्रा॰लि॰, 2011 पृ॰ 120

मो॰ 7808831580

manohar7352@gmail.com

ISSN 0975-735X

रघुवीर सहाय के काव्य में महँगाई

नीरजकुमार सिन्हा
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

रघुवीर सहाय की रचनाओं का मूल स्वर प्रतिरोध है–जो कुछ अमानवीय है उसका प्रतिरोध। उनकी कृतियाँ सहज मनुष्य को संपूर्णता में प्रस्तुत करती हैं। संपूर्णता इस दृष्टि से कि जन्म से लेकर अवसान तक की ये सारी स्थितियाँ जिन्हें मनुष्य भोगता है, जिनमें वह स्वयं सम्मिलित है, दैनिक जीवन के सभी सामान्य से महत्त्वपूर्ण क्रियाकलाप का स्वभाविक रूप से भागीदार है, कैसे जीता है, कैसे मरता है आदि-आदि सारी दैनंदिन बातें सहाय जी की कृतियों में समाहित हैं। सहाय जी अपनी कृतियों के माध्यम से मात्र यथार्थ को दर्शाकर जगत के समक्ष सच्ची स्थितियों को उजागर कर मात्र मानवरचित विकृतियों से संसार को चिंतित या हताशा में बढ़ोतरी नहीं करते, बल्कि उसके निवारण के लिए प्रतिरोध की स्थिति भी पैदा करते हैं।

रघुवीर सहाय का प्रतिरोध घातक, स्वार्थपूरित भ्रष्ट राजनीति, जिसके अंतर्गत प्रजातंत्र के नाम पर प्रपंच-तंत्र का साम्राज्य व्याप्त है और राष्ट्र की आर्थिक नीति का, शासकीय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था आदि सब-कुछ धनाधिपतियों, प्रभावशालियों, बाहुबालियों के पक्ष में है, उनके विरुद्ध है। ऐसी सत्तासीन धनपतियों, पूँजीपतियों के जघन्य से जघन्य दोष उनके गुणों के रूप में देखे जाते हैं और सत्ता का सिंहासन इन्हीं के पास है। शासक होने के लिए शासितों आवश्यकता अनिवार्य है। जो शासित हैं, उन्हें शासित के रूप में रखना ही आज के अच्छे शासन की पहचान होती है। शासित अनुशासित रहे, कोई विरोध नहीं कर सके अन्याय सहता रहे, अत्याचार सहता रहे और शासक छद्म सहानुभूति दर्शाकर अपना शासन जारी रखे। इसके लिए शासितों को पूरी सुविधा नहीं दी जाए–ऐसी आंतरिक व्यवस्था की जाती है। अनिवार्य आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र, आवास इन तीनों की नितांत कमी कर दी जाती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति तो पैसों अर्थात् अर्थ से ही संभव हो सकती है, इसलिए सबसे पहले आर्थिक शोषण का षड्यंत्र किया जाता है। खाने-पहनने और रहने के साधनों की कीमत इतनी बढ़ा दी जाती है कि जनता इसे जुटाने में ही जी-जान से लगी रहे। महँगाई की मार से जनता कराहती रहे और शासन इस भयंकर समस्या के समाधान के लिए अपने को इतना प्रयत्नशील दिखाए कि उसके विरुद्ध आवाज उठाना कठिन हो जाए। महँगाई एक ऐसी मारक शक्ति है कि जनता दाने-दाने की व्यवस्था, सामान्य कपड़े की व्यवस्था, सामान्य आवास की व्यवस्था में गलती जाए।

रघुवीर सहाय ने मनुष्यता की समग्र आकुलताओं के अंतर्गत इस महँगाई से जूझती जनता की यथार्थता को कारणों और निवारणों सहित अपनी रचनाओं में उजागर किया है–

पहले उसे इतना भूखा रखो कि वह और कुछ
सोच न सके।[1]

यह भूखा रखना तब ही संभव है जब महँगाई हो। इसी महँगाई के कारण आज न भरपेट खा सकते हैं और न शरीर पर कपड़े पहन सकते हैं, न पढ़ाई-लिखाई कर पाते हैं। यहाँ तक कि लोग स्टेशन और महानगरों के फुटपाथों पर सोने-बैठने के लिए बेइज्जत होते रहते हैं।

इस महँगाई को दूर करने के लिए सरकारी सस्ती दुकानों की व्यवस्था तो की गई है मगर गरीबों की सूची में अमीर भी अपना प्रवेश पाकर इन गरीबों का कौर लूटते हैं–

लोग भूल गए हैं
अर्थशास्त्री बोला–
सस्ते दाम की दुकान दाम के नियंत्रण के लिए जरूरी है
कुछ तो मिल जाए गरीब पेट भर ले
कि बेचारों को नसीब
हलवा है न पूरी है
खाएँगे फिर भी कम चाहे सस्ता बिके
कि एक तो बहुत हैं
दूसरे कम मजूरी है
तीसरे समस्त अन्न में से सस्ती दुकान को
थोड़ा देना हमारी मजबूरी है
हम गेहूँ देंगे
और चीनी भी देंगे
क्योंकि चीनी के खाने का अनुभव जरूरी है
वे अपनी चीनी कुछ पैसों के बदले में हमको दे देंगे
क्योंकि पैसा जरूरी है
उससे खरीदेंगे वे महँगा माल
क्योंकि हमने बताया है कि वह भी जरूरी है
ऐसे सुख संपत्ति चीनी के बहाने बढ़े
तो सस्ते दाम की दूकान जरूरी है।[2]

भयंकर महँगाई के कारण प्रतिदिन मरते हुए लोग और राष्ट्रीय आर्थिक आँकड़े की यथार्थता का एक विद्रूप व्यंग्य सहाय जी की पैनी दृष्टि का परिचायक बन जाता है–

किसी राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का
शायद सबसे बड़ा आँकड़ा
यह है कि वह अपने नागरिकों की लाशें बेच सकता है।[3]

महँगाई की आग में जलनेवाले लोग भी अच्छी तरह से खाने, पीने, रहने की अनेक कल्पनाएँ करते हैं। कल्पना पर तो कोई रोक नहीं लगा सकता। एक बड़ी पुरानी लोककथा को कविता में ढालकर सहाय जी ने इस कल्पना को यथार्थता का समसामयिक रूप दिया है–

 ISSN 0975-735X

पाँच बच्चों का पिता दयाशंकर एक सौ दस रुपए की नौकरी करता है। एक संकरे घर में अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहता है। किसी तरह अपने बच्चों और बीबी का पेट पालता है। उसकी सारी इच्छाएँ दबी ही रह जाती हैं। बीबी ने बहुत दिनों से पूआ नहीं खाया है। वह अपनी इच्छा अपने पति से कहती है। पति विवश है। परिवार में सात सदस्य हैं, सात पूए संभव नहीं हैं। पत्नी योजना बनाती है कि बच्चे सोएँ। उनसे छिपकर वह चार पुए बनाती है। अब वे दोनों दो-दो पुए लेकर जैसे ही खाते हैं कि बच्चे आँखें खोलते हैं। अपने माता-पिता को देखते हैं और मुस्कुराकर आँखें बंद कर लेते हैं। ये सारी कल्पनाएँ हैं पर सत्य है कि बच्चे भी अपने माता-पिता का दर्द समझते हैं और माता-पिता भी अभावग्रस्त बच्चे की इच्छा को समझते हैं। महँगाई की मार ने परिवार-दर-परिवार दरिद्रता की आग फैला दी है।

अभावग्रस्तता की पीड़ा के कारण प्रत्येक तरह का पतन हो रहा है। इसके अंतर्गत नैतिक पतन की विषाक्तता भी है, परिस्थिति विवशता भी है–

वह विशातखाने में मेरे बहुत पास खड़ी थी
कुछ खरीदती हुई अपने जीवन में कौतूहल
पैदा करती और कुछ सफलता जो अब तक मिली थी
उसके सहारे समझाती यह मन को कि उसका भविष्य है
हाथ में वापस जब रेजगारी आई तो उसके चेहरे पर
संतोष झलका कि सभी चीज महँगी हैं–हो तो हो
थोड़ी सही वह खरीद सकती है
तभी गौर से मैं उसे बिना उसके देखे देखने लगा
वह जवान थी उसके जिस्म में जान थी
पर क्या चीज टूटी पड़ी थी उसके चेहरे पर।[4]

सर्वहारा वर्ग तो महँगाई की मार से चिथड़े-चिथड़े हो रहा है। इन चिथड़ों पर भी कुछ लोग अपना अधिकार जमाए हुए हैं–

मैं चिथड़े-चिथड़े हो गया हूँ
यही मेरी पहचान है
चिथड़ा-चिथड़ा मैं
मैं जानता हूँ कि मैं एक हूँ एक अदद
पर मैं उन चिथड़ों को देखना चाहूँगा
उनको जमा करो
–अरे कुछ मेरे हैं
और कुछ मेरे नहीं
वे मेरी धज्जियाँ नहीं हैं
–पैबंद थे
लोग शानशौकत दिखाते हैं
दुनियाभर के चिथड़े जोड़कर

मुझको बस इतने ही चाहिए
खुला रहे बदन जिन्हें ओढ़कर।[5]

बड़े लोगों के नशे और छोटे लोगों के नशे में भी अंतर है। एक गरीब के पास कुछ नहीं भी रहता है तो वह उधार का नशा कर लेता है। अपना दुख, अपनी दरिद्रता का थोड़ी देर भूलने के लिए। सहाय जी की कविताओं में काव्य-बिंब पूरी तरह आद्योपांत इस तरह व्याप्त है जिससे कवि का अभिधेयार्थ पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे ही एक दरिद्र व्यक्ति जो नशे में धुत्त है और महँगी सामग्रियों की दुकानों के पास जा-जाकर खरीददारों को उन महँगी सामग्रियों की महत्ता बतलाता है–

साथी
हर खरीददार को वह सलाह देता है
बिना कहे
बिन बोले उसकी पसंद की
तारीफ कर देता है
कुछ खरीदता नहीं, कुछ माँगता नहीं
जब नशा उतरेगा
दारिद्र एक फोटो बन जाएगा
उजले काले का इक धुँधला निगेटिव
मानो बाजार सब बंद हो गए हों।[6]

सहाय जी ने महँगाईजनित स्थिति की यथार्थता को रोजमर्रा की गतिविधियों के साथ जोड़कर मात्र उसको अनावृत ही नहीं किया, बल्कि उसके लिए प्रतिरोध भी किया। यह प्रतिरोध आज भी होता है, पर दबा दिया जाता है। महँगी शिक्षा, महँगी दवा, महँगे वस्त्र, महँगा अन्न, महँगा पानी सब हमारे रोजमर्रे के साथ जुटे हैं। 'पानी-पानी' शीर्षक कविता में इनसे संबंधित स्वार्थपूर्ण बँटवारे का प्रतिरोध प्रभावकारी शब्दों में किया गया है। यहाँ 'पानी' शब्द मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा, जीवन, शिक्षा, अन्न, वस्त्र, आवास आदि अर्थों को भी व्याप्त किया है–

जिसको पानी नहीं मिला है
वह धरती आबाद नहीं
उस पर हिंदुस्तानी बसते
पर वह आबाद नहीं
जो पानी के मालिक हैं
भारत पर उनका कब्जा है
जहाँ न दें पानी वाँसूखा
जहाँ दें वहाँ सब्जा है
बरसों पानी को तरसाया
जीवन से लाचार किया
बरसों जनता की गंगा पर

 ISSN 0975-735X

तुमने अत्याचार किया
हमको अक्षर नहीं दिया है
हमको पानी नहीं दिया है
पानी नहीं दिया तो समझो
हमको बानी नहीं दिया
अपना पानी
अपनी बानी हिंदुस्तानी
बच्चा माँग रहा है
धरती के अंदर का पानी
हमको बाहर लाने दो
अपनी धरती अपना पानी
अपनी रोटी खाने दो।[7]

इस तथाकथित प्रजातंत्र में न्यायविहीन आर्थिक बँटबारे के कारण पीड़ित मानवता की वेदना में जो विद्रोह के अश्रु हैं, उस अश्रुओं में अधिकार की आग दहकती रहती है। इसे रघुवीर सहाय का कवि अच्छी तरह से जानता है। महँगाई और अभावग्रस्तता पर हँसने वालों की देन है महँगाई। 'अपनी हँसी' शीर्षक कविता में यथार्थ स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें सावधान किया है कि एक समय ऐसा आ रहा है जब उन्हें बचाने वाला कोई नहीं होगा–

निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हँसें
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कहकर आप हँसें
सब-के-सब हैं भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसें
चारों ओर बड़ी लाचारी
कहकर आप हँसें
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हँसें।[8]

अभावग्रस्तता लोगों को महँगाई की मार खाने के लिए बाध्य करती है। पूँजीपतियों और तानाशाहों की छोटी अँगुली हिलती है कि दुनिया की महँगी से महँगी वस्तु उसके कदमों को चूमने लगती है पर ये अभावग्रस्तता, ये गरीबी, ये विपन्नता विपन्नों के बीच की कलह का ही नहीं, मारधाड़ का कारण बन जाती है। तानाशाह महँगाई से यही टकराहट बनाए रखना चाहते हैं ताकि उन पर सहजतापूर्वक शासन किया जा सके। रघुवीर सहाय ने इस कविता में इसी सत्यता को उकेरा है–

वह लड़की भीख माँगती थी दबी ढँकी
एकाएक दूसरी भिखारिन को वहाँ देख
वह उस पर झपटी
इतनी थोड़ी देर को विनय
इतनी थोड़ी देर को क्रोध
जर्जर कर रहा है उसके शरीर को।[9]

संस्कृति मंत्री और राजा के संवाद के माध्यम से सहाय जी ने इस यथार्थ को उजागर किया है कि भ्रष्ट शासक और शोषित जनता जो अभावग्रस्त है और महँगाई की मार से अधमरी हो गई है वही देश का दुश्मन है–

राजा ने मन में कहा जो राजा प्रजा की दुर्बलता नहीं पहचानता
वह अपने देश को नहीं बचा सकता प्रजा के हाथों से
आगे राजा कहते हैं–
जो अधमरा आदमी है वो जिंदा है
वही देश के दुश्मन हैं–जोर से बोला
जो लोग कम होते जा रहे हैं–शत्रु हैं संस्कृति मंत्री ने कहा
जो लोग, जो लोग, जो लोग
कम होते, कम होते, कम होते
जा रहे, जा रहे, जा रहे
अंत में उसने कहा हैं हैं हैं।[10]

प्रजातंत्र की पवित्रता को अपनी स्वार्थपरक लालुप नीतियों की विषाक्तता से भरने वाले जो कर्ता–धर्ता विधाता है उनके कुकृत्यों, षड्यंत्रों के कारण महँगाई से जूझने वाली जनता में क्रोध तो जगता है, पर विरोध सफल नहीं हो पाता। क्योंकि वह अभाव में है, भूखी है, मानसिक और शारीरिक रूप से बीमार है। अंततः खतरे की घंटी तो बजेगी, पर बजाने वाला बादशाह ही होगा–

इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग
जो खुशामद आदतन नहीं करता
कहीं से ले आओ निर्धनता
जो बदले में कुछ नहीं माँगती
और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो
क्रोध होगा, पर विरोध न होगा
अर्जियों के सिवाय रमेश
खतरा होगा खतरे की घंटी होगी
और उसे बादशाह बजाएगा–रमेश।[11]

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि यथार्थवादी कवि रघुवीर सहाय 'सामाजिक

संदर्भों' से जुड़ी ज्वलंत समस्याओं यथा–भूख, लज्जा–वसन, महँगाई, चिकित्सा की समस्या, शिक्षा की अव्यवस्था जो जनता पर शासन करने के लिए छली–प्रपंचियों, स्वार्थलोलुपों द्वारा बनाई गई है–को अच्छी तरह जान रहे हैं। उनकी भावानुभूतियाँ उस गहराई तक पहुँचती हैं जहाँ इस विष–बीज का वपन होता है। सहाय जी इसके यथार्थ रूप का पर्दाफाश ही नहीं करते, अपितु इन विकृतियों का प्रतिरोध भी करते हैं।

संदर्भ

1. रघुवीर सहाय रचनावली भाग 1, संपादक–सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2013, पृ॰ 314
2. लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2014, पृ॰ 82
3. रघुवीर सहाय रचनावली भाग 1, संपादक–सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2013, पृ॰ 386
4. लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2014, पृ॰ 43
5. वही, पृ॰ 74
6. कुछ पते–कुछ चिट्ठियाँ, रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2009, पृ॰ 18
7. हँसो–हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2016, पृ॰ 17, 18
8. वही, पृ॰ 29
9. वही, पृ॰ 85
10. वही, पृ॰ 91, 92, 93
11. वही, पृ॰ 23

मो॰ 7033295704
nirajangika@gmail.com

हिंदी नवगीत : परिदृश्य और मूल्यांकन

श्वेताकुमारी
शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

हिंदी नवगीत की परंपरा काफी पुरानी है, भले ही साहित्यकार इसे आधुनिक विद्या मानते हो, किंतु अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अलोचना परंपरा प्रबंधकाव्य केंद्रित मानी जाती रही है, किंतु लौकिक साहित्य का पहला महाकाव्य वाल्मीकि कृत 'रामायण' की रचना छंद में हुई और उसे महर्षि वाल्मीकि ने लव-कुश को कंठस्थ कराया तथा राम के दरबार में सामवेद के अनुसार गाकर सुनाने की आज्ञा दी। अतः साहित्य में गीत की परंपरा उतनी ही पुरानी है जितना पुराना मनुष्य का संवेदनात्मक विकास है। जबसे मनुष्य को अपनी मनुष्यता का बोध हुआ, तभी से गीत का जन्म हुआ।[1] यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदिककाल में गीत के लिए गिर, गिरा, गातु, गान आदि शब्दों का व्यवहार आम प्रचलन में था।

अब प्रश्न यह है कि 'नवगीत' की मूल सत्ता कहाँ आकर ठहरती है। जीवन प्रकृति और समाज-समय के अंतर्संबंधों और अंतर्विरोधों के आलोक में नवगीत के लक्षणों की झलक सबसे पहले कहाँ और कब मिली। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अत्यधिक तेज हो गई थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जैसे-जैसे सामाजिक यथार्थ और सामाजिक चेतना में परिवर्तन आता है, वैसे-वैसे साहित्यिक विधाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है। आम धारणा है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिंदी में निराला के परवर्ती गीतों खासकर–

बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गाँव बंधु।
मानव जहाँ बैल घोड़ा है, कैसा तन-मन का जोड़ा है।
ऊँट बैल का साथ हुआ है, कुत्ता थामे हुए जुआ है।
आज मन पावन हुआ है, जेठ में सावन हुआ है।[2]

प्रभूति के रूपांकर, अनुभूति की संरचना, भाषा-शिल्प, बनावट और बुनावट, विषयवस्तु और संवेदना के धरातल पर उत्तरछायावादी गीतों की मांसल रूमानियत, लिजलिजी भावुकता रूपाकार एवं लय छंदों में अनावश्यक विस्तार आदि से भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगी थी। कुछ अन्य गीतकारों ने लोकगीत की धुनों पर आधारित गीत लिखकर गीत-रचना में नई ताजगी लाने का यत्न किया था। इन गीतकारों को लगने लगा था कि गीत के पारंपरिक लय-छंद और शब्द लगभग घिस चुके हैं।

इसलिए इन गीतकारों ने लोकजीवन, लोकसंस्कृति, लोकभाषा के शब्द और मुहावरे एवं

 ISSN 0975-735X

लोकगीत की लय और धुनों के संपर्क और सान्निध्य से एक नई अंत:शक्ति अर्जित करने का प्रयास किया था। इन्हीं कतिपय रूपवादी प्रयोगों को ही अंतत: नवगीत-रचना का उत्स माना गया।

इस गुणात्मक परिवर्तन की अनुगूँज साहित्य की कई विधाओं में स्पष्ट सुनाई देने लगी। कविता-नई कविता, कहानी-नई कहानी, और समीक्षा-नई समीक्षा में रूपांतरित हो गई।

इस संबंध में शंभुनाथसिंह ने वाराणसी की कवि-गोष्ठी में अपने गीत-पाठ के क्रम में 'नवगीत' शब्द का प्रयोग पहली बार किया था और राजेंद्रप्रसादसिंह द्वारा संपादित 'गीतागिनी' के संपादकीय में नवगीत की पहचान और परख के लिए पाँचसूत्री निकाय-आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्वबोध, प्रीति-तत्त्व, जीवन-दर्शन और परिसंचय बताया गया था। इसलिए राजेंद्रप्रसाद सिंह के द्वारा 'नवगीत' का नामकरण संस्कार किया गया।

1964 में राजस्थान से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'कविता का नवगीत विशेषांक' नवगीत का प्रथम समवेत संकलन के रूप में 'कविता-64' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी विशेषांक के पश्चात् नवगीत की रचनाभूमि, विश्लेषण और अनुशीलन कार्य शुरू हुआ।

नवगीत की संपूर्ण विकास-यात्रा को चार कालखंडों में विभाजित किया गया है–

(1) अभ्युदयकाल (1955-1975)

(2) संघर्षकाल (1976-1990)

(3) उत्कर्षकाल (1991-2006)

(4) नवोत्कर्षकाल (2006- अद्यतन)

प्रमुख नवगीतकार–

नवगीतकारों में डॉ॰ शंभुनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह, उमाकांत मालवीय नईम, रमेश रंजक, माहेश्वर तिवारी, अश्वघोष, शांति सुमन, रामकुमार कृषक और नचिकेता आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नवगीत की प्रवृत्तियाँ

(1) राष्ट्रीय व सांस्कृतिक चेतना–हिंदी नवगीत परंपरा शाश्वत और तात्कालिक है, हर कालखंड में राज्यव्यवस्था समाज को अपने हिसाब से ले चलना चाहती है किंतु समाज के प्रति प्रतिबद्ध रचनाकार राजनीतिक सत्ता को बराबर चुनौती देता है। इस संबंध में डॉ॰ शंभुनाथसिंह की कविता दृष्टव्य है–

दूध-पूत से भरी हुई, मेरी माता की गोदी
बर्फीले शिखरों वाली, फूलों की घाटी वाली
सागर-पर्वत जंगल की, लंबी परपाटी वाली
हरियाली से जुड़ी हुई, मेरी माता की गोदी
हिमगिरि-विंध्याचल वाली, गंगा-जमुना जल वाली
जलविहीन मरूस्थल वाली, जल डूबे भूतल वाली
नदियों-झरनों मढ़ी हुई, मेरी माता की गोदी।[3]

यह गीत राष्ट्रीय व सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। इसमें उनकी राष्ट्रीय भावधारा प्रवाहमान है। वे देख रहे थे कि भारत माँ रँगे सियारों के समान लालची, हिंसक, ठग और कायर

संतानों वाली बन गई है। इसलिए अपनी परंपरा का स्मरण आवश्यक है।

(2) **प्रेमभावना**–हिंदी नवगीत काव्य में प्रेम-भावना का एक-से-बढ़कर एक चित्रण हुआ है, जो अपने आपमें बेजोड़ और बेमिसाल है–

वासंती रात के निर्मल पल आखिरी
बेसुध पल आखिरी, विह्वल पल आखिरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बाँसुरी
पाँच जोड़ बाँसुरी
वंशी-स्वर उमड़-घुमड़ हो रहा
मन उठ चलने को हो रहा
पर्वत के पार से बजाते तुम बाँसुरी
धीरज की गाँठ खुली लो, लेकिन
आधे अँचरे पर पिया सो रहा
मन मेरा तोड़ रहा बाँसुरी/ पाँच जोड़ बाँसुरी
वासंती रात के निर्मल पल आखिरी
बेसुध पल आखिरी, विह्वल पल आखिरी।[4]

यह गीत शुद्ध प्रेम का गीत है। रात का आखिरी प्रहर है। प्रिय पर्वत के पार से पाँच जोड़ की बाँसुरी बजा रहा है। प्रिया बेसुध है, किंतु बाँसुरी की आवाज सुनकर वह विह्वल हो जाती है। उसके चारों तरफ वंशी का स्वर उमड़-घुमड़ रहा है जिसे सुनकर उसका मन बेचैन हो रहा है।

(3) **प्रकृति चित्रण**–प्रकृति चित्रण से संबंधी गीतों की रचना में भी नवगीतकारों का कोई जोड़ नहीं है। उदाहरणार्थ–

चंचल/ पर्वत की घाटी का जल चंचल
झरने का दुग्ध धवल
एक घड़ा सिर पर ले/ एक उठा हाथ में मैं चलती
जल चलता साथ में/
मेरी कच्ची कोमल देह पर/ छलक-छलक जाता है
छल-छल-छल जल चंचल/ झरने का दुग्ध धवल।[5]

यहाँ पर्वत की घाटी में जल की चंचलता का सजीव चित्रण है। झरने का पानी दूध के समान धवल है। नायिका घड़े में पानी भरती है, और चल पड़ती है। उसके साथ जल भी चलता है, लेकिन उसकी कच्ची उम्र वाली देह पर घड़े का पानी छलक-छलककर गिरता है। पंक्तियों में नाद सौंदर्य देखते ही बनता है।

(4) **सामाजिक चेतना की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति**–हिंदी नवगीत काव्य में सामाजिक चेतना का क्रांतिकारी रूप सामने आता है। नवगीतकारों का मानना है कि शोषण तथा विषमता तभी तक है, जब तक लोगों में एकता नहीं है। जिस दिन लोग एक होकर किले की दीवार पर चढ़कर परचम लहराएँगे, उस दिन साम्राज्य ढह जाएगा और सामान्यजन को रोशनी मिल जाएगी–

एकजुट हो जाएँगे/ जिस दिन सुलह के वास्ते

 ISSN 0975-735X

ढूँढ ही लेंगे तुम्हारे रास्तों में रास्ते।[6]

(5) **वेदनाभूति**–हिंदी नवगीतकारों ने वेदनाभूति में भी महारथ हासिल की है। अश्वघोष की प्रस्तुत रचना पढ़ते ही अचानक निराला की 'भिक्षुक' कविता याद आ जाती है–

श्रम को ही भगवान मानकर रहे पूजते हम
बदले में बस गुरबत पाई और सैकड़ों गम
सुखी रही सदा ही अपने/ हृदय की यह झील
दृश्यों में अदृश्य रहे हम कोणों से कटते
रहे देखते पेटों को हम पीठों से सटते
उड़ती रही हमेशा सिर पर/ गर्दिश की इक चील।[7]

(6) **ग्रामचेतना या लोकचतना**–हिंदी नवगीत में लोक को अलग ढंग से व्यक्त किया गया है। उनकी बुनावट और बनावट में कहीं अनजानापन नजर नहीं आता। बराबर लगता है कि वे हमसे हमारी बात कर रहे हैं–

एक गन्ना चूसकर हम/ इस शहर में गाम जी लेंगे
गाम जी लेंगे कि अपना नाम जी लेंगे
धूल-धूसर पंथ/ गोहर-गंध खेतों का खुलापन
और कोल्हू-बैल के तन में अभी/ जिंदा हिरण मन
चौकड़ी भरते ख्यालों को सँजोए
एक आँगनहीन घर बेनाम जी लेंगे।[8]

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए गाँव का परिवेश अपने-आप हमारी चेतना से जुड़ जाता है।

(7) **आस्था का स्वर**–आस्था का स्वर नवगीत काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है और नवगीतकारों का विश्वास है कि सर्वहारा का धैर्य चट्टानों की तरह होता है। उनकी बाँहें आसमान की तरह होती हैं। खाई, खंदक, पर्वत और टीले कोई भी उनका रास्ता नहीं रोक सकता। उनकी आँखों की भट्टी में लाल परचम लहराता है। उनके फौलादी हाथ ही शोषकमुक्त समाज रचेंगे। उदाहरणार्थ–

मार हथौड़ा जम-जम-जम
लाल हुए लोहे से लिक्खो
मुक्तियुद्ध का नव सरगम
हड्डी गला-गलाकर तूने, इस्पातों में ढाला है।
तेरे खून-पसीने से इस धरती पर उजियाला है
शोषण की अंधी घाटी में, होगा नहीं हौसला कम।[9]

(8) **सौंदर्यबोध**–नवगीत में भविष्योन्मुखी चैतन्यता होती है, मुक्ति का संकल्प होता है। उसका सौंदर्यबोध विलासिता के उपकरणों से नहीं, श्रम के उपादानों से विकसित होता है। शांति सुमन ने लिखा है–

अब के इस होली में कोई रक्त पलाश खिले।
अनुबंधों की याद दिलाए, पीत कनेर हिले।[10]

यह सौंदर्यबोध यथार्थ की समझ पर खड़ा है। नवगीतों ने कविता का नया सौंदर्यशास्त्र रचने की चुनौती भी पेश की है। नवगीतों की बिंब और प्रतीक-योजना बिल्कुल नई है।

(9) **आधुनिकता बोध**–नवगीत हमारी जातीय चेतना के संवाहक हैं। इनमें न केवल आधुनिकता का भारतीय मॉडल दिखाई देता है। पाश्चात्य ढंग की आधुनिकता में विघटन, अलगाव और अनास्था का भाव मुखर होता है। भारतीय ढंग की आधुनिकता आस्था और अनास्था को यथार्थ के स्तर पर ग्रहण करती है–

अच्छा है थोड़ी सी दूरी बनी रहे
भोर की हवा-सामने धीरे-धीरे बहे
क्यों भला दिशाओं के बंधन सूरज सहे
प्रश्नों की हरदम प्रत्यंचा तनी रहे
चढ़ते दिन-सी आशा ढलते दिन-सा जीवन
आस्था में किंचित आशंका सनी रहे।[11]

अंततः यह कहा जा सकता है कि हिंदी 'नवगीत' काव्य-रचना का संसार अत्यंत ही व्यापक और समृद्धशाली है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् के काव्य में इनका स्थान अद्वितीय है। नवीन बिंबों, प्रतीकों के प्रयोग ने काव्य को उत्कृष्ट बनाया है, साथ ही सामाजिक चेतना और लोकचेतना से युक्त काव्य ने इसे जनसाधारण के बीच काफी लोकप्रिय बना दिया है। गँवई भाषा का ऐसा सटीक प्रयोग हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है, साथ ही घिसी-पिटी परिपाटी से अलग हटकर काव्य छंद, भाषा, शिल्प में भी नवीनता दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं नवगीतों ने कविता का नया सौंदर्यशास्त्र रचने की चुनौती भी पेश की है, जिसने कविता को ताजगी से भर दिया है तथा नित नवीन ऊँचाइयों को पाने की ओर अग्रसर है।

संदर्भ

1. समकालीन गीत कोश, सं॰ नचिकेता, उद्‌भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2017, पृ॰ 14
2. वही, पृ॰ 34
3. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याबी, डॉ॰ शंभुनाथसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ॰ 1
4. समकालीन गीत कोश, सं॰ नचिकेता, उद्‌भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2017, पृ॰ 268
5. वही, पृ॰ 267
6. वही, पृ॰ 448
7. वही, पृ॰ 136
8. वही, पृ॰ 499
9. ताशा बज रहा है, सं॰ नचिकेता, अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, पृ॰ 94
10. पंख-पंख आसमान, शांति सुमन, अभिधा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 43
11. फैसला दो टूक, गणेश गंभीर, शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृ॰ 37

मो॰ 9304445860
swetakumaripali@gmail.com

ISSN 0975-735X

परशुराम शुक्ल के बालकहानी-संग्रह 'नैतिक बाल-कहानियाँ' का विश्लेषण

योगेशकुमार साहू
शोधार्थी (हिंदी)
पं॰ रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर (छ॰ग॰)

बाल-साहित्य बालकों की अनुभूतियों व मनोरंजन को उचित दिशा देकर एक अच्छा नागरिक बनाने में सहायक होता है। बालकों में जिज्ञासा, अनुकरण, कल्पनाशीलता आदि प्रवृत्तियाँ उन्हें मानसिक व बौद्धिक रूप से सुदृढ़ बनाती हैं। मानसिक व बौद्धिक विकास को बाल-मनोविज्ञान के माध्यम से समझा जा सकता है। इस प्रकार बाल-साहित्य का संबंध बाल-मनोविज्ञान से है।

बाल-साहित्य के अंतर्गत बाल-कहानियाँ बालकों को समाज में समायोजन करने का रास्ता दिखाती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य को समाज में रहने योग्य बनाती हैं। कहानियाँ समाजीकरण नैतिकता का एक साधन हैं। बालकों की समस्त प्रवृत्तियाँ कहानियों द्वारा जाग्रत एवं दिशा को प्राप्त करती हैं। परशुराम शुक्ल के बालकहानी-संग्रह 'नैतिक बाल-कहानियाँ' में बाल-मनोविज्ञान का निम्न बिंदुओं पर विश्लेषण किया जा सकता है–

हास्य विनोद

'नैतिक बाल-कहानियाँ' संग्रह की 'शेर और बकरा' तथा 'मोती का सच' हास्य-व्यग्य कहानियाँ हैं परंतु दोनों कथा अलग संदर्भों को बयां करती हैं। 'शेर और बकरा' कहानी में बालसुलभ उत्सुकता जाग्रत होती है कि बकरा आदमी की तरह करतब कैसे दिखाता है। फिर उसके बीमार पड़ने पर मालिक गिरधारी के द्वारा उपाय सोचना कि अब एक होशियार आदमी बकरे की खाल पहनकर करतब दिखाएगा। अब्बू नामक कलाकार ने इतनी होशियारी से कलाबाजियाँ कीं कि दर्शक दंग रह गए और बालकों के मन में यह जिज्ञासा होने लगी कि क्या अब्बू पकड़ा जाएगा। अत: रहस्यमयी तरीके से अंत हुआ कि अब्बू शेर को आता देखकर बकरे की खाल उतारकर चिल्लाने लगा। अब तो यह लगा कि अब्बू का सच सामने आ गया परंतु जब शेर की खाल से राजा बाहर निकलकर आया तो पता चला कि शेर और बकरा आदमी थे जानवर नहीं और रहस्य व्यंग्य में बदल जाता है।

संग्रह की आठवीं कहानी 'मोती का सच' में शिक्षा व मनोरंजन साथ-साथ प्राप्त होता है। 'मोती का सच' में धनीराम नामक धोबी को कोई संतान नहीं थी। वह मोती को जो उसका गधा था; बेटे की तरह समझता था। मोती के मरने पर वह सिर मुँडाता है और उसका क्रियाकर्म करके तीन दिन का शोक मनाता है। यहाँ बालक जानवरों के प्रति संवेदनशीलता व अपनत्व को

समझते हैं, उससे स्वयं को जोड़कर देखते हैं कि किस तरह घरेलू जानवर घर के सदस्य बन जाते हैं। फिर करोड़ीमल का उससे मिलने पर यह सोचना कि उसका पुत्र मर गया होगा और सिर मुँडाना थोड़ा अजीब लगता है। करोड़ीमल से उधार के पैसे वापस लेने आए सेठ लक्ष्मीचंद ने भी समझा कि करोड़ीमल का बेटा मर गया और शोकित हो सिर मुँडवा लिया। लक्ष्मीचंद को जब राजा महानंद ने अपने महल में बुलाकर उसका सिर देखा और पूछने पर पता चला कि मोती मर गया तो राजा महानंद ने बिना सोचे महामंत्री, सेनापति व सभी दरबारियों को दु:खी स्वर में अपनी भाँति सिर मुँडवाने की आज्ञा दी। इस पर महामंत्री ने पूछा मोती कौन है? इस पर राजा ने बताया कि सेठ लक्ष्मीचंद का पुत्र है। इस पर शीलभद्र ने कहा कि उसके तो कोई पुत्र ही नहीं है। शीलभद्र ने जब पता लगवाया तो राजा महानंद की खूब हँसी उड़ी। इससे बालकों को समझने में आसानी हुई कि किसी शोक के कार्यक्रम में समाज कैसे सहानुभूति दिखाता है, वहीं दूसरी ओर 'बिना विचारे जो करे सो पीछे पछताय, काम बिगाड़े आपनो जग में होत हँसाय।' यह सिद्ध होता है।

हास्य-व्यंग्य को प्रस्तुत करती एक और कहानी है–'गीता की बुद्धिमानी'। इस कहानी में रामू 'बड़े गुलगुले ही खाऊँगा' की जिद पर अड़ा रहता है। इसके लिए अपनी साँस को रोककर मृत होने का नाटक करता है। गीता बुद्धिमानी दिखाते हुए एक वृद्ध से कहती है–'दादा हमारे यहाँ मरनेवाले के कान में स्वर्गवासी पूर्वजों के लिए संदेश भेजते हैं। यदि आपकी अनुमति हो तो मैं भी संदेश दे दूँ। ...मैं कहती हूँ छोटे-बड़े सब खा लो।'[1] इस पर बड़े ही खाने की जिद पर अड़ा रहता है और अंत में चिता में आग लगाने पर–मैं छोटे-बड़े सब खाऊँगा कहकर भाग खड़ा होता है। इस तरह बालकों को जिद का दुष्परिणाम भी समझ आता है।

कल्पना

'नन्हा जासूस' कहानी में नन्हा बालक प्रशांत अपने पिता शेखर के थाने में आई एक समस्या को सुनता है तो कल्पना के सहारे उस समस्या के समाधान के लिए योजना बनाने लगता है। अपनी योजना के अनुसार वह भिखारी का वेश बनाकर जासूसी शुरू करता है और अपनी कल्पना के सहारे वह शक्कर चोर का पता भी लगा देता है।

दीनू और मोती 'हवाई महल' कहानी के पात्र हवाई महल बनाते हैं। उनकी कल्पना यथार्थ तक नहीं पहुँच पाती और कोरी कल्पना बनकर रह जाती है। दोनों एक धनी सेठ के द्वारा दी घी-चुपड़ी गेहूँ की रोटियाँ और मट्ठा खाकर कल्पना करते हैं–दीनू खेत खरीदने और मोती दूध से मट्ठा बनाने की कल्पना करता है। फिर सोकर उठते हैं और रात की बात याद करके लड़ाई करने लग जाते हैं–'हाँ दोस्त, मैं भैंस अवश्य पालूँगा, लेकिन उसे चराने कहीं नहीं जाऊँगा। मेरी भैंस तुम्हारे खेत के आसपास ही चरेगी।' मोती ने कुछ अकड़कर कहा–'वाह, यह कैसे हो सकता है? तुम्हारी भैंस मेरे खेत के पास कैसे चर सकती है? मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा।'[2] इस प्रकार कल्पना के सहारे सिपाही ने स्थिति बिगाड़ दी और कोरी कल्पना के कारण दीनू-मोती के हाथ कुछ न आया। वहीं सृजनात्मक कल्पना के कारण प्रशांत चोरी के मामले की तह तक जाकर चोर का पता लगाता है।

 ISSN 0975-735X

सामाजिकता

मुनमुन एक कुशल कारीगर बया चिड़िया थी। उसके घोंसले को दूर-दूर से पक्षी देखने आते थे। उसके घोंसले में एक कमी थी प्रकाश की। वह अपनी बच्ची नन्ही चिनी को खाना खिलाकर जंगल की ओर निकली तो अँधेरा होने पर रास्ता भटक गई। जिसके कारण भयभीत होने लगी, तब आशा की किरण बनकर मोनू जुगनू आया तो घोंसला प्रकाशमान हो गया। फिर मोनू हमेशा के लिए साथ रहने लगा। इस तरह सहभागिता का महत्त्व 'मुनमुन और मोनू' कहानी से सिद्ध हुआ। 'चालाक चीकू और दुष्ट भेड़िया' में खरगोश का झुंड भेड़िया के शिकार से आक्रोशित था। तब चीकू ने एक योजना बनाई और अपने मित्र चंकी मगरमच्छ को बताई। अपनी योजना के अनुसार दोनों ने तालमेल से दुष्ट लालू भेड़िए को दलदल में गिरा दिया। मिलजुलकर कार्य करने से दुश्मन को आसानी से हरा सकते हैं। 'मम्मी पापा' कहानी में परिवार का महत्त्व बताया गया है कि किस प्रकार मम्मी-पापा हर मुसीबत झेलकर अपने बच्चों का हित करते हैं। विवाह के पश्चात् प्रशांत अपनी पत्नी की जिद पर माता-पिता से अलग रहने लगता है। कुछ समय बाद बच्चे होने पर पत्नी उसका ठीक से ख्याल नहीं रख पाती। इस पर वह आफिस जाने के पूर्व प्रतिदिन अपने माता-पिता के घर जाने लगा। एक दिन प्रशांत देर से उठा तो वह माता-पिता के घर नहीं जा पाया। माता-पिता ने फोन पर बात की तो उसने न आने का कारण बताया। वह जब आफिस जा रहा था तो रास्ते के किनारे उसने अपने माता-पिता को उसका नाश्ता पकड़े भीगते खड़ा देखा–'उनके शरीर पानी से तर थे और सर्दी के कारण बुरी तरह काँप रहे थे। वे कोई और नहीं मम्मी और पापा थे।'[3] इस प्रकार परिवार प्रत्येक व्यक्ति का आधार है। इस कहानी के माध्यम से परशुराम शुक्ल ने यही अभिव्यक्त किया है।

जिज्ञासा

प्रत्येक बालक जिज्ञासु होता है। कहानी में अब आगे क्या होगा? ऐसा कौतुहल न हो तो बच्चों में रुचि जाग्रत नहीं होती है। 'बूँद का साहस' कहानी में अभिनव को अपने माता-पिता के समान सैनिक अधिकारी बनने का मन था परंतु वह सैनिक स्कूल अपनी माँ से अलग रहकर नहीं जाना चाहता था। अपनी माँ को उदास व बेचैन देख वह दिनभर परेशान रहा। अगले दिन स्कूल में प्रवेश का अंतिम दिन था। वह बिना खाना खाए सो गया। तब उसने सपने में अत्यंत चमकीला मोती प्रकट होते देखा। बूँद के साहस की कथा जिज्ञासा को बढ़ाती है–'मैंने भय से आँखें बंद कर लीं। मेरा अंत निकट था तभी मैं किसी कठोर जीव से टकराई।'[4] इस तरह कथा और घटनाक्रम चलते हुए बच्चों में जिज्ञासा बनाए रखती है। बूँद ने अपने साहस की कथा बताते हुए अभिनव को सैनिक स्कूल जाने को प्रेरित किया।

जिज्ञासा को बढ़ाने वाली इस संग्रह की एक और कहानी है–'बुद्धिमान आलोक।' इस कहानी में रामपुर की जनता अपहरण की वारदात से परेशान थी। पुलिस अधीक्षक अभय चक्रवर्ती के बेटे आलोक का भी अपहरण होता है। बालकों के मन में सहज जिज्ञासा जाग्रत होती है कि अब आलोक का क्या होगा–'आलोक ने गजब साहस का परिचय दिया उसकी पीठ पर भरपूर चोट पड़ी थी, लेकिन वह लाश के समान पड़ा रहा।' आलोक की सूझबूझ व बहादुरी से बदमाशों को पकड़ लेने पर जिज्ञासा का अंत होता है।

क्रोध व द्वंद्व

बालकों का सहज स्वभाव है–क्रोध। जब उस पर कोई ध्यान न दे अथवा उसे अपनी जिद मनवानी है तो वह क्रोध करता है और उसके पश्चात द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है– 'क्रोध का दमन नहीं किया जा सकता, लेकिन इसका रुख मोड़ा जा सकता है। अत: बच्चों के व्यक्तित्व और प्रतिभा पर भारी इस संवेग का मनोवैज्ञानिक तरीकों से शमन करना चाहिए।'[5] 'अनोखा न्याय' कहानी में राजकुमार बाघमार हिरन का शिकार करने उसका पीछा करते हैं और एक महात्मा जो मौन व्रत धारण किए तप कर रहे थे उनसे पूछते हैं; उसके मौन को आगे की दिशा की ओर की स्वीकृति समझकर आगे भटकते हैं। हिरन के न मिलने पर अपने शिकारी कुत्ते क्रोधवश महात्मा पर छोड़ देते हैं; जो जीवित महात्मा को नोंच-नोंचकर खा जाते हैं। महाराज को जब यह सूचना मिलती है तो वे राजकुमार को मृत्युदंड की सजा देते हैं। इस प्रकार क्रोध में आकर व्यक्ति के गलत कार्य करने का यह उदाहरण है।

'घमंड का फल' कहानी में मोहन अपने पिता को मिट्टी के खिलौने बनाते देख स्वयं भी बनाने लगता है और धीरे-धीरे एक अच्छा मूर्तिकार बन जाता है परंतु उसके पिता उसे हर बार कहते हैं कि बेटा, तुम्हारा खिलौना अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं। एक बार रानी की मूर्ति बनाने पर भी यही जवाब मिला तो उसने यह कहते हुए रानी की मूर्ति जमीन में पटक दी– 'बाबा तुम झूठ कहते हो। मेरा खिलौना बहुत अच्छा है। इससे अच्छा खिलौना तो बन ही नहीं सकता। तुम्हारा बनाया खिलौना तो केवल आठ आने में बिकता है, जबकि मेरे खिलौने के पाँच रुपए तक मिल जाते हैं।'[6] इस तरह क्रोध और अहंकार से उसने अपनी कला को भी नष्ट कर दिया।

'ढेला और पत्ता' कहानी में द्वंद्व की भावना को परशुराम शुक्ल ने प्रदर्शित किया है। ढेला और पत्ते की निरंकुशता बढ़ने पर इंद्र ने आँधी और पानी को उन्हें नष्ट करने भेजा। पहले आँधी और फिर पानी ने प्रयत्न किया तो असफल रहे क्योंकि दोनों में स्वयं शत्रुता थी। फिर मिलकर प्रयत्न किया तो सफल हो गए।

'चालाक सियार' कहानी में चीनू सियार बहुत चालाक है। वह बब्बन शेर, कुक्कू तेंदुआ को चालाकी दिखाकर एक मरे हुए हाथी को अपना भोजन बनाने के लिए प्राप्त कर लेता है, पर टीपू सियार से उसे द्वंद्व करना पड़ता है। वह टीपू को घायल कर भागने पर मजबूर कर देता है और हाथी पर टूट पड़ता है।

आत्मप्रदर्शन

आत्मप्रदर्शन अर्थात् बढ़कर दिखावा करना। 'श्रम का महत्त्व' में राजा दयानिधि को उदारता का अधिक प्रदर्शन करना प्रजा को श्रम के पथ से विलग कर देता है। उसे अपनी भूल का अहसास होता है तो वह देवदूत से प्रजा के लिए श्रम शक्ति और सद्बुद्धि का वरदान माँगता है।

'चुगलखोर का अंत' कहानी में जंगल के दो शक्तिशाली जानवरों को शक्ति का प्रदर्शन करने के कारण व बिना विचार किए चुगलखोर की बात मानने के कारण मौत तक पहुँचा देता है। चुगलखोर का अंत भी उन दोनों के अंत के बाद हो जाता है।

 ISSN 0975-735X

'सरस्वती का शाप' में कोयल ने माँ सरस्वती से सुरीले कंठ का वरदान प्राप्त कर लिया जिससे उसका अभिमान बढ़ गया। उसने आत्मप्रदर्शन के लिए कौए के घोसले पर उसकी प्रतीक्षा की और क्रोध में आकर कौए के अंडे गिरा दिए। सरस्वती माँ ने यह देखा तो उसे शाप दिया। इस प्रकार आत्मप्रदर्शन में अभिमानी होना नुकसानदायक है; कह-कहानियों के माध्यम से समझाने में परशुराम शुक्ल जी सिद्धहस्त हैं।

वाकपटुता

वाकपटुता अर्थात् वक्तृत्व कला जिसमें बोलने की स्पष्टता व दृढ़ता से श्रोता को प्रभावित किया जा सके। बालक बातें करने में चतुर होते हैं। वे खुद ही अपनी जिज्ञासा को प्रस्तुत करते हैं तथा खुद ही समाधान कर बयान कर देते हैं। 'चालाक सियार' में राजा शेर से विनम्र बात करने तथा कुक्कू की धूर्तता को अपनी कुटिलता से मनवाने में चालाक सियार चीनू ने वाकपटुता का सहारा लिया–'श्रीमान जी! आप चाहें तो इसे बड़े आराम से खा सकते हैं। मैं पहरा देता हूँ। बब्बन जैसे ही आएगा मैं आपको सावधान कर दूँगा।'[7]

बालकों की सहज सरल प्रवृत्ति है–हाजिरजवाबी। परशुराम शुक्ल ने 'अनोखा चुटकुला' कहानी में अकबर-बीरबल की कथा के माध्यम से हाजिरजवाबी को प्रस्तुत किया है। अकबर ने बीरबल से ऐसी चीज लाने की माँग की जिससे परेशानी दूर हो जाए, लेकिन उसे खुशहाली के दिनों में देखें तो दु:खी हो जाएँ। इस पर हाजिरजवाब बीरबल अगले दिन एक कागज ले आया। कागज के टुकड़े पर केवल एक लाइन लिखी थी–'बादशाह सलामत, ये दिन न रहेंगे।'[8] बादशाह सहज ही बीरबल के कथन से समझ जाते हैं।

'उल्लू की सीख' शुक्ल जी की भ्रष्टाचार पर प्रहार करती कहानी है। इसमें उल्लू ने अपने वृक्ष पर हंस चीकू और लारा हंसनी को रात्रि विश्राम करने की अनुमति दी और सुबह होते ही लारा हंसनी को अपनी पत्नी कहते हुए चीकू और लारा का रास्ता रोका। उल्लू की वाकपटुता और चतुरता से पंचों ने भी लारा को उसकी पत्नी घोषित कर दिया। इस पर उसने चीकू और लारा से कहा–'भाई चीकू, कहीं हंसनी भी उल्लू की पत्नी हो सकती है?' यह सब पंच भी जानते थे। मैंने सब पंचों को डरा दिया था, इसलिए वे हंसनी लारा को मेरी पत्नी बनाकर चले गए। तुम बहुत सीधे हो। तुमने मुझ अजनबी पर विश्वास किया। तुम्हें लंबी यात्रा करनी है। आज के युग में कदम-कदम पर खतरे हैं जिनसे सतर्क रहना चाहिए।'[9] इस प्रकार उल्लू ने सफाई से अपनी बात रखी।

'गिलहरी की पूँछ' में अपनी बातों को तर्कपूर्ण ढंग से कहकर न्याय प्राप्त किया। शालू गिलहरी ने अपने खेत से फसल काटी। गेहूँ का गट्ठर ढोते-ढोते थक गई तो गट्ठर रास्ते में रख विश्राम करने लगी। चिंपू बंदर ने वह गट्ठर उठा लिया। गिलहरी न्याय के लिए राजा शेरू के पास गई। शेरू ने भी न्याय करते हुए कहा कि जंगल का नियम है कि रास्ते में पड़ी चीज उसी की होती है, जिसके पास होती है। एक दिन चिंपू बंदर रास्ते के किनारे सोया था। शालू गिलहरी ने रास्ते पर आई उसकी पूँछ जंगल के उसी नियम को याद कर कुतरना शुरू दी और तेजी से आधी पूँछ कुतर डाली। शेरू चिंपू का मित्र था, जब चिंपू उसके पास न्याय के लिए गया तो शालू ने अपनी बात तर्कपूर्ण ढंग से रखी–'महाराज! जंगल का नियम है कि रास्ते में

पड़ी चीज उसी की होती है, जिसके पास होती है। चिंपू की पूँछ रास्ते में पड़ी थी और मेरे पास थी। इसलिए मैंने उसे कुतरा। इतना ही नहीं, चिंपू की पूँछ पर मेरा अधिकार है। इसे काटकर मुझे दिलाइए।'[10] राजा ने शालू के पक्ष में न्याय दिया और वाकपटुता के कारण गिलहरी को पूँछ मिल गई।

रचनात्मक प्रवृत्ति

जंगल के सभी जानवरों और मनुष्यों की मित्रता को लेकर एक सोच परशुराम शुक्ल जी ने अपनी कहानी 'अनोखा बदला' में प्रस्तुत की है। जंगल के राजा शेरू को अपनी शक्ति का घमंड हो गया और उसने लखन लकड़हारे को उसके घर जाकर मार डाला और खा गया। लखन के मित्र सेवक ने योजना बनाई और शेरू से कहा कि वह हाथी के लिए सुंदर घर बनाने जा रहा है। इस पर शेरू ने अपने लिए घर बनाने को कहा और न बनाने पर सजा भुगतने की धमकी दी। सेवक ने शेरू के लिए घर बना दिया। घर बनने पर सेवक ने शेरू को घर के अंदर घूमने के लिए कहा। शेरू जैसे ही घर के अंदर गया सेवक ने दरवाजा बंद कर दिया और कहा–'शेरू दादा! मैंने तुम्हें कैद करके अपने मित्र लखन का बदला लिया है। तुमने मानव से बैर लेकर अच्छा नहीं किया। अब तुम्हें जीवनभर इसी घर में कैद होकर रहना पड़ेगा।'[11] यहाँ बालक समझ सकेंगे कि मनुष्य विवेक के कारण ही समस्त जीवों में श्रेष्ठ है।

मित्रता

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसी गुण के कारण जब बालक को आसपास के वातावरण में स्वयं के परिचय का ज्ञान होता है, तो वह अपने आयुवर्ग के बालकों से बात करने और खेलने लगता है। यही उसकी मित्रता की परिभाषा होती है। इसमें छोटी-छोटी बातों के लिए लड़ना और मित्र से दूरी बना लेना सामान्य बात है। परशुराम जी ने 'सागर और हंस' कहानी में बालकों के इसी मित्रताभाव को प्रदर्शित किया है। सागर और हंस में प्रगाढ़ मित्रता थी परंतु सागर के मन में अहंकार के भाव आ गए और वह यह प्रश्न करने लगा कि हम दोनों में बड़ा कौन है? और सागर स्वयं की गहराई के बल पर स्वयं को बड़ा घोषित करने लगा। हंस के मन में भी अहं भाव आ गया और वह भी अपनी सुंदरता के बल पर स्वयं को बड़ा कहते हुए लड़ने लगा। इस पर हंसनी ने कहा कि व्यर्थ में लड़ने से अच्छा है हम किसी अन्य स्थान पर रहें और वे नदी में रहने के लिए चले गए। अच्छे मित्र अलग नहीं रह सकते। दोनों दुःखी थे और एक-दूसरे को याद करते थे। ईमानदार, न्यायप्रिय और नेक पंच लक्ष्मण और भीमा की बातों से प्रभावित होकर दोनों अपने व्यवहार पर शर्मिंदा हुए। बोले–'हाँ पंचो! हम लोग कभी भी आपस में झगड़ा नहीं करेंगे, बल्कि आपस में झगड़ा करने वालों को तुम लोगों की तरह समझाने का प्रयास करेंगे और उनका मेल कराने का कार्य करेंगे।'[12] यहाँ बाल-सुलभ मित्रता का परिचय है, बच्चे आपस में कितना भी लड़ें, परंतु अंत में मेल कर लेते हैं।

अनुकरण

अनुकरण अर्थात् दूसरे के कार्य की उसी तरह नकल करना। यह सीखने की प्रक्रिया है जिसमें बालक अन्य लोगों की बात, व्यवहार तथा वेशभूषा आदि की नकल कर वैसी आदत

 ISSN 0975-735X

में लाता है। मीड (1960) के अनुसार, 'दूसरों के कार्यों या व्यवहारों को जानबूझकर अपनाने को अनुकरण कहते हैं।'[13] अर्थात् कार्यों या व्यवहारों को अपनाना स्वेच्छा से किया गया व्यवहार है।

बृजेंद्र वैद्य ने कहा–'मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को बच्चों के हाव-भाव तथा अनुकरण की प्रवृत्ति को देखकर समझा जा सकता है।'[14]

परशुराम शुक्ल ने 'श्रद्धा का मूल्य' में किसी व्यक्ति का अशक्त, गरीब या अन्य किसी भाव से अनादर न करने का भाव वर्णित किया है। इस प्रकार मूल्य को स्वीकार करना मानवीय मूल्य का अनुकरण है। यह बालकों को सही दिशा में सोचने व व्यवहार करने की बात सिखलाता है। जापान के नागासाकी की एक सामान्य वर्ग की महिला स्वप्न में बौद्ध भिक्षुक भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापना के निर्देश को फलीभूत करने हेतु सिक्कों की भीख माँगने लगी। बौद्ध मठ के बाहर निर्धन वृद्धा ने एक छोटा येन का सिक्का दिया तो उसने अपने कटोरे से उस सिक्के को निकालकर फेंक दिया। मूर्ति बनने लायक सिक्के जमाकर मूर्तिकार को उन्हें गलाने के लिए दिया परंतु सिक्के गल ही नहीं रहे थे। इस पर मूर्तिकार ने कहा क्या एकत्र किए धन में से कुछ निकाला है? महिला को कुछ याद नहीं आया फिर अचानक वृद्धा का दिया सिक्का याद आया और उसे ढूँढकर जैसे ही डाला सभी सिक्के गल गए। तत्पश्चात् गौतम बुद्ध की अद्वितीय प्रतिमा निर्मित की जा सकी।

एक अन्य कहानी 'सुई की हिफाजत' में शुक्ल जी ने आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत गुरुनानक जी के विचारों का अनुकरण क्रूर बाबर से करते हुए दर्शाया। बाबर मुगल साम्राज्य का विस्तार कर रहा था। जैसे ही उसे गुरुनानक जी के बारे में पता चला उसने उन्हें गिरफ्तार कर दरबार में लाने का आदेश दिया। उनके तेज व सौम्यता से प्रभावित हो बाबर ने बड़ी श्रद्धा से कहा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? गुरुनानकजी ने ज्ञान देने के निश्चय से उसे कहा कि यह लो छोटी-सी सुई। इसे रखना और जब मैं माँगू तो लौटा देना। बाबर ने असमर्थता जताई इस पर गुरु नानकदेव ने कहा–'बादशाह बाबर! जब तुम एक छोटी सी सुई सम्हालकर नहीं रख सकते तो उस बेशुमार दौलत की हिफाजत कैसे करोगे जो तुमने हजारों बेगुनाहों का खून बहाकर इकट्ठी की है? और जिसे पाने के लिए अभी और न जाने कितने लोगों का खून बहाने का इरादा रखते हो।'[15] बाबर उत्तर सुनकर गुरुनानक जी के सामने नमस्तक हो गया। यह मानवीय मूल्य का अनुकरण है।

संदर्भ

1. नैतिक बाल-कहानियाँ, परशुराम शुक्ल, पृ॰ 114
2. नैतिक बाल-कहानियाँ (हवाई महल), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 90
3. नैतिक बाल-कहानियाँ (मम्मी-पापा), परशुराम शुक्ल, पृ 76
4. नैतिक बाल-कहानियाँ (बूँद का साहस), पृ॰ 111
5. बच्चों की प्रतिभा कैसे उभारें, चुन्नीलाल सलूजा, पृ॰ 54
6. नैतिक बाल-कहानियाँ, परशुराम शुक्ल, पृ॰ 100
7. नैतिक बाल-कहानियाँ (चालाक सियार), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 17

8. नैतिक बाल-कहानियाँ (अनोखा चुटकुला), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 50
9. नैतिक बाल-कहानियाँ (उल्लू की सीख), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 64
10. नैतिक बाल-कहानियाँ (गिलहरी की पूँछ), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 23
11. नैतिक बाल-कहानियाँ (अनोखा बदला), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 59
12. नैतिक बाल-कहानियाँ (सागर और हंस), परशुराम शुक्ल, पृ॰ 35
13. प्रीति वर्मा एवं डी॰ एन॰ श्रीवास्तव, बाल मनोविज्ञान : बाल-मनोविज्ञान, पृ॰ 583
14. हिंदी बाल-साहित्य का अनुशीलन, बृजेंद्र वैद्य, पृ॰ 83
15. नैतिक बाल-कहानियाँ, परशुराम शुक्ल, पृ॰ 73

 ISSN 0975-735X

सीताकांत महापात्र : परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा

डॉ॰ नमस्या
प्रवक्ता-हिंदी विभाग
कला संकाय, डी॰ई॰आई॰, दयालबाग, आगरा

किसी बड़े लेखक की शक्ति और सामर्थ्य उसकी इस क्षमता पर निर्भर होती है कि वह किसी पाठक के विचार को विचलित कर दे।

सीताकांत महापात्र ओड़ीसी साहित्यकारों में सिरमौर हैं। काव्य-रचना उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। उन्होंने काव्य के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्ष का सुंदर समन्वय अपने काव्य में किया है। अपने युग के अन्य कवियों से इतर बिना किसी प्रकार के रहस्य को बुने वह अपने विचारों का उद्‌घाटन करते हैं। बिना किसी वक्रोक्ति या चमत्कार के भी काव्य-रचना इतनी मार्मिक और चमत्कारपूर्ण हो सकती है यह उनकी काव्य-रचना को पढ़े बिना कोई नहीं जान सकता। एक श्रेष्ठ कवि जब काव्य की या काव्य के सिद्धांतों की समीक्षा करता है तब उन सभी बिंदुओं पर गहराई से विचार करता है जिनसे गुजरकर वह स्वयं एक काव्य-रचना करता है। वस्तुतः ऐसी समीक्षा में काव्य का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पहलू भी अछूता नहीं रहता (प्रत्येक का वर्ण का, शब्द का, विश्लेषण उसकी प्रत्येक अवस्था को समझते हुए किया जाता है। सीताकांत महापात्र उन कुछेक कवियों में से ही एक हैं जिन्होंने श्रेष्ठ काव्य-रचनाओं से भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि की और जब साहित्य के आधुनिक प्रतिमानों पर विचार विश्लेषण किया तो समस्त साहित्य जगत को चमत्कृत कर दिया। उनकी संप्रेषण शक्ति के संबंध में यूनानी कवि वासिल विताक्सिस की राय है कि 'सीताकांत भविष्यवक्ताओं की गूढ़ भाषाओं में छिपाए बिना संदेश पहुँचाने में समर्थ हैं।'[1]

इसका तात्पर्य यह तो कदापि नहीं है कि उनका काव्य केवल भावों का और गद्य विचारों का प्रस्तुतिकरण है। यहाँ यह तथ्य जानना परमावश्यक है कि उनका काव्य केवल भावों की प्रस्तुति नहीं विचारों का आदान-प्रदान है। उनके संबंध में और उनकी नवीन वैचारिकता के संबंध में कहा गया है कि 'अस्वीकार और स्वीकार के उद्वेगों के संघर्ष की वे एक आदर्श परिणति है और इस तरह वे विवेक बुद्धि तथा भावावेग के द्वंद्वात्मक घात-प्रतिघात का एक समाहार प्रस्तुत करते हैं।'[2] डेविड हॉलबुक के शब्दों में-इसी कारण-'वे एक जीवित संधान में अभिकेंद्रित मेधा हो गए हैं।'[3]

एक सजग विचारक के रूप में वैयक्तिक प्रतिभा और परंपरा के संबंध में उनके विचार अत्यंत स्पष्ट और समकालीन हैं जो उनकी रचनाओं में भी दिखाई देते हैं। उनके अनुसार परंपराएँ एक अकेले मनुष्य को उसकी जातीय अस्मिता से जोड़े रखती हैं। वह परंपराएँ जो

मनुष्य के उन्नति पथ में बाधक होती हैं वह रूढ़ियाँ कहलाती हैं, पर वे परंपराएँ जो सकारात्मक रूप में हमें विकास के लिए प्रेरित करतीं है उनकी हमें निरंतर आवश्यकता होती है। मनुष्य के रूप में हमारा क्या अस्तित्व है इसका परिचय परंपराओं से ही प्राप्त होता है। परंपराएँ हमें उन मिथकों से जोड़े रखती हैं जिनके सहारे हम अपना आत्मविश्वास सुदृढ़ कर पाते हैं। निश्चय ही विभिन्न मिथकों का सफल और प्रभावशाली प्रयोग हमें स्वयं सीताकांत जी के काव्य में भी दिखाई देता है। सीताकांत महापात्र ने उनके निबंध-संग्रह शब्द, समय और संस्कृति में उनके परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा-संबंधी मूल्यवान विचार प्रस्तुत किए हैं।

उन्होंने अपने यह विचार इलियट के ज्तंकपजपवद ंदक प्दकपअपकनंस ज्ंसमदज के संबंध में जिसमें कि इलियट ने वैयक्तिक प्रतिभा और परंपरा के बीच घनिष्ठ और कार्य कारण संबंध पर बल दिया है पर विचार करते हुए कहा है कि 'परंपरा वर्तमान के महत्त्व को घटाती नहीं है, न वैयक्तिक प्रतिभा के विकास पर रोक लगाती है और न उसका दमन करती है।'[4]

इलियट ने वैयक्तिक प्रतिभा और परंपरा के बीच घनिष्ठ और कार्य कारण संबंध पर बल दिया। सीताकांत महापात्र कहते हैं कि 'समुदाय की विरासत उसके परंपरागत मूल्य और विश्वास व्यवस्थाएँ मौजूदा अभावों और पतन के प्रतिकार के रूप में काम करती हैं और इस प्रकार से वैयक्तिक आजादी की भावना कभी-कभी उन पर गर्व करके जीवित रहती है और पोषित होती है।'[5]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अकेले जीवन जीना उसके लिए संभव नहीं है किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई भावनात्मक अवलंब की उसे आवश्यकता होती है। जब मनुष्य ने यह सोचा कि मैं हूँ और मैं ही अपनी प्रत्येक नियति के लिए जवाबदेह हूँ। इस अहं के भाव के साथ वह तब तक सहजता से जीता रहा जब तक उसने दु:ख या संत्रास की अनुभूति नहीं की, पर जिस दिन उसे इनकी अनुभूति हुई उसी दिन घोर निराशा ने उसे घेर लिया क्योंकि उसके समस्त कर्मों के लिए वह स्वयं को ही उत्तरदायी मानता था। ऐसी स्थिति में वो समस्त मिथक जातीय अवलंब आदि से स्वयं को दूर अनुभूत करने लगा जो उसकी चेतना में उसका सहारा थे। यहीं से मनुष्य की संत्रास युक्त पीड़ामयी स्थिति का आरंभ हुआ जिससे निकलना अब नितांत असंभव था। ऐसी स्थिति में इन सबके मध्य परंपराएँ ही हमें शक्ति और सुरक्षा प्रदान करती हैं। परंपरा के इसी महत्त्व को विश्लेषित करते हुए सीताकांत मानव मस्तिष्क के दो संबंधों को उद्घाटित करते हैं–

1. एक ओर तो वह स्वयं है पूरी तरह आजाद

2. दूसरी ओर वह दूसरों पर निर्भर रहता है, और इस निर्भरता से वह आशा और विश्वास प्राप्त करता है।[6]

सीताकांत कहते हैं कि परंपराओं से बेगाना यह स्वयं वास्तव में अपनी ही आजादी के डर से त्रस्त होता है वह कहते हैं कि 'सब आधारों से, परंपराओं से, सहभागी मूल्यों और सहभागी मंजिलों से कटा हुआ व्यक्ति धूल के एक कण के समान मँडराता रहता है। और ऐसे व्यक्ति हमारे समय में अत्यधिक क्रियाशील छिपे हुए प्रेरकों, प्रचार तंत्र के प्रबंधकों, धन के बलबूते पर कला के स्वामी बननेवालों की चालबाजियों के चक्कर में आसानी से फँस जाते हैं।'[7]

 ISSN 0975-735X

महापात्र वस्तुतः यही कहना चाहते हैं कि ऑस्ट्रिच (शुतुरमुर्ग) की तरह आँखें रेत में छुपा लेने से वास्तविकता बदल नहीं जाती, बल्कि परंपराओं और आधारों को लगातार नष्ट करने और नकारने के कारण वैयक्तिक चेतना में अर्थों की पूर्ण अव्यवस्था हो जाती है। वह अर्थ जो हमें अपनी परंपराओं से सहज एवं प्राकृतिक रूप में प्राप्त होते हैं। उन्हें पढ़ने या समझने के लिए पाठशाला की आवश्यकता नहीं होती। आम मनुष्य और परंपराओं से उसके संबंध से कुछ और आगे एक कलाकार, साहित्यकार के संबंध में विचार करें तो तब भी हम यही जानेंगे कि अपनी परंपराओं और सामाजिक क्रियाकलापों के मध्य रहकर ही एक कवि या लेखक विचार करता है किंतु जो लोग यह मानते हैं कि कलाकार सामाजिक क्रियाकलाप और अनगढ़ अनुभवों से कहीं दूर होता है । उसका कमरा उसकी सृजनात्मकता का कमरा है और वह अपनी खिड़की (उसकी वैचारिकता) से आसमान, बादल, गली, लोगों और चीजों को संक्षेप में बाहरी दुनिया को देखता है। कवि वह नितांत अकेला व्यक्ति नहीं जो स्वयं को सामाजिक क्रियाकलाप में सम्मिलित ही नहीं करता बल्कि वह तो उससे दूर रहकर उन सब क्रियाकलापों का अध्ययन करता है जो साहित्य में सजीव हो उठते हैं।

निस्संदेह ब्रह्मज्ञान बाजार में नहीं मिलता पर लेखक की तो यह नियति है कि उसे बाजार में खड़े होकर ही ब्रह्म विचार करना है। न केवल उस बाजार में मोल-भाव करना है बल्कि मोल-भाव के बाद पूरे दिन का हिसाब भी करना है। महापात्र मानते हैं कि इसी से प्रभावित होकर जब कभी कोई साहित्यकार या कलाकार सृजन करता है तब उसका जो गुण उभरकर सामने आता है वह है—पारदर्शिता या अपारदर्शिता का गुण।[8]

इस गुण को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि 'रहस्यमयी छायाओं, जातीय स्मृतियों, परोक्ष संकेतों, पीड़ा की व्यंजना, उलझे हुए प्रतीकों और संदर्भों से रहित भाषा शब्दाडंबर की पूर्णतया पारदर्शी भाषा नारों की भाषा होती है, जो बहुत तेजी से संप्रेषण करती है। दूसरी ओर कला की भाषा में, उस समय भी जब वह बोलचाल के अति नजदीक होने का प्रयास करती है, अपारदर्शिता का जादुई गुण होता है इसमें अर्थों में अनेकार्थ और छायार्थ जुड़े होते हैं।'[9]

यहाँ कलाकार का बोध उसे अन्य व्यक्तियों से अलग-अलग स्वप्न देखने के लिए प्रेरित करता है।

कलाकार उस कर्म को पूर्ण करता है जहाँ वह व्यक्तिगत सोचते हुए भी सार्वभौम हो जाता है। यही एक विशेषता किसी भी कवि या लेखक को प्रत्येक युग में प्रासंगिक बना देती है। जहाँ वह व्यष्टि के स्तर से उठकर समष्टि के स्तर तक पहुँच जाता है। तब वह मात्र एक व्यक्ति नहीं विश्वदृष्टा बन जाता है वैयक्तिक आजादी और परंपरा के समन्वय को महापात्र एक आदिवासी गीत से स्पष्ट करते हैं—

बूढ़ा दिल अब भी धड़कता है
और हम जीवित हैं
गए हुए पूर्वजों के
इस प्राचीन गाँव में
और इसलिए इस आनंदोत्सव में

हम हिस्सा लेते हैं।[10]

वस्तुत: महापात्र डायलन टॉमस के मत का समर्थन करते हैं कि 'अंत में कविता को इस पृथ्वी की सुंदर और भयावह सार्थकता को स्वीकार करना है। कविता, आसमानों के बीच इस गोलाकार पिंड में क्या हो सकता है और क्या है, की प्रशंसा में विकसित होती है।'[11]

साहित्य में 'स्व' का चिंतन तो होगा पर प्रकृति के बीच परंपराओं के साथ। उनसे अलग नहीं। निष्कर्षत: वह कहते हैं कि 'साहित्य में आस्था किसी कला सिद्धांत के प्रति संकीर्ण पूर्वनिष्ठा नहीं होती। आज यह आवश्यक आधार है जिससे विभिन्न प्रकार के बंधनों के सामने नतमस्तक हुए बिना अतिविशिष्ट और साधारणजन को तथा आजादी और परंपरा को एक साथ लाया जा सकता है। आज कला और मानव सभ्यता को कायम रखने के लिए यह पहली शर्त है।'[12]

निस्संदेह, जिस प्रकार घर के सबसे बड़े सदस्य के विचार कई प्रकार स्वतंत्र विचारक के पथ की बाधा हो सकते हैं पर निश्चय ही उन अनुभवों का अपना मूल्य और प्रभाव है जिसे नकारने से परिवार में विघटन हो सकता है। आवश्यकता है कि उन परंपराओं को, उन विचारों को ग्रहण किया जाए और उन्हें प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया जाए। सीताकांत महापात्र के वैयक्तिक प्रतिभा और परंपरा-संबंधी विचार आधुनिकयुग के उन विद्वानों के विचारों से साम्य रखते हैं जिन्होंने पीढ़ियों से निराशा और अवसाद से घिरे हुए मनुष्य की पीड़ा को समझा है और उसके अस्तित्व के संत्रास को जाना है। उनके यह बहुउपयोगी विचार उनकी कठिन, गहन साहित्य साधना का निष्कर्ष हैं। स्वयं सीताकांत महापात्र के काव्य में कवि के और परंपराओं के प्रति उनकी निष्ठा के दर्शन होते हैं।

संदर्भ

1. ज्ञानपीठ पुस्कार, संपादक-प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ॰ 551
2. वही, पृ॰ 546
3. वही, पृ॰ 546
4. शब्द समय और संस्कृति, सीताकांत महापात्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 15
6. वही, पृ॰ 16
7. वही, पृ॰ 18
8. वही, पृ॰ 18
9. वही, पृ॰ 18
10. वही, पृ॰ 22
11. वही, पृ॰ 22
12. वही, पृ॰ 22

स्ट्रीट नं॰ 5 **जागेश्वर, नगला पदी**
दयालबाग, आगरा 282005
मो॰ 9219617329

ISSN 0975-735X

व्यक्तिवाचक नामसमूह का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

डॉ॰ मधु शर्मा

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा मौलिक उपलब्धि है। यों तो बाह्य जगत भी ध्वनि संकुल है तथा मानवेतर जीव-जगत को भी अपनी सुखद-दुखद जीवन स्थिति को व्यक्त करने के लिए कंठ और स्वर प्राप्त है। जिससे चेतना ही नहीं जड़ प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। मानव कंठ को परिवेश विशेष में जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनियाँ दाय भाग में प्राप्त हुई थीं, उन्हें उसने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपों में रूपायित किया। मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में सबसे अधिक समर्थ अक्षर और भाषा ही होती है। वही मानव के आंतरिक तथा बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति का आधार है, क्योंकि बौद्धिक क्रिया, मनोरोगी की अभिव्यक्ति तथा उनके परस्पर संबंधों को संग्रहीत करने में भाषा एक स्निग्ध किंतु अटूट सूत्र कार्य करती है। भाषा स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय करती है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से से समष्टि तक विस्तार देने में समर्थ है। भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है–'बोलना' या 'कहना' अर्थात् भाषा वह है जिसे बोला जाए। भाषा निसंदेह मनुष्य की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। 'कोस-कोस पर बदले पानी चार कोस पर बानी' जैसी बहुत सी कहावतें भाषा की लोकचेतना को व्यंजित करती हैं। संस्कृति का आरंभ तब हुआ जब भाषा का अस्तित्व था और फिर इसके पश्चात संस्कृति का। संस्कृति तथा भाषा दोनों में किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास होना हुआ।[1] वर्तमान समय में भाषा हमारे देश की सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनैतिक प्रतिबद्धता एकता के प्रश्न से जुड़ी है। व्यक्तिवाचक नाम समूह में लक्षित परिवर्तन भाषा वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की दशा मापक यंत्र सिद्ध होते हैं। परिवर्तनों की स्थिति का तत्वात्मक अध्ययन किया जा सकता है। शब्दों के वर्गीकरण के सामान्यत: तीन आधार स्वीकार किए गए हैं–(1) व्याकरण, (2) स्रोत, (3) गठन या स्वरूप।

स्रोत के आधार पर वर्गीकरण वैज्ञानिकता कम और परंपरा का पालन अधिक है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, देशी भाषा, अरबी, चीनी, तुर्की, फारसी, पुर्तगाली, पश्तो, दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ इत्यादि अनेक स्रोतों से हिंदी का शब्द-भंडार समृद्ध हुआ है। प्रत्येक शब्द के पीछे एक दीर्घ ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा अंतर्निहित है।[2] इसके अनुसार शब्दों को तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी इन चार वर्गों में बाँटा गया है।

तत्सम–इसका शाब्दिक अर्थ है–'उसके (तत्) समान (सम)–अर्थात् संस्कृत के समान। बीम्स के अनुसार संस्कृत के वे शब्द जो यथास्थितिनुरूप आधुनिक भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं उन्हें तत्सम कहा गया है। जैसे–राजा, कवि आदि। व्यक्तिवाचक नाम समूह का अधिकांश भाग इसी शब्दावली पर आधारित होता है। यथा–अभिनव, सृष्टि, गाथा, मयंक,

ऋचा, अपूर्व, त्रिलोकी, तपेश्वरी रविशंकर आदि।

तद्भव–तद्भव के संदर्भ में वैयाकरण का अभिमत है कि तद्भव शब्द मूलतः संस्कृत शब्दावली से लिए गए हैं किंतु कालक्रम के प्रवाह के कारण उनका मूल रूप किंचित परिवर्तित हो गया है। यद्यपि उनका मूल रूप स्रोत खोजना संभव है।[3] इस प्रकार वे शब्द जो तत् अर्थात् संस्कृत से भव अर्थात् उत्पन्न या विकसित हैं। कन्हैया, सिया, करण, बरखा, मेहंदी, फूलनदेवी, कटोरिया, सुखिया, छुटवा, फुल्लू, सुक्खे, मोहरसिंह, मन्नो, मंगूसिंह, नन्हेंसिंह, अनारोदेवी, लाखनसिंह, चंदोदेवी, थानसिंह, बाँकेलाल, सोराजसिंह, पूनम, सोनी आदि ऐसे ही शब्द व्यक्तिवाचक नामरूप हैं जो वाचक में मुख-सुख प्रदत्त सहज उच्चारित ये सीधे, सहज, सरल नाम हमारी ग्रामीण जनता की सहज प्रवृत्ति के परिचालक हैं।

देशज–'देशज' शब्द का अर्थ है देश में उत्पन्न। ये शब्द संस्कृत के मूल शब्द भी नहीं हैं उनके भ्रष्ट या विकृत रूप भी नहीं। ये तो किसी प्रदेश, स्थान, ग्राम आदि की बोलचाल के लोकप्रचलित शब्द हुआ करते हैं। व्यक्तिवाचक नाम समूह में ऐसे शब्दों की संख्या विरल है लेकिन कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। जैसे–रामतरोई देवी, घसीटासिंह, झनकासिंह, झिगुनीदेवी, झिंगीराम, रिमझिम, रुनझुन, खड़बड़ियासिंह आदि।

विदेशी शब्द–भारत में विभिन्न आक्रमणों के कारण जातियाँ, प्रजातियाँ, संस्कृतियों की ही तरह भाषाओं में भी अन्य भाषाओं का रक्त समय-समय पर घुलता-मिलता रहा है। रूपात्मक दृष्टि से यह दो प्रकार के हैं–एक अपने शुद्ध और अविकृत रूप में और दूसरा ध्वनि परिवर्तन के साथ अर्थात् तद्भव रूप में। इन्हें भाषांतरीय, म्लेच्छ इत्यादि शब्द भी कहा जाता है। व्यक्तिवाची नाम समूह में ऐसे कई शब्दों को स्वीकार किया गया है। जैसे–डिंपल, मोंटी, मोनी, स्वीटी, गोल्डी, टोनी, लवी, जूली, पिंकी, लवली, डेजी, विक्की, नसीम (प्रातःकालीन हवा), गुलशन (फूलों का बाग), शादाब (हरा-भरा), शहला (श्याम नेत्रोंवाली), हिना (मेहँदी)।

अर्थाभिव्यक्ति हेतु भाषाविद् भाषा को अनेक खंडों में विभाजित करता है–रूप ग्राम (वर्ण), शब्द, पद। प्रत्येक भाषा में ध्वनिग्रामों की निश्चित संख्या होती है। अतः ध्वनिग्रामों से निर्मित रूपग्राम भी सीमित रहते हैं। जिस प्रकार की ध्वनिग्रामों के निश्चित कर्मों के संयोजन से रूपग्राम की रचना होती है। वैसे ही एक या अधिक रूपग्रामों के संयोजन से शब्द संरचना होती है। 'शब्द निर्माण' की प्रक्रिया में नए-नए शब्द बनाए जाते हैं। शब्द निर्माण की प्रक्रिया तीन प्रकार से हो सकती है–उपसर्गों द्वारा, प्रत्ययों द्वारा एवं समास प्रक्रिया द्वारा। व्यक्तिवाची नाम समूह में गठन की दृष्टि से इन तीनों का योगदान स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा–

उपसर्ग–उपसर्ग शब्द की व्युत्पत्ति उप़सृज धातु में 'अ' प्रत्यय जोड़कर होती है, जिसका अर्थ है पास आकर सृजन करने वाला।[4] हिंदीभाषा में संस्कृत से गृहीत उपसर्ग (तत्सम व तद्भव) हिंदी उपसर्ग व विदेशी उपसर्ग रूप में उपसर्ग की विस्तृत शृंखला नामावलियों में विद्यमान हैं।

तत्सम उपसर्ग–

अति–अतिदेव, अतिराज, अतिराम, अतिकांत।

अधि–अधिराज, अधिश्वर, अधिरथ।

अनु–अनुगुप्त, अनुराग, अनुराधा, अनुज।

अप–अप्पू, अपास्त।

नि–निशी, निकिता, निशिता, निशांत, निहाल, निवेदिता।

अभि–अभिजात, अभिनव, अभिमन्यु, अभिराम, अभिषेक, अभिलाषा, अभिरुचि।

अव–अवकेश (जिसके बाल नीचे लटके हुए हैं), अवंती, अवनी।

आ–आत्रेय, आरती, आह्लाद, आभा, आनंदी, आशा, आशीष।

उत–उत्सव, उत्पल, उत्तम, उत्कर्ष, उत्तरा।

उप–उपमन्यु, उपाध्याय, उपासना, उपेंद्रनाथ, उपकार, उपेक्षा, उपमा।

दुर–दुर्वासा, दुर्गेश्वर, दुर्गावती।

निर–निरंजना, निरुपमा, निरंकार, निर्भय, निर्मला, निर्मल।

नि–निगम, निचीता, नित्या, नियति।

परा–पराग, पराजिका, परकाष्ठा।

परि–परिणीता, परिधि, परिमल, परिकर।

प्र–प्रकाश, प्रगति, प्रकृति, प्रकीर्ति।

प्रति–प्रतिभानु, प्रतिमा, प्रतिज्ञा, प्रतिष्ठा, प्रतिभा।

वि–विकास, विजय, विमल, विकास, विदुर, विभव, विक्रम, विनायक, विभु, विभोर, विजयपाल, विकास, विजेंद्र, विपिन, विनय।

सम–संपूर्णानंद, संभव, संपदा, संपूर्ण, संविदा, समिष्ठा, संबद्ध, संबोध, समपाल, संविदा।

सु–सुकमा, सुग्रीव, सुक्रांत, सुदामा, सुग्रीव, सुदेवी, सुकीर्ति, सुकन्या, सुकेशी, सुनंदा।

तद्भव उत्सर्ग : हिंदी के उपसर्ग–

अ–अजय, अतुल, अमर, अपराजिता, अदिति, अणिमा, अचला।

अन–अनंत, अनंतनाथ, अनल, अनध, अनंतराम, अनंता, अनला, अनसूया, अनमिका, अनवर, अंजार, अंसार, अनारो, अनजान।

उन–उन्नाव, उन्मेष, उन्नति, उन्नीत।

कु–कुमार, कुशाग्र, कुणाल, कुसुम, कुबेर, कुश, कुमुद, कुमुदिनी, कुबले, कुरमा।

चौ–चौहल, चौथैइया, चौबासिंह, चौबीरसिंह, चौकससिंह, चौलरसिंह।

रहित के अर्थ में–

नि–निगम, निषाद, निमिष, निडरा, नियादरी, निदरी, निशात, निशाद।

पर–परकाशो, परम, परमन्यु, परमार।

भर–भरत, भरणी, भरसिका, भरमी, भरता।

आगत उपसर्ग–

ऐन–ऐना।

कम–कम्मो, कमली, कमालिनी, कमलिया।

खुश–खुशबू, खुशवंत, खुशनवा, खुशी, खुशनुमा, खुशवंत।

गैर–गैरु, गैरोनिशा, गैरफरोज, गैरत।

ना–नादिया, नाजिया, नाहिद, नाजरीन, नाजरा, नाबिया, नाफिस, नासिर, नाफिश, नादिर।

बे–बेबी, बेदाग, बेमिसाल, बेनी, बेनजीर।

बद–बदस्सरजहाँ, बदलू, बदली, बदरिया।

ला–लाजवाब, लाली, लाल, लाजू, लांबा, लाजो।

हम–हमनिशा, हमदा, हमफशा, हमीदा।

हर–हरकिशोर, हरकेश, हरप्रसाद, हरस्वरूप, हरतजहाँ, हरफशां, हरजहाँ।

प्रत्यय–संस्कृत 'इ' धातु का अर्थ है जाना, उससे पहले 'प्रति' उपसर्ग जोड़ा गया है। (प्रति ≥ की ओर जाना)। दूसरे शब्दों में प्रत्यय धातु या मूल शब्द के पास जाया करता है। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने लिखा है, 'प्रत्यय ध्वनि या ध्वनि समूह की वह इकाई है, जो व्याकरणिक रूप या अर्थ की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिए, किसी शब्द या धातु (या अपवादतः कभी-कभी उपसर्ग जैसे हिंदी की दृष्टि से विज्ञ) के अंत में जोड़ी जाती है, किंतु जिसका स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता।[5] स्वरूप के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–1. कृत प्रत्यय, 2. तद्धित प्रत्यय, 3. स्त्री प्रत्यय। परिनिष्ठित हिंदी में तद्धित प्रत्ययों में विविधता लक्षित होती है। कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं–

आ–संस्कृत स्वार्थिक प्रत्यय 'क' और पूर्ववर्ती 'अ' अर्थात् अक-आ विकसित हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत पूजयक-पूज्यअ-पूजाया। पूजा, रमा, नेहा, उषा, आशा, हरिया, भूरिया, ननवा, शेरा जैसे शब्दों में 'आ' तत्सम प्रत्यय ही है।

आई–हार्नले इसका संबंध संस्कृत तिका (संस्कृत भाववाचक प्रत्यय प्रत्ययताक सर्वाधिक प्रत्यय)–प्राकृत दिगा-इआ-हिंदी आई। फूलनबाई, लक्ष्मीबाई, सुखदाई, शांताबाई, जीजाबाई आदि में यही जुड़ा है।

आना–संस्कृत स्थानक (स्वार्थ)-घानअ ≥ हिंदी आना। जैसे–शबाना, अफसाना, शहाना, रिहाना, नजराना आदि।

आनी–यह संस्कृत तत्सम प्रत्यय नहीं है। संस्कृत में आनुक और डीप-ई प्रत्ययों को जोड़ने से आनी बना था। यथा–महारानी, राजरानी, रानी, भवानी, इंद्राणी, रुद्राणी। प्राकृत ण-हिंदी न। अब 'र' के समीप्य से 'ण' की प्रवृत्ति छोड़कर यह स्त्री प्रत्यय आनी के रूप में हिंदी में खूब चलता है। यथा–शिवरानी, महारानी, राजरानी आदि।

आर र–संस्कृत कार-आर, र। उदाहरण-जिलेदार, इख्तियार, जुल्फिकार, मुख्तार, इसरार, अबरार आदि।

आरी–संस्कृत आरी-आड़ी। ड़ी प्रत्यय भी इसी का विकास है। यथा–कटारीसिंह, सरदारीसिंह, सिघाड़ीलाल, रामदुलारी, दुखहारी, रामप्यारी आदि।

आस–डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के अनुसार संस्कृत आशा-आश-आस। जैसे-अरदास, रामदास, परकास, सूरदास, केशवदास, तुलसीदास, रमादास, देवीदास।

आहट–हार्नेले के अनुसार विकास-रेखा संस्कृत वृत्ति, वृत्त, वार्ता-प्रा॰ वट्टी, वट्ट-वला-हिंदी आहट है। बीम्स के अनुसार विकास मूल संस्कृत अतु, आतु हैं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के अनुसार अनुमान इस प्रकार है–संस्कृत तव्यक़त्वं प्राकृत अव्वट्ट-अव्वट-अखट-आ-('ह' का आगम) यथा–राहतअली, मुस्कुराहटजहाँ, इजाहतअली, सजाहत खाँ।

 ISSN 0975-735X

इक्–तारिक, शारिक, हार्दिक स्वास्तिक आदि।

इन–आइन संस्कृत आनी, आणी–प्राकृत आणी–ण–इण–इन से ही आइन प्रत्यय विकसित होता है। सुमरिन, मालिन, सहरिन, समरिन, शाहिन, राहिन, यासमीन, नौशाीन आदि।

इया–डॉ॰ भोलानाथ तिवारी इसे मूल की अपेक्षा एक संयुक्त प्रत्यय मानकर विकास देते हैं–ईयक–ईअअ–इया–इय। पर्वतीय़क–पर्वतीयअअ–पर्वतीया। अन्य उदाहरण–सोनिया, मूंगिया, घिसिया, हरदिया दिया, सानिया, भगवतिया, मुनिया, चंपिया, विजूरिया, सुप्रिया, कनुप्रिया, बुलिया, हरिप्रिया, प्रिया आदि। इसका प्रयोग तीन रूपों में होता है–(1) अर्थन्यूनता में, जैसे–घिसिया, भगवतिया। (2) स्नेहसूचक जैसे–चंपिया, रमिया। (3) स्त्रीलिंग में–रिया, सोनिया, प्रिया।

ई–जब इसका विकास संस्कृत इका से होता है, तब करोड़ी जैसे रूप बनते हैं–आकाशीदेवी, रेशमीखातून। अन्य उदाहरण हैं–खुशी, असगरी, अख्तरी, जबरी, परमेश्वरी, फूलकली, सूरजमुखी, तुलसी, कलावती, बसंती, शिल्पी, चिक्की आदि।

ईन–शौकीन, यासमीन, आफरीन, नाजरीन, नाजमीन, जरीन, परवीन आदि।

ईला/ईल–संस्कृत इल–प्राकृत इल्ल–हिंदी ईल् इससे जोड़ने से पूर्व अंतिम स्वर का लोप हो जाता है। जैसे–शर्मीला आदि। ईला, ईली तो संयुक्त (आई) प्रत्यय है, मूल प्रत्यय नहीं। कुछ उदाहरण–सुनील, सुशील, शकील, अनील, नवील, जमील, जमीला।

एरा/एर–संस्कृत कृत–प्राकृत केर–एर–विकास देखते हैं। 'एरा' 'एरी' तो संयुक्त प्रत्यय (आ़ई) ही माने जाने चाहिए। यथा–शमशेरा, सुमेरा, शेरसिंह, अजमेरी, नाजेरा, नादेरा, नादेर।

कार–सरकार, सत्कार, इस्तकार, सरोकार, ललकार, फौजदार, हवलदार, मजूमदार, सरदार आदि।

वाँ/वँ–संस्कृत म–व्ँ। आ–ई के योग से पुलिंग–स्त्रीलिंग, रूप बनते हैं। धातु से विशेषण बनने पर (यथा–चुनवाँ) इस वाँ का मूल स्रोत संस्कृत वत् प्रतीत होता है। यथा–कलवाँ, सड़वाँ, कुड़बाँ, रहनुवाँ, सुधवाँ आदि।

वाल़आ–वाला, ई–वाली उदाहरण–राजवाला, शिवाली, सं॰ पाल–वाल् (कोतवालसिंह, काशीवाल, पालीवाल, महिवाल) रूप बनते हैं। अन्य उदाहरण–सुरवाला, बनवाला आदि।

हारा–संबंधित कर्म करनेवाला अर्थ में हाऱआ > हारा़ई > हारी आदि संयुक्त प्रत्ययों को जोड़कर 'कर्मकर्ता' अर्थ वाले शब्द में बनते हैं, यथा–अमंगलहारी देवी, दुखहारासिंह।

संस्कृत के तद्धित प्रत्यय–

हम–हमीद, हमीर, हमनिशा, हमदा, हमफशा, हमीदा।

आलु–आलुक–आलू। यथा–कृपालुसिंह, दयालु, लालू, कालू, श्रद्धालुराम, जमालू आदि।

इत–पुष्पित, शोभित, मोहित, अंकित आदि।

इमा–गरिमा, महिमा, नीलिमा, लालिमा आदि।

ईय–आदित्य, सत्य, आत्मीय आदि।

इल–कोकिल, धूमिल, अनिल, सलित आदि।

तम–प्रीतम, हरितम, नरोतम, पुरुषोतम आदि।

त्व–सत्व, प्रकाशत्व, महत्व, कृतित्व आदि।

ता–कविता, संगीता, सविता, संजिता, सुनीता, बबीता, मनीषा आदि।

नीय–शोभनीय, अमनीय, तनीय आदि।

वान–परवान खान, पहलवान, बलवान, पासवान, दीवान आदि।

आगत प्रत्यय–

अंदाज–अंदाजखाँ, तीरंदाज आदि।

इश–महविश, दानिश, नरगिस, तपिश, नाजिश आदि।

दान–वरदान, आदान आदि।

मंद–समंदकुमार, हामंदखाँ आदि।

बाज–अरबाज, शाहनबाज, जंगेबाज, जाबाज आदि।

इसी प्रकार विभिन्न अक्षरयुति के अर्थ में प्रत्यय होकर अर्थ वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

प्रत्यय रूप में जोड़कर–

म–शुभम, शिवम, रूपम आदि।

न–आर्यन, शोभन, नमन आदि।

त–शोभित, मुदित, अमित आदि।

क–मोहक, दीपक, कनक आदि।

ल–अंशुल, रूपल, सोनल आदि।

ई–शुभी, खुशी आदि।

ज–जलद, सरोज, मनोज, परवेज आदि।

समास–समास का शाब्दिक अर्थ है–संक्षेपण।[6] किंतु पारिभाषित दृष्टि से दो या दो अधिक शब्दों को जोड़कर एक पद का निर्माण करने की व्याकरणिक प्रक्रिया को समास कहा जाता है। पं॰ किशोरीदास वाजपेयी ने कहा है कि 'अनेक शब्द मिलकर जब एक पद बन जाते हैं तो वह समास कहलाता है।'[7] समास छह प्रकार के होते हैं।

तत्पुरुष समास–जिस समास में दूसरा पद प्रधान हो, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। यथा–जगजीत, ईश्वरदत्त, श्रीपति, सुरेश, नरेश, कुलश्रेष्ठ, दीनानाथ, राजकुमार।

कर्मधारय समास–जहाँ दोनों पदों में 'उपमेय–उपमान' या विशेषण–विशेष्य का संबंध हो, वहाँ कर्मधारय समास होता है। यथा–घनश्याम, पीतांबर, नीलकमल, खूशबू, निराला, सुरेखा, महालक्ष्मी, महारानी, महादेव, पुरुषोत्तम, सुंदरलाल, सुरेखा, त्रिनेत्रा, प्रभुदयाल आदि।

द्वंद्व समास–जिस समास में सब पद अथवा उनका समाहार प्रधान रहता है उसे द्वंद्व समास कहते हैं। यथा–राधाकृष्ण, लवकुश, छोटेलाल, बाँकेलाल, भूरेलाल, नन्हेलाल आदि।

बहुव्रीहि समास–जिस समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और जो अपने पदों से भिन्न किसी संज्ञा का विशेषण होता है, उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं। यथा–चंद्रमौली, निर्जन, राजीवलोचन, गजानन, सविनय, पद्मनाभ, सुगंधी, एकता, एकेश्वर, एकलव्य।

अव्ययीभाव समास–जिस समास में पहला पद प्रधान होता है और जो समूचा शब्द

 ISSN 0975-735X

क्रिया–विशेषण अव्यय होता है, उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं। जैसे–प्रतीक्षा, हरपाल, हरकिशोर, प्रतिभानु, प्रतिवीर, हरकेश, प्रत्यक्ष, यथोचित, समक्ष, निर्भय, बेगम आदि।

जिसमें दो अलग पद एक साथ जुड़कर भिन्न अर्थ बोध कराते हैं किंतु रूप परिवर्तन नहीं होता। जैसे–मंजुश्री, मधुश्री, भाग्यश्री, राजलक्ष्मी, चंद्रमुखी, शशिप्रभा, चंद्रप्रभा।

जिसमें दो शब्दों का सम्मिलित रूप एक नाम बनता है, लेकिन जिसे विभक्त करने पर शब्द के अर्थ में तो परिवर्तन होता है किंतु शब्द के रूप में परिवर्तन नहीं होता, ऐसे व्यक्तिवाचक नामसमूह का स्वरूप कुछ इस प्रकार है–

कुमार–अरुणकुमार, नरेशकुमार, गौरवकुमार, हेमंतकुमार।
प्रीत–मनप्रीत, सुखप्रीत, हरप्रीत।
देव–रामदेव, हरदेव, भीमदेव।
'दास' युक्ति के अर्थ में–दुर्गादास, तुलसीदास, रामदास, देवीदास, भगवानदास।
धर–हलधर, गोधर, सुखधर आदि।
'मल' युक्ति के अर्थ में–टोडरमल, हरिमल, गजराजमल, चकराजमल आदि।
वती–ओमवती, मायावती, कलावती, वीरवती आदि।
लाल–प्यारेलाल, होरीलाल, मुन्नीलाल, चुन्नीलाल, छेदीलाल, अशर्फीलाल आदि।

इस प्रकार विभिन्न रूप से शब्दों का सुमेल पदांत शब्द के अर्थ-परिवर्तन से अथवा अर्थ-वैशिष्ट्य से युक्त कर नामचयन में नवीनता प्रदान करता है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिंदी की यह सृजनात्मक क्षमता अपने कलेवर में बुद्धि और संवेदना के विकास को सन्निवृत्त करती है। अस्तु व्यक्तियों द्वारा चयनित व्यक्तिवाची शब्दावली वह गवाक्ष है, जिसके द्वारा बहुभाषी भारत के सर्व समावेशी भविष्य का अवलोकन किया जा सकता है। व्यक्तिवाचक नामसमूह हिंदी भाषा में हो रहे परिवर्तन की दशा एवं दिशा में हो रहे गत्यात्मक परिवर्तन का परिचय भी देते हैं एवं अपने अंदर भारतीय संस्कृति एवं हिंदीभाषा को भी समेटे हुए हैं। व्यक्तिवाची नामसमूह अपने क्षेत्र और काल का ऐतिहासिक दस्तावेज माना जाता है। व्यक्तिवाची नामावलियों में हो रहे नित नवीन परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन की दशा व दिशा तो निर्धारित करते हैं साथ ही भाषा को नवीन शब्दावली और स्वरूप प्रदान करते हैं।

संदर्भ

1. ए॰ एल॰ क्रोवर, एंथ्रोपोलोजी टुडे, पृ॰ 225
2. डॉ॰ मोहम्मद अयूबखान प्रेमी, हिंदी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन एवं भाषाविज्ञान के मध्य रूप, पृ॰ 1
3. जॉनथींश, ए कंपैरेटिव ग्रामर ऑफ द मॉडर्न आर्थन लैंग्वेज ऑफ इंडिया, पृ॰ 11,12
4. डॉ॰ शिवनारायण खन्ना, उपनाम एक अध्ययन, पृ॰ 12
5. डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, हिंदीभाषा और हिंदीभाषा का इतिहास, पृ॰ 241
6. धरानंद शास्त्री, तत्रसमसन समाज, पृ॰ 816
7. पं॰ किशोरीदास वाजपेयी, हिंदी शब्दानुशासन, पृ॰ 306

पत्नी श्री हेमंतकुमार भारद्वाज
मौ॰ रवापुरी, साहनपुर स्टेट
तहसील नजीबाबाद (बिजनौर) उ॰प्र॰

गांधीवादी विचारधारा का आख्यान और 'मैला आँचल'

शबनम तब्बसुम
शोधार्थी, हिंदी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

आधुनिक समाज राजनीतिक दृष्टि से अनेक छोटे-छोटे विचारधाराओं में बँटा हुआ है। ये विचारधाराएँ ही व्यक्ति के दृष्टिकोण और उसके व्यवहार को एक निश्चित दिशा प्रदान करती हैं तथा राजनीतिक व्यवस्था के निश्चित स्वरूप को व्याख्यायित करती हैं। भारत एक लोकतांत्रिक देश है, जहाँ सबकी अपनी-अपनी विचारधाराएँ हैं, जो धर्म, जाति और आर्थिक-असमानताओं को पार करके व्यक्ति को एक सूत्र में बाँधने का कार्य करती है। साहित्य और विचारधारा में भी अर्न्तसंबंध होता है। किसी भी साहित्यकार का साहित्य किसी न किसी विचारधारा से अवश्य प्रभावित होता है, पर साहित्य सृजन की प्रक्रिया केवल विचारों तक सीमित न होकर लेखक की गहरी संवेदना और जीवनानुभव के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। साहित्यकार अपनी दृष्टि तथा सोच के अनुरूप विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के प्रति आबद्ध रहता है। रेणु भी राजनीतिक दृष्टि से संपन्न लेखक थे। उन्होंने अपने जीवन-संघर्ष से अपनी राजनीतिक विचारधाराओं को अर्जित किया था।

'साहित्यकार अधिकतर राजनीतिक होता है-खुले रूप से संकुचित राजनीतिक कला।'[1] रॉल्फ फॉक्स का यह कथन फणीश्वरनाथ रेणु पर काफी हद तक चरितार्थ भी होता है। रेणु आजीवन राजनीति से जुड़े रहे, पर किसी विशिष्ट विचारधारा के प्रति आबद्ध नहीं रह सके। वे विभिन्न राजनीतिक दलों से अपने रिश्ते जोड़े-तोड़े, पर राजनीतिक पार्टियों की स्वार्थपरक राजनीति में स्वयं को सदा ही मिसफिट पाया। वे मूलतः गांधीवाद के प्रहरी थे, मानवता ही उनका धर्म था। यही कारण था कि उनकी विचारधारा राजनीतिक पार्टियों की विचारधारा से मेल न खा पायी। 'गांधीवाद' मूलतः महात्मा गांधी के आदर्शों, विश्वासों, विचारों तथा उनके जीवनदर्शन को कहा जाता है। उनके जीवनदर्शन को ही एक सुनिश्चित विचारधारा के रूप में स्वीकृत कर लिया गया। गांधीजीलगभग तीन दशकों तक निरंतर भारतीय राजनीति में सक्रिय रहे। गांधीवाद कोई राजनीतिक विचारधारा नहीं है। उन्होंने स्वयं कहा था, 'गांधीवाद नामक कोई वस्तु नहीं है और न मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ना चाहता हूँ।...मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी नये सिद्धांत का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ शाश्वत सत्यों पर अपने ढ़ंग से उतारने का प्रयास मात्र किया है।'[2] अर्थात् गांधीवाद एक जीवनदर्शन है जो जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। गांधीवाद के विधायी तत्व है-सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, आदर्श राज्य की स्थापना, सर्वोदय, भूदान, हृदय-परिवर्तन, मानवतावाद तथा विश्वबंधुत्व की भावना।

 ISSN 0975-735X

गांधीजी ने सत्य और अहिंसा को सर्वोच्च माना। उनके अनुसार, 'सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा मानव का धर्म है।'[3] उन्होंने सत्याग्रह और अहिंसा को अन्याय और भेदभाव के विरुद्ध अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। सत्याग्रह कर्म पक्ष से संबंधित है। 'गांधीवाद' का मूल आधार सत्याग्रह है। सत्याग्रह का अर्थ है-सत्य का आग्रहपूर्वक आचरण करना। गांधीवाद के अनुसार, 'सत्याग्रह एक ऐसा अस्त्र है, जिसके द्वारा हिंसा पर अहिंसा से, अधर्म पर धर्म से, असत्य पर सत्य से और पशुबल पर आत्मबल से विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। सत्यग्राही किसी को पीड़ित करने के अपेक्षा, हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है।'[4] रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में गांधीवादी विचारधारा के सभी तत्वों का व्याख्यात्मक विश्लेषण है। किसी भी व्यक्ति या संस्थान को जब गांधीवाद से संबंधित करते हैं तो उसका तात्पर्य होता है; गांधीजी द्वारा स्थापित सिद्धांतों, आदर्शों एवं मूल्यों का पालन करना। नि:संदेह, रेणु ने 'मैला आँचल' में गांधीजी के सभी आदर्शों एवं मूल्यों को रूपायित करने का पूर्ण प्रयास किया है तथा सत्य और अहिंसा को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की है।

गांधीजी के जीवनदर्शन ने जनता के साथ-साथ साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। गांधीवाद का वास्तविक योगदान जीवन और साहित्य के मूल्यों की पुनर्व्याख्या करने में ही निहित है। गांधीजी का प्रभाव हिंदी साहित्य में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है। प्रेमचंद ने गांधीजी के विचार दर्शन तथा मानवमूल्यों से प्रभावित होकर ही असहयोग आंदोलन में भाग लिया और 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान' जैसी कालजयी उपन्यास लिखे; इसीलिए प्रेमचंद को 'हिंदी साहित्य का 'गांधी' भी कहा जाता है। रेणु भी मूलत: गांधीवाद के ही प्रहरी थी। वे बचपन से ही गांधीवादी-परिवेश में पले बढ़े थे। उनके पिता गांधीवादी थे, खादी पहनते थे, घर में चरखा चलाते थे। रेणु गांधीजी से इतने प्रभावित थे कि बचपन से ही स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेते थे और पिकेटिंग भी करते थे। जब वे चौथे दर्जे में थे तो गांधीजी की गिरफ्तारी की खबर सुनते ही हड़ताल में शामिल हुए और अति-उत्साह में उन्होंने असिस्टेंट हेडमास्टर साहब को भी रोका। अगले दिन असिस्टेंट हेडमास्टर साहब ने दस बेंत की सजा सुनाई। रेणु प्रत्येक बेंत पर 'वंदे मातरम' और 'महात्मा गांधी की जय' का नारा लगाते रहे। नारे की आवाज सुनकर आम जनता भी उनके साथ नारा लगाने लगी। गांधीजी का प्रभाव रेणु के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आजीवन बना रहा। बी॰एच॰यू॰ में इंटरमीडिएट करने के दौरान डॉ॰ लोहिया तथा जयप्रकाश नारायण से प्रभावित होकर समाजवादी पार्टी से जुड़े। बाद में सोशलिस्ट पार्टी में भी सम्मिलित हुए, पर इन दोनों पार्टियों की संरचना एवं कार्यपद्धति को देखकर रेणु गहरे असंतोष से भर गए, जिन मूल्यों से प्रेरित होकर रेणु इन पार्टियों में सम्मिलित हुए थे; उन मूल्यों का यहाँ भी अभाव था। इन पार्टियों की कार्य-पद्धति भी काँग्रेस की तरह ही थी। अंतत: उन्होंने राजनीति को तिलांजलि दे दी। गांधीजी की तरह वे भी किसी पार्टी-विशेष के लिए बने नहीं थे। गांधीजी की तरह उनका उद्देश्य भी मानवमूल्यों तथा सत्य को स्थापित करना था।

प्रेमचंद के उपन्यासों में जहाँ देश की आजादी, स्वतंत्रता आंदोलन तथा गांधीवाद के दर्शन होते हैं; वहीं रेणु के उपन्यासों में देश की आजादी, स्वतंत्रता आंदोलन के दर्शन तो होते

ही हैं साथ ही आजादी की त्रासदी की गहरी पड़ताल भी करता है। 'मैला आँचल' आजादी के बाद का पहला उपन्यास है जो भारतीय जनसमाज तथा गांधीजी के मोहभंग एवं उनकी मृत्यु की पहली सूचना देता है। 'मैला आँचल' में भारतमाता जार बेजार रोती नजर आती हैं, वह सिर्फ भूख व दरिद्रता के कारण ही नहीं वह सत्ताधारी ताकतों की भ्रष्ट नीतियों पर भी रो रही हैं। स्वाधीनता की लड़ाई में जितने भी ईमानदार और सत्यनिष्ठ कार्यकर्ता थे, उनकी उपेक्षा की गई और दुलारचंद कापरा, तहसीलदार विश्वनाथ, सारगमल, छोटनबाबू जैसे भ्रष्ट, धनलोलुप तथा संकीर्ण प्रवृत्ति वाले लोग जननायक बन गए। रेणु का मुख्य लक्ष्य देश के शोषित एवं गरीब जनमानस को सुखी-संपन्न बनाना था। वे जातिवाद, छुआछूत, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, दरिद्रता तथा जहालत को दूर कर उनके बीच प्रेम, मानवता तथा भातृत्व का बीज बोना चाहते हैं, जिस तरह गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से वकालत छोड़कर देश को आजाद कराने के लिए वापस भारत लौट आते हैं; उसी तरह 'मैला आँचल' में डॉ॰ प्रशांत को बिहार सरकार मलेरिया और कालाजार पर रिसर्च करने के लिए विदेश भेजना चाहती है, पर डॉ॰ प्रशांत पूर्णिया के पूर्वी अंचल 'मेरीगंज' में ही रिसर्च करना चाहता है; जहाँ कोशी नदी के तांडव के कारण मलेरिया और कालाजार से हर साल हजारों लोगों की मृत्यु होती है। प्रशांत मेरीगंज आता है तो यहाँ की भूख, गरीबी, बेबसी, बीमारी और जहालत को देखकर क्षुब्ध है। वह कहता है 'क्या करेगा वह संजीवनी बूटी खोजकर? उसे नहीं चाहिए संजीवनी। भूख और बेबसी से छटपटाकर मरने से अच्छा है मैलेग्नेट मैलेरिया से बेहोश होकर मर जाना। तिल-तिलकर, घुल-घुलकर मरने से उन्हें जिलाना क्रूरता होगी... सुनते हैं, महात्मा गांधी ने कष्ट से तड़पते हुए बछड़े को गोली मारने की सलाह दी थी।....यहाँ इंसान है कहाँ? अभी पहला काम है, जानवर को इंसान बनाना।'[5] डाक्टर का रिसर्च पूरा होता है। उसने रोग की जड़ पकड़ ली है–'गरीबी व जहालत, जो एनोफिलीन (मलेरिया) से भी ज्यादा खतरनाक, सैंडफ्लाई (कालाजार) से भी ज्यादा जहरीले हैं।'[6]

'मैला आँचल' में कथानक का आरम्भ 1942 के स्वाधीनता आंदोलन तथा महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के खबर से होती है। मेरीगंज में आंदोलन नहीं बल्कि इस आंदोलन की अफवाह पहुँची थी; पर रेणु इस आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और जेल भी जाते हैं। जेल में ही उनकी मुलाकात गांधीवादी साहित्यकार सतीनाथ भादुड़ी से होती है, जिनके प्रेरणास्वरूप ही उन्होंने 'मैला आँचल' जैसी कालजयी कृति की रचना करते हैं। 'मैला आँचल' में डा. प्रशांत, बावनदास, बालदेव, चुन्नी गोसाई, ममता सभी गांधीवादी पात्र हैं। ये पात्र अपने आचरण और व्यवहार से भी गांधीवादी हैं और अपने कर्मों में भी सत्य, अहिंसा और प्रेम को समाहित करते हैं। बालदेव, बावनदास, चुन्नी गोसाई स्वतंत्रता-सेनानी भी हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए होने वाली सभी आंदोलनों में भाग लेते हैं। बालदेव अहिंसा के द्वारा ग्रामीण जीवन में सुधार लाना चाहता है। हिंसात्मक कार्यों के प्रति बालदेव गांधीजी की तरह अनशन की धमकी देता है; 'पियारे भाइयो, आप लोग जो अंडोलन किए हैं, वह अच्छा नहीं। अपना कान देखे बिना कौआ के पीछे दौड़ना अच्छा नहीं।....आप लोग हिंसावाद करने जा रहे थे। इसके लिए हमको अनशन करना होगा। भारतमाता का, गांधीजी का रास्ता नहीं....।'[7] उपन्यास में खद्दर पहनना, गाँव में चरखा सेंटर व मलेरिया सेंटर खोलना तथा ग्रामीण परिवेश को साफ रखना इत्यादि गांधीवादी

 ISSN 0975-735X

विचारधारा से ही प्रेरित हैं। बालदेव कहता है 'हम मेरीगंज को चवनपट्टी की तरह बनाना चाहते हैं। हम अपने से गाँव में झाड़ू देंगे, मैला साफ करेंगे। हम लोगों का सब किया हुआ है। महात्माजी खुद मैला साफ करते थे। जहाँ सफाई रहती है वहाँ मन साफ रहता है।'[8] 'मैला आँचल' में कालीचरण और चलित्तर कर्मकार सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता हैं, कहीं न कहीं इनमें भी गांधीवाद अवश्य पलिक्षित होते हैं। कालीचरण देश से असमानता, जातीवाद तथा छुआछूत की भावना को मिटाने के लिए संथालों के साथ संघर्ष करता है और चमार टोली में जाकर भात खाता है। उसका मानना है, 'जात क्या है? जात दो ही हैं, एक गरीब और दूसरी अमीर।'[9]

'मैला आँचल' का बावनदास गांधीजी के सिद्धान्तों का मूर्त रूप है। वह गांधीजी का अंधभक्त है; यदि भूल से भी उससे कोई गलती हो जाती है तो उसे पाप समझ कर प्रायश्चित करता है। प्रदीप सक्सेना सर कहते हैं, 'बावनदास! आधुनिक युग का अष्टावक्र गांधीवादी राजनीति का उज्ज्वल व्यक्ति प्रतीक।'[10] 1934 में गांधीजी बिहार में भूकंप पीड़ित क्षेत्रों के दौरे पर थे, वहीं उनकी मुलाकात बावनदास से होती है। बावन ने भजन गाकर गांधीजी को मोहित कर लिया। गांधीजी उसकी सत्यनिष्ठा एवं देशभक्ति भावना से प्रेरित होकर उसे 'भगवान' कहते थे। बावन पहले भजन गाता था, गांधीजी के संपर्क से व्याख्यान भी देना सीख गया है। 1942 में जब जवाहरलाल नेहरू आते हैं तो बावन चमत्कार करता है। 'अगस्त 1942! कचहरी पर चढ़ाई। धायँ-धायँ। पुलिस हवाई फायर करती है। लोग भाग रहे हैं। बावनदास ललकारता है। डेढ़ हाथ का इंसान सीना ताने खड़ा है।....बावनदास पुलिसवालों के पाँवों के बीच से घेरे के उस पार चला जाता है और विजयी तिरंगा शान से लहरा उठता है।...महात्मा गांधी की जय।'[11] आजादी के बाद बावन पार्टी की स्वार्थपरक राजनीति और पदलोलुपता से काफी दु:खी है। उसे गांधीजी को छोड़कर किसी पर विश्वास नहीं होता। आजादी तो मिल गई पर इससे न तो गांधीजी खुश थे और न ही रेणु और न बावन जैसे कितने लोग, क्योंकि भारतीय राजनेता अपने स्वार्थों तथा कुकृत्यों से भारतमाता का आँचल मैला कर रहे हैं। बालदेव जैसा पात्र भी अंत में स्वार्थी हो जाता है। बावन की चिट्ठी गांगुली जी को नहीं देता है, उसे डर है कि कहीं गांधीजी बावन को मंत्री न बना दे। बालदेव को जब से कपड़ा की मेंबरी मिली है तबसे रोज दस-पंद्रह बार से ज्यादा झूठ बोलता है। आजादी के बाद देश के दो टुकड़े हुए, देश की एकता खत्म हुई और साम्प्रदायिकता के दानव ने लाखों लोगों की बली ली। भाई-भाई बिछड़ गए और लाखों लोग शरणार्थी का जीवन व्यतीत करने को मजबूर हुए। गांधीजी के लिए यह त्रासदी असह्य थी। एक पत्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं, 'ईश्वर से वह प्रार्थना करेंगे कि वह मुझे आँसुओं की इस घाटी से उठा ले और मुझे उस हत्याकांड का असहाय दर्शक न बना रहने दे जो बर्बर बन चुका मनुष्य कर रहा है, भले ही वह अपने आप को मुसलमान या हिंदू या कुछ और ही क्यों न कहता हो।'[12]

भारतवासी आजादी की खुशियाँ पूरी तरह से मना भी नहीं पाए थे कि गांधीजी की हृदयविदारक हत्या ने लोगों को स्तब्ध कर दिया। रेणु गांधीजी की अचानक मृत्यु से काफी हताश होते हैं। उन्होंने 'मैला आँचल' में गांधीजी की मृत्यु-शैया का बहुत ही मर्मस्पर्शी चित्रण करते हैं, वैसा शायद ही किसी अन्य लेखक ने किया हो। ऐसा लग रहा है जैसे रेणु आँखों देखी

हाल प्रस्तुत कर रहे हैं, 'अब...अब चंदन की चिता तैयार है।...नरमुंड....नरमुंड, कहीं भी तिल रखने की जगह नहीं।....अपार जनसमूह में मानो लहर आ गई है; सभी एक बार, महानमानव की पवित्र चिता को अंतिम बार देखना चाहते हैं।....एम्बुलेंस गाड़िया बेहोश लोगों को ढ़ो रही हैं।...औ...औ...आह। अब पश्चिम आकाश में सूर्य अपनी लाली बिखेरकर अस्त हो रहा है और इधर....महामानव की चिता में अग्निशिखा....धरती का सूरज अस्त हो रहा है।.... जन्मबंधविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यानामयम्....।'[13] गांधीजी की कारुणिक हत्या बावनदास के लिए असहनीय है। बावन एकदम कमजोर हो गया है, उसे लगता है कि अब गांधीजी भी नहीं रहे; देश अब भ्रष्ट नेताओं के हाथों में है। रेणु को भी यह आजादी झूठी प्रतीत होती है, 'यह केसा स्वप्न भंग है; यह केसी छलना है? कलाइयों और पैरों में बेड़ियाँ मौजूद हैं। हम कैसे विश्वास कर लें कि हम स्वतंत्र हैं।...सुराज हुआ है बिड़लाओं के लिए, टाटाओं के लिए, डालमियायों के लिए, देशी नरेशों और जमींदारों के लिए, भ्रष्टाचारियों के लिए। यह जनता का सुराज नहीं है, जनता का संघर्ष अभी जारी है। दरिद्रता, भूख और रोगों से मरनेवाले एक-एक प्राणी को आज हम 'शहीद' कहते हैं।...इस भ्रष्टाचार के आलम में घुल-घुलकर मरने से अच्छा है एक ही बार कुछ करना या करते करते मर जाना।'[14] आजादी के बाद गांधीजी की तरह रेणु भी कांग्रेस की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाते हैं। गांधीजी की पुण्य श्रद्धांजलि पर बावनदास प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी तरह का अवैध कार्य नहीं होने देगा, इसीलिए जब उसे पता चलता है कि कांग्रेसी दुलारचंद कापरा तस्करी का काम भारत-पाकिस्तान की सीमा पर करता है तो वह इस कुकृत्य को रोकने के लिए खुद को कुर्बान कर देता है। कापरा उसकी लाश को उठाकर नागर नदी में फेंक देता है और पाकिस्तानी पुलिस उसे उठाकर इस पार फेंक देती है। इस तरह 'बावनदास ने दो आजाद देशों की, हिंदुस्तान और पाकिस्तान की ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो डेग में ही नाप लेता है।'[15] गांधीजी की कठोर परीक्षा में रेणु बावनदास के माध्यम से बिल्कुल खरे उतरते हैं। 'रंगभूमि' उपन्यास में सूरदास की हत्या के रूप में प्रेमचंद को गांधीजी की हत्या का पूर्वाभास हो गया था, तो रेणु बावनदास की हत्या के माध्यम से गांधीजी की हत्या का साकार रूप प्रदान करते हैं।

रेणु 'मैला आँचल' में सत्याग्रह, सर्वोदय, चरखा सेंटर, भूदान, हृदय-परिवर्तन मानवतावाद इत्यादि का चित्रण कर गांधीवादी विचारधारा को पुष्ट करते हैं। 'सर्वोदय' का शाब्दिक अर्थ है—'सभी का उदय।' गांधीजी किसी व्यक्ति, दल अथवा वर्ग-विशेष की भलाई से प्रेरित न होकर सबकी भलाई चाहते थे। गांधीवाद का ही विकसित रूप सर्वोदय है, इसी से प्रभावित होकर ही विनोबा भावे ने भूदान का दिशा-निर्देश दिए। इसके तहत सभी जमींदार अपनी थोड़ी-थोड़ी जमीन गरीबों को दान करे। 'मैला आँचल' में तहसीलदार विश्वनाथ का भी हृदय-परिवर्तन होता है और वह गाँव वालों तथा संथालों की जमीन लौटा देने का ऐलान करता है, 'सुमरितदास! लोगों से कह दो..., हरेक परिवार को पाँच बीघा के दर से जमीन मैं लौटा दूंगा। सब कागज-पत्तर ठीक कर लेता हूँ।...और संथाल टोली में जाकर कहो...वे लोग भी आकर रसीद ले जाएँ। एक पैसा सलामी या नजराना कुछ भी नहीं।...और यह जमीन तो उन्हीं किसानों की है। नीलाम की हुई, जब्त की हुई, उन्हें वापस दे रहा हूँ। मैं कहता हूँ...ऐलान कर दो, मालिक का हुकुम है। जै! जै! हो! बोलिए प्रेम से महात्मा गांधी की जय।'[16] उपन्यास का अंत गांधीवाद से प्रेरित

'हृदय परिवर्तन' के द्वारा होता है। कुछ आलोचकों को यह अस्वाभाविक लगता है, पर गांधीजी का मानना था कि हिंसात्मक संघर्ष के स्थान पर हृदय-परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि अन्यायी को शारीरिक दंड न देकर उसका हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही उसके अन्यायों एवं अत्याचारों का उन्मूलन किया जा सकता है। नि:संदेह, रेणु ने गांधीजी की इसी विचारधारा को मैला आँचल में स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

गांधी 'मानवता' को ही सर्वधर्म मानते थे। रेणु का भी मूल मंतव्य मानवतावाद के महत्त्व को प्रतिपादित करना है। मानवतावादी साहित्यकार मनुष्य के हित-कामना के लिए ही साहित्य का सृजन करता है। रेणु का उद्देश्य ग्रामीण पिछड़े अंचल के लोगों को भूख, गरीबी, अन्याय तथा शोषण से मुक्त करवाना है, इसीलिए रेणु 'मैला आँचल' में चरखा सेंटर खुलवाने का प्रावधान रखते हैं। शिवनाथ चौधरी कहता है; यदि घर का एक-एक व्यक्ति चरखा चलाने लगे तो गाँव से गरीबी दूर हो जाएगी; अन्न, वस्त्र की कमी नहीं रहेगी। चरखा सेंटर खुल गया है।'[17] रेणु उपन्यास में ममता का चित्रण भी एक मानवतावादी व्यक्ति के रूप में ही किया है। जिस तरह रेणु की प्रेरणास्रोत लतिका जी थी, उसी तरह डॉ॰ प्रशांत की प्रेरणास्रोत ममता है। वह शहर के गरीब मुहल्लों में हैल्थ यूनिट की स्थापना कर गरीबों के लिए सेवाकार्य करती है। डॉ॰ प्रशांत गाँव में ही गांधीजीकी अंतिम कामना को साकार करने के लिए धूल भरे से मैले आँचल की छाया में मानव साधना का व्रत लेता है, 'मैं फिर काम शुरू करूँगा-यहीं, इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएंगे। मैं साधना करूंगा; ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले! कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ...।'[18] रेणु का मानना है कि मिट्टी और मनुष्य से इतनी गहरी मुहब्बत किसी लेबोरेटरी में नहीं मिलती है; बल्कि इसके लिए इन्हीं के बीच रहकर उनके सुख-दु:ख का भोक्ता बनना पड़ता है। गांधीजीकी मृत्यु के तीन महीने बाद डॉ॰ प्रशांत के बेटे कुमार नीलोत्पल का जन्म होता है, नीलोत्पल के रूप में रेणु को आशा की एक किरण दिखती है। वे कहते हैं, 'मानवता के पुजारियों की सम्मिलित पवित्र वाणी से प्रकाश मिल गया है।....प्रेम और अंहिसा की साधना सफल हो चुकी है। फिर केसा भय। विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है। उसको पराजित करना असंभव है।....यह वह महाप्रकाश है, जिसकी रोशनी में दुनिया निर्भय हजारों बरस का सफर तय कर सकती है।'[19]

स्पष्ट है कि रेणु गांधीवादी विचारधारा के अनुरूप मानवतावाद की ओर अग्रसर हैं। 'मैला आँचल' का मूलस्वर मानवतावाद है, जो सत्य, अहिंसा, प्रेम, आस्था और विश्वास के संबल पर टिका हुआ है। वर्तमान समय में 'गांधीवादी विचारधारा' तथा 'मैला आँचल' जैसी कृतियों की आवश्यकता है। आज भी देश संकुचित स्वार्थवृति, आर्थिक विपन्नता, भ्रष्टाचार, हिंसावाद, जातिवाद, सांप्रदायावाद, पूंजीवाद तथा अनैतिकतावाद से ग्रस्त है और आज भी भारतमाता जार-बेजार रोती नजर आ रही है। अत: मैला आँचल आज भी प्रासंगिक हैं। रेणु मैला आँचल में सभी विचारधाराओं को व्याख्यायित करते हुए गांधीवाद को स्थापित करते हैं। यह कहना असंगत न होना कि 'मैला आँचल' गांधीवादी विचारधाराओं का आख्यान है।

संदर्भ

1. रॉल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोकजीवन, तीसरा संस्करण 1980, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ॰ 156
2. https:èkèkww.scotbuzZ.org>gandhivad
3. वही
4. जोगेन्द्र सिंह वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु का कथासाहित्य : समाजशास्त्रीय विश्लेषण, संस्करण 1986, दिग्दर्शनचरण जैन, ऋषभचरण जैन एवं संतति, नयी दिल्ली, पृ॰ 153
5. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, नौवाँ संस्करण 2007, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ॰ 179
6. वही
7. वही, पृ॰ 22
8. वही, पृ॰ 34
9. वही, पृ॰ 192
10. मधुरेश, फणीश्वरनाथ रेणु और मार्क्सवादी आलोचना, संस्करण 2008, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ॰ 100–101
11. रेणु, मैला आँचल, पृ॰ 145–146
12. विपिनचंद्र, आधुनिक भारत का इतिहास, संस्करण 2017 (पुनमुद्रित), ओरियंट ब्लैकस्वॉन, प्रा. लि. नयी दिल्ली, पृ॰ 330
13. रेणु, मैला आँचल, पृ॰ 328
14. भारत यायावर, रेणु रचनावली–5, चौथी आवृत्ति 2012, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ॰ 432
15. रेणु, मैला आँचल, पृ॰ 338
16. वही, पृ॰ 351
17. वही, पृ॰ 171
18. वही, पृ॰ 353
19. वही पृ॰ 352–353

मो॰ 7983406102, 9411661479
sabnamtabsum1980@gmail.com

ISSN 0975-735X

डॉ॰ राजेंद्र मिश्र से डॉ॰ रमेश तिवारी की बातचीत

1. **सर्वप्रथम मैं 'शोध दिशा' पत्रिका के पाठकों की तरफ से आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ। कृपया आप अपने जीवन की विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ावों के बारे में अवगत कराएँ?**

आपका यह सवाल बहुत लंबा है। जीवन की विकास-यात्रा के अनेक पड़ाव होते हैं। सबसे पहले तो शिक्षा आती है। मैंने हिंदी में डी॰लिट् किया है। यह पुस्तक अँग्रेजी हिंदी नई कविता की प्रवृत्तियाँ के नाम से प्रकाशित भी हुई है। दूसरा पड़ाव कर्म का होता है। मैं कॉलेज और विश्वविद्यालय में हिंदी का प्राध्यापक रहा हूँ। अनेक संगोष्ठियों में भाग भी लिया और उन्हें आयोजित भी किया है। तीसरा पड़ाव लेखन का रहा है। मेरी अब तक विभिन्न विधाओं में 103 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। साथ ही मेरा सृजनात्मक साहित्य 'राजेंद्र मिश्र रचनावली' के रूप में 11 खंडों में प्रकाशित भी हो चुका है। जीवन-यात्रा जारी है और उसी तरह लेखन भी चल रहा है।

2. **लेखन की दुनिया में कब और कैसे आना हुआ?**

पता ही नहीं लगा, कब लेखन शुरू हो गया। पर यह कविता से शुरू हुआ और उस समय मैंने 'रत्नावाली' लघु प्रबंधकाव्य भी लिखा, जो अब 'रत्नावली प्रसंग' के नाम से छप चुका है और इसे मेरी रचनावली में भी शामिल किया गया है। इस कृति पर मुझे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी प्रोत्साहित किया। इस तरह लेखन चलता रहा और अब तक चल रहा है। इस तरह साहित्य-सृजन मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है।

3. **शुरुआती लेखनकाल और वर्तमानकाल में आप क्या अंतर देखते हैं?**

20वीं शताब्दी के सातवें दशक और 21वीं शताब्दी के दूसरे दशक में जितना अंतर है, उतना ही साहित्य-लेखन में भी हो गया है। जो साहित्य अपने समय के अनुसार बदलता और लिखा जाता है, वही प्रासंगिक होता है। पहले से अब बहुत अंतर हो गया है। संवेदना और अभिव्यक्ति के मानक बदल गए हैं।

4. **साहित्य-सृजन में आपकी पसंदीदा विधा क्या रही है और क्या इसके कुछ विशेष कारण हैं?**

साहित्य-सृजन में कविता ही मेरी संवेदना का पहला विषय रही है। कविता में आंतरिक अनुभूति दृश्य होकर सामने आती है, यही इसकी पसंदगी का विशेष कारण है।

5. **अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में पाठकों को कुछ बताएँ?**

किसी भी साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया का विवेचन आलोचक का कर्म है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हर सृजन का एक रचना-समय होता है, जिसके अनुसार वह लिखता है। मैंने भी ऐसा ही किया है।

6. **रचनाओं के विषय आप कहाँ से ग्रहण करते हैं?**

विषय रचनाकार के भीतर से भी आता है और बाहरी परिवेश से भी, मैं दोनों जगहों से ही विषय पाता हूँ, किंतु उनकी अभिव्यक्ति मेरी उस संवेदना से होती है, जो सबकी संवेदना भी है।

7. **आप एक जाने-माने प्राध्यापक भी रहे हैं, शोध अनुसंधान और निर्देशन से भी आपका गहरा नाता रहा है। शिक्षा के माध्यम के सवाल को आप किस प्रकार देखते हैं? आपकी दृष्टि में शिक्षा का माध्यम कौनसी भाषा होनी चाहिए?**

मैं ही नहीं, संसारभर के शिक्षाविद् मानते हैं कि कम से कम स्कूल की शिक्षा का माध्यम अपनी मातृभाषा ही होना चाहिए। यह दुखद है कि हमारे देश में यह नहीं है। इससे समाज और संस्कृति प्रभावित हो रही है। उच्च स्तर पर शिक्षा का माध्यम वह भाषा भी हो सकती है, जिसमें उपयुक्त साहित्य उपलब्ध हो। वैसे कॅरियर की दृष्टि से किसी भी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।

8. **आज निजी विद्यालय हों अथवा सरकारी, हिंदी के मुकाबले अँग्रेजी को पठन-पाठन में वरीयता दी जा रही है। क्या इससे हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए आपको कोई खतरा दिखाई देता है? यदि हाँ तो इसका समाधान क्या हो सकता है?**

सारे देश में अँग्रेजी माध्यम स्कूलों की संख्या बढ़ती जा रही है। यदि सभी प्रांतों में उनकी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए, तो इससे भाषाओं के विकास और बचाव का मार्ग मिल सकता है। यही इसका सबसे बड़ा समाधान है। जहाँ तक हिंदी के मुकाबले, अँग्रेजी की वरीयता का सवाल है, इसमें सबसे अधिक जिम्मेदारी हिंदीभाषी लोगों की ही है। यदि इन प्रदेशों में हिंदी शिक्षा का माध्यम हो तो अँग्रेजी की वरीयता अपने आप खत्म हो जाएगी।

9. **क्या किसी राष्ट्र की कोई एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए? यदि हाँ तो भारतीय संदर्भ में वह कौनसी भाषा हो सकती है?**

राजनीति की तरह भाषा भी हमारे बिखराव का कारण न बने, इसलिए संविधान में सभी भारतीय भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा का स्थान दिया गया है। हिंदी केवल केंद्र की राजभाषा है। इस तरह संविधान में कोई एक भाषा राष्ट्रीय भाषा नहीं है। पर हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, जो देश की संपर्क भाषा बन सकती है। तभी हमें अपनी एक भाषा मिल सकती है।

10. **राष्ट्रभाषा के रूप में आपके द्वारा चयनित भाषा की व्यापक स्वीकृति के लिए किस प्रकार के प्रयासों की आवश्यकता है?**

मैं किस तरह किसी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में चयन कर सकता हूँ? अगर सभी हिंदीभाषी प्रांत अपने स्कूलों की शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से हिंदी को बना लें तो फिर अन्य किसी प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है।

11. **हिंदीतर प्रदेशों में हिंदी की स्वीकार्यता के लिए कौनसे कदम उठाने की आवश्यकता है?**

हिंदीभाषी प्रांत यदि समग्र रूप से हिंदी को अपना लें तो फिर हिंदीतर प्रांत भी अपना लेंगे। हिंदी की स्वीकार्यता के लिए हिंदीभाषी प्रांतों को समग्र रूप से शिक्षा माध्यम सहित हिंदी को स्वीकार करने की आवश्यकता है। क्या हिंदी प्रांत अँग्रेजी माध्यम से मुक्त होने को तैयार हैं?

12. **संविधान में राजभाषा संबंधित अधिनियमों से आप कितने संतुष्ट हैं? क्या इसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता है? यदि हाँ तो आदर्श प्रारूप बताएँ?**

संविधान के राजभाषा अधिनियमों में कोई कमी नहीं है, पर उनका उपयोग नहीं किया जा रहा है। सबसे बड़ा सवाल उनके उपयोग का है।

13. **राजभाषा अधिनियम की भाँति क्या हमारे देश में राष्ट्रभाषा अधिनियम की आवश्यकता**

है? यदि हाँ, तो इसका आदर्श प्रारूप क्या होना चाहिए?

हमें किसी राष्ट्रभाषा अधिनियम की आवश्यकता नहीं है। भाषा का प्रयोग अधिनियम से नहीं होता, प्रयोग से होता है।

14. **आठवीं अनुसूची विवाद में आप कहाँ तक सहमत हैं? कई भाषाओं को इस अनुसूची में शामिल कराने की जद्दोजहद पिछले दिनों बढ़ी है। आप इन विवादों के औचित्य-अनौचित्य के बारे में क्या सोचते हैं?**

किसी भाषा को किसी भी अनुसूची में शामिल कराने से कुछ भी नहीं होता? इससे भाषा आगे नहीं बढ़ती, केवल भाषा की राजनीति करनेवालों को थोड़े बहुत वोट मिल सकते हैं? इन सब चीजों का कोई महत्त्व नहीं है।

15. **बाजारवाद ने हमारे देश में साहित्य को किस हद तक प्रभावित किया है?**

जो लेखक आज के समय के अनुकूल साहित्य लिख रहे हैं, उनके साहित्य को ही बाजारवाद ने प्रभावित किया है। अधिकतर हिंदी साहित्य तो पुरानी लीक पर ही लिखा जा रहा है। वह अभी तक बाजारवाद से लिंक भी नहीं हुआ है। इसलिए प्रासंगिक भी नहीं है।

16. **साहित्य में आजकल सरोकारों को बेकार और कंकड़ समान सिद्ध किए जाने की कोशिश भी कमोवेश दिखाई पड़ती है। आप इस बारे में क्या कहेंगे?**

इस बारे में क्या कहा जा सकता है? इतना ही कि सरोकारों को महत्त्वपूर्ण मानें, तभी उनका साहित्य प्रासंगिक हो सकेगा।

17. **साहित्य की पक्षधरता के सवाल को आप किस प्रकार देखते हैं? साहित्यकार के लिए क्या पक्षधरता जरूरी है? यदि हाँ तो वह किसके साथ खड़ा हो? शासक के साथ अथवा शासित के साथ?**

साहित्य में पक्षधरता न हो तो अच्छा है। वह सीधे व्यक्ति और समाज से जुड़े। उसे केवल स्वतंत्र समाज की स्थापना के लिए लिखना चाहिए। इसमें शासित और शासक का कोई भेद नहीं होता।

18. **कुछ वर्ष पूर्व सरकार से असहमति जताते हुए साहित्यकारों द्वारा सम्मान वापसी प्रकरण आरंभ हुआ था। आजकल चुनाव के दिन हैं। कतिपय लेखक संगठनों द्वारा जनता से सरकार के पक्ष में मतदान करने की अपील की जा रही है। आपकी दृष्टि में ये दोनों घटनाएँ कितना महत्त्व रखती हैं? क्या इस प्रकार की गतिविधियाँ लेखक-समाज के लिए अनिवार्य अथवा औचित्यपूर्ण हैं? इस बारे में आपकी क्या राय है?**

चुनाव-परिणाम आ चुके हैं। इस देश की जनता ने बता दिया है कि वह स्वतंत्र होकर उस सरकार को चुनने की क्षमता रखती है, जो जनता के लिए काम करती है। बाकी सारे सवाल बेमानी हैं।

19. **मीडिया के बदलते स्वरूप से आप कितना संतुष्ट हैं? क्या यह बदलाव हमारे देश की जनता और समाज के हित में है?**

मीडिया ने भी समझ लिया है कि उसे किसी का पक्ष लेने की बजाय जनता और समाज के हित में आवाज उठानी चाहिए। यह एक अच्छा बदलाव है। जहाँ भी समस्याएँ हैं, मीडिया उन्हें उठा रहा है।

20. **आपकी दृष्टि में समकालीन मीडिया (सभी प्रकार का मीडिया) के लिए क्या कसौटी होनी चाहिए?**

समकालीन मीडिया सही अर्थ में समकालीन हो। वह आज के समय में, आज की दृष्टि से अपनी शक्ति का उपयोग करे, यही उसकी सबसे बड़ी कसौटी है।

21. **समकालीन परिप्रेक्ष्य में साहित्य की कसौटी क्या होनी चाहिए?**

साहित्य अपने समय के समाज के लिए प्रासंगिक हो। यही उसका निकष होना चाहिए।

22. **साहित्य के साथ सरोकार आवश्यक हैं अथवा अनावश्यक? साहित्य के सरोकार क्या होने चाहिए?**

साहित्य अपने समय के समाज को प्रभावित करे। वह एक स्वतंत्र व्यक्ति और व्यवस्थित समाज के निर्माण में अपना योगदान दे, जिससे राष्ट्र भी आगे बढ़ सके और विश्व में भी वह प्रासंगिक हो।

23. **आपकी दृष्टि में राष्ट्रवाद क्या है? इसकी जरूरत कब और क्यों है?**

राष्ट्रवाद, राष्ट्र के जन और उसके भूगोल को संरक्षित रखे, यदि हम सही राष्ट्रवाद को अपनाते तो हमारे देश का विभाजन ही नहीं होता, जितनी इसकी जरूरत 1947 में थी, उससे अधिक जरूरत अब 2019 में भी है। हमें राष्ट्र को विभाजित करनेवाली शक्तियों से सावधान रहने की जरूरत है।

24. **प्रायः देखने में आता है राष्ट्र, धर्म, जाति के नाम पर हमारा मानव-समाज आमने-सामने आ जाता है। यह गतिरोध की स्थिति क्यों है? क्या हम इन मुद्दों पर एकसाथ नहीं चल सकते? यदि चल सकते हैं तो वे रास्ते क्या हैं, जिनका अनुसरण कर हम साथ-साथ चल सकते हैं?**

हम सबसे पहले भारतीय हैं। इस भावना से चलने पर कहीं कोई गतिरोध नहीं हो सकता। राष्ट्र को धर्म और जाति में बाँटने की जरूरत नहीं है। राष्ट्र के प्रति हमारा दायित्व और जनता के प्रति हमारे सरोकार, सारी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। विचारों में अलग-अलग होकर भी हम साथ-साथ चल सकते हैं।

25. **आपकी पीढ़ी और परवर्ती पीढ़ी में आप क्या अंतर देखते हैं?**

हमारी पीढ़ी के मूल्य धर्म और ईश्वर केंद्रित थे। आज की पीढ़ी के मूल्य विज्ञान और मानव केंद्रित हैं। यह एक प्रगतिशील वास्तविकता है और भविष्य के लिए सराहनीय भी है।

26. **कोई जरूरी काम जो अधूरा रह जाने की टीस हो?**

जो काम न हो पाए, वह जरूरी नहीं होता। इसलिए टीस रखने की भी कोई जरूरत नहीं है।

27. **निकट भविष्य की क्या योजनाएँ हैं?**

भविष्य में जो किया जा सकता है, वह किया जाता रहे। पहले से योजनाएँ बनाने की जरूरत नहीं है।

28. **इस देश के युवाओं का आप किस क्षेत्र में सक्रियता के लिए आह्वान करना चाहेंगे? लेखन, राजनीति, जीविका अथवा कुछ और?**

जीविका तो सभी के लिए आवश्यक है। आज के समय में सृजन और राजनीति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। आज के युवा अपने देश और समाज को आगे बढ़ाने का काम करें और इस वैश्विक युग में भारत का वर्चस्व हो इसके लिए भी काम करें।

Chaudhuri As A Stylist

Dr. Mohd. Sarfaraj Ahmad
(Asstt.Professor of English)
P.C.I.E.T., Chakrajmal, Dhampur
Distt. Bijnor (U.P.)

Some of the Indian writers have proved themselves to be masters of English prose style. There are prose writers whose writings contain all the virtues of good prose-clarity, style, the ability to evoke people, places and things, a sense of continuity, originality, wit, humour and a sense of irony. Writers like Dom Moraes, R.K.Narayan, Raja Rao and Nirad Chaudhuri write English "With the language in their bones".[1] We can say the same of Mulk Raj Anand, Frank Moraes, Ved Mehta, Santha Rama Ram, Kamala Markandeya and Nayantara Sehgal. One hardly ever has the feeling that they are using a language not hteir own. And, like all great stylists, each has his or her own individual style. It would however, be no exaggeration to say that the dictum, "Style is the man" is never more true than in the case of Nirad Chaudhuri, an artist of great intellectual and stylistic endownments.

Even Chaudhuri's very bitter critics admit that "He has wit and learning and a style that is unique."[2] However one may disagree with what Chaudhuri says one cannot but admire the way he says it. He is the most polished craftsman among the Indian writers in English. The intensity of vision the forcefulness of expression with which his two volumes of *'Autobiography'* and *'The Continent of Circe'* are written make them out as first rate books in the history of Indo-Anglian literature.[3]

When one tries to look the factors that make Chaudhuri's style what it is, one's attention is at once arrested by his conscious craftsmanship and extra-ordinary scholarship. As he so frequently mentions in his prefaces and Acknowledgements, he is very much conscious of the fact that his "English was not from Englishmen or in any English speaking country"[4] and, therefore, to avoid being stamped as the writer of 'Babu English', he must follow a rigorous practice.

"After writing a book I go very carefully over it, examining the diction and vocabulary, and I find that I have used some fashionable wards or jargon I weed them out, unless there is some special reason to keep them. As a rule Iremove all words which have not been good English for at least two hundred years."[5]

A marked change and development takes place in Chaudhuri's attitude

and consequently in his in his prose style as he moves to his later two books " *The Intellectual in India"* and *'To Live or Not to Live'* . Serenity, composure and balance replace the earlier bitterness, hatred and anger as he emerges from a number of complexities and vicissitudes of life as evident from social maladies of his earlier books. "He neither strikes as attitude nor walks on stylistic stills."[6] Instead, he sheds his self-conciousness (that he is writing for a western audience) and writers in a natural and discursive manner for a people whose happiness in his genuine concern.

'The Intellectual in India' is partly historical and partly moral writing and therefore, concerned with, in the main, statement of facts.

"Rammohan Roy's interests were primarily social and religious, and he advocated reforms in both the spheres with the help of intellectual arguments. He brought round a small number of people to his way of thinking, but stood alone as intellectual figure."[7]

As is the case with most historical writings, here a fact is presented with finality and conciseness. Each sentence is short, and ends decisively; there are no subsidiary clauses. Chaudhuri being a creative artist, does make use of some literary devices but here they are neither poetic nor vehement, they are only matter of fact and precise as we find in the following passage:

"One of the reaons for the smallness of the creative output was that a large portion of the intellectual energy was absorbed in merely maintaining the western intellectual tradition in India. It was not only new and followed by a numerically negligible minority, it had also to struggle against a hostile environment. For the Indian intellectual the task was comparable to that of maintaining agriculture on the edge of a desert, against constant invasion by the sand.[8]

'To Live or not to Live' is constructive criticism of life based on positive and healthy concepts. Chaudhuri is very much aware of the evils and shortcoming in Hindu social and family life, but since he is at peace with the world around him, instead of condemning and attacking the Hindus for their lapses as he does in *'The Continent of Circe'*, he assumes a benevalent guardian's attitude and talks about ways and means of solving the problems of life. The tone of his writing is mainly persuasive, occasionally didactic, the language very often metaphorical, or ornamental and at times marked by mit, irony and humour. This for example, is a sample of his didacticism.

"I have tried to see social life and family life in the light of the highest ideals of life .But neither can he said to be the highest purpose can hardly be fulfilled. So to live a happy life in our social and family relations is the first stage of living well."[9]

This study of the phrasal, clausal, sentential and post-sentential special-

ties in Chaudhuri's prose style, makes us feel that he is truly a great experimenter with the English language, just as Tennyson is considered to be from the point of metre in English poetry. On the basis of the claim that Mr. Walsh makes for 'creative wrriters' and 'the people in general' that "the life of language has in the past been recurrently refreshed by poets and the people."[10] We can safely take the stand that Chaudhuri's handling of English language has given it a new and refreshing dimension. This certainly adds to his qualification as a prose-writer(and also a stylist) in addition to his merit as a sociologist or a social thinker.

A biography contains the records of a man's life and it deals with either the whole or at least a considerable part of his career. A biographer utilizes all available material - letters, diaries, memories, documents- in order to present the thoughts and utterances as well as the activities of man's life. It stands a witness to his vast learning, minute observation and the adroitness in arranging the facts derived from varied sources in an artistic and cahesive manner. Nirad Chaudhuri's *Scholar Extraordinary* is the biography, that is to say, an account of the life of the German scholar of the 19th century F. Max Mullar. "it is an account", says Chaudhuri, "of the life of a man who was a scholar and thinker, it is not except incidentally a discussion of evaluation of his work in the fields of knowledge with which his scholarship was concerned."[11]

So Chaudhuri has always put to himself the question of basic significance of all life Chaudhuri had been come in contact with or read about many of the highest of his countrymen- Tagore, Gandhi or Nehru. At the death of each of these men he had been terrified by the sudden onslaught of a conviction that their lives ended as ghastly tragedies and were not very far from that when they were living.

Max Mullar put forward his ideas as explanations of some of the deepest facts of lives-religion, mythology, language. Neither he nor anybody else has been able to say the final word on any of these. But on all events, his theories, provisional as they were bound to be touched on universal and timeless interest. The questions whether these have that amount of relative or absolute value which makes any life long pursuit of them worth while Chaudhuri has attempted an answer to this question in this book. But is has to come out of the book as a whole, and even then only by implication. At many moments, a man who feels deeply about life is ceased with a conviction, terrifying though it is, that the significance of life almost equally matched. But perhaps we should accept nothing else.

The book deals with some practical questions and suggestions as to how an Indian intellectual, without leaving his country and while following his vocation honesty, can earn enough to keep himself and his family on a civilized standard of living and can discharge his obligations as a member of society. Before presenting any suggestions, which are no doubt derived from Chaudhuri's own experi-

ences as an intellectual, he thinks it necessary to define and explain the 'intellectual'.

"An intellectual is a man who does or tries to do the following (1) he applies his intellectual faculties (which I take as defined) to understand and interpret the world around him: (2) as a rest of study, observation, and experiments he formulates conclusions which he believes to be true or, at all events truer than those which were current before. (3) He communicates his ideas to fellowmen with a view to influencing their mind, life and actions."[12]

Chaudhuri finally concludes the book with every apt and sensible warning to the budding Indian writers in English.

"To be acceptable to western publishers, an Indian must write English not only with competence, but with distinction... A sincerely felt experience comes out in the right kinds of English more easily than one not so felt. So I would give the last advice that write on such things on which you feel deeply sincerely.[13]

Thus we see the most of what Chaudhuri says about the evils of our social practices quite true but he does not take an account of the change which are the result of reformative measures introduced by our social reformers to remove these evils. His description of these occasions are based on his first hand childhood observations and he accepts the customs and norms of the Bangali society as those of entire India. He says nothing about the simple ceremonies observed in the south Indian wedding, nor does he mention a word about the Arya Samaj ceremony, now universally observed in the Punjab. It is true that even today many evils exist among our social practices but now no Indian can afford to observe the 'Sradh' ceremony with the pomp and show Chaudhuri had seen in his childhood, nor does he have time and energy to spend a whole day on a hospital verandah to show his sympathy for a distant relative.

There should be no hesitation in concluding that To Live or Not to Live is truly a commendable effort on the part of its author. There is no pretence to teach any high and serious morals. What inspires Chaudhuri here is a genuine concern for his countrymen, how they can be happy with others in their social and family life, because, he understands that this is great happiness, and a kind of happiness which helps to gain other kinds of happiness. So probably there is nothing new in what he says here. Yet as Mr. Verghese very aptly puts To Live or Not to Live is a guide to happiness."[14] And one would like to add that it is guide to happiness in the same way as Bertrand Russell's 'The conquest of Happiness' is like Chaudhuri's book, Mr. Russell's book is also full of practical wisdom for all who feel hard pressed by modern conditions. And, like Chaudhuri's he makes it clear in the preface that he is not going to give a learned discourse "No profound philosophy or deep erudition will be found in the following pages. I have aimed

 ISSN 0975-735X

only at putting together some remarks which are inspired by what I hope is common sense. All that I claim for the recipes offered to the reader is that they are such as are confirmed by my own experience and observation, and that they have increased my own happiness whenever I have acted in accordance with them."[15] In this sincerity of purpose that is the main merit of Chaudhuri's book also.

References

1. Rajiva, Stanley, F. "Contemporary Indian Writing in English" Quest, January-March, 1969.
2. Murthy, L. Radhakrishna "Nirad C. Chaudhuri" The Two Fold Voice, Ed. D.V.K. Raghavacharyulu, Navodaya Publishers, Vijayawda, Guntur, 1971, p.143
3. Karnani, Chetan, Nirad C. Chaudhuri and "The Continent of Circe" Quest, April-June, 1968, p. 143
4. Chaudhuri, Nirad, C. The Autobiography of An Unknown Indian, Jaco Publishing House, Bombay, 1971, Preface, p. xii.
5. Chaudhuri, Nirad C. The intellectual in India, Associated Publishing House, New Delhi, 1967, p. 79
6. Verghese, Paul C., Nirad C. Chaudhuri, Arnold Heinemann, New Delhi, 1973, p.96.
7. Chaudhuri, Nirad C., The Intellectual in India, op. cit, p.10
8. The Intellectual in India, p. 14
9. Chaudhuri, Nirad C., To Live or Not to Live, Pocket Books Pvt., Ltd. Delhi, p.15
10. Walsh, William, A Human Idiom, Chatto and Windus, London, (1964), p.12
11. Nirad, C. Chaudhuri : Scholar Extra-ordinary, Delhi, Orient Paperbacks, 1974, p.2
12. The Intellectual in India, pp. 54-55
13. Ibid, p.80
14. Verghese, C. Paul, Nirad C. Chaudhuri, op. cit, p.114
15. Russell, Bertrand, The Conquest of Happiness, Unwin Books, London, 1961, preface.

Dilshad Colony street no. 6
Moh. Pahari Darwaza,
Dhampur (Bijnor) 246761 **U.P.**

Quantity in Activities Conduced in Higher Education : A Critical Analysis

Pallavi Priyadarshini
Pawan Sahu
Research Scholar
Department of Adult Education
Dr.H.S.Gaur University, Sagar

ABSTRACT

Higher education implies training young and innovative minds up to the **maturity** level, so that they can contribute in **better way** in countries development. But today, it is perceived as an important form of **investment** in home capital development.The main governing body at the tertiary level is the **University Grants Commission**, which enforces its standards, advises the government, and helps coordinate between the centre and the state. Apart from guiding universities, it also provides financial assistance to them for conducting extracurricular activities to enhance potentialities of not only of staffs and students but also of the society. Since, inculcating equality and democratic values is one of the motto of higher education, intermingling with people is must for every individual engrossed in it. So, the basic curricular activities funded by UGC are seminars, conferences, workshop, sports meet and cultural fest. The motive behind such activities is to help students, faculty, educated mass in the society, across the country and abroad to come together to share their views and culture. The outcome imagined behind it is betterment of society with a fruitful conclusion. Another body national academic accredition council (NAAC) works at national level for accrediting grades to the universities and colleges as per its performance. UGC and NAAC together works to guide institutions regarding quality education. This paper is based on, survey of few central universities regarding curricular activities which take place in an academic year and its data analysis. The paper explores, the extent to which these activities fulfil its motive and also how far universities are ethical in this context.

INTRODUCTION

A violence-free society, a stress-free mind, a disease-free body, an inhibition-free intellect, a trauma-free memory and a sorrow-free soul is the birthright of every human being. We should dream of this big dream, and make it possible. (OSHO)

 ISSN 0975-735X

The above line clarifies the basic motto behind higher education and its implication.Education at lower level trains individual to grasp thoughts and believes. But at higher level it develops an individual to have critical and analytical thought along with reasonable behaviour. India's higher education system is the third largest in the world, next to the United States and China. Indian higher education system has expanded at a fast pace by adding nearly 20,000 colleges and more than 8 million students in a decade from 2000-01 to 2010-11. As of 2011, India has 42 central universities, 275 state universities, 130deemed universities, 90 private universities, 5 institutions established and functioning under the State Act, and 33 Institutes of National Importance. Other institutions include 33,000 colleges as Government Degree Colleges and Private Degree Colleges, including 1800 exclusive women's colleges, functioning under these universities and institutions as reported by the UGC in 2012. The main governing body at the tertiary level is the University Grants Commission (UGC), which enforces its standards, advises the government, and helps coordinate between the centre and the state. Besides guiding and governing UGC also provides financial assistance to universities. This financial assistance includes, along with other infrastructure development, aid for conducting academic and curricular activities. The UGC under its scheme provides financial assistance to institutions for organizing such activities at National and International level in various fields for each financial year. Further, the scheme intends to promote high standards in educational institutions by way of extending facilities to teachers and researchers by providing a forum for sharing their knowledge, experiences and research. The basic objective of the scheme is to bring together academicians and experts from different parts of the country and abroad to exchange knowledge and ideas. This provides an in-depth analysis of subjects and update the knowledge of the participants from academic as well as research institutions.

The **National Assessment and Accreditation Council** (**NAAC**) is another autonomous body which is funded by UGC and works in accordance with it for accrediting higher educational institution based on its seven evaluating criteria. One of the important criteria for ranking is organization of various activities by institutions and publications based on intuit was established in 1994 in response to recommendations of National Policy in Education (1986) .

NAAC and UGC work together in guiding the institutions for better quality of education and system.As, higher education aims at inculcating true meaning of equality and understanding in individual, the activities apart from daily schedule includes, exchanging of ideas, ideologies and culture intermingling with people. So basically, the activities include seminars, conferences, and workshops, cultural fest etc. These activities not only reduce disparities between rural/urban/ developed/underdeveloped areas but also result in solution of major societal problems. The conclusion drawn during these activities aids in further

research.Such activities develop group approach, which helps an individual to develop a sense of identity with the group.

OBJECTIVE

The basic objective behind this analysis is to find out the extent up till which universities fulfil the ideologies of activities. Also to see the real conditions of the activities done in an annual year and to find out the gap between conduction of these activities and its real motive.

RESEARCH METHODOLOGY

Four central universities are taken as sample for data collection, as central universities are considered as representative of its state. The universities taken as sample are among the oldest universities and have a good strength of students and faculty. Moreover, each was set up with a vision of maintaining high values and principles .The activities conducted in these universities in an academic year are taken and analysed. Also opinionaire of faculty members, students and some of the participants is taken and the case is analysed. The root technique applied are, survey, opinionnaire and analysis of interview.

DATA COLLECTED AND DESCRIBED (FROM APRIL 2015 TO MAR 2016)

The data of all the activities conducted in a financial year by sample universities where taken and analysed through percentage and graphical method, arranged month wise.

• ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY

The data showed that the year begins with negligible activities. There is a sudden increase in the activities at the end of financial year. The university is seen least active in conduction of any activity in remaining part of the year. The total data shows an uneven distribution of curricular activities. Graphical analysis shows great fluctuation every month.

MONTH	ACTIVITY
APRIL 2015	1.81%
MAY	10.90%
JUNE	7.27%
JULY	1.81%
AUG	4%
SEPT	5.45%
OCT	5.45%
NOV	9.09%
DEC	5.22%
JAN 2016	11.11%
FEB	14.54%
MAR	20%

 ISSN 0975-735X

GRAPHICAL ANALYSIS OF DATA

The data collected and analysed showed that there is a slow pace of activities from April 2015 to Dec 2015 but a rapid increase is seen from January 2016 to March 2016.

- **ALLAHABAD UNIVERSITY**

The data collected is quite surprising as no activity is seen in between for more than four months. There is a bit of activity conducted in the month of October and feburary.Rest part of the year shows a negligible number.

MONTH	ACTIVITY
APRIL2015	6.66%
MAY	0%
JUNE	0%
JULY	13.33%
AUG	0%
SEP	6%
OCT	20%
NOV	13.33%
DEC	13.33%
JAN 2016	0%
FEB	20%

MAR 6.66%

GRAPHICAL ANALYSIS OF DATA

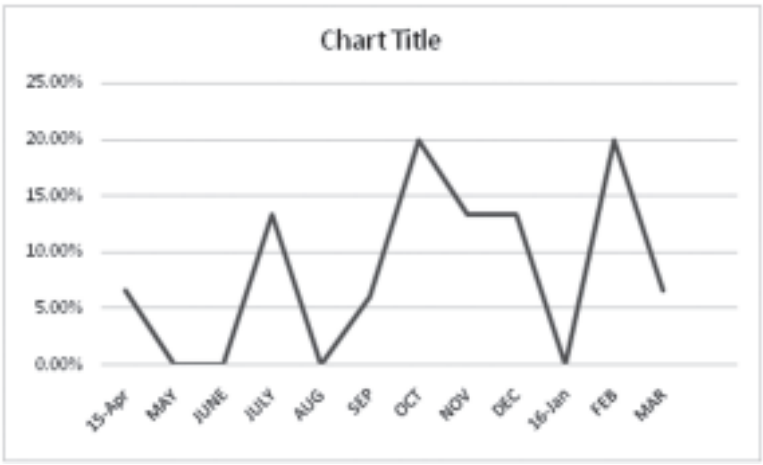

The data collected showed that there is no regularity in conduction of cocurricular activities.In the month of may,june,august and january no activities took placein university whereas in the month of october and feburary maximum activities are done.

• DR H S GAUR SAGAR UNIVERSITY

The data collected shows a total negligence of activities conducted in entire year except in last two months of the financial year.

MONTH	ACTIVITY
APRIL2015	0%
MAY	3.33%
JUNE	0%
JULY	0%
AUG	0%
SEPT	3.33%
OCT	3.33%
NOV	6.66%
DEC	3.33%
JAN2016	10%
FEB	16.66%
MAR	56.66%

 ISSN 0975-735X

GRAPHICAL ANALYSIS OF DATA

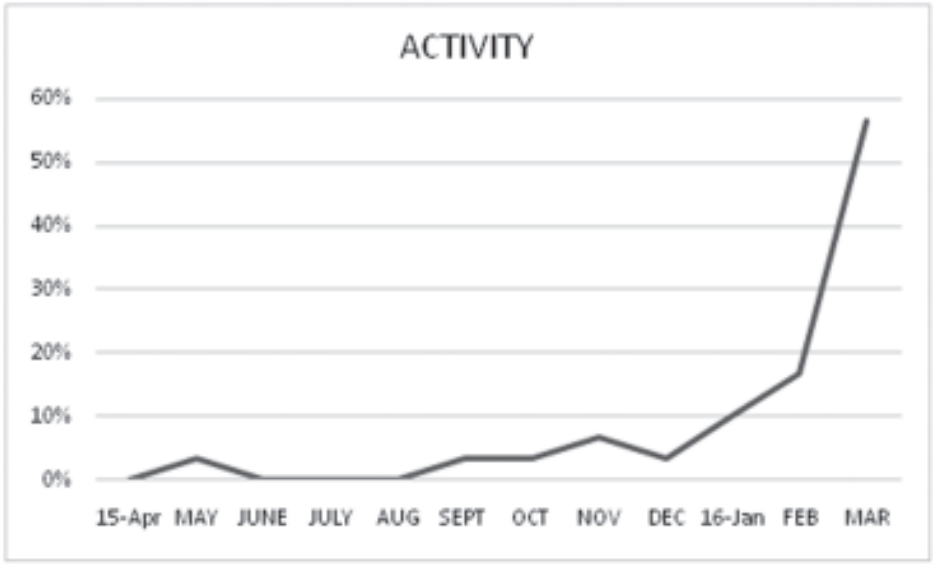

The data collected showed total non-uniformity in conduction of curricular activities. No activity is conducted in the month of April, June, July and August. There is a sudden increase in activities in the month of March.

• **BANARAS HINDU UNIVERSITY**

The data collected shows that the year started with good number of activities being conducted but gradually, there is a great decrease leading to total silence in the month of November. Again a rise can be seen at the end of the financial year. The total data shows an uneven distribution of co-curricular activities. The graph plotted shows a sudden rise and then complete downfall of activities.

MONTH	ACTIVITY
15-Apr	13.33%
MAY	20%
JUNE	27.33%
JULY	1.33%
AUG	3.66%
SEPT	3.33%
OCT	1.33%
NOV	0%
DEC	4.56%

16-Jan	5.46%
FEB	11%
MAR	8.67%

GRAPHICAL ANALYSIS OF DATA

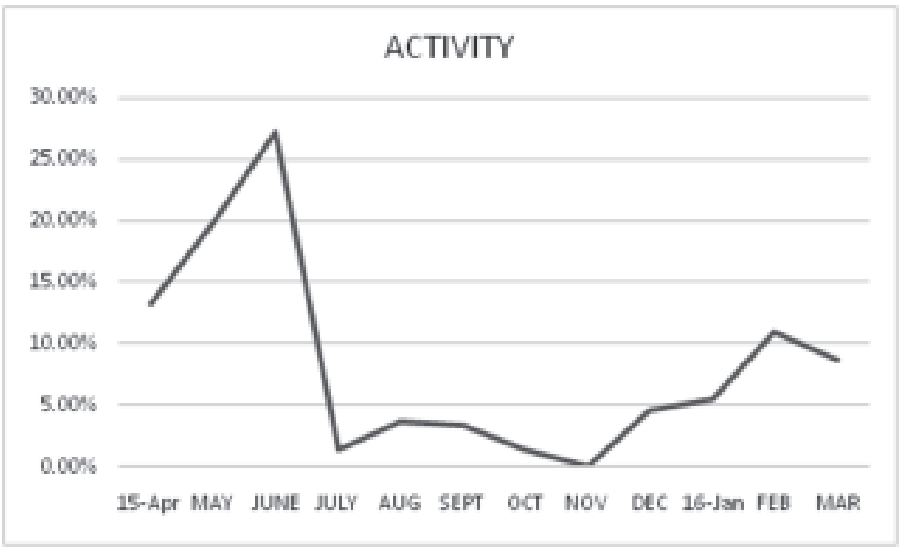

The data shows that maximum activities have taken place in the early months i.e. April to June. No activity is conducted in November. At the end of the financial year i.e. from January 2016 to march again there is increase in the activities.

DATA ANALYSIS

The data collected showed that most of the activities are conducted either at the beginning of the financial year or at the end of it.Some of the months totally remained blank. The possible reasons for this uneven distribution is that at the end of the year universities are supposed to return back the money allotted by UGC also they are required to present the yearly budget, so in a haste the money is consumed for namesake. Apart from it NAAC visit might be another reason for sudden rise in activities in the middle of the year. This clearly points out that, institutions are least worried about development of the students, they are just bothered about completing their quorum of activities

DATA COLLECTED AND ANALYSED THROUGH OPINNIONAIRE AND INTERVIEW

The present criteria for appointment and later on promotion in academic

field requires Academic Performance Indicator (API) score. The more is the score, the better is the chance of promotion. Also, for completion of research work it is compulsory to have certificates of seminars and publication. So, almost all academicians and research scholars are of the opinion that they participate in such activities for enhancing their API score and number of certificates. Talking to the students and research scholars the conclusion drawn was that the cost of registration for such activities is often very high, which adheres them from participating. Moreover, they rarely get a chance to speak as the time limit allotted to them is sufficient only for introduction. Most of them said that the organizers tell them to register and just give the title of the paper for mentioning in the certificate. Few participants were found very agitated as even after submitting full paper and coming from far on their own expense, they did not get a chance to express themselves. The students were of the opinion that most of the time goes on inauguration and validitory,which are very boring part as nothing fruitful comes out of it.The organizers remain busy in buttering important guests and rest participants remain neglected. The organizers of such events admitted that they conduct such activities to increase NAAC accreditation and to produce proper budget before UGC at the end of financial year.

CONCLUSION

The vision and mission of higher education is to create good academicians, which can prove a helping hand in development of national and international understanding. The academic activities and co-curricular events tend to add-on another feather in the crown of regular schedule. But, today's education system seems to be just a factory for manufacturing real human machines, without ethics and emotions. The real motive is totally lost amidst unwanted rush for jobs, NAAC accreditation and course completion. Problems need solution, but seminars and conferences provides everything except an implacable conclusion. So, with each passing year we find same problems being discussed, with few common words like values, ethics, quality, innovations etc. in education system. Unfortunately, every discussion lacks these particular words. A seminar, conference or symposia on values in higher education, itself has no values. As after long lectures and futile talks certificates will be distributed to one and all registered members. The talented participants will not get a chance, due to lack of personal relations with organizers, and someone without values will get an extra hour to preach.

The entire scenario leaves us in dilemma, that what is the true meaning of ethics in higher education? What actually is the reason behind conducting academic events? Do workshops really work? Are these events enhancing potentials or degrading morals?

BIBLIOGRAPHY

- http://www.ugc.ac.in/page/NAAC.aspx
- http://www.bhu.ac.in/aboutus/obj.php
- http://www.allduniv.ac.in/index.php?option=com_k2&view= item& layout=i

tem&id=671
- http://www.dhsgsu.ac.in/infopages.php?menu=seminars
- http://www.amu.ac.in/academics.jsp
- http://www.amu.ac.in/pdf/calender2014.pdf
- https://en.wikipedia.org/wiki/National_Assessment_and_Accreditation_ Council
- "GUIDELINES FOR ORGANISING CONFERENCES, WORKSHOPS,SEMINARS IN COLLEGES DURING TWELFTH PLAN" (2012-2017), UNIVERSITY GRANTS COMMISSION ,BAHADUR SHAH ZAFAR MARG,NEW DELHI – 110 002
- "GUIDELINES FOR ORGANISING CONFERENCES WORKSHOPS SEMINARS IN COLLEGES DURING ELEVENTH PLAN",(2007-2012), UNIVERSITY GRANTS COMMISSION ,BAHADUR SHAH ZAFAR MARG,NEW DELHI – 110 002
- "THE QUALITY OF HIGHER EDUCATION IN DEVELOPING COUNTRIES NEEDS PROFESSIONAL SUPPORT",BUNOTI SARAH(2009),KUAMBOGO UNIVERSITY,KAMPALA,UGANDA "HIGHER EDUCATION IN INDIA ISSUES, CONCERNS AND NEW DIRECTIONS",(2003),RECOMMENDATIONS OF UGC GOLDEN JUBILEE SEMINARS HELD AT ELEVEN UNIVERSITIES IN INDIA SECRETARY,UNIVERSITY GRANTS COMMISSION,BAHADUR SAHA ZAFAR MARG,NEW DELHI-110002.
- "NEW PERSPECTIVES ON CUSTOMERS FOCUS"(2007)QUALITY APPROACHES IN HIGHER EDUCATION,VOL3(1)
- FOUNDATION IN EDUCATION, BHATTACHARYA SRINIVAS, 2ND EDITION, ATLANTIC PUBLISHER, VISHAL ENCLAVE, RAJOURI GARDEN, NEW DELHI

pallavipriyadarshini1857@gmail.com
Ph. 7717778539

 ISSN 0975-735X

'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क पे नाज था'
घर-घर पढ़ा जानेवाला उपन्यास

ऐसा अद्‌भुत उपन्यास बहुत कम पढ़ने को मिलता है। समसामयिक, दुर्लभ, नाजुक, गंभीर विषय का कुशलता से निर्वाह किया गया है। गजब की किस्सागोई। जो विषय उपन्यास में उठाया गया है, वह विषय अपने आप में बहुत सी भ्रांतियाँ, पूर्वग्रह, संशय, विरोधाभास और प्रश्न समेटे हुए है। जिन्हें लेकर बुद्धिजीवी अक्सर द्वंद्व में और अंधविश्वासी भ्रम में रहते हैं। जिसकी थाह सही अर्थों में कोई नहीं पा सका, मगर अपने-अपने तरीकों से उसे परिभाषित जरूर कर दिया गया है। उपन्यास धर्म की भ्रांतियों, पूर्वग्रहों, संशय और विरोधाभासों को स्पष्ट करता हुआ कई प्रश्नों के उत्तर देता है। पाँच हजार साल के इतिहास को नई दृष्टि से देखा और परखा गया है।

डैन ब्राउन ने 'डा विन्ची कोड' में बाइबल की थियोरी और सलमान रश्दी ने 'स्टैनिक वर्सेज' में कुरआन में तथ्यों के आभाव पर रौशनी डाली है। पर पंकज सुबीर ने अपने उपन्यास 'जुर्म-ए-इश्क पे नाज था' में सभी धर्मों के मूल तत्त्व, जिस पर हर धर्म टिका हुआ होता है, की पड़ताल की है। मूल तत्त्व, जिसे हर धर्म में भुला दिया गया है; जिससे हर धर्म का स्वरूप ही भिन्न हो गया है। कागजों पर लिखे शब्दों के अर्थों को ही बदल दिया गया है। अफसोस की बात है कि भारतीय दर्शन, मीमांसा, जीवन-पद्धति तक उसे भुला चुके हैं। पाँच हजार साल पहले के इतिहास, विभिन्न धर्मों पर किया गया शोध, हिंदूधर्म की, इस्लाम की, यहूदियों की, क्रिश्चियन की, बौद्धों की, पारसियों की और जैनधर्म की तथ्यों से भरपूर ढेरों जानकारियाँ हैं। इतिहास को खंगालता, शोधपरक और बौद्धिक श्रम लिए उपन्यास का एक-एक पृष्ठ भीतर के ज्ञानचक्षु खोल देता हैं और उपन्यास हाथ से छूटता नहीं।

लेखक ने निर्लिप्त होकर, निष्पक्ष लिखा है। उपन्यास पढ़ते हुए महसूस होता है जैसे किसी मलंग ने या सूफी लेखक ने लिखा है, जिसके लिए सब धर्म एक बराबर हैं। न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर...बस सभी धर्मों का मूल मंत्र, प्रेम, विश्वास और इंसानियत की पैरवी की है। ये हैं तो हिंसा पैदा ही नहीं होती। दु:ख की बात तो यही है कि आज धर्मों में यही मूल मंत्र गायब है और हिंसा बलवती हो गई है। अहिंसा तो भारतीय मूल्यों में भी मिटती जा रही है, जो पूरे विश्व में हमारी पहचान है। उपन्यास में लेखक ने दुनिया के सभी प्रमुख धर्मों पर बात की है, उनके सिद्धांतों पर चर्चा की है। हर धर्म के मूल तक पहुँचकर लेखक ने अपने पाठक के लिए जैसे किसी नई दुनिया के दरवाजे खोलने का काम किया है। जैसे-जैसे पाठक इस उपन्यास को पढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके सामने नई-नई जानकारियों के दरीचे खुलते जाते हैं। लेखक समभाव से समदृष्टि रखते हुए हर धर्म के बारे में पड़ताल करता हुआ गुजर जाता है।

हालाँकि यह मेरा प्रिय विषय है और मैंने स्वयं भी इस विषय पर बहुत शोध किया हुआ है। पर इस उपन्यास ने मेरी तलाश और भटकन दूर कर दी।

उपन्यास के आरंभ में ही लेखक ने एक लंबी चर्चा के माध्यम बहुत सारी बातों की व्याख्या की है। इस व्याख्या में उदाहरण लिए हैं, संदर्भ लिए हैं और उनके द्वारा धर्म का फिर से परिभाषित करने का कार्य किया है। यदि आप यह कहेंगे कि यह उपन्यास धर्म को खारिज करता है, तो आप गलत होंगे, यह उपन्यास असल में धर्म में आए हुए विचलन को, भटकाव को खारिज करता है। यह पहुँचने की कोशिश करता है उन बिन्दुओं तक, जो दुनिया के हर धर्म में मानव के भले के लिए तय किए गए थे।

यह उपन्यास केवल एक उपन्यास नहीं है, यह असल में एक समीक्षा है कि हमारी यह मानव-जाति पाँच हजार साल पहले अपने लिए क्या तय कर के निकली थी और आज पाँच हजार साल बाद कहाँ है? यह उपन्यास परत-दर-परत पाँच हजार सालों की कहानी को स्पष्ट करता हुआ चलता है। और उस कहानी के साथ फिर-फिर लौटता है आज की कहानी पर। भारत-पाक विभाजन पर बहुत सी रचनाएँ सामने आई हैं, लेकिन यह अपनी तरह का एक अनोखा प्रयास है, जिसमें विभाजन के मूल कारणों तक जाने की कोशिश की गई है। इतिहास के पात्रों के साथ सवाल-जवाब करते हुए उस विभाजन के सूत्र तलाशने की कोशिश लेखक ने की है। यही कोशिश इस उपन्यास को अपने समय से आगे का उपन्यास और अत्यंत विशिष्ट उपन्यास बना देती है। जो नई सूचनाएँ भारत और पाकिस्तान के विभाजन को लेकर सामने आती हैं, उन्हें पढ़कर पाठक दंग रह जाता है। यह उपन्यास उस धीमी प्रक्रिया का विस्तार से विश्लेषण करता है, जो अलगाववाद के रूप में पैदा हो रही होती है। और जिसकी परिणति अंततः भारत-पाक विभाजन के रूप में सामने आती है। इस पूरी प्रक्रिया की बात करते समय लेखक किसी को क्षमा नहीं करता है। वह इतिहास के हर उस पात्र को कठघरे में खड़ा करता है, जो भारत-पाक विभाजन से जुड़ा हुआ है।

'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क पे नाज था' एक रात का उपन्यास है। कस्बे और उसके पास की बस्ती में किन्हीं कारणों से दो संप्रदायों के मध्य दंगे शुरू हो जाते हैं। दंगे के कारणों को उपन्यास पढ़कर ही जाना जा सकता है। दंगों से पैदा हुई दहशत, असुरक्षा और खौफ की रात का इतना स्वाभाविक और बखूबी से चित्रण किया गया है कि भय का कहर बरपाने वाली रात बेहद वास्तविक लगती है और पाठक स्वयं को दंगे में फंसा हुआ महसूस करता है।

उपन्यास के मुख्य पात्र रामेश्वर का चरित्र शुरू से लेकर अंत तक बहुत परिपक्व और सुलझा हुआ रहता है। लेखक ने इस पात्र का निर्वाह बेहद कुशलता से किया है, बौद्धिकता से लबालब और संवेदना से भरपूर। धर्म और संप्रदाय, राजनीति में धर्म का प्रवेश, देश का बँटवारा, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा, आर एस एस, सांप्रदायिक दंगे और उनके पीछे की तथ्यपरक कहानियाँ दंगे के दौरान वह बताता है। रामेश्वर जो कहता है, इस कहन को जिस शैली में बाँधा गया है, वह अक्सर उन विदेशी उपन्यासों में देखने को मिलती है, जिनमें इतिहास के तथ्यों की पुष्टि की जाती है।

जिला कलेक्टर वरुणकुमार और एडिशनल एस॰पी॰ भारत यादव दो ऐसे पात्र हैं, जो सरकारी तंत्र और प्रशासन के प्रति विश्वास और आदर पैदा करते है। दंगे में वे सिर्फ इंसानियत धर्म को निभाते हैं और दंगाइयों को पछाड़कर पीड़ितों को बचाते हैं। युवा पात्र विकास, खुर्शीद को सही मार्गदर्शन मिलने पर उनका बेहतरीन सामने आता है।

युवापीढ़ी उचित मार्गदर्शन के आभाव में कन्फ्यूज्ड है। धार्मिक ग्रंथों की शिक्षाएँ, व्याख्या और अर्थ ही धार्मिक नेताओं ने सुविधानुसार बदल दिए हैं; जिससे युवापीढ़ी भटक गई है, सही

 ISSN 0975-735X

अर्थों में धर्म को, उसकी परिभाषा को समझती ही नहीं। सोशल मिडिया मनघड़ंत ज्ञान बाँट रहा है। ऐसे में 'जुर्म-ए-इश्क पे नाज था' ताजी हवा के झोंके-सा महसूस होता है, जो दिल दिमाग के सारे जाले साफ कर देता है।

मुख्य पात्र रामेश्वर द्वारा विकास को कही गई कुछ बातें मन-मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ती हैं–'सुनो बच्चे...नफरत करना बहुत आसान है, लेकिन प्रेम करना बहुत मुश्किल है। इसलिए ये दुनिया आसान काम को ही चुनती है। मगर जीने के लिए का असली आनंद मुश्किल काम करने में ही है। मार देना बहुत आसान है, मगर बचा लेना बहुत कठिन है। इसलिए ज्यादा लोग पहले वाले आसान काम को ही चुनते हैं। एक बात याद रखना भीड़ जिस भी दिशा में जा रही होती है वह दिशा और वह रास्ता हमेशा गलत होता है। भीड़ कभी सही दिशा में नहीं जाती है इसलिए क्योंकि भीड़ स्वयं नहीं चलती उसे चलाया जाता है।'

'पाकिस्तान बन जाने के बाद भी जो मुसलमान यह देश छोड़कर वहाँ नहीं गए, वो सब हमारे भरोसे पर यहाँ रुक गए थे। इस भरोसे पर कि कुछ भी हुआ तो हम उनको बचाएँगे। जिस तरह यह सलीम यहाँ रुका हुआ है न हमारे भरोसे पर, ठीक उसी तरह। अब ये हम सब की जिम्मेदारी है कि हम इस भरोसे को बचाकर रखें। हमारे अपने ही कुछ लोग हमें इस भरोसे को तोड़ देने के लिए उकसाते हैं, लेकिन तोड़नेवालों को कभी याद नहीं रखा जाता, जोड़नेवालों को याद रखा जाता है।' एक जगह रामेश्वर भारत को बताता है, 'मुसलमानों ने अपनी कट्टरता नहीं छोड़ी और धीरे-धीरे यह हुआ कि हिन्दू, जो दुनिया के दूसरे धर्मों के मुकाबले में कम कट्टर धर्म था, वह भी कट्टर होता चला गया। हिन्दुओं ने धार्मिक कट्टरता का पाठ मुसलमानों से ही सीखा है। आज तो स्थिति यह है कि आज का हिंदू तो मुसलमानों की तुलना में और अधिक कट्टर हो गया है। और अब यह कट्टरता ही मुसलमानों को परेशान कर रही है।'

'भारत में इस्लाम कैसा होना चाहिए! यह बात केवल सूफी संतों ने समझी, लेकिन उन सूफी संतों का संदेश ही मुसलमान नहीं समझ पाए। मुसलमानों ने अपना आदर्श सूफी संतों को न बनाकर आक्रमणकारी योद्धाओं को बनाया।' उपन्यास पढ़ते हुए ऐसी बहुत सी बातें हैं जो जिज्ञासा बढ़ाती हैं। उत्सुकता जागती है, कभी मन विचलित होता है, कभी शांत तो कभी उद्वेलित। रामेश्वर के साथ एक और पात्र है, शाहनवाज। रामेश्वर उन्हें अपने बेटा मानते हैं और उसी के इर्द -गिर्द सारा उपन्यास घूमता है। बहुत कुछ आपको बता दिया, अब आप उपन्यास पढ़कर पूरी कहानी जाने। इतना कहूँगी कि उपन्यास बेहद पठनीय है और यह उपन्यास घर-घर पढ़ा जाना चाहिए। लेखक ने शिल्प में कई नए प्रयोग किए हैं, जो उपन्यास को रोचक बनाते हैं।

मुझे अंत बहुत प्रभावशाली लगा। बेहद सकारात्मक। दंगे के बाद जिस भारत का जन्म होता है, उसे हिंदू और मुसलमान दोनों थामते हैं। 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क पर नाज था' पंकज सुबीर का उपन्यास भी एक भिन्न संदेश देता है और एक ऐसा पैगाम लेकर आया है, जिसे पढ़कर ही समझा जा सकता है।

पुस्तक : **जिन्हें जुर्म-ए-इश्क पे नाज था** (उपन्यास); लेखक : पंकज सुबीर; प्रकाशन : शिवना प्रकाशन, पी॰सी॰ लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, सीहोर, मप्र, 466001, दूरभाष : 07562405545; प्रकाशन वर्ष 2019; मूल्य : 200 रुपये; पृष्ठ 288; समीक्षक : सुधा ओम ढींगरा। संपर्क: 101, Guymon Ct., Morrisville, NC-27560, USA

'खुशबू-सा बिखर जाऊँगा' की गजलें

राजेंद्र वर्मा

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल हिंदी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षरों में से एक हैं। उन्होंने गीत-गजल, कहानी, एकांकी, निबंध, हास्य-व्यंग्य, बालसाहित्य और समालोचना विधाओं में प्रचुर लेखन किया है। समीक्ष्य पुस्तक उनका सातवाँ गजल-संग्रह है जिसमें उनकी 74 विविधवर्णी गजलें संगृहीत हैं। गजल बहुत नाजुक विधा है। इसके बारे में वे संग्रह की भूमिका में कहते हैं, 'गजल का सामाजीकरण या राजनीतिकरण करना तो बहुत आसान है, लेकिन (तब भी) उसे गजल बनाये रखना बहुत मुश्किल काम है।...छंदबद्ध गद्यात्मक पंक्तियों को गजल नहीं कहते; उसकी भाषा ही व्यवहार की भाषा से अलग होती है।...गजल विस्तार नहीं, संक्षेप; विवरण नहीं, संकेत; शब्दों की फिजूलखर्ची नहीं, किफायत; शोर नहीं, बल्कि धीमापन तथा आवाज नहीं, इशारा माँगती है।'

संग्रह की गजलों से गुजरने के बाद यह महसूस होता है कि गजलकार के यहाँ अनूठी कहन है, तो प्रेम-शृंगार और सामयिक विसंगतियों-विडम्बनाओं पर उसकी पैनी नजर भी है; उसके पास आत्मिक पूँजी है, जो वह पाठकों पर न्योछावर कर देना चाहता है। उसकी दृष्टि में सत्ता का कल्याणकारी रूप है जिसका वह आह्वान भी करता है। वह मस्ती में जीते हुए दुनिया को उन बातों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता है, जो आदमी को आदमी बनाए रखने और विश्वबंधुत्व के की भावना को जगाता है। अभावग्रस्तता दूरकर वह जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए जोखिम उठाने के पक्ष में है, तो यह बताना चाहता है कि श्रम-परिश्रम का कोई विकल्प नहीं। प्रेम की शक्ति, आस-उल्लास, आत्मावलोकन, व्यक्ति के भीतर छिपी असीमित संभावना, अन्याय का प्रतिकार, संघर्ष की प्रेरणा, सावधानीपूर्वक जोखिम उठाना, विपरीत परिस्थितियों में धैर्य धारण करने जैसी अनेक बातों को वह अपनी गजलों में समेटता है। उपर्युक्त बातों को संदर्भित कुछ अशआर देखिए–

अचरज नहीं जो पास की पूँजी चली गई,
भीतर जो मन के है, वो खजाना कुछ और है।
पाप के कदमों में लगता था कि दुनिया झुक गई,
सबने देखा अंत में ईमान बाजी ले गया।

जो है तंग आँगन तो दुख कुछ नहीं,
मुसीबत तो बस दिल की तंगी में है।
घरों में है रहने का आनंद कुछ,
मजा और ही कुछ मलंगी में है।
मुहब्बत से उसका रवैया सुधार,
परख आदमी को, शिकायत न कर।

 ISSN 0975-735X

कब तक चुनेंगे बैठ के साहिल पे सीपियाँ,
सागर की तह से लाइए गौहर नए-नए।
दुख-भरी रात में यों बैठ के रोते क्यों हो,
खुद-ब-खुद सुख के सवेरे नहीं मिलने वाले।
गगन के पार हैं आकाश कितने,
यही अंबर नहीं, अंबर बहुत हैं।
जोखिम तो झेलनी ही पड़ेगी जहाज को,
जिसमें भँवर न हो, वो समुंदर किसे मिला!

डॉ॰ अग्रवाल की दृष्टि सकारात्मक है और वे आत्मावलोकन के पक्षधर हैं, क्योंकि जब तक हम स्वयं को अच्छा नहीं बनाएँगे, यह दुनिया केसे अच्छी बन सकती है। वे कहते हैं :

अपने अन्दर न झाँक पाए कभी,
यों तो हर रोज ही दर्पन देखा।
छोटी-छोटी बात पर लड़ते-झगड़ते हैं मगर,
कुल मिलकर महरबाँ हैं, दोस्त हैं, अच्छे हैं लोग।
दुख की संगत में थीं सुख की घड़ियाँ,
रोग आया तो दवा भी आई।
वक्त बुरा है होने दे,
आखिर वक्त बदलता है।

वे 'चरैवेति-चरैवेति' के सिद्धांत का पालन करनेवाले हैं और उन्हें स्वयं पर भरोसा है और जो लोग दूसरों के भरोसे हैं, उनके बारे में वे टिप्पणी करते हैं–

चलते रहो मंजिल की दिशाओं के भरोसे,
जलते हुए दीपों की शिखाओं के भरोसे।
पतवार को हाथों में सँभाले रहो माँझी,
छोड़ो नहीं किश्ती को हवाओं के भरोसे।
खुद अपना भरोसा अभी करना नहीं सीखा,
जीते हैं अभी लोग खुदाओं के भरोसे।

प्रेम गजल के मूल में है; वस्तुत: वह उसका वर्ण्य विषय है। प्रेम के अनेक रूपों को लेकर डॉ॰ अग्रवाल के कई अशआर संग्रह में दिख जाते हैं। इनमें प्यार की ताकत की झलक है, तो उसकी महक भी है और वियोग की कसक भी है–

आप पहले पहल मिले थे जब
मन वह लम्हा भुला न पाएगा।
तुम चिरागों की थिरकती लौ पे ही निर्भर हो क्यों?
प्यार की ज्वाला से भी होती है पैदा रौशनी।
सूखता ही जा रहा है प्यार का सागर मेरा
वरना दरिया बह रहे हैं कितने जलधारे लिए।
हुई थी मुहब्बत की जब आग रौशन
वो कल अब मुझे याद आना है मुश्किल।

सत्ताधारी को आईना दिखाते हुए गजलकार अपने कविधर्म का निर्वाह करते हुए वह सभी के कल्याण की बात करता है। उसे विश्वास है कि अपना देश एक दिन हर क्षेत्र में उन्नत होगा–

समंदर-समंदर बरसने से क्या
मरुस्थल में आ औ' घटा लेके आ।
फिजा में घुली गंध बारूद की
सुगंधित जो हो, वो हवा लेके आ।
माली से कहो बाग में निश्चिंत न बैठे
कमजोर दरख्तों को हवा ढूँढ रही है।
इक समय वो आएगा, जीवन का कोई क्षेत्र हो
सब कहेंगे, फिर से हिंदुस्तान बाजी ले गया।

डॉ॰ अग्रवाल ने अपने गजल संग्रह में नये रदीफ लाने का प्रयास किया है, जैसे–कुछ भी नहीं, नए-नए, कुछ और है, नहीं मिलनेवाले, तो आ गई (क्रमशः पृष्ठ सं. 27, 31, 44, 68, और 85)। उनकी गजलों की भाषा हिंदुस्तानी है जैसा कि उपर्युक्त अशआर से स्पष्ट है। यह आम पाठक को अपनी-सी लगती है और वह गजल की विषयवस्तु में डूब जाता है। अपवादस्वरूप एकाध स्थलों पर तुकांत में समझौता किया गया है, जैसे पृष्ठ 86 वाली गजल में बरसात/पात के साथ हाथ। संग्रह की अंतिम गजल के आखिरी शे'र का मिसरा-सानी इस प्रकार है–रस्ते के बीच आके सदा कर रहा हूँ। यों, मिसरे में अलिफ का काफिया 'सदा' अपनी भूमिका निभा रहा है, लेकिन सदा (आवाज) दी जाती है, न कि वह की जाती है। यों, चौहत्तर गजलों में एकाध गलती कोई माने नहीं रखती।

एकाध रदीफों में व्यंजन टकरा गए हैं, जिससे शेर गुनगुनाने में बेमजा हो जाता है, जैसे उपर्युक्त गजल जिसका रदीफ 'कर रहा हूँ' और पृष्ठ 76 वाली गजल का रदीफ 'क्यों बन नहीं पाया'। इसके अलावा पृष्ठ 80 पर व्यवस्थित गजल के एक शे'र में 'हवा हो जाना' मुहावरे का गलत प्रयोग है : 'फिर बसंती ऋतु की आशाएँ हवा हो जाएँगी, कोपलें फूटेंगी फिर उपवन हरा हो जाएगा।' भाषा-संबंधी शिथिलता भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। पृष्ठ 47 वाली गजल का मतला है : 'नहीं है प्रेम जो मन में तो मन की शोभा क्या, तुम्हारा फूल ही कागज का है महकता क्या?' सानी में प्रयुक्त है को यदि था कर दिया जाता, तो काल संबंधी दोष दूर हो जाता। पृष्ठ 40 वाली गजल का एक शेर है : 'तोड़ देते हैं हालात इंसान को, कोई होता नहीं बेवफा दोस्तो!' इस शेर को पढ़ते ही बशीर बद्र साहब का मशहूर शेर कानों में गूँज उठता है– 'कुछ तो मजबूरियाँ रही होंगी, यों कोई बेवफा नहीं होता।'

बहरहाल, इन छोटी-मोटी बातों को किनारे करते हुए यह आशा की जाती है कि समीक्ष्य गजल-संग्रह के प्रकाशन से न केवल गजल विधा समृद्ध होगी, बल्कि छंदोबद्ध काव्य के पाठकों को तमाम अच्छी गजलें पढ़ने को मिलेंगी। डॉ॰ अग्रवाल तो संग्रह के प्रकाशन पर बधाई के पात्र हैं ही।

पुस्तक : **खुशबू-सा बिखर जाऊँगा** (गजलें); कवि : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल; प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰); संस्करण प्रथम, 2017; पृष्ठ 96; मूल्य (सजिल्द) 200 रुपये। समीक्षक : राजेंद्र वर्मा, 3/29, विकास नगर, लखनऊ 226 022, मो॰ 80096 60096

 ISSN 0975-735X

हिंदी साहित्य निकेतन

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

- **निश्तर ख़ानक़ाही एवं डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**

ग़ज़ल और उसका व्याकरण	250.00

- **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ॰ मीना अग्रवाल**

बृहत् हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश	1500.00
हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ	995.00
हिंदी शोध : नई दृष्टि	800.00
हिंदी शोध के नए प्रतिमान	800.00
शोधसंदर्भ-भाग-1	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5	895.00
शोधसंदर्भ-भाग-6	1500.00
हिंदी तुकांत कोश	300.00

रचनावली

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)

राजेन्द्र मिश्र रचनावली-1 (कविता खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-2 (कविता खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-3 (कविता खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-4 (कविता खंड चार)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-5 (निबंध खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-6 (उपन्यास खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-7 (उपन्यास खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-8 (उपन्यास खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-9 (उपन्यास-नाटक खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-10 (कहानी खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-11 (निबंध-डायरी खंड)	1000.00

डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया (संपादक)

डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (एक)	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दो)	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (तीन)	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (चार)	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (पाँच)	700.00

डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (छह)	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (सात)	700.00
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका एवं डॉ॰ मीना अग्रवाल (संपादक)	
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (एक)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दो)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (तीन)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (चार)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (पाँच)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (छह)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (सात)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (आठ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (नौ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दस)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (ग्यारह)	500.00
प्रहलाद तिवारी समग्र	
मेरी समग्र कविताएँ • **प्रहलाद तिवारी**	800.00
मेरी समग्र कहानियाँ • **प्रहलाद तिवारी**	800.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड एक • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड दो • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड तीन • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड चार • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड पाँच • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड छह • **प्रहलाद तिवारी**	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड सात • **प्रहलाद तिवारी**	850.00

समीक्षा एवं समालोचना

सवाल साहित्य के • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल**	500.00
सिनेमा और साहित्य का अंत:संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल**	200.00
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • **नवलकिशोर शर्मा**	150.00
फिल्म संगीत, संस्कृति और समाज • **नवलकिशोर शर्मा**	350.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेंद्र उपाध्याय**	300.00
डॉ॰ कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • **डॉ॰ अंजु भटनागर**	500.00
अमरकांत का कथासाहित्य • **डॉ॰ योगेश गोकुल पाटिल**	400.00
नारी-समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • **डॉ॰ अनुभूति**	450.00
राजस्थानी चित्रशैली में आखेट दृश्य • **डॉ॰ सुषमा सिंह**	250.00
भोपाल के संग्रहालयों की चित्रकला • **डॉ॰ सुषमा सिंह**	250.00

 ISSN 0975-735X

मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • **डॉ॰ ज्योति सिंह** 150.00
मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न • **डॉ॰ ज्योति सिंह** 300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा • **डॉ॰ मिथिलेश माहेश्वरी** 300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • **डॉ॰ मनोजकुमार** 250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • **डॉ॰ दीपा के॰** 250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)• **डॉ॰ मीना अग्रवाल** 450.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह** 350.00
साठोत्तरी हिंदी-ग़ज़ल : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान
• **डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा** 350.00
हिंदी ग़ज़ल और डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल • **डॉ॰ पूनम अग्रवाल** 595.00
ग़ज़ल संस्कृति और भीतर शोर बहुत है • **भागीनाथ वाकले** 400.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में आशावाद के स्वर • **डॉ॰ दीपक पाटिल** 600.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य-साहित्य : कथ्य एवं भाषा •
डॉ॰ वी॰ जयलक्ष्मी 450.00
हिंदी कथासाहित्य में नारी-विमर्श • **प्रा॰ अमृता भरत पाटिल** 540.00
एक साक्षात्कार : पं॰ अमृतलाल नागर के साथ • **डॉ॰ शंकर क्षेम** 150.00
ग़ज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • **अनिरुद्ध सिन्हा** 150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • **डॉ॰ ज्योति व्यास** 150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • **डॉ॰ लालबहादुर रावल** 300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • **डॉ॰ अशोककुमार** 350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य** 500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित** 300.00
साहित्य और संस्कृति • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित** 300.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • **विनोदचंद्र पांडेय** 300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम का योगदान • **डॉ॰ स्वाति शर्मा** 450.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • **डॉ॰ पी॰आर॰ वासुदेवन** 300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • **अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात** 495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • **रवींद्र प्रभात** 300.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु** 250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु** 500.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • **डॉ॰ मीनल रश्मि** 250.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • **डॉ॰ शीला गहलौत** 500.00
संत रविदास • **डॉ॰ सुदेश कुमारी** 300.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ •
डॉ॰ राजकुमार जमदग्नि 500.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • **डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल** 200.00

फिजी में प्रवासी भारतीय • **डॉ॰ शुचि गुप्ता** 300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • **डॉ॰ शिवशंकर लधवे** 200.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • डॉ॰ अशोक उपाध्याय 200.00
यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना • **डॉ॰ अनीता रानी** 400.00
सृजन और साहित्य • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 400.00
हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 500.00
उत्तर आधुनिक निबंध • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 450.00
इक्कीसवीं शताब्दी की कविता • **राजेंद्र मिश्र** 550.00
राजेन्द्र मिश्र : सृजन-यात्रा • **सं॰ डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 650.00
समालोचना के फलक • डॉ॰ बागेश्री चक्रधर 300.00
शिक्षा की समस्याएँ और हिंदी कथासाहित्य • **डॉ॰ शशिप्रभा** 450.00
ललित निबंध : परंपरा और चिंतन • **डॉ॰ शिवाजी एन॰ देवरे** 300.00
ललित निबंधकार डॉ॰ श्यामसुंदर दुबे • **डॉ॰ शिवाजी एन॰ देवरे** 300.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़ल दृष्टि • **डॉ॰ शिवाजी एन॰ देवरे** 300.00
हिंदी कहानी के नए प्रतिमान • **डॉ॰ अभयकुमार खैरनार** 500.00
हिंदी नाटक के नए प्रतिमान • **डॉ॰ मनोजकुमार** 400.00
हिंदी उपन्यास के नए प्रतिमान • **डॉ॰ जसपालसिंह वळवी** 550.00
दलित-विमर्श और हिंदी साहित्य • **डॉ॰ जसपालसिंह वळवी** 450.00
जनसंख्या अवधारणा एवं लैंगिक संरचना • **डॉ॰ विश्वनाथ पांडेय** 500.00
भारत में सांप्रदायिक सद्भाव • **डॉ॰ गीता यादव** 500.00
एक इंद्रधनुषी व्यक्तित्व : आदित्य प्रचंडिया • **सं॰ डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 600.00
साठोत्तर व्यंग्य और श्रीलाल शुक्ल • **डॉ॰ रमेश तिवारी** 400.00
स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य • **डॉ॰ शेरजंग गर्ग** 700.00
कुछ व्यंग्य की कुछ व्यंग्यकारों की • **डॉ॰ हरीश नवल** 300.00
प्रेम जनमेजय के व्यंग्य साहित्य में
सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना • **डॉ॰ साधना झा** 700.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • **डॉ॰ आशा रावत** 350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • **डॉ॰ प्रेम जनमेजय** 500.00
राष्ट्रीयता, संस्कृति और साहित्य • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 700.00
हिंसा तेरे रूप अनेक • **निश्तर खानकाही, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 400.00
आधी आबादी का सच • **निश्तर खानकाही, डॉ॰ गिरिराजशरण, मीना अग्रवाल** 550.00
साहित्यिक निबंध : मूल्य और मूल्यांकन • **डॉ॰ निशा तिवारी** 400.00
विमर्श विविधा • **डॉ॰ निशा तिवारी** 500.00
जनमानस के पक्षधर हिंदी नुक्कड़ नाटक • **डॉ॰ पी॰वी॰ कोटमे** 400.00
समकालीन साहित्य की दिशाएँ • **डॉ॰ रमेश तिवारी** 400.00
साहित्य और संस्कृति का अंत:संबंध • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 400.00

मोक्षशास्त्र का माहात्म्य • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	400.00
भावों के शिलालेख • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	350.00
विचार और बोध • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	300.00
आस्था के शिलापंख • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	220.00
साहित्य और शोध • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	550.00
समीक्षा के वातायन • **डॉ॰ अलका प्रचण्डिया**	450.00
डॉ॰ महेंद्रसागर प्रचण्डिय: व्यक्ति और स्रष्टा • **डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया**	450.00
साहित्य की परख • **डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया**	450.00
डॉ॰ निशंक की सृजन यात्रा • **डॉ॰ नागेंद्र ध्यानी 'अरुण'**	400.00
डॉ॰ निशंक की कहानियों में मानवीय संवेदना • **डॉ॰ योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	300.00
डॉ॰ निशंक के उपन्यासों में जीवन-दर्शन • **डॉ॰ योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	300.00
डॉ॰ निशंक के काव्य में इंद्रधनुषी चिंतन • **डॉ॰ योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	250.00

लोकसाहित्य

लोकरंगमंच के विविध आयाम • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	200.00
लोकनाट्य सांग : कल और आज • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	700.00
लोकज्ञान की मंजूषा • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	450.00
विश्वगुरु भारत • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	700.00
हरियाणा के लोकगायक • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	400.00
हरियाणा के लोककवि • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	300.00
विश्वगुरु भारत • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	700.00
देवबंद की स्वांग-परंपरा • **डॉ॰ सुरेंद्र शर्मा**	200.00
रुहेलखंड के परंपरागत लोकगीत • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी**	200.00

हास्य-व्यंग्य

काका की विशिष्ट रचनाएँ • **काका हाथरसी**	300.00
काका के व्यंग्य-बाण • **काका हाथरसी**	200.00
कक्के के छक्के • **काका हाथरसी**	200.00
लूटनीति मंथन करी • **काका हाथरसी**	200.00
खिलखिलाहट • **काका हाथरसी**	200.00
मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
बाबू झोलानाथ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00

दूध का धुला लोकतंत्र • **गोपाल चतुर्वेदी**	150.00
आधुनिक बेताल कथाएँ • **गिरीश पंकज**	250.00
भज्जी का जूता • **महेशचंद्र द्विवेदी**	150.00
क्लियर फंडा • **महेशचंद्र द्विवेदी**	120.00
वीरप्पन की मूँछें • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
फ्राडियर और नीम पागल • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
वसीयतनामा • **पं॰ सूर्यनारायण व्यास, सं॰ राजशेखर व्यास**	150.00
नो टेंशन • **डॉ॰ सुरेश अवस्थी**	200.00
पैसे कहाँ से दें • **डॉ॰ आशा रावत**	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह • **डॉ॰ आशा रावत**	100.00
नमस्कार प्रजातंत्र • **महेश राजा**	150.00
ए जी सुनिए • **अशोक चक्रधर**	100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए • **अशोक चक्रधर**	100.00
नमस्ते जी • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
अब हँसने की बारी है • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल	
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	300.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	300.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	300.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य • **डॉ॰ शिव शर्मा**	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा**	300.00
अपने-अपने भस्मासुर • **डॉ॰ शिव शर्मा**	250.00
प्रतिनिधि व्यंग्य • **दामोदरदत्त दीक्षित**	200.00
हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते • **मधुप पांडेय**	200.00
धमकीबाजी के युग में • **निश्तर ख़ानक़ाही**	200.00
ला ख़र्चा निकाल • **गजेंद्र तिवारी**	200.00
जलनेवाले जला करें • **गजेंद्र तिवारी**	200.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं • **सूर्यकुमार पांडेय**	100.00
ये है इंडिया • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	220.00
आँखों देखा हाल • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	250.00
सच का सामना • **हरीशकुमार सिंह**	150.00
लिफ़्ट करा दे • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	200.00
देवेंद्र के कार्टून • **देवेंद्र शर्मा**	200.00
कार्टून कौतुक • **देवेंद्र शर्मा**	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • **डॉ॰ पिलकेंद्र अरोरा**	200.00
अजगर करे न चाकरी • **बाबूसिंह चौहान**	200.00

 ISSN 0975-735X

जिंदगी तेरे नाम डार्लिंग • **डॉ॰ लालित्य ललित**	200.00
विलायतीराम पांडेय • **डॉ॰ लालित्य ललित**	200.00
नो कमेंट • **सुमित प्रताप सिंह**	200.00
सावधान पुलिस मंच पर है • **सुमित प्रताप सिंह**	200.00
चुनिंदा व्यंग्य : आलोक पुराणिक • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : आशा रावत • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : गिरिराजशरण अग्रवाल • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : गोपाल चतुर्वेदी • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : प्रेम जनमेजय • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : महेशचंद्र द्विवेदी • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : श्रवणकुमार उर्मलिया • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : सुभाष चंदर • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : सुशील सिद्धार्थ • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : हरीशकुमार सिंह • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
चुनिंदा व्यंग्य : वागीश सारस्वत • **सं॰ डॉ॰ रमेश तिवारी**	300.00
राजेंद्र सहगल के चुनिंदा व्यंग्य • **राजेंद्र सहगल**	300.00
रमेशचंद्र खरे के श्रेष्ठ व्यंग्य • **रमेशचंद्र खरे**	350.00

कहानी

एक सपना मेरा भी था • **डॉ॰ आशा रावत**	200.00
एक थी माया • **विजयकुमार**	200.00
अमृत वृद्धाश्रम • **विजयकुमार**	350.00
सरहदों के पार • **सुरेशचंद्र शुक्ल**	200.00
छोटे-छोटे सुख • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
कथा जारी है • **बाबूसिंह चौहान**	250.00
इक्कीस कहानियाँ • **सत्यराज**	200.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	250.00
कुत्तेवाले पापा • **मीना अग्रवाल**	150.00
क्या अच्छा क्या बुरा • **मीना अग्रवाल**	200.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • **डॉ॰ दिनेशचंद्र बलूनी**	200.00
एक बौना मानव • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
लव जिहाद • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
इमराना हाशिर हो • **महेशचंद्र द्विवेदी**	150.00
हैं आस्माँ कई और भी • **नीरजा द्विवेदी**	200.00
कौन कितना निकट • **रेणु 'राजवंशी' गुप्ता**	120.00
लघु कथाएँ • **डॉ॰ हरिशरण वर्मा**	150.00
कमरा नंबर 103 • **सुधा ओम ढींगरा**	150.00

कहानियाँ अमेरिका से • **सं॰ इला प्रसाद**	150.00
अंतराल • **संगीता**	200.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • **सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका**	150.00
लघुकथाएँ जीवनमूल्यों की • **सं॰ सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'**	150.00
पंद्रह सिंधी कहानियाँ • **सं॰ देवी नागरानी**	200.00
दर्द की एक गाथा • **सं॰ देवी नागरानी**	300.00
भाँति-भाँति की मानुसी • **अंशु त्रिपाठी**	250.00
लड़की हँस रही है • **राजेंद्र मिश्र**	300.00
आजकालीन कहानियाँ • **राजेंद्र मिश्र**	400.00
आत्मकथा का कोलाज • **नीलम चतुर्वेदी**	200.00
आ से आजादी • **नीलम चतुर्वेदी**	300.00
ऐसा प्यार कहाँ • **नीतू मुकुल**	250.00
रेल कहानियाँ • **कृपासागर साहू**	300.00
डस्टबिन एवं अन्य कहानियाँ • **डॉ॰ अखिलेश पालरिया**	300.00
पुजारिन एवं अन्य कहानियाँ • **डॉ॰ अखिलेश पालरिया**	250.00
डॉ॰ अखिलेश पालरिया की चुनिंदा कहानियाँ • **पुष्पा पालरिया**	525.00

उपन्यास

इतिहास की आवाज़ • **राजेन्द्र मिश्र**	450.00
अनोखा उपहार • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
आसरा • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	100.00
तीन बीघा ज़मीन • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
मन के जीते जीत • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
कुल का चिराग • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
नया सवेरा • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
जागृति • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	450.00
जीवन पथ • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	300.00
कालचक्र से परे • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी**	200.00
शांतिधाम • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी**	250.00
भीगे पंख • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
मानिला की योगिनी • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
और लहरें उफनती रहीं • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध**	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा**	300.00
अराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त**	200.00
सुराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त**	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • **डॉ॰ आशा रावत**	250.00
एक चेहरे की कहानी • **डॉ॰ आशा रावत**	250.00

 ISSN 0975-735X

गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) ● **डॉ॰ आशा रावत**	200.00
एक फरिश्ता ऐसा देखा ● **प्रेमसागर तिवारी**	250.00
रोशनी का पहरा ● **डॉ॰ आरती लोकेश**	300.00
विस्थापित ● **प्रहलाद तिवारी**	550.00

एकांकी-नाटक

● **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**

मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
बच्चों के अनोखे नाटक ● **प्रकाश मनु**	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल-नाटक ● **प्रकाश मनु**	200.00
संसार : एक नाट्यशाला ● **बाबूसिंह चौहान**	250.00
ग्यारह एकांकी ● **डॉ॰ हरिशरण वर्मा**	200.00
संस्कार एवं अन्य नाटक ● **डॉ॰ हरिशरण वर्मा**	300.00
दमन ● **रामाश्रय दीक्षित**	100.00
स्वप्न पुरुष ● **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	250.00
अफलातून की अकादमी ● **डॉ॰ शिव शर्मा**	150.00
औरत की जंग ● **राजेन्द्र मिश्र**	200.00
प्रजापथ ● **राजेन्द्र मिश्र**	200.00
दृश्य होती कहानियाँ ● **राजेन्द्र मिश्र**	400.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले ● **निश्तर ख़ानक़ाही**	125.00
यादों का मधुबन ● **कृष्ण राघव**	150.00
समय के चाक पर ● **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	125.00
समय एक नाटक ● **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	160.00
दर्पण झूठ बोलता है ● **बाबूसिंह चौहान**	60.00
मकड़जाल में आदमी ● **बाबूसिंह चौहान**	80.00
उफनती नदियों के सामने ● **बाबूसिंह चौहान**	100.00
अनुभव के पंख ● **चंद्रवीरसिंह गहलौत**	250.00

मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी**	250.00
आधी हकीकत आधा फसाना • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
फूलों की महक • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
संवाद साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया**	200.00

गीत-कविता

निश्तर ख़ानक़ाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	500.00
कोई आवाज़ देता है • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
दिन दिवंगत हुए • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
मातृभूमि के लिए • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	200.00
संघर्ष जारी है • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	170.00
जीवन-पथ में • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
देश हम जलने न देंगे • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
झरनों का तराना है • **लक्ष्मी खन्ना सुमन**	200.00
अहसासों के ताने-बाने • **लक्ष्मी खन्ना सुमन**	200.00
समय के भूगोल में • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
असाबिया • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
आठवाँ राग • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
हवाएँ ख़ामोश हैं • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
सदियाँ गुज़र रही हैं • **राजेंद्र मिश्र**	300.00
शब्द ही नहीं हैं • **राजेंद्र मिश्र**	300.00
सप्त स्वर • **राजेंद्र मिश्र**	400.00
आपातकालीन कविताएँ • **राजेंद्र मिश्र**	300.00
आजकालीन कविताएँ • **राजेंद्र मिश्र**	450.00
आजकालीन लंबी कविताएँ • **राजेंद्र मिश्र**	400.00
शमा हर रंग में जलती है • **रामेश्वरप्रसाद**	150.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
बूँद के अंदर समंदर (मुक्तक) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
संकल्पों के शंख (दोहा) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
मान भी जा छुटकी • **गीतिका गोयल**	150.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	150.00

 ISSN 0975-735X

गांधारी का सच (खंडकाव्य) • **आर्यभूषण गर्ग**	200.00
राधेय (खंडकाव्य) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
असितचंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
अग्निसुता • **राजेंद्र शर्मा**	150.00
सीतायनी • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
गंगापुत्र भीष्म : शर-शैया से • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	250.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
कुछ भी सहज नहीं (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
त्रिवर्णी (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
युवाओं के गीत • **शचींद्र भटनागर**	400.00
तारा प्रकाश समग्र • **तारा प्रकाश**	600.00
उजियारा आशाओं का • **तारा प्रकाश**	150.00
बुलंदी इरादों की • **तारा प्रकाश**	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है • **तारा प्रकाश**	200.00
इंद्रधनुष • **तारा प्रकाश**	200.00
संवेदनाओं के रंग • **तारा प्रकाश**	200.00
सुरों के ख़त • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनते हुए ऋतुगीत • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सुबह की अंगूठी • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
धूप अपनेपन की (मुक्तक-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
एक मुट्ठी धूप • **नीरजा सिंह**	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर • **डॉ॰ कमल मुसद्दी**	150.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
मानव तू जग में सुंदरतम • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00

जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहे) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहे) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
युगस्रष्टा स्वामी रामानंद (महाकाव्य) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	300.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) ● **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) ● **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
अनजाने आकाश में ● **महेशचंद्र द्विवेदी**	170.00
बातें कुछ अनकही ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
मैंने देखा है ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
हौसला तो है ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
जिंदगी रुकती नहीं ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
जज्बात की धूप ● **धूप धौलपुरी**	250.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ ● **नवलकिशोर शर्मा**	180.00
जब चाँद डूब रहा था ● **नवलकिशोर शर्मा**	200.00
एड्स शतक ● **पूरणसिंह सैनी**	150.00
श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) ● **पूरणसिंह सैनी**	300.00
श्रीकृष्णचरित (महाकाव्य) ● **पूरणसिंह सैनी**	800.00
राष्ट्र-शक्ति ● **सलेकचंद संगल**	150.00
माँ तुझे प्रणाम ● **सलेकचंद संगल**	150.00
लहरों के विरुद्ध ● **डॉ॰ रामप्रकाश**	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता ● **महेंद्र कुमार**	200.00
पीड़ा का राजमहल ● **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	200.00
मैं एक समुद्र ● **डॉ॰ तारादत्त 'निर्विरोध**	200.00
उड़ान जारी है ● **विनोद भृंग**	200.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) ● **हरिराम पथिक**	200.00
जो जिया वो रचा (मुक्तक-संग्रह) ● **हरिराम पथिक**	200.00
धनुषभंजक राम ● **चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'**	200.00
आवाज सुनो (हाइकु) ● **चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'**	200.00
दरिया मोहब्बत का ● **चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'**	200.00
एक कुल्हड़ चाय ● **स्वर्ण ज्योति**	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी ● **रामेश्वर वैष्णव**	150.00
रात ● **दामोदर खड़से**	200.00
स्मृतियाँ ● **सुषमा अग्रवाल**	200.00
कविताएँ फेसबुक से ● **लालित्य ललित**	200.00
दुनिया इतनी भी बुरी नहीं ● **लालित्य ललित**	200.00
बचे रहेंगे केवल शब्द ● **लालित्य ललित**	200.00

 ISSN 0975-735X

मेरे लिए तुम्हारा होना • **लालित्य ललित** 250.00
सब पता है • **लालित्य ललित** 250.00
आँगन घर में टहलेगा • **लालित्य ललित** 250.00
घर उदास है • **लालित्य ललित** 300.00
अपने में से तुम्हें देखना • **लालित्य ललित** 200.00
आदत सी तुम्हारी • **लालित्य ललित** 250.00
चुप्पी में से उद्घोष • **लालित्य ललित** 300.00
चुप हैं शब्द और उनके अर्थ • **लालित्य ललित** 200.00
कभी सोचता हूँ कि • **लालित्य ललित** 250.00
इतना होने के बाद भी• **लालित्य ललित** 250.00
विरमाल गीत समग्र • **सं॰ डॉ॰ पंकज विरमाल** 500.00
विस्थापित मन • **आस्था नवल** 200.00
रंगारंग कविताएँ • **बलवंत रंगीला** 300.00
सिद्धांत सतसई • **डॉ॰ महेंद्रसागर प्रचण्डिया/संपादन डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया** 300.00
क़तरा-क़तरा सागर • **प्रेमसागर कालिया** 300.00
श्रीमद्भगवद्गीता (पंजाबी कविता अनुवाद) • **अनुवादक प्रेमसागर कालिया** 200.00
कविताओं के मन से • **विजयकुमार** 495.00
सोच की चिंगारियाँ • **चमनलाल** 200.00
मेरी समग्र कविताएँ • **प्रहलाद तिवारी** 950.00
कवि नहीं हूँ, फिर भी • **सुरेंद्रकुमार यादव** 400.00
अनुनर्तन : बिन तुम्हारे • **सुरेंद्रकुमार यादव** 350.00
माट्टी की आवाज • **रामकुमार आत्रेय** 250.00
मेघ संचार • **पवित्र मोहन दाश** 250.00
शब्द-यात्रा • **प्रहलाद तिवारी** 200.00
तुमसे उजियारा है (माहिया-संग्रह) • **डॉ॰ ज्योत्स्ना शर्मा** 240.00

ग़ज़ल-संग्रह

ग़ज़ल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही** 80.00
ग़ज़लों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही** 200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही** 150.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
ख़ुशबू सा बिखर जाऊँगा (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 250.00

प्रतिनिधि ग़ज़लें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह) • **रामगोपाल भारतीय** 100.00
ज़िंदगी गाती तो है/ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ आकुल** 120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप** 100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप** 100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज** 200.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज** 200.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर** 250.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध** 100.00
मेरे भीतर महक रहा है (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध** 150.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़लें) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'** 150.00
अँधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़लें) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'** 200.00
रिश्ते नए अब जोड़िए (ग़ज़लें) • **डॉ॰ बलजीत सिंह** 200.00
फ़ासले मिट जाएँगे (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ बलजीत सिंह** 150.00
मुहब्बत भी बगावत है (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ रामबहादुर चौधरी चंदन** 200.00
समकालीन महिला ग़ज़लकार • **हरेराम 'समीप'** 300.00

आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र

मेरा जीवन : ए-वन • **काका हाथरसी** 300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेन्द्र उपाध्याय** 250.00
आत्मसरोवर • **ओम्प्रकाश अग्रवाल** 125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
कुछ अपनी कुछ जगबीती • **नीरजा द्विवेदी** 250.00
विलक्षण अनुभूतियाँ • **नीरजा द्विवेदी** 300.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग • **महेशचंद्र द्विवेदी** 280.00
फ्राडियर और नीम हकीम • **महेशचंद्र द्विवेदी** 230.00
सफ़र साठ साल का • **डॉ॰ अजय जनमेजय (सं)** 400.00
यादों की गुल्लक • **गीतिका गोयल, डॉ॰ अनुभूति (संपादक)** 300.00
आधी हक़ीक़त आधा फ़साना • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 150.00
मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी** 250.00
संवाद : साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया'** 200.00
उत्तरोत्तर • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)** 250.00
श्रद्धांजलि • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)** 250.00
सवालों के सामने • **राजेन्द्र मिश्र** 400.00

बाल-साहित्य

गधा बत्तीसी • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'** 200.00

 ISSN 0975-735X

ईनी-मीनी की मजेदार दुनिया • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
चिड़ियों की दुनिया रंगीन • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
कविताओं में पंचतंत्र • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	250.00
छुटके-मुटके जंगल में • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
नन्हे-मुन्ने गीत सुहाने • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
मैं भी स्कूल जाऊँगी • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
नन्ही-मुन्नी बाल ग़ज़लें • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
Tiny -Tots in Forest • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
Adventures of the Laughing Donkey • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • **गीतिका गोयल**	200.00
बातूनी कहानियाँ • **गीतिका गोयल**	200.00
धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • **शंभूनाथ तिवारी**	200.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • **विनोद भृंग**	200.00
आटे-बाटे दही चटा के (शिशुगीत) • **बालकृष्ण गर्ग**	200.00
बालकृष्ण गर्ग के बालगीत • **बालकृष्ण गर्ग**	500.00
किशोर मन की कहानियाँ • **डॉ॰ सरला अग्रवाल**	200.00
चलो आकाश को छू लें • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध**	200.00
मानव-विकास की कहानी • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
पार्टी गेम्स • **चाँदनी कक्कड़**	125.00
कागज की नाव • **डॉ॰ सरोजनी कुलश्रेष्ठ**	200.00
शिक्षाप्रद बालकहानियाँ • **डॉ॰ अशोक कुमार**	200.00
भारतीय लोकजीवन की कहानियाँ • **डॉ॰ तारा प्रकाश**	200.00

विविध

उत्तराखंड में आध्यात्मिक पर्यटन • **डॉ॰ सरिता शाह**	200.00
• **निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल**	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
• **निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	300.00
दंगे : क्यों और कैसे	300.00
• **रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00

अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन ● **डॉ॰ गिरिराज शाह**	200.00
गुरु नानकदेव ● **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
अमृतवाणी ● **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	300.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं ● **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
वेद-वेदांत दर्शन ● **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व ● **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
कन्हैया गीता ● **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स ● **डॉ॰ गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर**	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी ● **मनोज भारद्वाज**	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी ● **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	300.00
डगर पनघट की ● **सुधीर गुप्ता**	200.00
था सुंदरतम की ● **महेंद्र शर्मा**	200.00
Ecosystem in The Central Himalyas ● **Dr.Vikram Singh IPS**	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 **साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)**

फोन : 01342-263232, 09557746346, 07838090732

गुड़गाँव कार्यालय

बी-203, पार्क व्यू सिटी 2, सोहना रोड, गुड़गाँव 122018

0124-4076565

ISSN 0975-735X

केंद्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क : हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा 282005, फोन : 0562-2530684,
वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई॰ में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र–दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी-शिक्षण का प्रसार, हिंदी-शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदीभाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदीभाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा-आयोजन तथा उपाधि-वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम :

(1) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी-शिक्षण, (2) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (3) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (4) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (5) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधनपरक कार्यक्रम :

(1) हिंदी-शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (2) हिंदीभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (3) हिंदीभाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (4) हिंदीभाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (5) हिंदी का समाजभाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (6) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण

के लिए उपयोगी शिक्षण-सामग्री का निर्माण।

शिक्षण-सामग्री निर्माण और भाषा-विकास :

(1) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी-शिक्षण सामग्री निर्माण, (2) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (3) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (4) कंप्यूटर साधित हिंदीभाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण-संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (6) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/ त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन :

हिंदीभाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोशविज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका–'गवेषणा', 'मीडिया', और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय :

भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :

हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ :

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत, ■अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी॰ए॰ का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ, ■विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू॰एस॰ए॰, यू॰के॰, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोकसाहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, कें॰हिं॰शि॰मं॰
kkgoyanka@gmail.com

प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय
निदेशक
nkpandey65@gmail.com

 ISSN 0975-735X

हास्यकवि : काका हाथरसी

काका हाथरसी ने भी अपने काव्य में सामाजिक, राजनीतिक या जीवन की प्रत्येक प्रकार की समस्याओं, दशाओं, परिस्थितियों, चरित्रों और व्यवहारों की डटकर हँसी उड़ाई है और उनकी इस हँसी का उद्देश्य रहा है समाज की गंदगी और असंगतियों को दूर करना और वह इस कार्य में पूर्ण रूप से सफल भी रहे हैं, समाज की विषमताओं और कुरीतियों पर उन्होंने गहरी चोट की है, उसमें इतनी अधिक तीव्रता है कि उसका लक्ष्य खाली नहीं जाता, निशाना चूकता नहीं। काका की क़लम का कमाल कार से लेकर बेकार तक, भ्रष्टाचार से चोर बाज़ार तक, परिवार से पत्रकार तक, अख़बार से गँवार तक, रिश्वत से दुर्गत तक, फ़ैशन से राशन तक, परिवार से नियोजन तक, कमाई से मँहगाई और मंत्री से संत्री तक देखने को मिलता है। मतलब यह है कि काका ने हर समस्या में हास्य खोजा है और उसकी डटकर हँसी उड़ाई है।

काका ने भ्रष्टाचारी समाज का सही चित्र खींचा है। न्यायालयों की स्थिति बड़ी भयंकर है, वह न्यायालय है या भ्रष्टालय इसका भेद आसानी से नहीं किया जा सकता, यहाँ न्याय तो बाद में मिलता है, परंतु उससे पहले की मुड़ाई से कोई बच जाए तभी तो, क्योंकि–

प्लीडर, मुंशी, मुहर्रिर, सब निचोड़ लें अर्क,
सायल को घायल करे, फायल वाला क्लर्क।
फायल वाला क्लर्क, अगर कुछ बच जाएगा,
वह चपरासी के इनाम में पच जाएगा।
कह काका, जो जीत गया सो हारा समझो,
हार गया सो पत्थर से दे मारा समझो।

वस्तुओं में तरह-तरह की मिलावट करके लाखों के वारे न्यारे करनेवालों की इस देश में बढ़ोत्तरी होती जा रही है, परंतु मिलावट करनेवालों का तर्क है कि यह सृष्टि भी तो मिलावट से ही तैयार हुई है, इसलिए मिलावट करनेवालों की निंदा करना ही व्यर्थ है–

वेदशास्त्र सबने यही तथ्य किया स्वीकार,
मिलकर माया ब्रह्म यह सृष्टि हुई तैयार।
सृष्टि हुई तैयार, विधाता सृष्टाचारी,
शब्द बिगड़कर यही हो गया भ्रष्टाचारी।
कह काका, कर रहे मिलावट की क्यों निंदा,
चलने दो व्यापार, भजो राधे गोविंदा।

सारे क्षेत्र में आज रिश्वत का बोलबाला है, हर काम इसकी सहायता से संपन्न हो सकता है, और कभी रिश्वत लेने वाला पकड़ा भी जाए तो भी उसका बालबाँका नहीं हो सकता, कितना करारा व्यंग्य है रिश्वत पर–

कूटनीति मंथन करी, प्राप्त हुआ यह ज्ञान,
लोहे से लोहा कटे, यह सिद्धांत प्रमान।
यह सिद्धांत प्रमान, ज़हर से ज़हर मारिए,

चुभ जाए काँटा, काँटे से ही निकालिए।
कहँ काका कवि, काँप रहा क्यों रिश्वत लेकर,
रिश्वत पकड़ी जाय, छूट जा रिश्वत देकर।

रिश्वत का महत्त्व कितना अधिक है–

जिसको नहीं नसीब थी, टूटी-फूटी छान,
आज वहाँ भन्ना रही कोठी आलीशान।
कोठी आलीशान, भिनकतीं मुँह पर मक्खी,
उनके घर में घूम रही चाँदी की चक्की।
कहँ काका कवि, जो रिश्वत का हलवा खाते,
सूखे-पिचके गाल कचौड़ी-से हो जाते।

विद्यार्थीवर्ग में अनुशासन की समस्या भी अब प्रचंड रूप में सामने आ रही है, छात्र अनुशासन की टाँग तोड़ रहे हैं, उनको अपनी पढ़ाई की कोई चिंता नहीं है वरन् अपनी माँगों के लिए वक़्त को बरबाद करना ही उनका काम है। काका ने ऐसे शिक्षार्थियों को संबोधित करते हुए अपने हास्य द्वारा कितना सही चित्र खींचा है–

अधिकारी मानें नहीं, अगर तुम्हारी माँग,
हाकी लेकर तोड़ दो, अनुशासन की टाँग।
अनुशासन की टाँग, वही बन सकता नेता,
जो सभ्यता, शिष्टता का चूरन कर देता।

काका कृत विद्यार्थी की परिभाषा भी कितनी सटीक है–

कहँ काका कविराय, वही सच्चा विद्यार्थी,
जो निकालकर दिखला दे विद्या की अर्थी।

पूज्य पिता की नाक में नकेल डालकर पुत्र महाशय क्या कार्य करते हैं, पिताजी अपनी हड्डियों को घिस-घिस कर पुत्र को पढ़ाने का ख़र्चा निकालते हैं, परंतु पुत्र महोदय कालेज स्टूडैंट बने हुए आनंद की छानते हैं, ऐसे छात्रों पर काका का व्यंग्य–

फादर ने बनवा दिए, तीन कोट छै पैंट,
लल्लू मेरा बन गया कालिज स्टूडैंट।
कालिज स्टूडैंट, हुए होस्टल में भरती,
दिन-भर बिस्कुट चरैं, शाम को खायँ इमरती।
कहँ काका कविराय, बुद्धि पर डाली चादर,
मौज कर रहे पुत्र, हड्डियाँ घिसते फादर।

यहीं पर 'नेता' बनने की सलाह देते हुए काका का प्रवचन माननीय है–

कहँ काका कवि, राय भयंकर तुमको देता,
बन सकते हो उसी तरह बिगड़े दिल नेता।

आज एक छोर से दूसरे छोर तक अँग्रेज़ियत छाई हुई है, लोग अँग्रेजी धुन में गाते हैं, रोते हैं और शोक मनाते हैं, यही नहीं उनको हँसी भी अँग्रेज़ी में ही आती है। लोगों को अँग्रेज़ी दाँ माने जाने में परम प्रसन्नता का अनुभव होता है। ऐसा ही एक व्यक्ति अपनी वास्तविकता का उद्घाटन

 ISSN 0975-735X

कितने गर्व के साथ कर रहा है–

बुद्धू हैं वे लोग जो समझते हैं मुझे हिंदी का भक्त,
मेरी रगों में दौड़ रहा है अँग्रेज़ी रक्त।
मालूम नहीं?
जिस प्रकार दानवीर कर्ण ने
कवच और कुंडलों-सहित
कुंती की कोख से लिया था जन्म
उसी तरह मैंने भी
इंगलिश सूट धारण किए हुए
लिया था अवतार।

अँग्रेज़ी बंदर नामक फुलझड़ी में अँग्रेज़ी सभ्यता के पोषक संतों पर कितना करारा व्यंग्य है–

काका या संसार में व्यर्थ भैंस अरु गाय,
मिल्क पाउडर डालकर पी लिप्टन की चाय।
पी लिप्टन की चाय, साहबी ठाठ बनाओ
सिंगल रोटी छोड़, डबल रोटी तुम खाओ।
कहँ काका कविराय, जीभ में लावौ तेजी,
हिंदीभाषा छोड़, बोल बेटा अँग्रेज़ी।

इस अँग्रेज़ियत का ही परिणाम है कि देश में तरह-तरह के फ़ैशनों की बाढ़ आई हुई है, अब तो टापलेस नारियाँ ही दिखाई देती हैं, समाज में आधुनिका नारियों का बोलबाला है। अब तो डिमांड भी ऐसी ही नारियों की है, जो फ़ैशन में पगी हों, संस्कृति को उधेड़ने में लगी हों। फ़ैशनपरस्त नारी पर काका की व्यंजना–

बहू वही फार्वर्ड है, जो हो अपटूडेट,
सास-ससुर के सामने पीती हो सिगरेट।
पीती हो सिगरेट, बदन आधा ही ढाँपे,
भौजी भागे दूर, ननदिया थर-थर काँपे।
काका करें विरोध, उड़े अक्कल की बक्कल,
चौंके में घुस जाय पहन बाटा की चप्पल।

आज की नारी फ़ैशन में जितनी कुशल है, गृहस्थी के कामों में उतनी ही फूहड़, चूल्हे चौके का रोमांस शीर्षक फुलझड़ी में काका ने आधुनिका पत्नी पर करारा व्यंग्य किया है–

आधुनिका पत्नी मिली, पति के पड़ी नकेल,
वाक्शास्त्र में पास थी, पाकशास्त्र में फेल।
पाकशास्त्र में फेल, रसोई कर दी चालू,
स्वेटर बुनने लगी, जल गए सारे आलू।
पुस्तक खोली, पति से बोली, जल्दी आओ,
जले आलुओं के ऊपर बरनॉल लगाओ।

जनसंख्या की वृद्धि आज देश की सबसे बड़ी समस्या है, परंतु काका ने इसको भी अपने ही अंदाज़ से देता है। जनसंख्या की वृद्धि पर जब परिवार- नियोजन का नारा बुलंद हुआ तो काका ने इसकी सिद्धि के लिए रेलयात्रा में पूरी की पूरी बर्थ पर कंट्रोल कर लिया, दूसरे यात्रियों के शोर मचाने पर टीटी महाशय आए हैं तो काका का उत्तर कितना मज़ेदार है–

नेता सब चिल्ला रहे, पीट-पीटकर ढोल,
जितना भी तुम कर सको, करो बर्थ कंट्रोल।
करो बर्थ कंट्रोल, अर्थ को समझो बाबू,
इसीलिए तो किया बर्थ पर हमने काबू।

बेकारी की समस्या और बेकारों के मनहूसियत-भरे चेहरों की कल्पना कर काका के दिमाग़ में आया कि पढ़ने-लिखने से तो मिल में मजदूरी ही करना ठीक होता। शिक्षा केवल सफ़ेदपोशी को प्रश्रय दे रही है। हर कोई केवल क्लर्क बनना चाहता है या फटीचर टीचर। इसी विषय पर काका की व्यंग्योक्ति–

पढ़-पढ़कर पत्थर भए, गुन-गुन होंगे कूर,
सो की तनखा मिल रही, बन जा मिल मजदूर।
बन जा मिल मजदूर, मास्टरी में क्या रक्खा,
भूखा रहकर जीवन-भर खाएगा धक्का।
कहँ काका कविराय, हो गए काजी, पाजी,
पढ़ा-लिखाकर हमें कर गए भूल पिताजी।

काका ने जहाँ पर राजनीतिक समस्याओं पर लेखनी चलाई है, वहाँ पर उनका व्यंग्य बहुत अधिक तीखा हो गया है। राजनीति की समस्त उलट- नीतियाँ-पलट नीतियाँ उनके राजनीतिक हास्य में उभरी हैं।

आजकल चुनाव एक ऐसा साधन बन गया है, जिसके माध्यम से सारी खुराफ़ातों को करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। चुनाव के चक्कर, प्रत्याशियों के रूप, सीटों की लड़ाई और मंत्री पदों की दौड़-धूप पर काका का व्यंग्य नश्तर के समान सिद्ध हुआ है। दलबदलुओं का धंधा अब तेज़ी से पनप रहा है। आयाराम, फिर गयाराम और अंत में मायाराम, काका ने इस बात को इस प्रकार नोट किया है–

दिन दूनी बढ़ने लगी, जोड़-तोड़ की होड़,
स्वारथ ने सिद्धांत का, दिया झोपड़ा फोड़।
दिया झोपड़ा फोड़, मिल गए अधिक दाम जी,
मिस्टर आयाराम बन गए गयाराम जी।
काका बढ़ते-बढ़ते ऊँचे दाम हो गए,
गयाराम कुछ दिन में मायाराम हो गए।

फिर यह आयाराम-गयाराम जी मिनिस्ट्री में पद प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाते हैं और बार-बार दल बदलने में भी हिचकिचाते नहीं हैं, काका ने नेताओं की इस स्थिति पर करारी चोट की है–

 ISSN 0975-735X

मंत्रीपद की लूट है, लूट सके तो लूट,
अंतकाल पछताएगा, प्राण जाएँगे छूट।
प्राण जाएँगे छूट, मेज़ पर रक्खे पेपर,
बदल पार्टी, इस्तीफ़ा पर कर सिगनेचर।
कहँ काका कवि, स्वतंत्रता का लाभ उठाओ,
राष्ट्रध्वजा फहरा करके फ़ोटो खिंचवाओ।

मंत्री पद प्राप्त कर नेता लोगों को फिर अपनी चिंता होती है। जनता जाए भाड़ में, सात पुश्तों के दुख-दारिद्रय को मंत्री पद दूर कर देता है। परंतु यह मंत्री मंडल किस प्रकार के बनते हैं, यह जानना भी एक आश्चर्यजनक सत्य है। जहाँ बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता नहीं, व्यावहारिक कुशलता के दर्शन नहीं, इसी को काका का मंत्रीमंडल कविता में कितने सटीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है–

हमारे प्रधानमंत्री होंगे कविवर फक्कड़ जी
ईंधन मंत्री लक्कड़ जी,
खाद्य मंत्रालय को सुशोभित करेंगे डा॰ पकोड़ा जी
रक्षा मंत्रालय पर विराजेंगे हथौड़ा जी।
फकाफक जी रेल मंत्री/ चकाचक जी जेल मंत्री
शिक्षा विभाग के लिए कविवर बुद्धूजी बिल्कुल फिट हैं।
सूचना और प्रसारण के लिए/ सब दोषों से मुक्त
महाकवि भोंपू जी उपयुक्त।
सेवा और परमार्थ के नशे में चूर रहते हैं
साहित्य, संगीत, कला से/ दो हज़ार किलोमीटर दूर रहते हैं।
परिवहन मंत्री जी सुनिश्चित हैं अड़ियल जी
अनुभवी पुराने हैं, ड्राइवरी कर चुके हैं
दो दर्जन कुत्ते और आठ व्यक्ति मर चुके हैं।

चुनाव के चक्कर और नेताओं की कलाबाज़ियों से हटकर काका की दृष्टि शासन-प्रबंध और सरकार की नीतियों पर भी रुकी है और फिर उन्होंने उसका डटकर मज़ाक उड़ाया है। हमारा शासन-प्रबंध आज क़र्ज़ पर आधारित है। जिधर जाते हैं, हमारा हाथ फैला ही रहता है। इसी संदर्भ में काका का वित्तमंत्री से इंटरव्यू और उनका उत्तर कितना बड़ा व्यंग्य उपस्थित कर रहा है–

श्री मुरार जी से मिले काका कवि अनजान
प्रश्न किया, 'क्या चाँद पर रहते हैं इंसान।'
रहते हैं इंसान, मारकर एक ठहाका,
कहने लगे कि तुम बिल्कुल बुद्धू हो काका।
अगर वहाँ मानव होते, हम चुप रह जाते,
अब तक सौ दो सौ करोड़ क़र्ज़ा ले आते।

भाषा विधेयक पर काका का व्यंग्य सारे देश की राजनीति के सार को एक साथ प्रकट करता है–

बोले सीना तानकर कड़घम-झगड़म दास,
सभी टापते रह गए, हुआ विधेयक पास।
हुआ विधेयक पास, साथ जयचंद हमारे,
तब तक अड़ियल नीति देश से टरे न टारे।
खुशख़बरी लंदन वाले डैडी को भेजी,
हिंदी हारी, जीत गई मम्मी अँग्रेज़ी।

सरकार की अँग्रेज़ी भाषा से संबंधित नीति पर काका का एक और व्यंग्य, जिसमें केवल अँग्रेज़ी को महत्ता दी गई है। बेचारी हिंदी तो दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दी गई है–

छोटे-छोटे बच्चों को अँग्रेज़ी शिक्षा,
वर्तमान सरकार दे रही है प्राइमरी में।
लेकिन मैं तो इससे भी कुछ आगे बढ़कर,
गर्भवती सब माताओं को/ अँग्रेज़ी की पहली पुस्तक
किंग प्राइमर/ घोट-पीसकर पिलवा दूँगा।
शिशु पृथ्वी पर आएगा तो/ रोएगा भी अँग्रेज़ी में
हाँसेगा भी अँग्रेज़ी में/ खाँसेगा भी अँग्रेज़ी में।

यह तो परिस्थितियों, घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत हास्य के प्रसंग हैं। परंतु काका ने श्रेष्ठ शाब्दिक हास्य की भी सृष्टि की है। उनकी अनेक कविताओं में शब्दों के द्वारा उत्तम कोटि का हास्य प्रस्तुत किया गया है। काका ने अपनी काका कोश, लिंग-भेद, नाम बड़े और दर्शन छोटे, मार के चमत्कार, संक्षिप्तीकरण, दान आदि कविताओं में शब्दों का अद्‌भुत चमत्कार दिखाया है और भरपूर हास्य पैदा किया है। काका कोश में प्रस्तुत कुछ शब्दों की परिभाषाएँ देखिए–

अफ़सर माने रौब है, इनकम माने टैक्स,
भौंरा माने भगत जी, पूजन माने सैक्स।
भूतपूर्व का अर्थ है, बहुत पुराना भूत,
मात-पिता जिससे डरें, उसका नाम सपूत।
उसका नाम सपूत, मूँग छाती पर दलता,
आज़ादी के माने समझो उच्छृंखलता।
बदल गए शब्दार्थ, क्योंकि बदली मर्यादा,
चेला माने गुरु, गुरु के माने चेला।

काका की दृष्टि का लेंस इतना विशाल और पावरफुल है कि उसमें सब-कुछ आ जाता है। उनकी हास्य-व्यंग्य की अनेक कविताएँ समाज के अँधेरे कोने में जनता को प्रकाश प्रदान कर रही हैं। अहिंदीभाषी क्षेत्रों में भी हिंदी को लोकप्रिय बनाने में उन्होंने पर्याप्त सहयोग दिया है। जनभाषा में लिखी गई उनकी कविताएँ पढ़-अपढ़, बाबू-लाला, उच्च तथा निम्नवर्ग सभी के लिए मनोरंजन का विषय बनी हुई हैं। वास्तव में भारतेंदु से चलने वाली हास्य-व्यंग्य की धारा का पूर्ण विकसित रूप काका में आकर साकार हुआ है।

 ISSN 0975-735X

ISSN 0975-735X

 ISSN 0975-735X